राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थानराज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

•

प्रधानसम्पादक
फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर

•

ग्रन्थाङ्क ८८

•

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्

आगमरहस्यम्

(पूर्वार्द्धम्)

•

प्रकाशक
राजस्थानराज्याज्ञानुसार
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्

आगमरहस्यम्

(पूर्वार्द्धम्)

•

सम्पादक

प० श्रीगंगाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, विद्यारत्न
प्रधानाचार्य, राजकीय संस्कृत कालेज,
अलवर

•

प्रकाशनकर्त्ता
राजस्थानराज्यसंस्थापित
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

•

विक्रमाब्द २०२४	भारतराष्ट्रिय शकाब्द	ख्रिस्ताब्द १९६७
प्रथमावृत्ति १०००	१८८९	मूल्य - १५.००

मुद्रक —श्रीराधेश्याम शर्मा, श्रीशंकर आर्ट प्रिण्टर्स जयपुर।

विषयानुक्रमणिका



सचालकीय वक्तव्य

जैसा कि सपादक महोदय ने कहा है, आगमों का पठन-पाठन निरतर उपेक्षित हो रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुतों को तो आगम एक शब्दमात्र रह गया है, वे यह भी नहीं जानते कि आगम कहते किसे हैं ? महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की कृपा से अवश्य आगमशास्त्र पर कुछ चर्चा हिन्दी में प्रारभ हुई और उनके लेखों और ग्रन्थों से प्रभावित होकर कुछ लोगों में इस विषय के प्रति जिज्ञासा जागृत हुई। स्वामी शाम्भवाचार्य ने भी कुछ मौलिक सस्कृत रचनाओं के माध्यम से उत्तरी शैवागम की पुन प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। परन्तु आगम के महत्त्व को देखते हुये, इस विषय पर अत्यधिक विचार-विमर्श एव पठन-पाठन की आवश्यकता है।

आगम वस्तुत भारतीय सस्कृति की कुजी है। वेदों को समस्त विद्याओं का मूल माना जाता है और पुराण उसका उपबृहण करने वाले हैं, परन्तु मेरा अपना अनुभव यह है कि वेद और पुराण को आगम के ज्ञान बिना समझना असभव है। अनेक पारिभाषिक शब्द आगमों में वेदों से ज्यों के त्यों आये हैं और वे ही पुराणों में यत्र-तत्र इतिहास का कलेवर धारण करके खडे हो जाते हैं।

प्रस्तुत ग्रथ आगमरहस्य इस दृष्टि से बडे महत्त्व का है और इसके सपादन के लिए प० श्रीगगाधरजी द्विवेदी धन्यवाद के पात्र है। इस ग्रथ की विशेषता यह है कि इसमें शैव, वैष्णव एव शाक्त सप्रदायों के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर न केवल सृष्टि, प्रलय आदि शुद्ध दार्शनिक तत्त्वों का समावेश है अपि तु इसमें षट्कर्मसाधन तथा ध्यान-योगचतुष्टय-प्रभृति व्यावहारिक विषयों का भी स्पष्ट निरूपण किया गया है।

आगम-दर्शन को लेकर आधुनिक विद्वानों ने कुछ भ्रातिया उत्पन्न कर दी हैं। आगम प्राय शिवमुख से आया हुआ बताया जाता है। मोहजोदरो की खुदाई के पश्चात् स्वर्गीय फादर हेरास तथा उनके भारतीय शिष्यों ने शिव के साथ-साथ शिव से सबन्धित समस्त ज्ञान विज्ञान को अवैदिक कहना प्रारभ कर दिया है और इसी के साथ वे जैन एव बौद्ध दर्शन को भी ले लेते हैं, परन्तु वे भूल जाते है कि शिवसूत्रों पर आधारित पूर्वपाणिनीय एव पाणिनीय-व्याकरण में छान्दस-व्याकरण का स्पष्ट अस्तित्त्व है और इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि इस व्याकरण का आधार-भूत वैयाकरण दर्शन शुद्धरूपेण वैदिक है और उसके भीतर जैन एव बौद्ध दर्शन के तत्त्वों

का समावेश सुगमता से हो जाता है। यही कारण है कि आगमशास्त्र का भी प्रचार तन्त्ररूप में न केवल शैवों एवं शाक्तों में हुआ, अपि तु वैष्णवों, बौद्धों एवं जैनों में भी इसकी लोकप्रियता हुई। परन्तु खेद का विषय यह है कि कालान्तर में आगम की शुद्ध वैदिक साधना-पद्धति विस्मृत कर दी गई और उसके स्थान पर आसुरी-तन्त्र का अधिक प्रचार हुआ। आवश्यकता इस बात की है कि आगम के शुद्ध सिद्धान्तपक्ष को समझ कर उसके द्वारा वैदिकतत्त्व को हृदयगम किया जाय जिससे पूर्वपाणिनीयम के निम्नलिखित मर्म को समझ सकें —

शास्त्रो धर्मं, धर्मात् अपवर्गामापवर्गौ ।

इस प्रसङ्ग में पाठकों की एक कठिनाई की ओर सङ्केत करना आवश्यक प्रतीत होता है। आगम-ग्रन्थों में अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनको उनके साधारण लौकिक अर्थ में ग्रहण करने में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उदाहरण के लिये पञ्चमकार तथा नर-नारी–सम्बन्ध से शक्तिपूजन के प्रसङ्ग में प्रयुक्त मैथुनादि शब्द साधारण पाठक के लिये भ्रम पैदा करने वाले हो सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार की शक्ति साधना का उद्देश्य व्यभिचार कदापि नहीं है। इसी ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शक्ति-सङ्गमतन्त्र को उद्धृत करते हुए लेखक ने इस साधना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है—

साधकैर्विना योषित्सङ्गान् मन्त्रो न सिद्ध्यति ।
सङ्ग एव हि कर्तव्यः कर्तव्यं न च मैथुनम् ॥
पूजनीया सदा योषा मद्भावकृतनिश्चया ।
तस्मान्न मैथुनं देव कर्तव्यं मम साधक ॥

वस्तुतः नारी नर की शक्ति है, परन्तु पुरुष अपने अविवेकपूर्ण उपयोग द्वारा उसको अपनी अशक्ति में परिवर्तित कर डालता है। विवेकपूर्ण तथा संयमयुक्त व्यवहार द्वारा पुरुष अपने वैवाहिक जीवन को ऐसी गरिमा प्रदान कर सकता है जिसके द्वारा वह नारी समाज के उस भारतीय आदर्श को स्थापित कर सकता है जिसकी घोषणा शास्त्रकारों में इस प्रकार की गई है—

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः ।
न नारीसदृशं भाग्यं न नारीसदृशो जपः ॥
न नारीसदृशं योगं न नारीसदृशं तपः ।
न नारीसदृशो धर्मो न नारीसदृशं धनम् ॥
न नारीसदृशं मित्रं न भूतं न भविष्यति ।

अब तक आगम-शास्त्रों के ऐसे ग्रन्थों की सुगम और सुबोध व्याख्या प्रस्तुत कर हम सार्वजनिक कल्याणकारी ग्रन्थों के प्रकाशन तथा प्रसार अभियान में

पाठको का मन हटाया नहीं जा सकता, तब तक इन ग्रन्थो के प्रकाशन या प्रचार से कोई लाभ नहीं हो सकता है। प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ग्रन्थकार के प्रपौत्र होने के कारण परम्परागत रहस्य को समझने वाले संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् हैं। उन्होंने इस भाग की भूमिका में आगमशास्त्र की कुछ बातों का सरल एवं सुबोधभाषा में परिचय कराया है, परन्तु जिन रहस्यों की ओर ऊपर सङ्केत किया गया है, उसका विद्वत्तापूर्ण विवेचन ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध की भूमिका में अभी अपेक्षित है। यह विषय मुख्यत ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में प्रस्फुटित हुआ है। अत उसी की भूमिका में विद्वान् सम्पादक इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

आशा है इस ग्रन्थ के सपादक का यह प्रयत्न हिन्दी में आगमशास्त्र की चर्चा को प्रोत्साहन देगा और सपादक महोदय राष्ट्रभाषा को अपने आगमशास्त्रीय विचार-विमर्श के द्वारा अधिकाधिक समृद्ध बनाने का प्रयत्न करेंगे।

जय हिन्द, जय हिन्दी।

स्थापना दिवस २०२४ फतहसिंह

का समावेश सुगमता से हो जाता है। यही कारण है कि आगमशास्त्र का भी प्रचार तन्त्ररूप में न केवल शैवों एवं शाक्तों में हुआ, अपि तु वैष्णवों, बौद्धों एवं जैनों में भी इसकी लोकप्रियता हुई। परन्तु खेद का विषय यह है कि कालान्तर में आगम की शुद्ध वैदिक साधना–पद्धति विस्मृत कर दी गई और उसके स्थान पर आसुरी-तन्त्र का अधिक प्रचार हुआ। आवश्यकता इस बात की है कि आगम के शुद्ध सिद्धान्तपक्ष को समझ कर उसके द्वारा वैदिकतत्त्व को हृदयंगम किया जाय जिससे पूर्वपाणिनीयम् के निम्नलिखित मर्म को समझ सकें —

शब्दो धर्मः, धर्मात् अर्थकामापवर्गाः ।

इस प्रसङ्ग में पाठकों की एक कठिनाई की ओर सङ्केत करना आवश्यक प्रतीत होता है। आगम ग्रन्थों में अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनको उनके साधारण लौकिक अर्थ में ग्रहण करने में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उदाहरण के लिये पञ्चमकार तथा नर-नारी–सम्बन्ध से शक्तिपूजन के प्रसङ्ग में प्रयुक्त मैथुनादि शब्द साधारण पाठक के लिये भ्रम पैदा करने वाले हो सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार की शक्ति साधना का उद्देश्य व्यभिचार कदापि नहीं है। इसी ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शक्तिसंगमतन्त्र को उद्धृत करते हुए लेखक ने इस साधना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है—

सत्यमेतद्विना योषित्सङ्गान् मन्त्रो न सिद्ध्यति ।
सङ्ग एव हि कर्त्तव्यः कर्त्तव्यं न च मैथुनम् ॥
पूजनीया सदा योषा सद्भावकृतनिश्चया ।
तस्मान्न मैथुनं देवि कर्तव्यं मम साधकैः ॥

वस्तुतः नारी नर की शक्ति है, परन्तु पुरुष अपने अविवेकपूर्ण उपयोग द्वारा उसको अपनी अशक्ति में परिवर्तित कर डालता है। विवेकपूर्ण तथा संयममय व्यवहार द्वारा पुरुष अपने वैवाहिक जीवन को ऐसी गरिमा प्रदान कर सकता है जिसके द्वारा वह नारी-सम्मान के उस भारतीय आदर्श को स्थापित कर सकता है जिसकी घोषणा आगमग्रन्थों में इस प्रकार की गई है—

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः ।
न नारीसदृशं भाग्यं न नारीसदृशो जपः ॥
न नारीसदृशं तीर्थं न नारीसदृशो तपः ।
न नारीसदृशो योगो न नारीसदृशं यशः ॥
न नारीसदृशं मित्रं न भूतं न भविष्यति ।

जब तक आगम–ग्रन्थों के ऐसे प्रसङ्गों की सुस्पष्ट और सुबोध व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के अवाञ्छित तथा अश्लील अभिप्राय से

पाठकों का मन हटाया नहीं जा सकता, तब तक इन ग्रन्थों के प्रकाशन या प्रचार से कोई लाभ नहीं हो सकता है। प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ग्रन्थकार के प्रपौत्र होने के कारण परम्परागत रहस्य को समझने वाले संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् हैं। उन्होंने इस भाग की भूमिका में आगमशास्त्र की कुछ बातों का सरल एवं सुबोधभाषा में परिचय कराया है, परन्तु जिन रहस्यों की ओर ऊपर सङ्केत किया गया है, उसका विद्वत्तापूर्ण विवेचन ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध की भूमिका में अभी अपेक्षित है। यह विषय मुख्यतः ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में प्रस्फुटित हुआ है। अतः उसी की भूमिका में विद्वान सम्पादक इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

आशा है, इस ग्रन्थ के संपादन का यह प्रयत्न हिन्दी में आगमशास्त्र की चर्चा को प्रोत्साहन देगा और संपादक महोदय राष्ट्रभाषा को अपने आगमशास्त्रीय विचार-विमर्श के द्वारा अधिकाधिक समृद्ध बनाने का प्रयत्न करेंगे।

जय हिन्द, जय हिन्दी।

स्थापना दिवस २०२४ फतहसिंह

समर्पण-पत्रम्—

आगमशास्त्रपारदृश्वनां प्रातःस्मरणीयानां सरस्वत्यानन्दनाथेत्यपर-नामधेयानां सत्संप्रदायाचार्य—पण्डितप्रवर श्रीसरयूप्रसादद्विवेद-महाभागानां करकमलयोरर्पितेयं कृतिरागमानुरागिणां प्रति-भोदयं विदधती कल्पान्तमुन्मीलत्वित्याशासानः पद्यप्रसूना-ञ्जलिना समभ्यर्च्य तन्महो निर्वृत आस्ते तदीयप्रपौत्रः ।

अखण्डसौभाग्यविभूतिसूतिर्विश्वम्भरालङ्करणैकहेतुः ।
समीहिताकल्पनकल्पवल्ली जयत्ययोध्या कमलालया च ॥ १ ॥

तस्याः पृष्ठचरीव पश्चिमदिशि श्रीशाष्टकाभ्यन्तरे,
पाण्डित्यास्पदमस्ति पण्डितपुरी पिल्खावपर्यन्तभूः ।
यत्राभ्यर्थनतोऽपि भूरिदतया गीतावदानोत्करः,
प्रालेयद्युतिशेखरो विजयते श्रीजङ्गलीवल्लभः ॥ २ ॥

तां चाध्युवास विविधान् वसुधाविभागान्,
भ्रान्त्वा स्वधर्मपरिरक्षणबद्धलक्ष्यः ।
रात्रिंदिवं भगवतीचरणारविन्द-
ध्यानानुरक्तहृदयः सरयूप्रसादः ॥ ३ ॥

अथ निगमविरुद्धधर्मनिष्ठां हरिहरभेदनिरूपणाद्यजुष्टाम् ।
श्रुतिवचनबलेन यत्र कृष्ट्वा सुसदसि भागवतान् प्रकामपुष्टान् ॥ ४ ॥

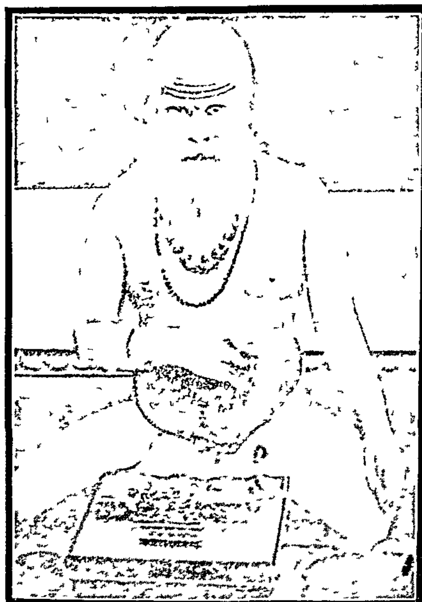
जननयनविनोदनैकधाम्नि प्रमुदितलोकनिवासभासि तत्र ।
जयपुरनगरे ज्वलत्प्रतापज्वलनशिखाशमितारिमण्डलेन ॥ ५ ॥

स्मृतिविहितविशुद्धधर्मचर्याप्रतातिविरोपणवर्धितादरेण ।
स खलु निवसति स्म रामसिंहक्षितिपतिनादृत आगमं वितन्वन् ॥ ६ ॥

तत्तद्देशनिवासिशिष्यनिवहानीतोपहारार्चित-
स्तत्तत्सज्जनसंघसत्कृतिविधाविद्योतमानाङ्गनः ।
तांस्तान् शास्त्रगवीश्च पण्डितपुरीमध्ये भृशं वर्धयन्-
स श्रीमान् सरयूप्रसादसुमनाः सानन्दमामासते ॥ ७ ॥

गङ्गाधरद्विवेदः,
सम्पादकः ।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।



ग्रंथकर्ता-स्वर्गीय आचार्य श्रीसरयूप्रसादजी द्विवेदी

प्रस्तावना

अवतरणिका—आगम अथवा तन्त्र वेदो के समान ही भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के मूलस्रोत माने जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष या पुरुषार्थचतुष्टय को सुलभ करना ही इस शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। अनेक दृष्ट-अदृष्ट कर्मो के परिपाक से उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियो और विचारधाराओ के जनसमुदाय के अनुग्रहार्थ परमकारुणिक परमेश्वर ने विविध विद्याओ की सृष्टि की है। जैसा कि श्रुति कहती है—'ईशान सर्वविद्यानाम्।'

—तैत्ति० आर० १० प्र० १ अ०

'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।'
'तस्मै वेदान् पुराणानि दत्तवानग्रजन्मने।'

स्मृति में भी कहा है —

'अष्टादशानामेतासा विद्याना भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कवि साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुति ॥'

इन वचनो.से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर द्वारा प्रणीत समस्त विद्याए प्रामाणिक और उपादेय है। किन्तु वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुसार एव चित्तशुद्धि के तारतम्य के कारण उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियो की दृष्टि से ही उनके ग्राह्य किंवा अग्राह्य होने का निणय किया गया है। इसलिए किसी विद्या की प्रशसा या निन्दा म कहे गये शास्त्रीय वाक्यो का तात्पर्य केवल अधिकारियो और अनधिकारियो के लिए प्रवृत्ति या निवृत्ति की व्यवस्था करना ही है। 'शासनाच्छास्त्रम्' इस शास्त्र पद की व्युत्पत्ति का यही आशय है। शासन का अर्थ प्रवृत्ति किंवा निवृत्ति के द्वारा शब्दभावना को व्यक्त करने वाली परमेश्वर की आज्ञा है। इसीलिए शास्त्र की परिभाषा में कहा गया है —

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पु सा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥'

महर्षि वेदव्यास का भी यही कथन है—

'शास्त्रयोनित्वात्।' शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् इत्यादि।

—ब्रह्मसू० १ १ ३

आगमशास्त्र का उद्देश्य सर्वसाधारण को उसकी अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार सुगम रीति से अपेक्षाकृत थोडे समय मे अभ्युदय और नि श्रेयस का मार्ग प्रशस्त करना है। वैदिक रीति नीति और प्रक्रिया के अत्यत दुरूह और कष्टसाध्य होने से, साथ ही त्रैवर्णिको को छोडकर अन्य लोगो का उसमे प्रवेश

निषिद्ध होने के कारण उससे लाभ ले पाना सब के लिए सभव न होने से, आगम या तन्त्र मार्ग का जन्म हुआ है। इसका यह अर्थ कदापि नही कि उपासना और ज्ञानकाण्ड के क्षेत्र मे, वेदो की तुलना में तन्त्रो को कम महत्त्व या दूसरा स्थान दिया जाना चाहिए—प्रत्युत आगम और निगम या तन्त्र और वेद आपस में एक दूसरे के पूरक होने के साथ २ परस्पर में ऐसे जुडे हुए है कि उनके कार्यक्षेत्र का विभाजन कर सकना व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा असभव है। यही नही ऐसी कल्पना को जन्म देना दोनो शाखाओं के मूलप्रवर्तक ऋषि-मुनियो और आचार्यो की भावनाओ के भी एकातत विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में, आगे विस्तृत चर्चा की जायगी। यहा केवल इतना ही कहा जायगा कि वेदो की तरह तन्त्रो की भी सार्वभौम मान्यता है, केवल भ्रम या अज्ञान के वशीभूत होकर उनके बारे मे किसी प्रकार का सदेह करना अनुचित और निन्दनीय है। दोनो की अभिन्नता और पारमार्थिक एकरूपता को समझने के लिए कूर्मपुराण में भगवती के मुख से देवतात्मा हिमालय को यह कहना कितना अर्थ रखता है—

'ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेदसज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजु सामरूपेण सर्गादौ सप्रवर्तते॥'

अतएव ऊचे नीचे, मनगढत या स्वेच्छाप्रेरित तर्को के सहारे आर्षवाणी किंवा आगमोक्त गूढ तत्वो के विषय मे किसी प्रकार की विपरीत धारणा को प्रश्रय देना शास्त्रसम्मत नही माना गया है। मनु ने इसी लक्ष्य से यह सार्वदेशिक घोषणा की है —

'प्रत्यक्षमनुमान च शास्त्र च विविधागमम्।
त्रय सुविदित कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥'
'आर्षं धर्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतर॥'

—मनुस्मृ० अ० १२ १०५ १०६

आगम या तन्त्र—आगम और तन्त्र शब्द सामान्यत पर्यायवाची बनकर व्यवहार मे प्रचलित हैं। किन्तु शब्दशक्ति के स्वारस्य और गौरवभावना की दृष्टि मे आगम शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है, तथा तन्त्र शब्द की तुलना मे यह कही अधिक व्यापक और हृदयग्राही है। यामल मे आगम का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'आगत शिववक्त्रेभ्यो गत च गिरिजामुखे।
मत श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥'

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी मे आगम की व्याख्या यो की है—
'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि श्रेयसोपाया स आगम।' १७

महाकवि कालिदास ने भी आगम को प्रश्रय और महत्त्व दिया है—

'बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थान सिद्धिहेतव ।' —रघुवश १० २६

वाराही तन्त्र मे आगम के स्वरूप और उसकी इतिकर्तव्यता का परिचय यो दिया गया है—

'सिद्ध सिद्धे प्रमाणैस्तु हित चात्र परत्र च ।
आगम शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिन ॥'
'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवताना तथार्चनम् ।
साधन चैव सर्वेषा पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधन चैव ध्यानयोगश्चतुर्विध ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागम त विदुर्बुधा ॥'

तात्पर्य यह कि रागद्वेष से निर्मुक्त आप्त पुरुषो * द्वारा उपदिष्ट लोक एव परलोक मे हितकर, प्रमाणसिद्ध शास्त्र आगम कहलाता है। इसमे सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सब मन्त्रो के साधन और पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) का साधन और ध्यानयोग का निरूपण किया गया है।

---

*महर्षि पतञ्जलि ने चरक मे आप्तो की परिभाषा यो की है —

रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषा त्रैकालममल ज्ञानमव्याहत सदा ॥
आप्ता शिष्टा विबुद्धास्ते तेषा वाक्यमसशयम् ।
सत्य वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्य नीरजस्तमा ॥

भावार्थ—जो तप और ज्ञान के बल से रजोगुण एव तमोगुण से सर्वथा मुक्त होते हैं और जिनका निर्मल ज्ञान तीनो कालो (भूत-भविष्यत्-वर्तमान) मे एकाकार रहता है, ऐसे प्रबुद्ध और शिष्ट महापुरुष आप्त कहलाते हैं। उनकी वाणी सदा सत्य और नि सन्देह होती है।

महाकवि भवभूति ने भी आप्त पुरुषो के वचन पर दृढ विश्वास रखने के लिए बल दिया है —

आविर्भूतज्योतिषा ब्राह्मणाना
ये व्याहारास्तेषु मा सशयोऽभूत ।
भद्रा ह्येषा वाचि लक्ष्मीर्निषण्णा
नैते वाच विप्लुतार्था वदन्ति ॥ —उत्त० राम० ४ अ०

भावार्थ— ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले तप पूत ऋषि महर्षियो के कथन पर कभी सदेह नही करना चाहिए। इनकी वाणी कल्याणदायिनी होती है और ये लोग कभी असत्य नही बोलते।

देश काल के अनुसार उपासना प्रणाली में परिवर्तन होता रहा है। आचार्य शकर ने प्रपञ्चसार मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है —

'श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागमसम्भव ॥'

अर्थात् सत्ययुग मे वेद विहित यज्ञ यागादिक त्रेता में स्मार्त या स्मृति-प्रतिपादित, द्वापर मे पौराणिक पद्धति तथा कलियुग में आगमोक्त उपासना को विशेष महत्त्व दिया गया है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि भारत के अन्तिम क्षत्रिय सम्राट महाराज पृथ्वीराज के समय तक उपासना के क्षेत्र में कही कोई विसवाद न था। यदि कुछ था भी, तो वह नही के बराबर था और सामान्य जनता पर उसका कोई विपरीत प्रभाव न पडता था। वर्णाश्रम के नियमो का पालन और उसका अनुराग इतना सुदृढ था कि इसके उल्लघन का साहस कोई न करता था। उसके बाद वर्णाश्रम की मर्यादा ज्यो ज्यो शिथिल और विकृत होने लगी—धर्म और उपासना का मार्ग भी उत्तरोत्तर सकीर्ण और विवादग्रस्त बनता गया।

इसके परिणामस्वरूप इस देश मे, विभिन्न सम्प्रदायो और मत मतान्तरो के आवरण मे आगम की अनेक शाखा-प्रशाखाए हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्यापक रूप से प्रचलित हुई। इनका क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत बन गया कि विभिन्न प्रान्तो में अपनायी गई प्रणालियो का वास्तविक परिचय पा सकना बहुत ही कठिन हो गया। फलत आगमशास्त्र के विशाल साहित्य का क्रमिक या धारावाहिक ज्ञान एव उसकी उन्नति या अवनति का ठीक २ लेखा-जोखा दे सकना सभव नही हो सकता। कारण यह है कि इस शास्त्र की विशाल ग्रन्थराशि मे कुछ का साहित्य उपलब्ध है—तो कुछ का केवल नामश्रवण ही किया जा सकता है-कुछ अपूर्ण मिलती हैं-तो कुछ अस्तव्यस्त या काल-कवलित हो गई। इसके सिवा, अन्य भारतीय शास्त्रो की तरह यहाँ भी न्यूनाधिक भाव मे 'नैको मुनिर्यस्य मत प्रमाणम्' की उक्ति चरितार्थ होती है। इन परिस्थितियो मे सत्य की खोज के लिए, मौलिक आधार को छोडकर और कोई कारगर उपाय दृष्टिगोचर नही होता, जिसके सहारे इस साहित्य के अतीत और वर्तमान का समन्वय सतोषजनक ढग से स्थापित किया जा सके। फिर भी आचार्यों द्वारा परीक्षित उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस शास्त्र के गूढ तत्त्वो का आशय एक सीमा तक समझा और परखा जा सकता है। आगमो का प्रतिपाद्य विषय भूतभौतिक सृष्टि सहित पूर्व मे परिगणित विषयो का विवेचन और वर्गीकरण है। इस प्रसग से कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड के

विभिन्न तत्वों का इस शास्त्र में जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह वैज्ञानिक होने के साथ साथ दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, और अन्तर्दृष्टि से गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

तन्त्र शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से 'सर्वधातुभ्य ष्ट्रन्' इस उणादिसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से बना है। तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्। 'कामिक आगम' में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥'

आशय यह कि आगमोक्त सिद्धान्त और यन्त्र मन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधन मार्ग का उपदेशक शास्त्र तन्त्र कहलाता है। साधकों को संरक्षण देने के कारण इसे त्राणकर्ता कहते हैं।

उपासना का स्वरूप— इस विशाल सृष्टिप्रपंच के दो आधारभूत मूलस्तंभ माने जाते हैं- एक का नाम ब्रह्म है और दूसरे का माया। ब्रह्म और माया का परिणाम यह विशाल ब्रह्माण्ड है। श्वेताश्वतर की श्रुति है—

'माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तयोर्विभूतिलेशो वै जगदेतच्चराचरम् ॥'

स्मृति कहती है—

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥'

सांख्यदर्शन का कहना है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।'

फलतः ब्रह्म और माया का अस्तित्व भले ही अलग २ माना जाय किन्तु लोकव्यवहार में वे दोनों अलग न होकर परस्पर में एक दूसरे से संयुक्त या अभिन्न रहते हैं। इसीलिए दार्शनिकों ने कहा है—

'शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥'

ब्रह्म का प्रधान मन्त्र प्रणव अथवा ओंकार कहलाता है, और माया का मुख्य मन्त्र मायाबीज या ह्रींकार कहा जाता है। तैत्तिरीय संहिता में 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' का उल्लेख इसी आशय से किया गया है।

बृहदारण्यक मे—

'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दशेयय वै हरय ।'

इसी मायाबीज का उल्लेख रकार को हटाकर ह्रस्व इकार के साथ सामवेद मे किया गया है—

'पृथ्वी हिङ्कारो आदित्यो हिङ्कारो द्यौर्हिङ्कार पुरोवातो हिङ्कार प्रजापतिर्हिङ्कार उद्यन्हिङ्कारो मनो हिङ्कार ।'

मायाबीज को हिङ्कार कहने की पुष्टि भुवनेश्वरी सहिता के इस वाक्य से होती है—

''साम्नु प्रथमाभक्ति हिङ्कारो मे मनुर्मत ।
ह्रस्वेकारयुत तत्तु मायाबीज प्रचक्षते ॥'

देव्यथर्वशीर्ष मे भी मायाबीज के इस स्वरूप और महत्त्व को मन्त्रोद्धार की साकेतिक भाषा मे बतलाते हुए कहा है—

'वियदीकारसयुक्त वीतिहोत्रसमन्वितम् ।
अर्धेन्दुलसित देव्या बीज सर्वार्थसाधकम् ॥
एवमेकाक्षर मन्त्र यतय शुद्धचेतस ।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशय ॥'

माया और ब्रह्म के स्वरूप के परिचायक पूर्वोक्त श्रुति स्मृति के वाक्यो से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म के जितने नाम ध्रुव, तार आदि प्रचलित हैं वे सब उसका परिचय कराने वाले प्रणव के ही नाम हे। क्योकि 'तस्य वाचक प्रणव' इस योगदशन के अनुसार प्रणव 'ब्रह्म' का वाचक है। इसी प्रकार—

'मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी ।
माया मूर्त्ति कला वाणी बीजशक्तिश्च कुण्डली ॥'

इस उक्ति के अनुसार मायाबीज के जितने नाम हैं वे सब के सब ह्रीकार के वाचक हैं।

ब्रह्म और माया का तादात्म्य अथवा अभिन्नता ही अद्वैतवाद की मूल कल्पना का आधार है। इसलिए 'प्रणव' और 'मायाबीज' केवल ब्रह्म या माया के ही वाचक न होकर दोनो ही एक दूसरे के वाचक माने जाते हैं। ब्रह्माण्ड-पुराण मे 'ह्रीकार उभयात्मक' कहने का यही आशय है। आचार्य शकर ने प्रणव और मायाबीज को एक दूसरे का वाचक माना है—

'तदा ता तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुता ।
तामेव शक्ति ब्रुवते ह्रीमात्मेति चापरे ॥'

इस प्रक्रिया को समझ लेने पर यह सुगमता से जाना जा सकता है कि उपासना के क्षेत्र में इन दोनो बीजो का कितना महत्त्व है-और इनका स्वरूप कितना विशाल और व्यापक है। तान्त्रिक लोग जिसे 'बिन्दु' कहकर व्यवहार करते हैं उसका मूल इन दोनो बीजो का सम्मिलित रूप है। दूसरे शब्दो मे इसको मायाशबल ब्रह्म कहते हैं। शारदातिलक में बिन्दु की उत्पत्ति का प्रकार यो बतलाया है—

'आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भव ।'

तात्पर्य यह कि प्रणव के देवता शिव या रुद्र और मायाबीज की देवता भुवनेश्वरी कहलाती हैं। इसीलिए मायाबीज का दूसरा नाम भुवनेश्वरी बीज भी प्रचलित है। मायाबीज का वाच्य बिन्दु है। बिन्दु से ही, क्रमश इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति के रूप मे रौद्री ज्येष्ठा और वामा शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इनके द्वारा ही अनन्त शक्तियो का आविर्भाव होता है। तान्त्रिक उपासना का आधार यह 'बिन्दु' ही माना जाता है। यहा सक्षेप मे इसके मूलरूप का परिचय करा दिया गया है। इससे अधिक, यहा कुछ लिखने का अवसर न होने से यह प्रसग यही समाप्त किया जाता है।

आगमोक्त उपासना का मार्ग—उपासना के द्वारा चतुर्वर्गफल प्राप्ति का सिद्धान्त शास्त्रकारो ने स्वीकार किया है। किन्तु निर्गुण ब्रह्म का कोई आधार न होने से उसकी उपासना कैसे सभव हो सकती है ? अतएव सगुण-निर्गुण के भेद से ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥'
—रामतापिनी, कुलार्णवतन्त्र

यहा चिन्मय का अर्थ ज्ञानमय और अद्वितीय का अर्थ एक है। जैसा कि मार्कण्डेयपुराण मे बताया है—

'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।'

इस रूप के प्रतिपादक अनेक वाक्य मिलते हैं जिनमे यह सिद्ध होता है कि उपासना के लिए सगुण रूप की कल्पना शास्त्रसमत है। अग्निपुराण मे स्पष्ट निर्देश किया गया है—

'साधूनामाश्रमस्थाना भक्ताना भक्तवत्सल ।
उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ॥'

इस प्रसंग मे यह भी ज्ञातव्य है कि उपासना की दृष्टि से ही ब्रह्म के स्त्री एव पुरुष रूप की कल्पना की गई है। इसका स्पष्टीकरण 'शक्तिसङ्गम' में इस प्रकार है—

'तेज पुञ्जमय देवि ! ब्रह्मरूप सनातनम् ।
तेज पुञ्जादेव भूत जगदेतच्चराचरम् ॥
रामो जात शिवो देवि ! राजराजेश्वर शिव ।
श्री सैव सुन्दरी जाता विष्णुर्जातो महेश्वर ॥
लक्ष्मीपतिर्यो देवेशि ! स च वै पार्वतीपति ।
गौरीपतिर्यो देवेशि ! स च लक्ष्मीपति प्रिये ॥
उभयो र्व्यत्ययो देवि जात एव महेश्वरि ।
गौरीलक्ष्म्यो र्व्यत्यय हि एवमेव शृणु प्रिये ॥
सीता चैव स्वय गौरी लक्ष्मी श्रीकुलसुन्दरी ।
एव जात महेशानि शिवरामात्मक जगत् ॥
क्वचिच्च विष्णुवद् ध्येय क्वचिच्छैवात्मक प्रिये ।
अत्रार्थे प्रत्ययो देवि शिवरामाह्वय यत ॥
विष्णुध्यान शिवध्यान गौरीलक्ष्म्योर्महेश्वरि ।
शिवरामात्मक ज्ञान ब्रह्मरूप सनातनम् ॥
उभयोरन्तर देवि य पश्यति स मूढधी ।'

विष्णुयामल का भी यही मत है —

'मातस्त्वत्परम रूप तन्न जानाति कश्चन ।
कालाद्या स्थूलरूप हि यदर्चन्ति दिवौकस ॥
स्त्रीरूप वा स्मरेद् देवि पु रूप वा स्मरेच्छिवे ।
स्मरेद् वा निष्कल ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥'

भारत मे प्राचीन काल से ही पच देवो की प्रस्तर या धातुघटित प्रतिमाओ अथवा स्फटिक आदि से निर्मित विभिन्न देवताओ के यन्त्रो का पूजन प्रचलित था। यही नही गृहस्थो तथा अन्य भक्तो द्वारा अपनी अपनी रुचि के अनुसार विष्णु, शिव और शक्ति के पञ्चायतनो की पूजा का भी विशेष प्रचार था। देश का जनमानस श्रद्धा भक्ति से परिपूर्ण होकर शात भाव से ईश्वरोपासना में तल्लीन था। और उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार के सघर्ष, आपसी वैमनस्य अथवा एक दूसरे के प्रति इस सन्दर्भ मे हीन या उच्च भावना जनित राग-द्वेष का कोई अवसर न था, बल्कि एक ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण था,

जिसमे श्रद्धालु लोग अपने अपने अधिकार और सामर्थ्य के अनुरूप वैदिक किंवा तान्त्रिक पूजा विधान को अपनाये हुए थे। विविधता के होते हुए भी सब लोग एकता के सूत्र मे आबद्ध थे, और सुख शान्ति का साम्राज्य था। इसका कारण ऋषि मुनियो की उदात्त-भावना, लोककल्याण और लक्ष्यवस्तु की प्राप्ति के लिए समन्वयात्मक जागरूकता थी। नीचे दिये गये विभिन्न उद्धरणो से इस बात की पुष्टि होती है—

'मानुषाणामुमादेवी तथा विष्णुस्तथा शिव ।
यो यस्याभिमत पु स सा हि तस्यैव देवता ॥
किन्तु कार्यविशेषेण पूजिता स्वेष्टदा नृणाम् ॥' —कूर्मपुराण

और—

'एक प्रशसमानेन सर्वे देवा प्रशसिता ।
एक विनिन्दमानो य सर्वानेव विनिन्दति ॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत् ।
भेदकृन्नरक याति यावदाभूतसप्लवम् ॥' —यामल

लक्ष्य की दृष्टि से विभिन्न देवताओ की एकरूपता और उनके स्वाभाविक समन्वय का स्वारस्य कितना मार्मिक और स्वाभाविक है, इसका विवेचन भी सुनिये—

'यथा दुर्गा तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिव ।
एतत्त्रयं त्वेकमेव न पृथग् भावयेत् सुधी ॥
योऽन्यथा भावयेत् देवान् पक्षपातेन मूढधी ।
स याति नरक घोरं रौरव पापपूरुष ।''

—वराहपुराण

'ध्यानगम्य प्रपद्यन्ति रुचिभेदात् पृथग्धिय ।' —यामल

'एषैव हि महामाया नामभेदसमाश्रिता ।
विमोहनाय लोकानां तस्मात् सवमयी भवेत् ।'
'सदसद्व्यापिनी शक्ति परा प्रकृतिरीश्वरी ॥' —परातन्त्र

इन आर्षवाक्यो की भावना कितनी निर्मल और पवित्र है—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और विचार करने पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि चतु सम्प्रदायी वैष्णवो ने स्वार्थबुद्धि से अपने अपने सम्प्रदायो का मायाजाल फैलाकर भगवान् वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र पर धावा बोलकर, और मनमानी खीचातानी के बल पर वैदिक मन्त्रो के मौलिक अर्थ

को अपने अपने अभोष्ट के अनुमार मोड देकर, वेदान्तदर्शन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत का जो तिरगा झण्डा फहराया और पृथक् २ वादो को जन्म दिया, उससे इस क्षेत्र की एकता को बडा आघात पहुँचा और परम्परागत अद्वैतवाद इतना जटिल और दुर्भेद्य बन गया कि उसको सहजभाव से, हृदयगम कर सकना सबके वश की बात नही रह गई। एकता के विघटन की इस प्रवृत्ति का प्रभाव उपासना के क्षेत्र म भी फैला और शैव वैष्णवो की अलग २ जमाते बन गई । आगे चलकर पृथकृतावादी मनोवृत्ति ने इतना जोर पकडा कि परमार्थ साधन के मार्ग मे भी बाधा उपस्थित हो गई और सदा सर्वदा के लिए एक दूसरे से हम अलग हो गए। यदि सामान्य स्तर तक ही यह बात होती तब भी उसका कोई समाधान सुलभ हो सकता था, किन्तु पार्थक्य की दृढ भावना के कारण उसकी नीव इतने अभिनिवेश के साथ डाली गई कि अब आगे से पीछे लौटने का कोई प्रश्न ही न रह गया। इस प्रसग मे महात्मा तुलसीदास की यह उक्ति याद आती है—

हरित भूमि तृण सकुलहि, समुझि परे नहि पन्थ।
जिमि पाखण्ड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥

यहाँ इस कटुसत्य की चर्चा करने का उद्देश्य केवल यह है कि ऋषि-मुनियो अथवा तन्त्रकारो की मूलदृष्टि एकता की ओर ही रही है और प्राय प्राचीन आचार्यों और टीकाकारो ने भी इसी पर बल दिया है। इस सम्बन्ध मे तन्त्रो के कतिपय प्रमाण वाक्य ऊपर दिये जा चुके हैं। किन्तु प्रबुद्ध पाठको को और अधिक आश्वस्त करने की दृष्टि से इसके समर्थन मे वेदो और उपनिषदो तथा अन्य मान्य आचार्यों के कुछ सारभूत मन्तव्य प्रस्तुत करना अधिक वाञ्छनीय होगा।

'जन्माद्यस्य यत' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार जगत् की सृष्टि-स्थिति और सहार क्रियाए कारणब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्मा विष्णु और रुद्र में उपचरित होती हैं—किंवा कारण ब्रह्म के ही ये नाम हैं। मैत्रायणी उपनिषद् मे यह बात स्पष्ट की गयी है —

'अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोऽशोऽसौ, स योऽय ब्रह्मा। अथ यो ह खलु वा वास्य तामसोऽशोऽसौ, स योऽय रुद्र। अथ यो ह खलु वा वास्य सात्विकोऽशोऽसौ, स योऽय विष्णु।

इसलिए यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही कि उपासना को सुलभ बनाने के लिए निराकार ब्रह्म को साकार म परिणत किया गया है।

आचार्य पुष्पदन्त ने-शिव महिम्न स्तोत्र म इस आशय की पुष्टि की है —

'अतीत प"थान तव च महिमा वाङमनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या य चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
म कस्य स्तोतव्य कतिविधगुण कस्य विषय
पद त्ववर्चीने पतति न मन कस्य न वच '॥'

भेददृष्टि का निराकरण करने वाली इन श्रुतियो का भी यही रहस्य है—

इ द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरयो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा वहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥'
—ऋ स २ अ ३ अनु २२ अश्व स ६ वा २१ प्रपा ५ अनु

१ भावाथ—तुम्हारी महिमा वाक्य और मन के व्यापारो से वाहर है। वेद भी जिसका विश्व प्रपञ्च से भिन्नरूप मे भयभीन होकर उल्लेख करते हैं। जो किसी प्रमाण का प्रत्यक्ष विषय नहीं है। जिसका किसी भी गुण के द्वारा निर्देश नही किया जा सकता—ऐसी महिमा किसका स्तुतिसाध्य विषय हो सकता है। अर्थात् कोई भी उसकी स्तुति करने मे समय नहीं। किंतु तुम्हारे परवर्ती साकार रूप मे किसका मन और वाक्य प्रवृत्त नहीं हुआ। अर्थात् आपके साकार रूप को सब लोग मन और वाक्य से ग्रहण कर सकते हैं।

पूज्यपाद प० श्री गिरिजाप्रसाद द्विवेदी जी ने इस श्लोक की विशेष-चर्चा मे इसका जो आशय व्यक्त किया है वह यहाँ उल्लेखनीय है—

' शैव दर्शन के मत मे परमशिव निर्गुण और निराकार है, सृष्टि के पूर्व परमशिव के स्पन्द से शिव और शक्ति का आविर्भाव हुआ है। यह आविर्भूत शिव, शक्तिसमष्टि एव तीनों गुणो के आधार हैं। ईशान, वामदव, चन्द्रशेखर आदि रूप सगुण शिव की ही विभूति हैं—यह साकार है। जिसका कोई गुण किंवा विशेषण नहीं है वह किसी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। परमशिव मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध इन पांचो का अभाव होने से वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। उनमे हेतु और प्रत्यक्ष का उपन्यास सभव न होने से अनुमान प्रमाण के भी वे बाहर हैं। विशेषणहीनता से शब्दप्रमाण भी उनको स्पर्श नहीं कर पाता। शब्दप्रमाण वेद ने 'वे यह नहीं, वह नहीं' इत्यादि निषेधवाक्यो से उनको बताने की चेष्टा की है। निर्विशेषणवश विधिवाक्य भी उसे नहीं बता सके-यही चकित भयभीत होने का कारण है। सगुण साकार रूप प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। इसलिए बुद्धि और साधन के न्यूनाधिक भावो के अनुसार सब कोई स्तुति कर सकता है। निराकार से ही साकार का विकास है-इस कारण साकार निराकार का परवर्ती होने से 'अर्वाचीन' शब्द से साकार रूप का ग्रहण किया गया है।

—देखिये न० कि० प्रेस का शिवमहिम्न, पृ० ३

स ब्रह्मा स शिव सेन्द्र सोऽक्षर परम स्वराट् ।
स एव विष्णु स प्राण स कालोऽग्नि स चन्द्रमा ॥ —कैवल्योपनिषद

इस भेदमूलक भ्रम के निवारणार्थ ही वेदान्त कल्पतरु का कथन है—

'निर्विशेष पर ब्रह्म साक्षात्कर्त्तु मनीश्वरा ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणे ॥
वशीकृते मनस्येषा सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

पूर्वोक्त वाक्यो के सामञ्जस्य और उपसहार के लिए यहाँ दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित कथन को हृदयगम कर लेने से सब प्रकार की आशकाओं का पूर्ण समाधान हो जाता है—

'अनस्तमितभारूपस्तेजसा तमसामपि ।
य एकोऽन्तर्यदन्तश्च तेजांसि च तमांसि च ।
स एव सर्वभावाना स्वभाव परमेश्वर ।
भावजात हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ॥
शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेक न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्य वह्निदाहकयोरिव ॥'

आगमो मे शक्ति पूजा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यहा तक कि विष्णु के दशो अवतार दश महाविद्याओं से सबद्ध हैं-और वे सब स्वय इनके उपासक माने जाते हैं। इनका परस्पर में अभेद बतलाया गया है। जैसा कि इन श्लोको से ज्ञात होता है —

'कदाचिदाद्या ललिता पु रूपा कृष्णविग्रहा ।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवश जगत् ॥
कदाचिदाद्या श्रीतारा पु रूपा रामविग्रहा ।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता ॥
छिन्नमस्ता नृसिह स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
जामदग्न्य सुन्दरी स्यात् मीनो धूमावती भवेत् ॥
बगला कूर्ममूर्ति स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी ।
महालक्ष्मी भवेद् बौद्धी दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥'

अत एव तन्त्रकारो ने उपासना के सबन्ध में निर्णय करते हुए शक्ति की ओर सबका ध्यान खींचा है—

'एव विज्ञाय मतिमान् भेदभावविवर्जित ।
प्रवृत्या वा निवृत्या वा भावयेदिष्टमात्मन ॥
प्रवृत्ति मार्गमाणस्तु दीक्षादेशेन पूजयेत् ।
निवृत्ति मार्गमाणस्तु भेदवाद विवर्जयेत् ॥
सर्वशक्तिमयत्वाच्च शक्ति मेष्या विचक्षणै ।
सर्वेषा फलदाने च शक्तेरेव प्रधानता ॥'

आचार्य शकर ने सौन्दर्यलहरी में शक्ति-पूजा को प्राशस्त्य और महत्त्व देते हुए कहा है :—

'त्रयाणा देवाना त्रिगुणजनिताना परशिवे ।
भवेत् पूजा, पूजा तव चरणयो र्या विरचिता ॥'

देवीपुराण में कहा है—

'विष्णुपूजासहस्राणि शिवपूजाशतानि च ।
अम्बिकाचरणार्चाया कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥'

फलत अशेष देवो की मूलशक्ति होने और मातृपद पर प्रतिष्ठित होने से, कोमल अन्त करण रखने वाली भुक्ति मुक्तिप्रदायिनी भगवती की उपासना ही समस्त ऐहिक और आमुष्मिक फलो को देने वाली है, इसलिए वही उपासना के क्षेत्र मे प्रधान मानी गयी है । अन्य देवो की उपासना मे बहुविध शरीर-क्लेश के बाद भी भोगप्राप्ति ही सुलभ होती है, मुक्ति या मोक्ष का पद दुर्लभ रहता है। भोग और मोक्ष दोनो का उपलब्ध कराने की शक्ति एकमात्र भगवती में निहित होने से उनकी ही उपासना सद्य फलदायिनी और सर्वोपरि है। समया-तन्त्र और रुद्रयामल में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है —

'कदाचित् कस्यचिद् भुक्ति कदाचिन्मुक्तिरेव च ।
एतस्या साधकस्याथ भुक्तिर्मुक्ति करे स्थिता ॥'
'यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोग ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकस्य भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥'

साराश यह है कि प्रचलित पचधारा के देवो में विष्णु शिव की अपेक्षा शक्ति की उपासना की महिमा और महत्त्व वेद-उपनिषद्-पुराण एव आगम ग्रन्थो में अनेक रूपो में वर्णित है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है विष्णु शिव शक्ति गणेश और सूर्य तात्त्विक दृष्टि से एक ही माने गये है। केवल उपासक के चित्तावतरण के लिए पञ्चायतनी पूजा प्रकार की तरह एक को प्रधान और अन्य को गौण या उपसर्जनभाव प्रदान करने मे प्रतिफलित होता है। वेवेष्टि इति विष्णु ।

विप्लृ व्याप्तौ । शिवयति इति शिव । तत्करोति इस णिजन्त से अच् । शक्नोति शक्यते वा अनया इति शक्ति । कर्ता मे क्तिच् अथवा भावादि विवक्षा म क्तिन् । गणानामीश गणेश । सुवति कर्मणि प्रेरयात इति सविता । पूप्रेरणे । राजसूयसूर्य' ३ १ ११४ इससे निपातित होताहै। तात्पर्य यह कि इन नामो का विशेष्यविशेषणभाव स्वाभाविक है और वे एक दूसरे से भिन्न नही हो सकते ।

दर्शन और धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ चातुर्वर्ण्य शिक्षा म वैदिक दृष्टिकोण से इस विषय पर गभीर विचार किया गया है । और एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया है —

उपास्तिसिद्धयै न च भेदलब्ध्यै
स्मृत स ऐशो गुणमुख्यभाव ।
चेदन्यथा तवर्थत एव वस्तु-
न्युत्पत्तिसपत्तिविपत्तिदोषा ॥
विष्णु शिव शक्तिगणेशसूर्या
ये ब्रह्मदृष्ट्या समुपासनीया ।
तेष्वेकतैवार्हति योगशैल्या-
प्यनेकता तु ध्रति शक्तिषट्कम् ॥'

—चातु शि श्लो १७० ७१

वास्तव मे यदि ऐसा न माना जाय तो एक ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और सहार की व्याख्या करने वालो श्रुतियो और स्मृतियो के विरोध का कोई समाधान नही किया जा सकता । इसके अतिरिक्त वायुपुराण मे वर्णित —

सर्वज्ञता, तृप्तिरनादिबोध,
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्ति ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥'—वायु पु ख १२ अ ३१ श्लो

सवज्ञता आदि महेश्वर की शक्तियों का अभेद कसे सिद्ध किया जा सकता है ।

आगम और निगम के उद्देश्य की समानता—आगम और निगम को मूलभित्ति मुख्यत वर्णाश्रम धर्म पर आधारित मानी गई है । यह दूसरी बात है कि शैली और प्रक्रिया के कारण आपातत उनम बाह्य दृष्टि से कुछ अन्तर दिखाई देता है—परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके ध्येय मे अत्यधिक समानता है । यत्र-तत्र जा अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं—वे उपास्य तत्त्व के व्यापक वैलक्षण्य के कारण ही हैं । मूलत उनके उद्देश्यो में कोई अन्तर नही है । इसीलिए आगमो क समान हा पञ्चदेवो की गायत्री वेदो में भी उपलब्ध हाता है—

१–तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।'
—मैत्रायणीयस अग्निचि

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।
—तैत्तिरीयारण्यक १० प्रपा १ अनु

२–'देवाना च ऋषीणा चासुराणा पूर्वजम् ।
महादेव ऊ सहस्राक्ष ऊ शिवमावाहयाम्यहम् ॥'

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्र प्रचोदयात्।'–मैत्राय अग्नि

३–'कात्याय (न्यै) नाय विद्महे कन्यकुमा (री) रि धीमहि तन्नो दु (र्गा) र्गि प्रचोदयात्।' – तैत्ति आर १० प्रपा १ अ

४–तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्ति प्रचोदयात्।'
—मैत्राय अग्नि

५–तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि तन्नो भानु प्रचोदयात् ।'
—मैत्राय अग्नि

भास्कराय विद्महे महाद्युतिकराय धीमहि तन्नो आदित्य प्रचोदयात् ॥
—तैत्ति आर १० प्र १ अ

अतएव धर्मशास्त्र और पुराणसम्मत वैध क्रिया-कलाप मे वैदिक तान्त्रिक और उभय मिश्रित पद्धति को मान्यता देना प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने से शास्त्रकारो को सर्वथा अभीष्ट है।

श्रीमद्भागवत में—

'यात्राबलिविधान च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥

११ स्क ११ अ ३७ श्लो,

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मख ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मा समर्चयेत् ॥'

—११ स्क २७ अध्या ७ श्लो

पद्मपुराण में—

'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र श्रीविष्णोस्त्रिविधो मख ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना हरिमर्चयेत् ॥'

—५ पाताल ख ९५ अध्या ७० श्लो

इन प्रमाणवाक्यो से यह सिद्ध है कि वैदिक, तान्त्रिक और उभयसमिश्रित उपासना को शास्त्र तर्क और युक्तिसगत होने से किसी प्रकार की चुनौती नही दी जा सकती । आगम और निगम के आचार विचार और आर्ष परम्पराओ को देखते हुए सामान्यत दोनो की एकवाक्यता शास्त्रसमत है । किन्तु विशुद्ध वदिक मार्ग के अनुगमन का अधिकार केवल

त्रैवर्णिको के लिए है—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। फिर भी यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि प्रामाणिक तन्त्रा को छोडकर अन्य वेदबाह्य तत्रो को जिनकी सूची काफी लम्बी चौडी है—एकदेशीय होने से इसके अन्तर्गत नही लाया जा सकता। उनके साधन और आचार विचार इतने ऊट पटाग है कि वे वर्णाश्रम धर्म के नियमो की एकान्तत अवहेलना करते हैं—और इसके साथ मेल नही खाते। इनमे लैङ्गायत और पाशुपत आदि तत्रो को इसी श्रेणी मे गिना जाता है और गोतमी आदि मान्य तन्त्रो की पक्ति से उनका बहिष्कार किया गया है—

'पाञ्चरात्र' पाशुपत कापाल वाममार्हतम्।
एवविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु ॥'
'पाञ्चरात्र भागवत तथा वैखानसाभिधम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ॥'
'अक्षाशु सात्वतो नाम विष्णुभक्त प्रतापवान्।
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चने रत ॥
शास्त्र प्रवर्तयामास कुण्डगोलादिभि श्रितम्।
तस्य नाम्ना तु विख्यात सात्वत नाम शोभनम्॥
तेनोक्त सात्वत तन्त्र यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत्।
यत्र स्त्रीशूद्रदासाना सस्कारो वैष्णव स्मृत ॥'

इसीलिए वेद-विरोधाधिकरणन्याय के अनुसार इन तन्त्रो को सार्वदेशिक मान्यता नही प्राप्त हुई है। क्योकि वेदोक्त आचार विचार के उल्लङ्घन की अनुमति किसी भी दशा मे शिष्टसमत नही मानी गयी है। अतएव महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने वेदार्थ के रहस्यो की गभीरता की ओर सकेत करते हुए उनके विश्वजनीन सिद्धान्तो को जानने और समझने के लिए सतुलित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥'

अन्यथा मनमानी तौर-तरीको से जहा एक ओर आन्तरिक विरोध उठ खडा होगा वहाँ दूसरी ओर साध्य साधन की पवित्रता और प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग के प्रति लोक आस्था को गहरा धक्का लगना भी निश्चित है।

इस प्रसग में गीता के इस उपदेश को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है—

'य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारत।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुख न परा गतिम् ॥'—भ गी १६ २३

तन्त्र-परम्परा और उसकी प्रामाणिकता—वेद और तन्त्र भारतीय धर्म एव सस्कृति की दो विशाल धाराओ के समान हैं, जो प्राचीन काल मे इस देश मे अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित चली आ रही हैं। दोनो के वाह्य रूप मे कितना ही अन्तर क्यो न हो, परन्तु आन्तरिक रूप से वे दोनो परस्पर में इतनी सवद्ध हैं कि उन्हें सहोदरा कहना अधिक उपयुक्त होगा। वैदिक युग से ही दोनो के प्रति समाज की श्रद्धा, आदर और विश्वास भावना का मापदण्ड एक जैसा रहता आया है। व्यावहारिक दृष्टि मे विचार करें, तो दोनो धाराओ का उत्पत्तिस्रोत और उद्देश्य समान होने से, उनके बीच कृत्रिम विभाजन रेखा खीचकर उसके वास्तविक धरातल को विकृत रूप में प्रस्तुत करना किसी भी दृष्टि से हितकर और उचित नही लगता। अतएव शास्त्रीय दृष्टि से आगम या तन्त्र की प्रामाणिकता वेदो की तरह निरापद और असदिग्ध है। फिर भी तन्त्रशास्त्र के मान्य आचार्यों ने इस विषय मे अपना जो मत प्रकट किया है उसको समझ लेना आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीकण्ठाचार्य ने अपने शैवभाष्य मे लिखा है—

'वय तु वेदशिवागमयोर्भेद न पश्याम । वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्त, तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अत शिवागमो द्विविध—त्रैवर्णिक विषय सर्वविषयश्चेति। उभयोरेक एव शिव कर्ता। अत कर्तृसामान्यादुभयमप्येकार्थपर प्रमाणमेव। यद्वा, ब्रह्मप्रणवपञ्चाक्षरीप्रासादादिमन्त्राणा पशुपतिपाशादिवस्तुव्यवहाराणा भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रधारणलिङ्गार्चनरुद्राक्षधारणादिपरधर्माणामन्येषा च सर्वेषा व्यवहाराणामुभयत्रापि सममेव दर्शनादुभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ'।

—श्रीकण्ठभाष्य २ २ ३८

इस भाष्य के व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' मे तन्त्रो को वैदिक और अवैदिक दो भागो मे बाँटकर, एक वेदाधिकारियो के लिए, दूसरा उसके अनधिकारियो के लिए बतलाया है। इसलिए अधिकारियो के भेद से आगम सर्वथा प्रामाणिक है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी वेदो की तरह तन्त्र स्वत प्रमाण माने गये हैं— 'तस्मात् वेदात्मक शास्त्र विद्धि कौलागम प्रिये!' २. १४०

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने अपनी मन्वर्थमुक्तावली मे—

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, श्रुतिप्रमाणको धर्म । श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी च।'

—मनुस्मृति २ १

इस हारीत ऋषि के कथन को उद्धृत करते हुए श्रुति के समान तन्त्र की प्रामाणिकता मानी है।

परन्तु शाक्त दर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य भास्करराय ने तन्त्रो को श्रुति का अनुगामी होने से परत प्रमाण माना है। वे तन्त्रो को स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत मानकर उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं–

'तन्त्राणा धर्मशास्त्रेऽन्तर्भाव' वरिवस्यारहस्य-प्रकाश

और इसके साथ साथ ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्कर में वे कहते हैं— 'परमार्थतस्तु तन्त्राणा स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीना कर्मकाण्डशेषत्व तन्त्राणा ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् ।'

आशय यह कि उनके मत से तन्त्र और स्मृतियो मे प्रामाण्य की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। किन्तु वे स्मृतियो का अन्तर्भाव कर्मकाण्ड म और तन्त्र का ज्ञानकाण्ड म मानते है।

शारदातिलक के टीकाकार राघव भट्ट ने भी तन्त्रो को स्मृति शास्त्र के समान मानते हुए उसे वेद के तृतीय काण्ड—उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि मान्यता का प्रकार भले ही अलग २ क्यो न हो–किन्तु सिद्धान्त रूप से इसकी प्रामाणिकता मे सभी पक्षो की सहमति है।

यद्यपि तन्त्रो की महत्ता और उपादेयता के बारे म किसी प्रकार की शका या सन्देह की कोई गु जाइश नही है। किन्तु तान्त्रिक आचार विचारो के विषय मे जन साधारण मे जो भ्रम फैला हुआ है, वह अवास्तविक और अज्ञानमूलक ही कहा जायगा। क्योकि इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओ को फैलाने का दायित्व अधिकाश मे ब्राह्मण तन्त्रो पर न होकर बौद्ध और जैन तन्त्रो पर है। इसकी अधिक चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नही। पुस्तक के उत्तरार्ध मे इसकी समीक्षा विस्तृत रूप से की जायगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है–तन्त्रो के अत्यधिक प्रचार और विभिन्न शाखा प्रशाखाओ मे विभक्त होने के कारण, यदि किसी वर्ग मे अपनी स्वय की दुर्बलताओ के कारण कोई अनौचित्यपूर्ण व्यवहार होता हो या दोषो का सक्रमण हो तो उसके लिए व्यक्ति ही दोषी माने जा सकते हैं, शास्त्र की शाश्वत मर्यादा को उसके कारण कोई आंच नही आती। इसलिए सामान्यत यह मानकर चलना चाहिए कि विवेकभ्रष्ट एव अनधिकारियो के अबाधित प्रवेश को न रोक सकने के कारण इस प्रकार की आलोचनाओ को अवसर मिलना स्वाभाविक है–जो कि न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है। क्योकि वर्तमान युग को उदयनाचार्य आदि विद्वानो ने धार्मिक दृष्टि से ह्रास का युग माना है। इसलिए 'नाय स्थाणोरपराध यदेनमन्धो न पश्येत्' की पुरानी कहावत के अनुसार इसका समाधान स्वत हो जाता है।

आगमरहस्य का मूल्याकन—प्रस्तुत आगमरहस्य जैसा कि उसके नाम से प्रकट होता है—आगमशास्त्र अथवा तन्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इसका सकलन आर्षपरम्परा के अन्तर्गत माने जाने वाले तन्त्रशास्त्र के अनेक मौलिक निबन्धो की गहरी छानबीन करके, उनके प्रमेयाशो का परीक्षण तथा सजातीय तन्त्र-निबन्धो मे सवाद स्थापित कर, पूर्वापर विषयो के समन्वय के साथ किया गया है। गौड-केरल और काश्मीर में प्रचलित प्राचीन तान्त्रिक गुरु परम्परा (सप्रदाय) के अनुसार विष्णु, शिव और शक्तिप्रधान उपासना विषयक विविध आर्षग्रन्थो और सन्दर्भो के सारभूत-तत्त्व को आगमोक्त सिद्धान्तो की कसौटी पर परख कर ही समाविष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में दो भागो मे विभक्त है। ग्रन्थ के आरम्भ में, प्राचीन निबन्धकारो की शैली के अनुसार, प्रत्येक पटल मे वर्णित विषयो की श्लोकबद्ध सूची लगी हुई है, जिससे ग्रन्थ के पूर्वार्ध में विवेचित विषयो का परिचय मोटे तौर पर सहज ही ज्ञात हो जाता है।

अब तक आगम या तन्त्रशास्त्र के जितने स्वतन्त्र-निबन्ध या सग्रह ग्रन्थ उपलब्ध थे, वे प्राय एकदेशीय थे। उनमे इस ढग का, ऐसा एक भी ग्रन्थ देखने में नही आया जिसके माध्यम से, तन्त्र साहित्य और उसकी सम्पूर्ण प्रायोगिक प्रक्रिया की पूरी २ जानकारी प्राप्त की जा सके। शारदातिलक जैसे कुछ इने गिने मान्य और उपयोगी ग्रन्थो के होते हुए भी उनके द्वारा इस शास्त्र के आवश्यक-अपेक्षित विषयो की पूरी जानकारी नही हो पाती। इसके सिवा, आगम के हस्तलिखित-मूलनिबध विभिन्न लिपियो मे होने, और उनके प्रतिपाद्य विषयो के इधर-उधर अनेक रूपो मे बिखरे रहने के कारण उनसे वास्तविक लाभ ले सकना अधिकारी विद्वानो के लिए भी सुलभ न था। दूसरे, विभिन्न देश-काल मे लिखी गई प्रतियो के मूलपाठ मे अन्तर, विषयो के क्रम म उलट-फेर और अनेक स्थलो पर प्रक्षिप्ताशो का सक्रमण और पाठान्तरो की भरमार-ये सब बाते ऐसी खटकनेवाली थी कि ज्ञाता मनुष्य भी एक बार चक्कर म पडे बिना नही रह सकता। कई प्रसगो में तो यह नौबत भी आ जाती है कि सत् और असत् का निर्णय कर सकने मे वह अपने को असमर्थ अनुभव करने लगता है। क्योकि किसी नियामक के अभाव मे, विभिन्न प्रतियो के पाठो का विसवाद कैसे दूर किया जाय। इतना ही नही, अन्य शास्त्रो मे तो, प्रतिपाद्य वस्तु के औचित्य-अनौचित्य उसके न्यूनाधिक भाव एव व्याकरण और भाषासम्बन्धी त्रुटियो तथा अशुद्धियो को थोडे प्रयास से भी जाना और समझा जा सकता है, या उसके विषय मे किसी तरह का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु यह शास्त्र अन्य शास्त्रो से एकदम भिन्न प्रकृति का होने से, यहा किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती से काम नही चलता। यहा तो बडे २ आचार्यो और महारथियो तक को अत मे

हार ही माननी पड़ती है। कारण यह कि मन्त्र ऐसी सांकेतिक भाषा में हैं और उनके उद्धार इतने जटिल और अटपटे है कि कोई कितना ही बड़ा विद्वान् और मनीषी क्यो न हो–इनकी संगति बिठा पाना किसी के वश की बात नहीं होती। यदि किसी तरह जोड़–गांठ करके, कुछ आशय निकाल भी लिया जाय तो वह संशययुक्त न होने से कोई काम नही दे सकता। क्योंकि किसी मन्त्र या उसके विधान मे थोड़ा सा भी अनुलोम–विलोम या ऊंचा नीचा होने से उसमे लाभ के बदले हानि अधिक संभावित होती है। इसीलिए यह गुरुगम्य शास्त्र माना गया है।

वैदिक मन्त्रो में भी उच्चारण आदि की अवहेलना और उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया का उल्लंघन होने पर मन्त्र की भावना और उसके फल म कितना परिवर्तन और अन्तर आ जाता है, यह निम्नलिखित मन्त्र मे स्पष्ट किया गया है—

मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा
　　मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
　　यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्' ॥

यद्यपि यह नियम आगमोक्त मन्त्रो मे सर्वांश मे लागू नही होता, तथापि अपवाद मानकर इसकी उपेक्षा भी नही की जा सकती। बल्कि अपने अपने क्षेत्र में जो व्यवस्था उपलब्ध है, और मन्त्रो के संबन्ध मे जहा जो नियम नियत किये गये हैं उनका अनिवार्यरूप से पालन करना आवश्यक होता है।

आगमो मे प्रायोगिक–प्रक्रिया से संबन्धित, कुछ ऐसी भी व्यावहारिक बातें हैं, जो किसी पुस्तक के माध्यम से नही जानी जा सकती– और उनके लिए यही कहना पड़ता है कि 'तज्ज्ञानार्थं गुरुमेव सभाजयेत्।' अर्थात् बिना गुरुमुख से समझे उन गुत्थियो को सुलझाना संभव नही हो सकता। इसीलिए आगमो के व्याख्याता आचार्यगण, कई रहस्यपूर्ण बातो को, जो परम्परा से गोपनीय रहती आयी हैं—विवेचन न कर के केवल 'गुरुमुखैकवेद्य' कह कर छोड़ देते है। इसमे कोई सन्देह नही, कि आगम का पारमार्थिक तत्त्व या रहस्य 'गुरुमुख' से ही जाना जा सकता है केवल पुस्तको के सहारे नही, उनसे तो मार्गदर्शन ही मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, आगमशास्त्र के बारे मे हमारे यहा यह परम्परा रहती आयी है कि मन्त्रो और उनसे संबद्ध रहस्यो का प्रकाशन, केवल अधिकारियों के समक्ष ही होता था, सर्व साधारण के नही। शास्त्रकारो ने अयोग्य व्यक्तियो के समुख इसके प्रकाशन को अनुचित माना है और कड़ा प्रतिबन्ध

लगाया है। इसीलिए शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध, इस नियम का अतिक्रमण करने वाला प्रत्यवाय का भागी बनता है। शास्त्र की मर्यादा की सुरक्षा और लोकहित की दृष्टि से इसे अनुचित नही ठहराया जा सकता। अतएव श्रुति कहती है —

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिस्तेऽहमस्मि।
असूयकाय अनृजवे न मा ब्रूया अवीर्यवती यथा स्याम् ॥'

इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि शास्त्रीय आज्ञा और मर्यादा की परिधि में रहते हुए, आगमो मे प्रतिपादित कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड के उन सब आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अशो को प्रामाणिक और मूलभूत तन्त्रो से उद्धृत किया गया है। प्रतिपाद्य वस्तु की दृष्टि से जहा कही ग्रन्थकार को न्यूनता प्रतीत हुई है या अन्यत्र कुछ विशेषताए दृष्टिगोचर हुई हैं, वहा तन्त्रान्तर से भी अपेक्षित ग्राह्य अश का चयन कर उस विषय को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने मे, इस लक्ष्य पर पूरा ध्यान रक्खा गया है कि शैव, शाक्त और वैष्णव तन्त्रो के पार्थक्य या वर्गीकरण को बढावा न देकर, विषयगत साहृश्य की दृष्टि से, उनके उपादेय अशो को ग्रहण कर, उनमे एकरूपता लायी जा सके। साथ ही, उपासना के क्षेत्र मे, जिन बातो को क्रमानुगत प्राथमिकता मिलनी चाहिए, उनका उसी रूप मे यथास्थान सन्निवेश किया गया है। इस प्रक्रिया को अपनाकर, विषयो के क्रमबद्ध वर्गीकरण और विवेचन के द्वारा मूल विषय को सुगम और सुलभ बनाने मे अपनी ओर से, कोई कोर-कसर नही रहने पायी है। सुगमता की दृष्टि से, मन्त्रदीक्षाओ मे काम आने वाले ऋण धन-शोधन चक्रो के व्यावहारिक रूप एव दीक्षाविधान मे कालशुद्धि से सबन्ध रखने वाले ग्रह नक्षत्रो के चक्र, तथा प्रयोग, पुरश्चरणो मे उपयोगी और आवश्यक कुण्ड-मण्डप के निर्माण का ज्योतिपशास्त्रसमत प्रकार एव हवन चक्र आदि का व्यवस्थित रूप से उल्लेख किया गया है— जो कि बहुत गहन है और अन्यत्र मिलना प्राय दुर्लभ है।

आगमशास्त्र के समीक्षक वेदो की तरह, भारतभूमि मे तन्त्रशास्त्र के प्रादुर्भाव को अपने आपमे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते है। उनकी मान्यता है कि विभिन्न दर्शनो की तुलना मे उपासना और ज्ञान के उपबृहण की जो विशिष्ट शैली इसके द्वारा निखर कर सामने आई है वह अधिक सजीव और आकर्षक है। आगमरहस्यकार ने तन्त्रशास्त्र की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को व्यावहारिक दृष्टि से हृदयगम कराने के लिए इस दर्शन में परिगृहीत पटत्रिंशत् तत्त्वो का जो पारिभाषिक परिचय कराया है वह इस शास्त्र की मूल आधार-शिला है। 'मूल नास्ति कुत शाखा' की लोकोक्ति के अनुसार आरभ के तीन पटल उन्होने इसी लक्ष्य से प्रस्तुत किये हैं, जिससे इस शास्त्र के मौलिक तत्त्वो

के साथ, उसकी दूरगामी प्रक्रिया के मुख्य एव अवान्तर भेदो मे बुद्धिजीवियो का अन्त प्रवेश सुलभ हो सके। वास्तव मे, जब तक इस दर्शन के प्राणभूत छत्तीस तत्त्वो के मूलस्वरूप और उनकी व्यापकता को भली भाति नही समझ लिया जाता, तब तक इसके अ तर्गत आने वाले उपासनाक्रमो का वास्तविक रहस्य बुद्धिगम्य नही हो सकता। क्योकि इसके बिना प्राणायाम, भूतशुद्धि, मातृकान्यास, तत्त्वशोधन, या अन्तर्याग और बहिर्याग आदि तान्त्रिक प्रक्रिया के उद्देश्य और उसके फल की कल्पना का आधार ज्ञात नही होता।

ग्रन्थकार ने अपनी दूरदर्शिता के कारण राजयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, समाधि, विदेहमुक्ति, योगोपसर्गचिकित्सा, अरिष्टज्ञान, नौलि, धौति, त्राटन आदि कई ज्ञातव्य विषयो का भी इस ग्रन्थ मे व्यवस्थित ढग से उल्लेख किया है, जिनके बारे मे आम तौर पर लोगो को जिज्ञासा रहा करती है। कारण यह है कि ये सभी प्रकार भारतीय मूल के माने जाते है और साधना मार्ग के भीतर निविष्ट किये गए हैं। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि एक साधक के लिए जिन जिन व्यावहारिक विषयो का ज्ञान आवश्यक माना गया है, वे सम्पूर्ण विषय बडे साफ सुथरे ढग से इसमे सकलित हैं। जिनका परिचय पूर्ण रीति से ग्र थ के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। श्रद्धे य द्विवेदी जी ने इस महाग्र थ की सामग्री जुटाने और उसके चिंतन मनन एव परीक्षण के बाद लिपिबद्ध करने मे कितना कुछ श्रम और कष्ट उठाया होगा—इसका अनुमान विज्ञजन स्वय कर सकते है।

ग्र थ की रचना मे, सहायक तत्र ग्र थो की गणना करने पर ज्ञात हुआ कि इनकी सख्या एक सौ आठ है। आगम-प्रे मियो की सुविधा और जानकारी के लिए, मैंने अकारादिक्रम से उनकी सूची अलग से तैयार करके परिशिष्ट के रूप मे अन्त मे लगा दी है। इस सूची के देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि अतीत मे हमारे देश मे इस शास्त्र की कितनी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता रही होगी। वर्तमान मे, इन ग्र थो के अस्तित्व और उपलब्धि के बारे मे कुछ भी कह सकना बहुत ही कठिन है। अधिकाश के तो अस्तित्व मे ही सन्देह है। यह सब काल की महिमा है।

कुल मिलाकर यह नि सकोच कहा जा सकता है कि एक लबे समय से इस क्षेत्र मे चले आ रहे अभाव की पूर्ति कर ग्रन्थकार ने आगम प्रेमियो का बहुत बडा उपकार किया है। यही नही, उनके दीघकालिक अनुभव और परिनिष्ठित-प्रतिभा ने 'गागर मे सागर' की कहावत को चरितार्थ करते हुए, आगम जैसे व्यापक एव गहन-गम्भीर शास्त्र को जिस सतुलित दृष्टि से आबद्ध कर, उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है, वह सर्वथा बेजोड ही कहा जायगा। ग्रन्थ का आरभ करते हुए आचार्य ने अपने जिस ध्येय और सकल्प को व्यक्त किया है उसका पूरा २ निर्वाह आदि से अन्त तक किया गया है। आरभ के ये श्लोक उनकी इस भावना के प्रतीक हैं—

'अथागमान् समालोच्य सम्प्रदायक्रमाश्रयात् ।
तदागमरहस्यं यत् तन्यते बालबोधकम् ॥
सन्तीह मुनिग्रन्थौघा बहवः सुगमा अपि ।
तथापि मम यत्नोऽयं भवेत् सज्जनतोषकृत् ॥"

पूर्वार्ध की समाप्ति करते हुए निबन्धकार का यह लेख उनके अन्तःकरण की विशालता और आत्मतुष्टि का परिचायक है—

'इतीत्थं पटलैरष्टाविंशैः पूर्वार्द्धकं गतम् ।
सदागमरहस्ये तद्गुरूणां प्रीतिदं भवेत् ॥
सदागमरहस्याब्धिसमुद्भूतमणिस्रजा ।
भूषिता करुणामूर्तिररुणा वितनोतु शम् ॥
यत्कृपालेशमालब्य भक्ता भवमया भवे ।
भवीयन्ति भवं सर्वं नुमस्तां भवनाशिनीम् ॥
श्रीमद्गुरुपदाम्भोज-मकरन्दमधुव्रताः ।
देशिकाः सन्तु सन्तुष्टा दृष्ट्वागमरहस्यकम् ॥
शिवयोः प्रीतिदं भूयात् पूर्वापरविभागतः ।
पूर्वार्द्धे श्रीशिवस्तुष्येदुत्तरार्द्धे तथाम्बिका ॥
श्रीनाथदृष्टिपूतानां भक्तानां तद्गतात्मनाम् ।
अभेदज्ञानिनां हेतोरर्द्धं तदपि लक्ष्यते ॥
ते कृतार्थाः स्वयं सन्तः स्वात्मलाभैकमानसाः ।
तथापि तुष्टिमायान्तु मत्कृते साहसरलम् ॥
शिष्टा यदपि सर्वज्ञास्तथापि शिशुलीलया ।
मुदमादधते चित्ते यदानन्दमया हि ते ॥
गुरुणा लक्षितं यच्च दृष्टं यच्चागमादिषु ।
तत्रत्यं सारभूतं यदुत्तरार्द्धे लिखाम्यहम् ॥
आत्मानन्दप्रबोधाय विनोदाय महात्मनाम् ।
सरस्वत्यानन्दनाथो दुर्गानन्दपदाश्रितः ॥'

अर्थात् अट्ठाईस पटलों में वर्णित यह आगमरहस्य गुरुओं को प्रीतिदायक हो। यहां 'सदागम' शब्द का प्रयोग अपना एक विशेष अर्थ रखता है। 'सँश्चासौ आगमश्च सदागमः' इस समस्त पद में सत्' पद के प्रयोग से यह ध्वनित होता है निगमसमत एवं गुरुपरम्परागत तथा शिष्टों द्वारा समादृत आगमों को ही इसमें स्थान दिया गया है। प्राचीन आगम-सम्प्रदाय से बहिर्भूत, पाञ्चरात्र, पाशुपत, लेङ्गायत आदि तन्त्रों को जो एकदेशीय और शास्त्रीय दृष्टि से उच्छृङ्खल माने गए हैं उनमें अपनी अरुचि व्यक्त की है। रहस्यरूप में आगम-

समुद्र से निकले हुए रत्नो की माला से विभूषित करुणामयी माता भगवती अरुणा (राजराजेश्वरी श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी) आगमानुयायियो का कल्याण करें। जिनके कृपा कटाक्ष के एक कणमात्र से ही भक्त लोग ससार म जन्म लेते हैं, और मोक्ष-लाभ प्राप्त करते हैं।

श्रीगुरुचरणकमलरूपी पुष्परस के भ्रमर (भौरे) देशिक-आगमोपदेष्टा आचार्यगण इस कृति को देखकर सतुष्ट हो। पूर्वार्ध से शिव और उत्तरार्ध से जगदम्बा सतुष्ट हो। इसका गूढ आशय यह है कि शिव का अर्धनारीश्वररूप दक्षिण और वाम अग का सम्मिलितरूप है और वाच्य वाचक या शब्द और अर्थ के रूप म सपूर्ण जगत् का प्रतीक है। शैवदर्शन की दृष्टि से शिव और शक्ति को छोडकर विश्व का कोई अस्तित्व सिद्ध नही होता। इसीलिए भेद और अभेद दोनो ही रूपो मे शिवशक्ति का प्राधान्य होता है और अद्वैतवाद मे इन्ही दोनों के पारस्परिक मुख्य गौण रूप की कल्पना की गई है। श्रीनाथ (दीक्षा और आगमोक्त पूर्णाभिषेक करने वाले गुरु) के कृपाकटाक्ष से पवित्र, अनन्य गुरुभक्त और शिव शक्त्यात्मक गुरुस्वरूप में अन्तर्लीन रहने वाले, अद्वैतभाव के पथिको के लिए उत्तरार्ध का विवेचन भी किया जायगा। यद्यपि आत्मज्ञाननिष्ठ पुरुष स्वय कृतार्थ हुआ करते हैं किन्तु वे भी मेरे इस प्रयास से और अधिक सतोष लाभ करे। यद्यपि शिष्ट जनो से कुछ भी परोक्ष नही होता, और वे सब कुछ जानते हैं, तो भी सदा सर्वदा आनदावस्था मे रहने वाले सत्पुरुष शिशुलीला के समान मेरे इस प्रयास से, विशेष मानसिक सुख का अनुभव करेगे। गुरुजनो के अनुग्रह से मुझे जो कुछ उपलब्ध हुआ है और स्वय मैंने आगम-ग्रन्थो में जो कुछ देखा और अनुभव किया है उसका सार मैं सरस्वत्यानन्दनाथ श्री दुर्गानन्दनाथ का शिष्य आत्मिक आनन्दावस्था के विकास के लिए, एव महान् आत्माओ के विनोद के लिए, इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध के रूप मे लिखता हूँ।

उपसहार के इस लेख मे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने सामान्य जिज्ञासुओ एव मध्यमाधिकारियो के लिए इसके पूर्वार्ध की रचना की है, और उत्तरार्ध केवल अद्वैत के उपासक उत्तमाधिकारियो के लिए है।

पूर्वार्ध की पुष्पिका का उल्लेख इस प्रकार है—

'इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे द्विवेदिवशोद्भव-साकेतपुरप्रान्तस्थायिसरयूप्रसादविरचिते योगाङ्गकथनन्नामाष्टाविंश पटलस्समाप्त पूर्वार्द्ध । वर्ष सवत् १९३७ का लिपिकृत नानुरामब्राह्मन् दायमा । श्रीरस्तु ।'

आगमरहस्यकार का समय और जीवन-परिचय-उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध आगमाचार्य श्रद्धेय प० श्रीसरयूप्रसाद द्विवेदी (दीक्षानामसरस्वत्या-नन्दनाथ) का जन्म विक्रम सवत् १८९२ मे, वर्तमान अयोध्यापुरी (उत्तरप्रदेश-जिला फैजाबाद) से पश्चिम आठ कोस की दूरी पर वासिष्ठी सरयू नदी के दक्षिण तट पर स्थित सनाह' नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता प० राधा-कृष्ण शर्मा, पितामह-प० वेणीराम शर्मा एव प्रपितामह-प० जीवराम शर्मा थे। आप काश्यपगोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण थे। आपकी उपास्या-द्विवेदी, प्रवर-काश्यप-आङ्गिरस-नैध्रुव थे, वेद-शुक्लयजु, शाखा-माध्यन्दिनी और सूत्र कात्यायन-पारस्कर थे।

स्वदेश मे अपने पूज्य पिता तथा अन्य विद्वानो से आपने व्याकरण, ज्योतिष आदि शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन किया था। पिता के देहावसान होने पर विक्रम-सवत् १९११ मे आप पश्चिम-दिशा की यात्रा पर निकल पडे और सयोग से पजाव (पञ्चनद) होते हुए सीमाप्रान्त के प्रसिद्ध नगर पेशावर-जिसे प्राचीन भारत में 'विश्ववारपुर कहा जाता था और जो ईसवी सन् १९४७ में भारत के विभाजन के बाद, पश्चिमी पाकिस्तान का अग बन गया है-पहुँच गये। वहा कुछ समय रहने के बाद पुन भ्रमण करते हुए 'कागडा' पहुचे- जो आजकल, भारत-अधिकृत पूर्वी पजाव क्षेत्र का एक प्रसिद्ध नगर है। वर्तमान कागडा भारत के प्राचीन शक्तिपीठो मे प्रमुख जालन्धर पीठ के नाम से चिरकाल से प्रसिद्ध रहा है। वहा भगवती वज्रेश्वरी देवी का एक अति प्राचीन मन्दिर है, जहा भगवती के दर्शनार्थ और अपनी मनौतिया पूरी करने के लिए पजाव की आस्तिक जनता काफी बडी सख्या म आया करती है। भारत के प्रमुख पर्व मकर-सक्रान्ति के अवसर पर जब सूर्य उत्तरायण मे प्रवेश करते हैं, वहा एक बहुत बडा मेला लगता है और दर्शनार्थी लोग मेवा और मक्खन का प्रसाद चढाते हैं। इस प्रसिद्ध शक्तिपीठ के निकट दुर्गानन्दनाथ नाम के एक महात्मा निवास करते थे— जो शाक्तदर्शन के जाने-माने आचार्य और सिद्ध पुरुष थे। द्विवेदीजी बहुत दिनो से ऐसे एक सुयोग्य गुरु की तलाश मे थे, अत इनके सपर्क मे आने से उनकी यह इच्छा दैवयोग से पूरी हो गई। उन्होने इन महापुरुष के आदेशानुसार मन्त्रदीक्षा ले ली और उनकी सेवा में रहकर आगमशास्त्र का अध्ययन किया। बाद मे, गुरु की आज्ञा प्राप्त कर विरक्तभाव से एकाग्रचित्त होकर मान्त्रिक साधना में लग गये और मुनिवृत्ति से साढे छ वर्ष तक वही रहकर, उनकी देखरेख मे तपस्या करते रहे। अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान करने के बाद से ही, निरन्तर अज्ञातवास मे रहने के कारण, उनके बारे में कुटुम्बियो और पास-पडोस के लोगो को, एक लम्बे समय तक कोई पता न चल सका था—इसलिए सब लोग चिंतित हो रहे थे। इतने ही म, उस प्रदेश के रहनेवाले किसी व्यक्ति के द्वारा धर्मपत्नी को उनका

पता चला तो वे यातायात के उचित साधनो के न होने पर भी शारीरिक कष्ट सह कर कागडा पहुची, और गुरुजी की अनुमति से उन्हे वापस घर ले आई। यहा आने पर गृह-सम्पत्ति के विभाजन और वितरण म कुटुम्बियो ने जब कलह किया तो खिन्न होकर उन्होने पैतृक सम्पत्ति का परित्याग कर दिया और 'सनाहृ' गाव को छोडकर, उससे दो कोस पश्चिम मे, सरयूतट पर अवस्थित 'थरेरू' नाम के गाव मे आकर रहने लगे। यहा विक्रम सवत् १६२० मे आपके पुत्र श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी का जन्म हुआ था।[1]

इस गाव मे आने के बाद द्विवेदीजी ने प्रान्त के कई निर्जन स्थानो और जगलो मे रहकर देवाराधन किया। किन्तु उक्त गाव जनसकुल होने से उन्हे रुचिकर न लगा और उसे छोडकर वहा से दक्षिण दिशा की ओर दो कोस के अन्तर पर तमसा और सरयू नदी के मध्य मे एक स्वतन्त्र आश्रम की स्थापना की—जो 'पडितपुरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

पडितपुरी मे अपना स्थायी निवास निश्चित कर लेने के बाद वे उत्तर प्रदेश की वर्तमान राजधानी लखनऊ नगर के आस पास के प्रदेश मे प्राचीन देवस्थानो मे भ्रमण करते हुए इटौजा रियासत (उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले के अन्तर्गत) के 'रुखारा' नामक गाव के शिव मन्दिर[2] मे पहुचे और कुछ समय तक वहा देवाराधन करते रहे। इटौंजा के तत्कालीन नरेश, परमार (पवार) क्षत्रियो के वशज श्रीरत्नसिहदेव और उनके अनुज श्रीगुमानसिहदेव के

१—आपके एकमात्र पुत्र सतसप्रदायाचाय म म प० श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी न केवल भारत के ही अपितु अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। आपके असाधारण वैदुष्य और सवतोमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से समानित किया था। आप जयपुर के 'महाराजा सस्कृत कालेज' के प्रिंसिपल (अध्यक्ष) पद पर कई वर्षो तक आसीन रहे थे। आप दशन, ज्योतिष, साहित्य, तन्त्र आदि अनेक भारतीय विद्याओ के पारगत विद्वान् थे। भारत के प्राचीन प्रतिष्ठित सस्कृत विद्वानो मे आपको प्रमुख और गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त था। आपके द्वारा रचित एव परिष्कृत सस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयो के बडे-छोटे एव मुद्रित अमुद्रित लगभग तीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कुछ वष पूव, आपके 'दशकण्ठवध' चम्पूकाव्य और 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' नामक स्तोत्र-काव्य का प्रकाशन राजस्थान सरकार के प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान द्वारा किया गया है। उक्त दोनो ग्रन्थो का सपादन इन पक्तियो के लेखक ने ही किया है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशेष परिचय 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' की भूमिका में कराया गया है।

२—*इस प्रान्त मे प्राचीन समय से यह प्रसिद्धि चली आ रही है कि उक्त मन्दिर परम शिवभक्त बाणासुर का निवासस्थान रहा है।*

विशेष आग्रह एव अनुरोध करने पर उन्होने कुछ समय राजकीय प्रासाद में निवास किया। बाबू गुमानसिंह उदार प्रकृति के धार्मिक नरेश थे। उन्होने द्विवेदीजी को कुछ भूसपत्ति भेट की थी जहा उन्होने शिवलिङ्ग की स्थापना करके एक आम का बगीचा लगवाया था।

प्रदेश के अनेक देवस्थानो मे निवास करने के बाद, द्विवेदीजी गोमती नदी के तट पर स्थित 'चादनकुण्डा' नामक निर्जन प्रदेश मे भगवती चण्डीदेवी के मण्डप पर पहुँचे, और उसके पास एक 'पर्णकुटी' बनवाई तथा देवाराधन करते हुए वहा कुछ समय व्यतीत किया। चण्डीदेवी के प्राचीन चबूतरे के गिर जाने पर उसका जीर्णोद्धार कराया, और भगवती चण्डीदेवी की सगमरमर की मूर्ति स्थापित की। इनके निवास के बाद, इस मन्दिर की महिमा प्रदेश में दूर-दूर तक फैल गई और तब से प्रतिमास अमावस्या के दिन श्रीचण्डीजी का मेला भरने लगा–जो अब तक भरता है। मेले में लखनऊ और सीतापुर के अधिकाश नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रो के लोग हजारो की सख्या मे इकट्ठे होते हैं। नवरात्र के दिनो में यहा और अधिक भीड-भाड होती है और लोग चण्डीजी के प्राचीन जलकुण्ड मे स्नान करते हैं तथा हवन–पूजन आदि धार्मिक कृत्य बडे पैमाने पर चलते रहते हैं। बहुत स लोग अपनी मनौतियो के लिए भी यहा आया करते हैं।

एक अर्से तक इस प्रान्त मे तपस्या और देवाराधन करते रहने के कारण द्विवेदीजी की ख्याति दूर–दूर तक फैल गई थी। इस बीच लखनऊ के सुप्रसिद्ध व्यवसायी और नवलकिशोर–प्रेस के सस्थापक मुशी नवलकिशोर ने अनेक लोगो से इनकी प्रशसा सुनी तो वे इनके सपर्क मे आए। अपनी कई समस्याओ और जिज्ञासाओ के बारे में प्रश्न करने पर जब उन्हे समाधान कारक मार्मिक उत्तर मिले तो उनकी इनके प्रति श्रद्धा और निष्ठा बढ गई। मुशीजी ने बडे आदर के साथ उनसे लखनऊ चलने का आग्रह किया। उनके सेवाभाव और सौजन्य के कारण द्विवेदीजी ने उनका यह प्रस्ताव मान लिया और वे लखनऊ चले आए। यहा उन्होने शहर की भीडभाड से दूर 'बादशाह बाग' नाम से प्रसिद्ध शाही उद्यान मे, जहा आजकल लखनऊ विश्वविद्यालय का विशाल भवन सुशोभित है, दो वर्ष तक निवास किया। यहा रहते हुए उन्होने ज्योतिष शास्त्र के प्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सग्रहशिरोमणि' तथा धर्मशास्त्र से सबद्ध 'सदाचारप्रकाश' नामक निबध की रचना की। इन दोनो ग्रन्थो का मुद्रण और प्रकाशन मुशीजी ने अपने प्रेस से ही किया था।

मुशीजी अपनी गुरुभक्ति और निकट सपर्क के कारण द्विवेदीजी के विशेष कृपा पात्र बन गए थे। इस बीच, अपने व्यावसायिक कार्य मे उन्हे जगपर आने

का अवसर मिला। इन दिनो यहा की राजगद्दी पर स्वर्गीय महाराजा सवाई रामसिहजी विराजमान थे, जो विद्वानो और कलाकारो के आश्रयदाता के रूप में काफी ख्याति पा चुके थे। मुशीजी का महाराजा के साथ परिवार जैसा सबन्ध पहले से ही चला आ रहा था, इसलिए आपसी मुलाकात के समय प्रसगवश द्विवेदीजी के विषय मे भी चर्चा हुई। महाराजा को जब उनके पाण्डित्य और तपोबल के बारे मे चमत्कारपूर्ण घटनाओ की जानकारी मिली तो उन्होने स्वय उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की और एक बार उन्हे जयपुर लाने का अनुरोध किया। मुशीजी ने महाराज की इच्छा के अनुसार, उन्हें शीघ्र ही जयपुर लाने का वचन दिया। कुछ समय बाद, विक्रमसवत् १९३२ म द्विवेदीजी को साथ लेकर वे जयपुर आए, और महाराज से उनकी भेट कराई। महाराज आरभ से ही विद्वानो, सन्तो और गुणिजनो का समान और आदर करते थे। उनके हृदय मे भारतीय विद्या और कला कोशल के प्रति अत्यधिक समान भावना थी। तत्र और आगम मे वे असाधारण रुचि रखते थे। अत एव आगमशास्त्र के निष्णात विद्वान् और एक तपस्वी के रूप म द्विवेदीजी को पाकर महाराज बहुत सतुष्ट और प्रसन्न हुए और उनसे अपने यहा स्थायी रूप से निवास करने की इच्छा व्यक्त की। फलत द्विवेदीजी ने महाराज की इच्छा का समान कर जयपुर में रहना स्वीकार कर लिया। वे राजपण्डित मनोनीत किये गए और आजीवन सरकारी कोष से उन्हे नकदो के रूप मे मासिक वृत्ति मिलती रही।

राज्याश्रय प्राप्त करने के बाद उन्होने पूरी स्वतत्रता के साथ विक्रम सवत् १९५१ तक जयपुर मे निवास किया और यहा के निवासकाल मे निम्नलिखित ग्रन्थो की रचना की—

१ आगमरहस्य। २ सर्वार्थकल्पद्रुम। ३ सप्तशतीसर्वस्व। ४ परशुराम सूत्रवृत्ति। ५ वर्णबीजप्रकाश।

आगमरहस्य के आरभ मे द्विवेदीजी ने स्वर्गीय जयपुर नरेश सवाई रामसिहजी की राजोचित विलक्षण प्रतिभा और गुणग्राहकता की प्रशसा करते हुए उनके प्रति अपनी शुभ कामनाए प्रकट की हैं—

'जीयाज्जयपुराधीशरामसिहाभिधो नृप।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे भ्रमक्लम॥
दानी रिपुचयध्वसी नीतिज्ञ कुशल शुचि।
विद्याविचारसतुष्टो हृष्ट सल्लोकलोचन॥
दयालुर्गुरुदेवार्चारत शुभकथ कृती।
दृढभक्तो दृढाज्ञश्च येनेय भूषिता मही॥'

आपका शासन काल १८३५ ई० से १८८० ईसवी सन् तक रहा है। आपने ४५ वर्ष तक राज्य किया था।

भावार्थ—जयपुर नरेश सवाई रामसिंह दीर्घायु हो, जिनकी छत्रच्छाया में आश्रय लेने से विभिन्न स्थानो में भ्रमण करने से उत्पन्न मेरी थकान दूर हो गई। ऐसे दानी, शत्रुओ के संहारक, नीतिज्ञ, पवित्र आचरण वाले, लोकव्यवहार में चतुर, प्रसन्नचित्त, शास्त्रोक्त मार्ग के अनुयायी, विद्वानो और सज्जनो को प्रिय लगने वाले, दयालु, गुरुओं और देवो के आराधना मे तत्पर, दृढप्रतिज्ञ एव राजाज्ञा का दृढता से पालन कराने वाले पुण्यस्मरण राजा ने यहा जन्म लेकर इस पृथ्वी को अलकृत किया है।

जयपुर मे लिखे गए अपने ग्रन्थो में उन्होने महाराजा के सम्बन्ध मे जो सतुलित और यथार्थवादी विचार प्रकट किये हैं वे भारत के प्राचीन राजाओ की परम्परागत गौरवगरिमा के सर्वथा अनुरूप हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय नरेशो ने विद्या और कला के क्षेत्र में अपना जो बहुमूल्य योगदान किया है तथा विद्वानो और कवियो को समानपूर्ण आश्रय देकर देश की जो सेवा की है, वह इतिहास मे अविस्मरणीय रहेगी।

तत्र शास्त्र और ज्योतिष के क्षेत्र में द्विवेदी जी का नाम भारत के अनेक प्रान्तो मे फैल चुका था। उनकी 'सग्रहशिरोमणि' और 'सप्तशतीसर्वस्व' का उत्तर भारत में व्यापक प्रचार हुआ था इसलिए शिक्षित-समाज में उनका समानपूर्ण स्थान बन गया था। एक बार दरभगा (बिहार प्रान्त) के स्वर्गीय महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह जो, अपने विद्या-प्रेम और राष्ट्रीय विचारो के कारण एक प्रगतिशील नरेश माने जाते थे—किसी सरकारी आयोग के सदस्य के रूप मे जयपुर आये हुए थे। उस समय, जयपुर को दूसरी काशी कहलाने का गौरव प्राप्त था। विभिन्न विषयो के चोटी के विद्वान् यहां मौजूद थे। महाराजा ने राज्य के उच्चाधिकारियो मे किसी ऐसे तपोनिष्ठ तान्त्रिक विद्वान् से मिलने की अभिलाषा व्यक्त की, जिससे वे तत्र शास्त्र के बारे मे कुछ मौलिक जानकारी प्राप्त कर सके। इस प्रसग में, राज्य की ओर से द्विवेदी जी के नाम का सुझाव दिया गया था और उनके साथ महाराजा के वार्तालाप की एकात व्यवस्था की गई थी। महाराजा स्वय बडे प्रतिभाशाली और आस्तिक पुरुष थे, वे अपने आगम-सम्बन्धी गभीर प्रश्नो का सन्तोषजनक और समुचित उत्तर पाकर बहुत प्रभावित हुए और इनके अनन्य भक्त बन गए। कुछ समय बाद, महाराजा ने इन्हे दरभगा आने का निमत्रण दिया किन्तु किन्ही कारणो से, वे उस समय वहा नही जा सके। इस पर, महाराजा ने जयपुर-नरेश को पत्र लिख कर कुछ समय के लिए इनको दरभगा भेजने का प्रबल अनुरोध किया। जयपुर महाराज की प्रेरणा और अनुमति से ये राज्य के सम्मानित अतिथि के रूप मे दरभगा पहुचे। महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह ने इनका बडा आतिथ्य सत्कार किया और कुछ दिन वहा निवास करने का आग्रह किया। लगभग दो वर्ष तक, द्विवेदी जी, महाराजा के सान्निध्य

म दरभगा मे रहे, और वहा काश्मीरकशैव दर्शन और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सारभूत तत्त्वो को लेकर 'साधक-सर्वस्व' नाम से एक नवीन किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रथ का निर्माण किया।

इस प्रदेश का जल वायु अनुकूल न होने के कारण, वे वहा और अधिक समय तक रहने के पक्ष में न थे। इधर वार्धक्य के कारण, स्वास्थ्य में अधिक गिरावट आने से, शीघ्र ही वहा से स्वदेश वापस लौटने की बात साच हो रहे थे कि बाराबकी (उत्तरप्रदेश) जिले की लाखूपुर रियासत के तालुकेदार पाण्डे सर्वजीतसिंह ने, अपना एक विशेष प्रतिनिधि भेज कर उन्हे अपने यहा आने की प्रार्थना की। महाराज ने परिवर्तित परिस्थिति को ध्यान में रख कर, इच्छा न होते हुए भी उन्हें बड़े आदर से बिदा किया। पाण्डेजी के स्नेहपूर्ण अनुरोध के कारण द्विवेदीजी को उनके यहा जाना पडा क्योंकि उनकी मन स्थिति उस समय बहुत अशात और डावाडोल हो रही थी। इन्होंने उनकी मानसिक आशका और भ्रम को निर्मूल करके कुछ ऐसे आध्यात्मिक उपचार बताए—जिसमे उनको पूर्ण लाभ पहुँचा और वे सदा के लिए इनके आज्ञाकारी शिष्य बन गए। द्विवेदीजी का स्वास्थ्य वार्धक्य के कारण, इन दिनो गिरावट की ओर था इसलिए पूर्ण विश्राम लेने की इच्छा से वे अपने आश्रम पण्डितपुरी लौट आए।

द्विवेदीजी ने विक्रम सवत् १९६० मे अपने सहोदर अनुज प० नन्दकिशोरजी द्विवेदी के श्रम और सहयोग से, पडितपुरी मे विन्ध्य पाषाण का एक देव मदिर बनवाया था। उसमें महिषमर्दिनी भगवती दुर्गा की सगमरमर की प्रतिमा तथा शिवलिंग की स्थापना की थी। पूजा के निमित्त पुष्प फल आदि उपलब्ध कराने के लिए इसके पार्श्वभाग मे एक पुष्पवाटिका और आम्र का बगीचा भी लगवाया था।

उक्त मन्दिर के प्राङ्गण मे, देववाणी मे सगमरमर की शिला पर उत्कीर्ण एक छन्दोबद्ध शिलालेख लगा हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण, यहा उद्धृत किया जाता है—

"य साक्षाद् यजुषा ऋचा च बहुशो वेदेषु मीमाम्यते
यत्रैवेश्वरशब्दशक्तिविषय शास्त्रेषु निर्धार्यते।
यश्चैकोऽपि विचित्रदर्शनदृशा नानाकृति कल्प्यते
सोऽय पापहर शिव शिवकृते वर्वर्ति सर्वोपरि॥
स्वस्ति श्रीमान् महर्षीणा प्रवरोऽभूत् स काश्यप।
विभाण्डकर्ष्यश्रृङ्गाद्या सन्ततिर्यस्य विश्रुता॥

तत्र श्रीभगवद्रामकरुणापरिवृंहिते ।
अभूवन् सरयूतीरवासिनो ब्राह्मणर्षभा ॥
तद्गोत्रज शुक्लयजुर्वेदाध्यायी विदा वर ।
वेणीप्रसाद इत्यासीद् द्विवेदपद्भूषित ॥
राधाकृष्णस्ततो जज्ञे सास्यशास्त्रनिपुणधी ।
कविना येन जनता दयादृष्ट्या चिकित्सिता ॥
ततोऽजनिष्ट सरयूप्रसाद शास्त्रतत्त्ववित ।
य स्निह्यत्यधिक नन्दकिशोरे स्वानुजे विदि ॥
येन जालन्धरे पीठेऽवासि श्रीगुरुसन्निधौ ।
तीर्थेऽरण्ये जयपुरे तथा भावयताऽऽगमान् ॥
अयोध्यापश्चिमप्रान्ते सरयूनमसान्तरे ।
स्वार्जिते 'पण्डितपुरी' ग्रामेऽत्र बहुपादपे ॥
यातेषु विक्रमाब्देषु षष्टिगोशीतरश्मिषु (१९६०) ।
तेन द्विवेदविप्रेण कारितोऽय शिवालय ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणा ससिद्धिर्जायते यत ।
तत्र श्रीशङ्करे भक्ति श्रद्धा च भवताद् दृढम् ॥"

द्विवेदीजी ने यहा अपना एक स्वतत्र पुस्तकालय भी स्थापित किया था। जिसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, व्याकरण ज्योतिष, दर्शन आदि के लिखित और मुद्रित ग्रन्थ सगृहीत किये गए हैं। इस प्रदेश के लोग सस्कृत साहित्य के इस सग्रहालय से अब भी लाभ लेते रहते हैं।

'पडितपुरी' में पूर्ण सुख शाति के साथ निवास करते हुए, जीवन के अन्तिम भाग में भी वे देवाराधन और साहित्यसेवा के व्रत से कभी विरत नहीं हुए बल्कि शारीरिक दुर्बलता के होते हुए भी उनका स्वाध्याय और लेखनकार्य शिष्यवर्ग की सहायता से निरन्तर चलता रहता था। यहा के निवासकाल मे उन्होने 'ललितासहस्रनाम' पर महत्त्वपूर्ण वृत्ति तथा आदिनाथ के मत्रगर्भित गुरुस्तोत्र 'पादुकापचक' पर एक लघु टिप्पणी लिखी। साथ ही, आगमोक्त तात्रिक 'दीक्षा-पद्धति' के कलेवर को परिष्कृत और सुव्यवस्थित बना कर उसे व्यावहारिक रूप मे प्रस्तुत किया।

कालक्रम से, शरीर जब शनै शनै क्षीण होने लगा तो, उन्होने अपनी दिनचर्या में समय के अनुरूप परिवर्तन कर दिया। वे केवल दुग्धमात्र का आहार लेने लगे, और बाहरी लोगों से मिलना-जुलना बन्द करके अधिकाश समय आत्मचिन्तन मे ही व्यतीत करने लगे। अन्त मे, कार्तिक कृष्णा ६ सोमवार विक्रम सवत् १९९३ को, सायकाल सूर्यास्त के समय पुत्र, पौत्र आदि समस्त परिवार तथा शिष्य मण्डली के समक्ष, योग

ऽक्रिया से प्राणायाम द्वारा इस भौतिक शरीर को त्याग कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गए।

द्विवेदीजी का कुल, आरम्भ से ही सस्कृत-विद्वानो का कुल था इसलिए परिवार के लोगो की शिक्षा-दीक्षा और रहन सहन, पूर्णत भारतीय सस्कृति के अनुरूप ढला हुआ था। अत एव पारस्परिक स्नेह और सद्भाव के कारण आपका पारिवारिक जीवन सदा सुख शातिमय रहा था। आपके पुत्र स्वर्गीय म म प० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी भारत के ऋषिकल्प मूर्धन्य विद्वानो मे थे, जिनका सक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। आपके एकमात्र पौत्र आचार्य प० श्रीगिरिजाप्रसादजी द्विवेदी हैं—जो विभिन्न भाषाओ के ज्ञाता, विद्याव्यसनी और ज्योतिष तथा सस्कृत साहित्य के मार्मिक विद्वान् हैं। अपनी कुल परम्परा के अनुरूप आपका भी अधिकाश जीवन साहित्यसेवा मे ही व्यतीत हुआ है। सस्कृत के क्षेत्र मे, आपने विभिन्न विषयो की कई महत्वपूर्ण पुस्तको का लेखन, सपादन एव अनुवाद किया है, जिनमे से अधिकाश प्रकाशित हो चुकी हैं। आप पुरानी पीढी के हिन्दी के समान्य लेखक-अनुवादक एव समालोचक है। महाराजा सस्कृत कालेज, जयपुर मे गणित एव ज्योतिष शास्त्र के प्राध्यापक पद पर वर्षो तक कार्य करने के बाद आप राज्य-सेवा से विश्राम ग्रहण कर चुके हैं।

अभी कुछ वर्ष पूर्व, राजस्थान सरकारने, आपकी उल्लेखनीय साहित्य-सेवाओ के फलस्वरूप आर्थिक पुरस्कार देकर समानित किया है। आजकल आप अपनी जन्मभूमि "पडितपुरी" मे निवास करते हैं और लौकिक एषणाओ से दूर रह कर, शात वातावरण में एकातभाव से आत्मचिन्तन मे लगे रहते है। द्विवेदीजी के ज्येष्ठ-प्रपौत्र, आचार्य प० श्रीमहादेवप्रसादजी द्विवेदी हैं—जो अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियो के साथ साथ "पडितपुरी" आश्रम के प्रमुख सचालक और व्यवस्थापक हैं। कनिष्ठ-प्रपौत्र श्रीगगाधर द्विवेदी है—जो महाराजा सस्कृत कालेज, जयपुर में साहित्य शास्त्र के प्रवक्ता पद पर कई वर्षो तक कार्य करने के बाद अब गवर्नमेंट सस्कृत कालेज, अलवर के प्रधानाचार्य पद पर कार्य कर रहे हैं।

द्विवेदीजी के ग्रन्थों का सक्षिप्त परिचय

श्रद्धेय द्विवेदीजो का अधिकाश जीवन परमेश्वराराधन और साहित्यसेवा म व्यतीत हुआ था। अपने जीवनकाल मे लोकोपकार की भावना से उन्होने ज्योतिष धर्मशास्त्र विशेषकर आगम शास्त्र से सम्बन्धित कई उपयोगी ग्रन्थो का निर्माण और चयन किया था। आपकी लेखन शैली बहुत सरल और सुबोध थी। शास्त्रीय गूढ विषयो के पूर्वापरसमन्वय और उनको सुगम बनाने मे आप बडे कुशल और सिद्धहस्त थे। आपके ग्रन्थो का प्रचार प्रसार

भारतीय विद्वत्समाज में तो था ही, साथ ही सामान्य ज्ञान रखने वाले विद्या-प्रेमियो ने भी अपनी ज्ञान वृद्धि और व्यावहारिक-क्षमता का सपादन करने मे इनका पूरा पूरा लाभ लिया है। आगम शास्त्र के गहन-गूढ तत्त्वो के निरूपण और उनकी व्यावहारिक योजना में आपकी असाधारण प्रतिभा ने उल्लेखनीय योगदान किया है। आपके सम्बन्ध में सम सामयिक विद्वानो की मान्यता व्यक्त करते हुए कहा गया है—

'विद्वासोऽप्यथ योगिनोऽपि कतिचित् सन्त्येव सन्त पर
तत्सामान्यविशेषभावकथने लोकोऽन्यथा मन्यते।
अस्तु, श्रीसरयूप्रसादविबुधादन्यो न शैवागम
ग्रन्थग्रन्थिविभेदनेऽद्य मतिमानित्युच्चकैर्ब्रूमहे ॥'

इसमें कोई सन्देह नही, कि भास्करराय के बाद पिछले दो शतको मे ऐसी कोई विभूति दृष्टिगोचर नही हुई—जिसने आगम के क्षेत्र में अपनी सेवाओ के द्वारा लोक मानस को आश्वस्त कर, इस शास्त्र को एक नई चेतना प्रदान की हो।

प्रकाशित ग्रन्थ

१—सग्रहशिरोमणि।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से ईसवी सन् १८७५ में मुद्रित और प्रकाशित।

यह मुख्य रूप से ज्योतिष विषय का ग्रन्थ है। इसमे ज्योतिष शास्त्र के सहिता-स्कन्ध के उपयोगी विषयो का सकलन है। साथ ही, दैनिक जीवन मे तथा नित्य नैमित्तिक धार्मिक क्रियाकलापो एव आशौच आदि मे काम आने वाली धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओ का—जो स्वभावत जटिल और मतमतान्तरो से आवेष्टित हैं—धर्मशास्त्र के मान्य ग्रन्थो के आधार पर सार्वदेशिक और बहु-समत पक्ष का निर्धारण किया गया है।

इसकी यह विशेषता है कि ज्योतिष शास्त्र से सबद्ध प्राय अनेक उपयोगी व्यावहारिक विषयो का समावेश इतनी दूरदर्शिता से किया गया है कि इस एक समूचे ग्रन्थ का अध्ययन कर लेने पर प्राय दैनिक व्यवहार मे आवश्यक और अपेक्षित विषयो की जानकारी हो जाती है, तथा ऋषियो एव आचार्यों के मूल प्रमाणवाक्यो का बलाबल भी ज्ञात हो जाता है। ज्योतिष और धर्मशास्त्र का निकट सम्बन्ध होने से दोनो ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं—इसलिए दोनो का समन्वयात्मक दृष्टि कोण जानने में इसका अपना स्वतन्त्र महत्व है।

इसके आरम्भ का मंगलाचरण यों है—

'श्रीवाणीं श्वेतवर्णाभां वाग्दानचतुरां शिवाम् ।
गणेशसहितां वन्दे वन्दनीयपदाम्बुजाम् ॥
ज्योतिःस्वरूपं जगतां प्रकाशकमभीष्टदम् ।
द्युमणिं त्रिगुणात्मानं सर्ववन्द्यमुपास्महे ॥'

ग्रन्थ के विभिन्न प्रकरणों की श्लोकबद्ध-सूची इस प्रकार है—

'संवत्सरस्य च तिथेर्वारनक्षत्रयोस्तथा ।
योगस्य करणाख्यस्य तारायाश्च यथाक्रमम् ॥
शुभाशुभस्य त्याज्यस्य मुहूर्तानां तथैव च ।
संक्रान्तेर्गोचरस्याथ संस्कारोद्वाहयोस्तथा ॥
वधूप्रवेशनस्याग्न्याधानराज्याभिषेकयोः ।
यात्रावास्तुप्रवेशानां प्रतिष्ठाशकुनाख्ययोः ॥
मिश्रस्य च तिथीनां च तथाशौचस्य च स्फुटम् ।
एवं प्रकरणान्यत्र यथासंख्यान्यनुक्रमात् ॥
मूलग्रन्थान्निबन्धाच्च वाक्यान्याहृत्य यत्नतः ।
बालबोधाय कुर्वेऽहं सत्संग्रहशिरोमणिम् ॥

इस शिरोमणि में कुल मिलाकर चौबीस प्रभाएं हैं। प्रत्येक प्रभा का नामकरण प्रधान विषय के अनुसार किया गया है। प्रभाओं के नाम इस क्रम से हैं—

१ संवत्सर प्रभा	१३ गोचर प्रभा
२ तिथि ,,	१४ संस्कार ,,
३. वार ,,	१५ विवाह ,,
४. नक्षत्र ,,	१६ वधूप्रवेश-द्विरागमन प्रभा
५. योग ,,	१७ अग्निहोत्र ,,
६ करण ,,	१८. राज्याभिषेक ,,
७ तारा ,,	१९. यात्रा ,,
८ शुभाशुभ विचार प्रभा	२० वास्तुविचार ,,
९ त्याज्यविचार ,,	२१ गृहप्रवेश ,,
१० लग्न ,,	२२ प्रतिष्ठा ,,
११ नानामुहूर्त ,,	२३ प्रकीर्णक ,,
१२ संक्रान्ति ,,	२४ तिथिनिर्णय ,,

ग्रन्थ की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोकों का उल्लेख है—

'द्विवेदिकुलसंभूतसत्पूकृतसंग्रहे ।
शिरोमणौ समाप्ताभूत् प्रमेय तत्त्वदर्शिका ॥१॥

राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमतीदेवो द्विवेदी गिरा
सारज्ञ. सरयूप्रसाद इति य' श्रीमत्ययोध्यापुरे ॥
सोऽय सश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीरामसिंह व्यधा-
द्वर्षे वेदयुगाङ्कभूपरिमिते श्रीविक्रमादित्यत ॥२॥
आर्षात् तद्वनिबन्धाच्च धर्मशास्त्रनिबन्धत ।
मूलवाक्यानि सगृह्य सत्सग्रहशिरोमणि ॥३॥
ग्रथनात् पूर्णता यातो भूयात् सज्जनतोषकृत् ।
वर्वर्तु कुशल भूमौ यावत्स्यात् कर्म वैदिकम् ॥४॥
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथो भक्तकल्पमहीरुह ।
भवताद्भवसतापशमनो हृत्कजस्थित ॥५॥

२—सदाचारप्रकाश।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८८३ मे मुद्रित और प्रकाशित।

इसमें वर्ण और आश्रमो की व्यवस्था के अन्तर्गत धर्मशास्त्रसमत लोकचर्या का विस्तृत निरूपण है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियो से लेकर धर्मशास्त्र के अन्य मूल निबन्धो के आधार पर आचार-विचार और भारतीय जीवन की परपरागत मान्यताओ का उल्लेख किया गया है।

३—वर्णबीजप्रकाश।

बम्बई के सुप्रसिद्ध वेङ्कटेश्वर प्रेस से विक्रम सवत् १९६८ मे मुद्रित एव प्रकाशित।

चारो वेदो के वैदिक मन्त्रो के वास्तविक अर्थज्ञान के लिए निरुक्तकार यास्क मुनि ने, और भास्करराय आदि ने, जैसे निघण्टु नामक कोष का सकलन किया है और अमरसिंह ने लौकिक सस्कृत शब्दो के अर्थज्ञान के लिए 'नामलिङ्गानुशासन कोष' जिसे अमरकोष कहा जाता है—का अग्निपुराण आदि से चयन किया है—उसी प्रकार से आगमोक्त मन्त्रो के उद्धार के लिए इस कोष की रचना की गयी है। आगम में माया, तार, पवन, मेरु अनुग्रह आदि शब्दो के पारिभाषिक अर्थ होते हैं—उनके द्वारा ही मन्त्रो मे प्रयुक्त विभिन्न वर्णों का सकेत किया जाता है। इस सकेत को समझे बिना मन्त्रो के वर्णात्मक स्वरूप की योजना नही ज्ञात हो सकती। अत एव मन्त्रो के स्वरूप को जानने के लिए इस कोष की अत्यत उपादेयता है। इसके बिना कोई महापण्डित ही क्यो न हो, शक्तिग्राहक कोष के अभाव में किस शब्द से वर्णमाला के किस अक्षर का सकेत किया गया है—इसकी जानकारी कथमपि नही कर सकता।[1]

१—इस 'कोष का सपादन श्रद्धेय म० म० प० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी ने किया है।

४—सप्तशतीसर्वस्व।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८९२ में मुद्रित और प्रकाशित।

हमारे देश में सप्तशती या दुर्गापाठ का बड़ा महत्व है। 'कलौ चण्डी-विनायकौ' की प्रसिद्धि के अनुसार, धार्मिक दृष्टि से आज के इस गये-गुजरे जमाने मे भी चण्डी या दुर्गापाठ का भारतव्यापी प्रचार है। अमीर से लेकर गरीब तक अपने अपने अभीष्ट लाभ के लिए बड़े आदर और श्रद्धा-भक्ति से स्वय इसका पाठ करते हैं, अथवा ब्राह्मण द्वारा कराते हैं। जिस वस्तु का व्यापक प्रचार होता है—उसमें, काल के प्रभाव से, कई प्रकार की त्रुटियो और विसगतियो का होना स्वाभाविक हुआ करता है। इस दृष्टि से सप्तशती के मूल पाठ और विधि विधान में भी मतमतान्तरो के झमेले के कारण बड़ी अव्यवस्था फैली हुई थी। द्विवेदीजी ने इससे सबद्ध अनेक टीका टिप्पणियो को देखकर, और मूलपाठ के विसवाद को दूर कर कात्यायनीतन्त्र, मेरुतन्त्र, मरीचिकल्प, चिदम्बर सहिता आदि आगम के मूल ग्रन्थो का भलीभाति पर्यालोचन करके, इससे सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण सामग्री का विधिवत् परीक्षण कर, सारभूत और प्रामाणिक वस्तुतत्त्व को लेकर बड़े परिश्रम से इसका जीर्णोद्धार किया है और इसलिए इसका नाम सप्तशती-सर्वस्व रखा है।

इसके विषय मे ग्रन्थकार ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है—

'सप्तशत्यास्तु सर्वस्व सर्वस्व तन्त्रम ्त्रयो ।
येनोदघाटि सर्वस्व सर्वस्वमिव भूतलात् ॥'

काशी आदि विद्यापीठों के विद्वानो ने इसी के पाठ और विधान को मान्यता प्रदान की है। और आजकल दुर्गा पाठ के अनेक सस्करणो में यही व्यवस्थित और प्रामाणिक माना जाता है।

इसके आरम्भ के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

गजानन[1] विघ्नहर गणार्चितपदाम्बुजम्।
सेवित सिद्धिबुद्धिभ्यामनिश श्रेयसे श्रये ॥१॥
नित्यामनन्ता प्रकृति पुराणी,
चिदीश्वरी सर्वजगन्निवासाम्।
शिवार्ध देहामगुणा गुणाश्रया
वर्णार्थरूपा प्रणमामि देवीम्[2] ॥२॥

१—इसके दूसरे सस्करण का सपादन श्रद्धेय म म प श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी ने किया है जो कि उक्त प्रेस से विक्रम सवत् १९७२ में प्रकाशित हुआ है।

२—'आगमरहस्य' मे भी ये दोनो मङ्गलश्लोक उल्लिखित हैं। इनका शास्त्रीय-अर्थ 'मितभाषिणी' में व्यक्त किया गया है जो ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग मे लगाई गई है।

श्रीमद्दुर्गानन्दनाथाङ्घ्रिपद्म
नत्वा स्तुत्वा सप्रदायप्रणेतृन् ।
पूर्वाचार्यप्रोक्तटीका विगाह्य
यद्यत्सार तत्तदेवाचिनोमि ॥३॥

सप्तसत्या प्रसादेन सप्तशत्यर्थसग्रहम् ।
प्रयोगानपि लब्धांश्च विचिनोमि यथामति ॥४॥

× × ×

एव तज्जलनिधिलोचनप्रमाणै—
विश्रामैर्विविधविधिक्रम वहद्भि ।
सपूर्णं परगुणकप्रसक्तिभाजा
सर्वस्व भवतु मुदे सुसाधकानाम् ॥५॥

चौबीस विश्रामो में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । इसमें दुर्गापाठ से सबन्धित सभी प्रकार के वैदिक एव तान्त्रिक काम्य प्रयोग पुरश्चरण आदि का सनिवेश है । सप्तशती वास्तव में सकटग्रस्त और पीडितो के लिए कल्पवृक्ष के समान एक वरदान है ।

उपसहार के कुछ श्लोक निम्नलिखित हैं—

श्रीसप्तशत्या सर्वस्व रहस्य निखिलार्थदम् ।
भूयाच्छ्रीसद्गुरो प्रीत्यै सप्रदायमहेशितु ॥१॥
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथ शङ्करो भक्तवत्सल ।
प्रीयता करुणामूर्ति र्भवभीतिहरो गुरु ॥२॥
नानागमाच्च निगमात् सङ्गृहीतमिहाद्भुतम् ।
भूमौ भूयाद् ब्राह्मणाना सदा कल्पतरूपमम् ॥३॥
दृष्ट्वा नन्दतु सुधिय क्षाम्यन्तूल्लेखविभ्रमम् ।
नानावाक्यैकलिखने प्रायो मुह्यति लेखक ॥४॥
प्रोद्धाटित तच्चापल्यादनुद्घाट्यमपीह यत् ।
तत् क्षन्तव्यमशेषेशि । रोषोऽज्ञे नोचितः सुते ॥५॥
बाललौल्यमशेष हि मातापित्रो कृपास्पदम् ।
भवत्यपारकरुणे करुणा मयि धीयताम् ॥६॥
राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमतीदेवो द्विवेदी गिरा
सारज्ञ सरयूप्रसाद इति य श्रीमत्ययोध्यापुरे ।
सोऽय सश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीमाधवेश प्रभु
स्वर्द्रं ग्रन्थमिम मनोहरतर जग्रन्थ सर्वार्थदम् ॥७॥

सप्तशतीसवस्वमिदमद्भुतरचनाहारि ।
गजयुगखेटमहीमिते १९४८ विक्रमवर्षेऽकारि ॥८॥

एतद्ग्रन्थरसामृत साधुकुलानि पिबन्तु ।
अम्बापदकरुणावशात् कृतकृत्यानि भवन्तु ॥९॥

भो भो साधकपुङ्गवा सादरमिद पठन्तु ।
भवता यद्विधिसाधनादङ्के श्रियो लुठन्तु ॥१०॥

५—मातृकास्तुति ।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग मे, सन् १९०७ में मुद्रित ।

हारितायन सहिता के अन्तर्गत ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओं के द्वारा की गई मातृका वर्णरूपिणी भगवती त्रिपुरसुन्दरी की यह स्तुति है। इसमें मातृका-विज्ञान के गूढतत्त्वो के व्यापक अर्थ निहित है।

'मेधा वाणी भारती त्व विद्या माता सरस्वती ।
ब्राह्मी भाषा वर्णमयी पराद्या कृतिरव्यया ॥
विकल्पा निर्विकल्पाऽजा कला नादमयी क्रिया ।
कालशक्ति सर्वरूपा शिवा श्रुतिरनुत्तरा ॥'

ये चौबीस नाम भी इसमे अन्तर्गर्भित हैं, जिनका सरस्वती-स्तोत्र के रूप मे पाठ करने का विधान है।

इस स्तुति की व्याख्या मे आगम शास्त्र के अनेक गभीर और गुरुगम्य विषयो का बड़ा प्राञ्जल विवेचन किया गया है। परा पश्यन्ती-मध्यमा वैखरी के स्वरूप और आविर्भाव का प्रकार तथा षट्चक्रो की अन्तर्भावना आदि के बारे मे अनेक ज्ञातव्य बातो का उल्लेख है।

इसकी टीका का मङ्गलाचरण यह है—

'यद्व्यापारवशादेव त्रिलोकी व्यवहारिणी ।
तामनन्तपरिस्फूर्तिभूमिका मातृका श्रये ॥'

अंत मे—

'साकेतपश्चिमककुपकृतसन्निवेशा
सा भाति पण्डितपुरी सुविविक्तदेशा ।
तस्या वसन् स सुमना सरयूप्रसाद-
श्रीमातृकास्तुतिमिमामकरोत्सटीकाम् ॥'

६—पादुकापञ्चक ।

बनारस के सत्यनाम प्रेस से सन् १९३२ मे मुद्रित ।

यह आदिनाथ कृत गुरुपादुकास्तोत्र है । इसमें शिवशक्तिरूप मे गुरु के शुक्ल रक्त चरणो की स्तुति की गई है । प्रात कृत्य के अन्तर्गत तान्त्रिको द्वारा इसके पाठ का विधान है । कुलार्णवतन्त्र में पादुका की व्याख्या इस प्रकार है—

'पालनाद् दुरितोच्छेदात् कामितार्थप्रवर्द्धनात् ।
पादुकेति समाख्याता ह्यावयोस्तत्त्वमम्बिके ॥'

मुख्य श्लोक पाँच हैं- जैसा कि पुस्तक के नाम से ज्ञात होता है किन्तु कुल मिलाकर इसम नौ श्लोक हैं—जो कि गभीर और अर्थपूर्ण हैं। द्विवेदीजी ने इस पर अपनी टिप्पणी लिखी है और उसमे इसके आगमिक अर्थों का स्पष्टीकरण किया है।

टिप्पणी के आरभ में लिखा है—
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथाङ्घ्रिपद्म
नत्वा स्तुत्वा सप्रदायार्थविज्ञान् ।
पूर्वाचार्यप्रोक्तमेवातिसूक्ष्म
वक्ष्ये भाव पादुकापञ्चकस्य ॥ १ ॥
जपित्वा पादुकामन्त्र नमेन्नाथ कृताञ्जलि ।
समाहितमना भूत्वा मन्त्रमेत समुच्चरन् ॥ २ ॥
वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुर मह ॥ ३ ॥

इसका प्रकाशन दरभङ्गानरेश स्वर्गीय लक्ष्मीश्वरसिंह की रानी के अनुज मैथिल-श्रोत्रिय स्वर्गीय त्रिलोकनाथ मिश्र ने किया है जो कि द्विवेदीजी के शिष्य थे ।

आगम के अप्रकाशित ग्रन्थ

७—सर्वार्थकल्पद्रुम ।

यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा में प्रतिपादित कृत्यासूक्त का विवरण है। भगवती भद्रकाली इसकी मुख्य देवता हैं। इसमे विभिन्न कामनाओ की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के यन्त्र मन्त्रो की साधना का उल्लेख किया गया है। वेद और तन्त्र दोनो की सम्मिलित अनुष्ठान प्रक्रिया की इसमे प्रधानता है । यह

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के श्लोकों में ग्रन्थ के स्वरूप और उसकी इतिकर्तव्यता का परिचय कराया गया है—

'श्रीनाथाङ्घ्रिकजद्वन्द्वरजोभूतिमदव्ययम् ।
तनुतां विमलं चैत्यं भक्तहृत्कल्पभूरुहम् ॥
श्रीपराम्बापदाम्भोजयुगं नौमि सुखास्पदम् ।
प्रत्यूहव्यूहशमनं स्वान्तध्वान्तविनाशनम् ॥
श्रीदुर्गानन्दसद्भक्तिलब्धकृत्यापदाम्बुजम् ।
पराप्तभीमपञ्चास्यं प्रणमामि पुनः पुनः ॥
आथर्वणं महाकृत्यासूक्तमाङ्गिरसं च यत् ।
नववर्गात्मकं सार्थं सोद्धारं सप्रयोगकम् ॥
यन्त्रप्रयोगसहितं ब्रह्मादीनां प्रकाशितम् ।
तदेव विलिखाम्यत्र ग्रन्थानालोक्य यत्नतः ॥'

इसकी समाप्ति में निम्नलिखित श्लोकों का उल्लेख किया गया है—

'वेदाग्निनन्दभूहीनवर्षे वैक्रमिके शुभे ।
मार्गे कृष्णे बुधेऽष्टम्यां लेखोऽयं पूर्णतामियात् ॥
कल्पान्यालोच्य लब्धानि विमृश्य गुरुप्रक्रियाम् ।
यावल्लब्धं यामलेषु यथाशास्त्रं यथामति ॥
साधकानां हि सर्वार्थप्राप्तये कल्पभूरुहः ।
सग्रहो ग्रथितोऽस्माभिस्तेन प्रीणातु श्रीशिवा ॥
निगमार्णवसद्रत्नकल्पभूरुहवाक्सुमैः ।
पूजिता गुरवोऽमन्दं मङ्गलं वितरन्तु नः ।
'राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमती देवो द्विवेदी गिरा
सारज्ञः सरयूप्रसाद इति यः श्रीमत्ययोध्यापुरे ।
सोऽयं सश्रित उत्तमे जयपुरे श्रीरामसिंहं प्रभुं
स्वर्द्रुं ग्रन्थमिमं मनोहरतरं जग्रन्थ सर्वार्थदम् ॥

८—परशुरामसूत्रवृत्ति।

यह श्रीविद्या का प्रतिपादक आर्ष ग्रन्थ है।

मङ्गलाचरण के बाद ग्रन्थ के आरम्भ में यह श्लोक है—

नत्वा विष्णुं जामदग्न्यं रामं क्षत्रकुलान्तकम् ।
तत्सूत्रगूढभावार्थव्यक्तये टिप्पणीं ब्रुवे ॥

इसके विषय मे ग्रन्थकार ने लिखा है—

'स व्यधाज्जामदग्नीयसूत्राणामृजुपद्धतिम् ।
यत्र सचर्यते सम्यग् बालैरप्यकुतोभयम् ॥'

श्रीविद्या के इस सूत्र ग्रन्थ के प्रति आगम-शास्त्र के आचार्यों को बडी श्रद्धा है। किन्तु, अति प्राचीन होने से कई स्थलो पर इसमें कुछ ऐसा उलट फेर हो गया था कि उसका समन्वय करना एक कठिन समस्या थी। किंतु द्विवेदीजी ने पूर्वापर-सगति द्वारा मूलसूत्रो के सवाद के साथ इसको व्यवस्थित रूप देकर एक महान् कार्य किया है। इस पर रामेश्वरसूरि की एक 'सौभाग्य-सुधोदय' टीका है, जो 'गायकवाड ओरियटल सिरीज' बडौदा से प्रकाशित हो चुकी है। इस कल्पसूत्र की टिप्पणी का उपसहार करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है—

उमानन्देन[1], रचिते नित्योत्सवनिबन्धने ।
वर्तते बहुधा हन्त क्रिया सूत्रविरोधिनी ।
अत सूत्रार्थसवादिकर्मकाण्डप्रकाशने ।
कृतोऽयमधुना यत्नस्तेन तुष्यतु शाङ्करी ॥
आग्रहावेशमुत्सार्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्य च ।
गुणदोषप्रकाशाय योजनीयात्र शेमुषी ॥
ये सन्त्यागममर्मज्ञास्तोषमेष्यन्ति ते ध्रुवम् ।
सप्रदायानभिज्ञाना किन्तोषेण रुषाऽपि किम् ॥'

९—साधक सर्वस्व ।

यह शक्तिदर्शन का प्रधान ग्रन्थ है। इसमें शक्ति की उपासना का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। सिद्धान्त और प्रायोगिक दोनो ही धाराओ का विवेचन प्रामाणिक और मान्य आगमग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन से सबन्ध रखने वाली सम्पूर्ण शास्त्रीय पद्धति का इसमे समावेश किया गया है। शक्तिदर्शन के जिज्ञासुओ और उपासको, दोनो ही के लिए पुस्तक समान रूप से उपयोगी है। इसमे २२ प्रकाश है—जिनमे इस दर्शन के विभिन्न विषयो का क्रमश प्रतिपादन है।

इसका प्रारभ इस प्रकार है—

स्फुरता चरणावन्त श्रीप्रकाशविमर्शयो ।
इदन्ताहन्तयोरैक्य भवेद् यदनुकम्पया ॥ १ ॥

---

१ सुप्रसिद्ध शाक्त दाशनिक भास्करराय (इनका समय १८ वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है) के शिष्य उमानन्दनाथ ने कल्पसूत्र पर 'नित्योत्सव' नामक एक पद्धति ग्रन्थ लिखा है, जो बडौदा की 'गायकवाड ओरियटल सिरीज' में छप चुका है।

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के श्लोकों में ग्रन्थ का स्वरूप और उसकी इतिकर्तव्यता का परिचय कराया गया है—

'श्रीनाथाङ्घ्रिसरोजद्वन्द्वरजोभूतिमदव्ययम् ।
तनुतां विमलं चैत्यं भक्तहृत्कल्पभूरुहम् ॥
श्रीपराम्बापदाम्भोजयुगं नौमि सुखास्पदम् ।
प्रत्यूहव्यूहशमनं स्वान्तध्वान्तविनाशनम् ॥
श्रीदुर्गानन्दसद्भक्तिलब्धकृत्यापदाम्बुजम् ।
पराप्तभीमपञ्चास्यं प्रणमामि पुनः पुनः ॥
आथर्वणं महाकृत्यासूक्तमाङ्गिरसं च यत् ।
नववर्गात्मकं सार्थं सोद्धारं सप्रयोगकम् ॥
यन्त्रप्रयोगसहितं ब्रह्मादीनां प्रकाशितम् ।
तदेव विलिखाम्यत्र ग्रन्थानालोक्य यत्नतः ॥'

इसकी समाप्ति मे निम्नलिखित श्लोकों का उल्लेख किया गया है—

'वेदाग्निनन्दभूहीनवर्षे वैक्रमिके शुभे ।
मार्गे कृष्णे बुधेऽष्टम्यां लेखोऽयं पूर्णतामियात् ॥
कल्पान्यालोच्य लब्धानि विमृश्य गुरुप्रक्रियाम् ।
यावल्लब्धं यामलेषु यथाशास्त्रं यथामति ॥
साधकानां हि सर्वार्थप्राप्तये कल्पभूरुहः ।
सङ्ग्रहो ग्रथितोऽस्माभिस्तेन प्रीणातु श्रीशिवा ॥
निगमार्णवसद्रत्नकल्पभूरुहवाक्कुसुमैः ।
पूजिता गुरवोऽमन्दं मङ्गलं वितरन्तु नः ।
राधाकृष्णतनूद्भवो वसुमतीदेवो द्विवेदी गिरां
सारज्ञः सरयूप्रसाद इति यः श्रीमत्ययोध्यापुरे ।
सोऽयं सश्रितः उत्तमे जयपुरे श्रीरामसिंहं प्रभुं
स्वर्द्रुं ग्रथितमिमं मनोहरतरं जग्रन्थ सर्वार्थदम् ॥

८—परशुरामसूत्रवृत्ति ।

यह श्रीविद्या का प्रतिपादक आर्ष ग्रन्थ है।

मङ्गलाचरण के बाद ग्रन्थ के आरम्भ मे यह श्लोक है—

नत्वा विष्णुं जामदग्न्यं रामं क्षत्रकुलान्तकम् ।
तत्सूत्रगूढभावार्थव्यक्तये टिप्पणीं ब्रुवे ॥

इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है—

'स व्यधाग्जामदग्नीयसूत्राणामृजुपद्धतिम् ।
यत्र सचर्यते सम्यग् बालैरप्यकुतोभयम् ॥'

श्रीविद्या के इस सूत्र ग्रन्थ के प्रति आगम-शास्त्र के आचार्यों की बडी श्रद्धा है। किन्तु, अति प्राचीन होने से कई स्थलो पर इसमें कुछ ऐसा उलट फेर हो गया था कि उसका समन्वय करना एक कठिन समस्या थी। किंतु द्विवेदीजी ने पूर्वापर-सगति द्वारा मूलसूत्रो के सवाद के साथ इसको व्यवस्थित रूप देकर एक महान् कार्य किया है। इस पर रामेश्वरसूरि की एक 'सौभाग्य-सुधोदय' टीका है, जो 'गायकवाड ओरियटल सिरीज' बडौदा से प्रकाशित हो चुकी है। इस कल्पसूत्र की टिप्पणी का उपसहार करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है—

उमानन्देन[1] रचिते नित्योत्सवनिबन्धने ।
वर्तते बहुधा ह्न्त क्रिया सूत्रविरोधिनी ।
अत सूत्रार्थसवादिकर्मकाण्डप्रकाशने ।
कृतोऽयमधुना यत्नस्तेन तुष्यतु शाङ्करी ॥
आग्रहावेशमुत्सार्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्य च ।
गुणदोषप्रकाशाय योजनीयात्र शेमुषी ॥
ये सन्त्यागममर्मज्ञास्तेऽपमेष्यन्ति ते ध्रुवम् ।
सप्रदायानभिज्ञाना किन्तोषेण रुषाऽपि किम् ॥'

९—साधक सर्वस्व ।

यह शक्तिदर्शन का प्रधान ग्रन्थ है। इसमें शक्ति की उपासना का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। सिद्धान्त और प्रायोगिक दोनो ही धाराओ का विवेचन प्रामाणिक और मान्य आगमग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन से सबन्ध रखने वाली सम्पूर्ण शास्त्रीय पद्धति का इसमे समावेश किया गया है। शक्तिदर्शन के जिज्ञासुओ और उपासको, दोनो ही के लिए पुस्तक समान रूप से उपयोगी है। इसमे २२ प्रकाश हैं—जिनमे इस दर्शन के विभिन्न विषयो का क्रमश प्रतिपादन है।

इसका प्रारभ इस प्रकार है—

स्फुरता चरणावन्त श्रीप्रकाशविमर्शयो ।
इदन्ताहन्तयोरैक्य भवेद् यदनुकम्पया ॥ १ ॥

---

१ सुप्रसिद्ध शाक्त दार्शनिक भास्करराय (इनका समय १८ वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है) के शिष्य उमानन्दनाथ ने कल्पसूत्र पर 'नित्योत्सव' नामक एक पद्धति ग्रन्थ लिखा है, जो बडौदा की 'गायकवाड ओरियटल सिरीज' में छप चुका है।

आगमाम्भोधिसम्भूत सारात्सारतर हि यत् ।
तद्वाक्यरत्नमत्रेह मया सगृह्यते स्फुटम् ॥ २ ॥
परापचाशिका दृष्ट्वा काशिका नदिसम्भवाम् ।
प्रत्यभिज्ञामत तद्वच्चिदम्बरसमुद्भवम् ॥ ३ ॥
निरुत्तर तथा शक्तिसङ्गम च कुलार्णवम् ।
ज्ञानार्णवमत तद्वद्दक्षिणामूर्त्तिसम्भवम् ॥ ४ ॥
रहस्यार्णवसम्भूत तन्त्रराजमव तथा ।
यामलोक्त वीरतन्त्रभव वै वामकेश्वरम् ॥ ५ ॥
योगिनीहृदयोत्थ च परमानन्दतन्त्रजम् ।
त्रिकूटासंभव तद्वदन्येषा च यथामति ॥ ६ ॥
गुरूणा च मत सम्यगालोच्य शक्तिदर्शने ।
सत्साधकेन्द्रसप्रीत्यै कर्म-वैगुण्यशान्तये ॥ ७ ॥
श्रीकण्ठशासनोत्कीर्ण प्रमेय यत् सता मतम् ।
तच्च साधकसर्वस्वे यथाक्रममुदीर्यते ॥ ८ ॥

ग्रन्थ के अन्तिम भाग का उपसहार करते हुए कहा गया है—

'एतत् साधकसर्वस्वं शक्तिदर्शनमुत्तमम् ।
ग्रथित श्रीगुरुप्रीत्यै सत्साधकहितावहम् ॥ १ ॥
मार्गे प्रचरता यद्वत् कण्टकादेर्भय नहि ।
तथैवात्र प्रचरता कर्मलोपभय नहि ॥ २ ॥
पूर्णे कर्मणि श्रीमाता प्रसन्ना भवति ध्रुवम् ।
प्रसन्नाया च सुलभावैहिकामुष्मिकौ यत ॥ ३ ॥
तस्माद् गोप्यतमो ह्येष मार्ग सम्यक् प्रकाशित ।
सप्रदायविशुद्धाना साधकाना हितेप्सया ॥ ४ ॥
सुसुख वर्तता भूमौ यावद् धर्म सनातन ।
वशधर्यमिते कामतिथौ तपसि तच्छिवम् ॥ ५ ॥'

शैव-शाक्त दर्शनो की मूलभित्ति और उसमे प्रसूत कर्म-उपासना और ज्ञानकाण्ड के तत्त्वो को, आर्षपद्धति के अनुसार हृदयगम करने के लिए यह अपने ढग का अनूठा ग्रन्थ है ।

इस ग्रथ की मूलप्रति शिव दुर्गापीठ 'पण्डितपुरी के पुस्तकालय मे है । पूज्यपाद प० श्रीगिरिजाप्रसादजी द्विवेदी के निर्देशन में इसकी प्रेसकापी तथा सपादन सम्बन्धी ग्रन्थ सामग्री का सकलन मेरे सहोदर अग्रज, आचार्य प० श्रीमहादेवप्रसादजी द्विवेदी कर रहे हैं। आशा है, यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शीघ्र ही आगमप्रेमियो को उपलब्ध हो सकेगा ।

१० दीक्षापद्धति ।

श्रीविद्या की जो दीक्षापद्धतियाँ वर्तमान समय में उपलब्ध होती हैं उनमें कही सम्प्रदायभेद के कारण, कही प्रक्षिप्तांश के सम्मिश्रण से एवं कही परवर्ती आचार्यों द्वारा यत्र तत्र परिवर्तन कर दिये जाने के कारण अधिकतर स्थलो पर मूलभूत सूत्र ग्रन्थो के साथ उनका सामञ्जस्य नही बैठता—बल्कि कही कही तो वे कल्पसूत्र से भी विरुद्ध पड़ते हैं। इस दुरवस्था को देख कर द्विवेदीजी ने यह अनुभव किया कि 'दीक्षापद्धति' का एक परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप होना परमावश्यक है—क्योंकि दीक्षा आगमानुयायियो का एक प्रमुख संस्कार है। फलत अनेक पद्धतियो का परीक्षण करके उनके विसंवाद को दूर कर मूल तन्त्रो की अनुगत प्रक्रिया के अनुसार इसका निर्माण करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की गयी है।

यह पद्धति पण्डितपुरी के पुस्तकालय में होने से उसके आद्यन्त के अंशो का उद्धरण देना सम्भव नही हो सका है।

११—ललितासहस्रनामवृत्ति ।

यह श्रीविद्या का सुप्रसिद्ध सहस्रनाम है। श्रीविद्या के उपासक महामुनि अगस्त्य को भगवान् हयग्रीव ने इसका उपदेश किया है। यह ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत है। मन्त्रशास्त्र के अनेक रहस्यों से परिपूर्ण उक्त सहस्रनाम अन्य देवताओ के सहस्र नामो की तुलना मे कही अधिक महत्वपूर्ण है। इस पर सुप्रसिद्ध आगमाचार्य भास्करराय ने, जिनका दीक्षा का नाम भासुरानन्दनाथ है—सौभाग्य-भास्कर नामक भाष्य लिखा है, किन्तु उक्त भाष्य केवल उच्चकोटि के चतुरस्र विद्वानो के ही काम का है। यह इतना विस्तृत और गभीर है कि इसके द्वारा अनेक प्रमेयांशो को समझ सकना बहुत कठिन और कष्टसाध्य है। अत एव अगस्त्य मुनि के मूलसूत्रो के आधार पर इसकी वृत्ति का निर्माण किया गया है, जो मूल के अभिप्रेत विषयो को सरलता से समझने मे सहायक होता है।

वृत्तिकार ने मंगलाचरण के बाद, इस वृत्ति के निर्माण की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा है—

'क्लिष्टं सुविस्तृतमतिस्थगितप्रमेयं
सौभाग्यभास्करसमाह्वयभाष्यमास्ते ।
तस्मादगस्त्यमुनिसूत्रमुखाश्रयेण
स्वान्तसुखाय विवृणोमि सहस्रनाम ॥'

वृत्ति की समाप्ति करते हुए, अपने उद्देश्य की सफलता का उल्लेख यो किया गया है—

आगमाम्भोधिसम्भूतं सारात्सारतरं हि यत् ।
तद्वाक्यरत्नमत्रेह मया संगृह्यते स्फुटम् ॥ २ ॥
परापञ्चाशिकां दृष्ट्वा कालिकां नन्दिसम्भवाम् ।
प्रत्यभिज्ञामतं तद्वच्चिदम्बरसमुद्भवम् ॥ ३ ॥
निरुत्तरं तथा शक्तिसङ्गमं च कुलार्णवम् ।
ज्ञानार्णवमतं तद्वद्दक्षिणामूर्त्तिसम्भवम् ॥ ४ ॥
रहस्यार्णवसम्भूतं तन्त्रराजभवं तथा ।
यामलोक्तं वीरतन्त्रभवं वै वामकेश्वरम् ॥ ५ ॥
योगिनीहृदयोत्थं च परमानन्दतन्त्रजम् ।
त्रिकूटासंभवं तद्वदन्येषां च यथामति ॥ ६ ॥
गुरूणां च मतं सम्यगालोच्य शक्तिदर्शने ।
सत्साधकेन्द्रसम्प्रीत्यै कर्म-वैगुण्यशान्तये ॥ ७ ॥
श्रीकण्ठशासनोत्कीर्णं प्रमेयं यत् सतां मतम् ।
तच्च साधकसर्वस्वे यथाक्रममुदीर्यते ॥ ८ ॥

ग्रन्थ के अन्तिम भाग का उपसंहार करते हुए कहा गया है—

'एतत् साधकसर्वस्वं शक्तिदर्शनमुत्तमम् ।
ग्रथितं श्रीगुरुप्रीत्यै सत्साधकहितावहम् ॥ १ ॥
मार्गे प्रचरतां यद्वत् कण्टकादेर्भयं नहि ।
तथैवात्र प्रचरतां कर्मलोपभयं नहि ॥ २ ॥
पूर्णे कर्मणि श्रीमाता प्रसन्ना भवति ध्रुवम् ।
प्रसन्नायां च सुलभावैहिकामुष्मिकौ यतः ॥ ३ ॥
तस्माद् गोप्यतमो-ह्येष मार्गः सम्यक् प्रकाशितः ।
सम्प्रदायविशुद्धानां साधकानां हितेप्सया ॥ ४ ॥
सुसुखं वर्ततां भूमौ यावद् धर्मः सनातनः ।
वशाधर्यमिते कामतिथौ तपसि तच्छिवम् ॥ ५ ॥'

शैव-शाक्त दर्शनों की मूलभित्ति और उससे प्रसूत कर्म-उपासना और ज्ञानकाण्ड के तत्त्वों को, आर्षपद्धति के अनुसार हृदयंगम करने के लिए यह अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है।

इस ग्रंथ की मूलप्रति शिव दुर्गापीठ 'पण्डितपुरी' के पुस्तकालय में है। पूज्यपाद पं० श्रीगिरिजाप्रसादजी द्विवेदी के निर्देशन में इसकी प्रेसकापी तथा संपादन सम्बन्धी अन्य सामग्री का संकलन मेरे सहोदर अग्रज, आचार्य पं० श्री-महादेवप्रसादजी द्विवेदी कर रहे हैं। आशा है, यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शीघ्र ही आगमप्रेमियों को उपलब्ध हो सकेगा।

१० दीक्षापद्धति।

श्रीविद्या की जो दीक्षापद्धतियाँ वर्तमान समय मे उपलब्ध होती हैं उनमें कही सम्प्रदायभेद के कारण, कही प्रक्षिप्तांश के सम्मिश्रण मे एव कही परवर्ती आचार्यों द्वारा यत्र तत्र परिवर्तन कर दिये जाने के कारण अधिकतर स्थलो पर मूलभूत सूत्र ग्रन्थो के साथ उनका सामञ्जस्य नही बैठता—बल्कि कही कही तो वे कल्पसूत्र के भी विरुद्ध पड़ती हैं। इस दुरवस्था को देख कर द्विवेदीजी ने यह अनुभव किया कि 'दीक्षापद्धति' का एक परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप होना परमावश्यक है—क्योंकि दीक्षा आगमानुयायियो का एक प्रमुख सस्कार है। फलत अनेक पद्धतियो का परीक्षण करके उनके विसवाद को दूर कर, मूल तन्त्रो की अनुगत प्रक्रिया के अनुसार इसका निर्माण करके एक बडे अभाव की पूर्ति की गयी है।

यह पद्धति पडितपुरी के पुस्तकालय मे होने से उसके आद्यन्त के अशो का उद्धरण देना सभव नही हो सका है।

११—ललितासहस्रनामवृत्ति।

यह श्रीविद्या का सुप्रसिद्ध सहस्रनाम है। श्रीविद्या के उपासक महामुनि अगस्त्य को भगवान् हयग्रीव ने इसका उपदेश किया है। यह ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत है। मन्त्रशास्त्र के अनेक रहस्यो से परिपूर्ण उक्त सहस्रनाम अन्य देवताओ के सहस्र नामो की तुलना मे कही अधिक महत्वपूर्ण है। इस पर सुप्रसिद्ध आगमाचार्य भास्करराय ने, जिनका दीक्षा का नाम भासुरानन्दनाथ है—सौभाग्य-भास्कर नामक भाष्य लिखा है, किन्तु उक्त भाष्य केवल उच्चकोटि के चतुरस्र विद्वानो के ही काम का है। यह इतना विस्तृत और गभीर है कि इसके द्वारा अनेक प्रमेयाशो को समझ सकना बहुत कठिन और कष्टसाध्य है। अत एव अगस्त्य मुनि के मूलसूत्रो के आधार पर इसकी वृत्ति का निर्माण किया गया है, जो मूल के अभिप्रेत विषयो को सरलता से समझने मे सहायक होता है।

वृत्तिकार ने मगलाचरण के बाद, इस वृत्ति के निर्माण की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा है—

'क्लिष्ट सुविस्तृतमतिस्थगितप्रमेय
सौभाग्यभास्करसमाह्वयभाष्यमास्ते।
तस्मादगस्त्यमुनिसूत्रमुखाश्रयेण
स्वान्त सुखाय विवृणोमि सहस्रनाम॥'

वृत्ति की समाप्ति करते हुए, अपने उद्देश्य की सफलता का उल्लेख यो किया गया है—

'गाह गाह भासुरानन्दनाथा—
चार्योद्भूत नाम-साहस्रभाष्यम् ।
आदायैतत्सारभूतान् प्रमेया—
नुत्तानार्था वृत्तिरेषा व्यधायि ॥
एका वृत्ति पूर्वभाष्यानुरोधात्
केश्चित् बद्धाप्याशय नैव सूते ।
तस्मात्तत्तन्मूलवस्तुप्रथायै
सारग्राही मामकोऽय प्रयास ॥
जागर्त्यन्त सच्चिदानन्दमूर्ति
श्रीमद्दुर्गानन्दनाथेन्दुमौलिः ।
प्रीते यस्मिन्नष्टदु खानुबन्ध
धावन्त्यग्रे भुक्तयो मुक्तयोऽपि ॥
तच्छ्रीपादाम्भोजकिञ्जल्कधूली—
पीन पुन्यस्पर्शपूतान्तरेण ।
शाके क्षोणीद्व्यष्टचन्द्रप्रमाणे
श्रीश्रीप्रीत्यै वृत्तिरुद्भावितयम् ॥'

द्विवेदीजी के मुद्रित एव अमुद्रित साहित्य का जो सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उसमे विज्ञजनो को परिचय के साथ साथ कुछ प्रासगिक बातो की जानकारी अवश्य मिलेगी।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि इस समय द्विवेदीजी के मुद्रित ग्रन्थ दुर्लभ हो गए हैं और आगे भी उनका उपलब्ध होना कठिन प्रतीत होता है क्योकि प्राय सभी पुस्तको का मुद्रण और प्रकाशन विभिन्न प्रकाशको के द्वारा किया गया था। किसी का एक, किसी के दो सस्करण निकले थे और वे सब के सब प्राय समाप्त हो चुके हैं। इधर, स्थिति एकदम बदल गई है। युगपरिवर्तन के साथ लोकरुचि बदल जाने से इस ढग की पुस्तको की माँग अब कम होती जा रही है। अत सस्कृत साहित्य से सबद्ध पुस्तको के पुनर्मुद्रण की आशा भी अब क्षीण हो चली है। कारण यह है कि ऐसी पुस्तको की बिक्री स्वभावत सीमित होने से प्रकाशको को इस ओर पू जी का विनियोग करने मे कोई उत्साह नही रह गया है।

यह एक गभीर चिंता का विषय है कि हमारे देश के स्वाधीन होने के बाद पिछले बीस वर्षों मे यहा सस्कृत भाषा और उसके साहित्य की लोकप्रियता मे जो ह्रास हुआ है, और गिरावट आयी है—उसकी कल्पना स्वप्न में भी न की जा सकती थी। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह देखने मे आया है कि सस्कृत-साहित्य के

अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ धीरे धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। इसका और कुछ भी कारण क्यो न हो, परन्तु तटस्थ प्रेक्षको की यह धारणा है कि पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता की ओर हमारा झुकाव इतना अधिक बढ गया है कि भविष्य के प्रति यह आशंका होने लगी है कि कही कुछ समय बाद भारतीय विद्याओ की उपयोगिता ही न समाप्त हो जाय और यहा का प्राचीन साहित्य केवल संग्रहालय की वस्तु बन कर न रह जाय क्योंकि आज का मानव भौतिक विज्ञान की उपलब्धियो और सफलताओ पर मुग्ध होकर उसका ऐसा अंधभक्त बन गया है कि उसे अपने स्वत्व या मानव मूल्यो के प्रति कोई आस्था नही रह गई है। ऐसी परिस्थिति में, भारतीय विद्या और ज्ञान विज्ञान का भविष्य क्या होगा इसका पूर्वानुमान कर सकना कठिन है।

आगमरहस्य का प्रकाशन—आगमरहस्य की प्रसिद्धि इसके रचना काल के बाद ही प्राय सारे उत्तर भारत मे हो चुकी थी। कारण यह था कि ग्रन्थकार ने स्वयं अपने आगमशास्त्र के ग्रन्थो में यत्र-तत्र इसका उल्लेख किया था। इसके पूर्व, 'सप्तशतीसर्वस्व' तथा वर्ण बीजप्रकाश (मत्रशास्त्र का कोष) भारतीय तंत्र साहित्य के क्षेत्र में व्यापक रूप से लोकप्रिय हो चुके थे और ग्रन्थकार का नाम आगमाचार्यो की श्रेणी में बडे आदर और सम्मान के साथ लिया जाता था। कुछ अन्य विद्वान् जो ग्रन्थकार के प्रति अपनी श्रद्धा रखते थे, अपने लेखो मे प्रसंगवश सूत्ररूप से इसकी चर्चा कर चुके थे। किन्तु, यह संयोग की बात थी कि एक ऐसे उच्चकोटि के उपयोगी ग्रन्थ के प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी अब तक इसके मुद्रण का सुयोग न आ सका। कई बार इसके प्रकाशन की योजना बनी और प्रकाशको के साथ व्यक्तिगत चर्चा भी की गई किंतु कोई परिणाम न निकला। मुख्य बाधा यह थी कि हमारे देश के पुस्तक-व्यवसायियो का एकमात्र लक्ष्य थोडे से थोडे समय मे अधिक से अधिक आर्थिक लाभ लेने का रहता है। इसके साथ ही, मुझे यह कहने में हार्दिक खेद होता है कि इस वर्ग के अधिकांश लोग जो जाने-माने पूंजीपति हैं राष्ट्र या समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व या नैतिक कर्त्तव्य नहीं मानते, न उन्हे सत्साहित्य के प्रति कोई लगाव या अनुराग ही होता है। इसमे इक्के दुक्के अपवादो को छोड दीजिए शेष समुदाय की मनोवृत्ति कुछ इसी प्रकार की मिलेगी।

ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल लाभ के प्रतिशत को आंकने वाले लोगो मे ऐसे साहित्य के प्रकाशन मे किसी भी तरह के त्याग या सहयोग की आशा करना दिवास्वप्न से अधिक कुछ भी अर्थ नही रखता था। किंतु, इतना सब कुछ जानते हुए और प्रतिकूल परिस्थितियो के होते हुए भी केवल निराश होकर या हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाने मे किसी समस्या का कोई हल नही निकल सकता था बल्कि इसके लिए तो पूरे उत्साह के साथ अथक परिश्रम और उद्योगशील बनने की आवश्यकता रहती है और तब कही

अनुकूल समय आने पर ऐसी योजनाओ को सफलता मिल पाती है। इस ढग की उलझनो और विचारो में कई वर्ष निकल गए। इधर समय ने पलटा खाया और इसके प्रकाशन की कौन कहे, देश की सामाजिक गतिविधियो में ही ऐसे भारी परिवर्तन आए कि सारा नकशा ही बदल गया। ऐसे सक्रमणकाल में, जहाँ वर्तमान तो अनिश्चित था ही, भविष्य के लिए भी इसकी कोई रूपरेखा तैयार कर सकना कठिन होगया। ऐसी स्थिति म, अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने के सिवा, कोई विकल्प न रह गया था किंतु मैंने अपने प्रयत्न म ढील न आने दी, और दृढता मे इसके प्रकाशन के सकल्प पर डटा रहा।

कुछ वर्ष पूर्व, किसी प्रसग से, मैंने अपने सुहृद् प० श्रीगोपालनारायण जी बहुरा से इसके प्रकाशन की चर्चा चलाई और ग्रथ की उपयोगिता के बारे में अपने विचार प्रकट किए। जब उन्होने, मेरी आशा के अनुरूप, इस पर अनुकूल प्रतिक्रिया दिखाई तो फिर नये सिरे से मैं इस ओर प्रयत्नशील बन गया। श्रीबहुरा के सहमत होने पर इसके प्रकाशन का प्रस्ताव सम्मान्य सचालक, पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी के समुख उपस्थित किया गया। श्री मुनि जी ने बडी तत्परता से इस प्रस्ताव पर विचार किया और राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान द्वारा इसके प्रकाशन का निर्णय ले लिया। साथ ही, इसके सपादन का दायित्व और कार्यभार मुझ पर डाल दिया जो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। आरभ मे ही मुझे इस विषय में विशेष रुचि थी इसलिए मैंने गभीरता के साथ ग्र थ का आद्योपान्त अध्ययन किया था। फिर भी, सपादक के नाते अपने गुरुतर उत्तरदायित्व को निभाने का प्रश्न था, इसलिए मैने इसके सपादन मे आनेवाली कठिनाइयो पर विचार किया। श्री मुनि जी ने भी अपनी ओर से कई उपयोगी सुझाव दिये, जो बडे मूल्यवान् थे। मैंने पूरे उत्साह के साथ, इसके सपादन का श्रीगणेश किया, और यथासभव जल्दी ही इसे पूरा कर डालने का सकल्प लिया।

इस बीच, घरेलू परिस्थितियो ने अचानक ऐसा मोड ले लिया, जिनके कारण मैं बडे असमजस में पड गया। मेरी धर्मपत्नी वातव्याधि के भयकर आक्रमण से बडे गभीर रूप से अस्वस्थ हो गई। उनकी जीवन रक्षा के लिए, मुझे विवश होकर, यह कार्य कुछ समय के लिए बद कर देना पडा और मैं उनकी चिकित्सा के चक्र में फँसा रहा। उन्हे पूर्णरूप से स्वस्थ होने मे पूरे बारह महीने लग गये। रोगोपचार में व्यस्त रहने के कारण, इस अवधि म, पुस्तक सबधी कोई कार्य कर सकना मेरे लिए सर्वथा असभव था। अत श्री मुनि जी को समय समय पर मैं इस विषम परिस्थिति की जानकारी कराता रहा। किंतु, इस आकस्मिक घटना का तात्कालिक प्रतीकार क्या हो सकता था? अतत प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण मे अवाञ्छनीय विलम्ब हो गया इसका मुझे खेद है। इस प्रसग म यह उल्लेखनीय है कि श्री मुनि जी ने 'कर्तव्य

की भावना से जहा इस कार्य को तत्परता के साथ शीघ्र पूरा करने की प्रेरणा दी, वहाँ मानवीय परिस्थितियो की अनिवार्यता को दृष्टिगत करके जिस सौजन्य और स्नेह की उदात्त भावना से विलब होने पर भी सहनशीलता के साथ उन्होने मेरे प्रति अपनी जो महानुभूति बनाये रक्खी है उसे सहज ही नही भुलाया जा सकता।

सपादन के सबन्ध मे—प्रस्तुत ग्रन्थ का मपादन अपने हाथ में लेने के बाद मेरे मन मे यह कल्पना उठी कि आज के इस भौतिक-विज्ञान के युग मे, जब मनुष्य की समस्त स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और मान्यताए एकदम बदल गई हैं या विपरीत दिशा की ओर जा रही हैं, और वह एकान्तत अर्थ-कामोन्मुख बनता जा रहा है, आगम जैसे पवित्र और लोककल्याणकारी अध्यात्म-मार्ग की ओर सरलता से उसे कैसे आकृष्ट किया जा सकता है ? क्योकि वैज्ञानिक वायुमण्डल के झोके मे, समाज के अधिकतर लोग जब मोहनिद्रा की मधुर अवस्था मे पहुँच चुके हो—उन्हे प्रबुद्ध करके, इस ओर रुचि उत्पन्न करा सकना, एक अनहोनी-सी बात लगती है। किंतु, कर्तव्य की भावना और आत्मविश्वास के सहारे यदि इस ओर कोई प्रयास किया जाय तो उसे अनुचित भी नही कहा जा सकता। यही सब सोच कर इस विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से, मैंने एक सक्षिप्त विवृति लिखने का निश्चय किया। परन्तु इसका माध्यम सस्कृत हो या हिन्दी, यह प्रश्न जब सामने आया तो बडी उलझन पैदा हो गई। अत मे व्यापक सन्दर्भ में, मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि भले ही कोई कुछ भी क्यो न कहे जब भारतीय शास्त्रो की मूल रचना देववाणी-सस्कृतमे हैं और उसी भाषा के माध्यम से, इनका सपूर्ण-व्यवहार होते रहने से, अब तक इनकी सार्थकता एव उपादेयता अक्षुण्ण और सुरक्षित रहती आई है-तब यही सर्वसमत, निरापद और उचित मार्ग होगा कि इससे सबद्ध सारा कार्यकलाप सस्कृत भाषा के माध्यम से ही सपन्न होना चाहिए। इसी में शास्त्र की वास्तविक सार्थकता और उससे सभावित उपलब्धियो का लाभ लिया जा सकता है तथा शास्त्र की गरिमा और उसके महत्व को भी सरक्षण मिल सकता है अन्यथा इसका सारभूत मूल तत्त्व नष्ट हो जायगा और युगो पुरानी चली आनेवाली उसकी प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जायगी। फिर, आगम शास्त्र की तो अपनी विशिष्ट स्थिति और मर्यादाए पहले से ही निर्धारित चली आ रही हैं—इसलिए इसमे किसी प्रकार के हेर फेर करने का किसी को कोई अधिकार ही नही हैं। सत्य तो यह है कि एक विशुद्ध ईश्वरीय-विधान मान कर उसके प्रति निष्ठावान रहने मे ही हमारा कल्याण है।

सस्कृत माध्यम से एक सक्षिप्त विवृति लिखने का निर्णय लेने के बाद मैंने अपना मन्तव्य श्री मुनि जी के समक्ष रक्खा। वे इस विचार से सहमत तो हो गए किन्तु कुछ रुक कर उन्होने कहा कि आज के देश काल मे इस ढग के बडे ग्रन्थो पर कुछ लिखा जा सके और वह पूरा पढ जाय इसकी आशा कम

ही पाई जाती है। फिर भी यदि आप चाहे तो मुझे यह स्वीकार्य होगा। उनके इस कथन पर, उस समय मैंने विशेष ध्यान नही दिया और पूर्व निश्चय के अनुसार ग्रन्थ के प्रारंभिक अश, उपोद्घात प्रकरण तक नमूने के तौर पर 'मितभाषिणी' के नाम से एक विवृति तैयार करके मुनि जी को स्वीकृति के लिए जोधपुर भेज दी। उन्होने वह देखभाल कर पसद कर ली और मुद्रण की स्वीकृति के साथ, मेरे पास वापस लौटा दी।

आरम्भ का अश होने से, उसमे कई बातो का उल्लेख करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ किंतु उसका कलेवर मेरी कल्पना से कुछ अधिक बढ गया। मुझे लगा कि आरभ के इन आठ पृष्ठो को लिखने मे जितना श्रम और समय लगा, उस अनुपात से, इस ग्रन्थ पर विवृति या टिप्पणी लिखने में वर्षों का समय चाहिए। साथ ही, यह भी अनुभव किया कि इस पचडे मे न पड कर, यदि स्वतन्त्र रूप से, इस विषय पर लिखा जाय, तो वह कम श्रम और समय मे लिखा जा सकता है। यथार्थ यह है कि टीका-टिप्पणी या विवृति क लेखन म मूल ग्रन्थ के अनुसार उसकी सगति बिठाते हुए लिखना पडता है, और उसकी पुष्टि करने के लिए उपयुक्त प्रमाण-वाक्यो का उद्धृत करना भी आवश्यक होता है। इसके बिना, स्वय मे वह कुछ अधूरा सा लगने लगाता है। इसके साथ साथ यह मानी हुई बात है कि सस्कृत के माध्यम से किसी विषय पर कुछ लिखने मे श्रम और समय अपेक्षाकृत अधिक लगता है उपयोगिता की दृष्टि से, भले ही उसका फल कुछ भी क्यो न हो।

अत में, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि व्यस्त जीवन के इस युग में, इस तरह की दीर्घकालिक योजना किसी भी तरह व्यावहारिक नहो हो सकती। अत मैंने इस प्रयास का यहीं समाप्त कर दिया। किंतु जो अश लिखा जा चुका था, उसे विज्ञ पाठको क लिए, ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप म लगा देना उचित समझा और इस निश्चय से मुनि जी को भी अवगत कर दिया।

मूलग्रन्थ की प्रतियो का विवरण—इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनम से एक प्रति पण्डितपुरी के पुस्तकालय की है और दूसरी 'सरस्वती पीठ' जयपुर की है। दोनों ही प्रतियाँ भिन्न भिन्न लेखको द्वारा देवनागरी अक्षरो में लिखी गई हैं। उनमे पहली प्रति का शोधन स्वय ग्रन्थकार ने अपने हाथ से किया है। इसलिए मूलग्रन्थ की शुद्ध प्रति के रूप में उसे विशेष मान्यता दी गई है दूसरी प्रति भी प्राय शुद्ध है और सुवाच्य अक्षरो मे लिखी गई है किन्तु कई स्थलो पर लिपिकार ने अपने अज्ञान के कारण, मात्राओ और विसर्ग आदि का लोप कर दिया है फिर भी वह सहज ही पकड में आ जाता है। इस प्रति में

'प' 'य' 'ब' 'व' आदि अक्षरों का स्वरूप लिपि के कारण कुछ ऐसा भ्रामक हो गया है कि प्रयास करने पर ही उसका शुद्ध रूप सामने आता है। इस ग्रन्थ के मुद्रण में, मैंने ग्रन्थकार की शोधित प्रति को ही आदर्श प्रति मान कर संपादन कार्य किया है। किन्तु मूलपाठ का संवाद (मिलान) दूसरी प्रति से भी किया है। इन दोनों प्रतियों में पूर्ण समानता पाई जाती है। ऐसा लगता है कि ये दोनों ही प्रतियां, एक ही आदर्श पुस्तक से तैयार की गई हैं।

इसका संपादन कार्य हाथ में लेने के बाद, मैंने इसकी अन्य प्रतियों की संभावना के बारे में खोज शुरू की तो पता चला कि इसकी एक-दो प्रतियां जयपुर के पुराने पण्डितों के संग्रह में भी मिल सकती हैं। मैंने संभावित स्थानों पर स्वयं जाकर जब पूछताछ की, तो वहां एकदम नकारात्मक उत्तर मिला। इतने ही में, मुझे ज्ञात हुआ कि इस ग्रन्थ की एक प्रति, राजस्थान सरकार के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में भी मौजूद है जो जयपुर के किसी हस्तलिखित ग्रन्थों के विक्रेता द्वारा प्राप्त हुई है। किंतु इतने में मुझे संतोष न हुआ। मैंने पूज्य-पाद पिताजी को पत्र लिख कर, इस बारे में जानकारी करने का प्रयास किया क्योंकि यहां की प्राचीन पण्डितमण्डली में उनका निकट का संपर्क रहने से, उनके द्वारा इसका पता लगाना अधिक प्रामाणिक और लाभदायक हो सकता था। उन्होंने मुझे सूचित किया कि उक्त ग्रन्थ की दो प्रतियां और भी हैं जो हमारे पुस्तकालय की प्रति से ही तैयार की गई हैं। उनमें से एक 'काव्यमाला' संपादक स्वर्गीय म० म० पं० दुर्गाप्रसादजी के संग्रह में, और दूसरी व्यास भुवनेश्वरजी के यहां है।' मेरी जिज्ञासा शांत हो गई और मैंने अन्य प्रतियों की आशा छोड़ दी क्योंकि दोनों ही स्थानों की पुस्तकें अस्त व्यस्त हो चुकी थीं और किसी भी तरह सुलभ न हो सकती थीं। दूसरे, मेरे लिए उनकी उपयोगिता का भी अब कोई प्रश्न न रह गया था- क्योंकि उक्त दोनों प्रतियों का आदर्श हमारे पुस्तका-लय की प्रति ही थी। मैंने अनुमान कर लिया कि 'प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' में आई हुई प्रति इन्हीं दोनों घरानों में से किसी की हो सकती है।

ग्रन्थ की प्रेस कापी—वर्तमान युग में, संस्कृत की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की प्रतिलिपि या प्रेस कापी तैयार करा सकना एक कठिन समस्या बन गई है। हस्तलेखन कला का स्थान मशीनों द्वारा हथिया लेने से, इस कला का हमारे देश में इतना ह्रास हो गया है कि संस्कृत की बात तो जाने दीजिए हिन्दी की पुस्तकों की प्रतिलिपि करने वाला, बहुत दूर तक निगाह दौड़ाने पर भी कहीं कोई नजर नहीं आता, मानो हाथ से लिखने को प्रथा का ही अन्त हो गया हो।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रेस कापी तैयार कराने के लिए मैंने बहुत प्रयास किया और सोचा कि अच्छा तो न सही, कोई कामचलाऊ व्यक्ति ही यदि मिल जाय, तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा। किन्तु कई लोगो मे सपर्क करने पर भी अन्त में, मुझे निराश होना पडा और किसी ने भी यह कार्य करना स्वीकार नही किया। प्रचलित विभागीय नियम के अनुसार, सपादक को ही प्रेसकापी का भार अपने ऊपर लेना होता है। किंतु इन परिस्थितियो में, जब अनुनय विनय और उचित पारिश्रमिक का अग्रिम भुगतान करने पर भी, कोई इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो बेचारे सपादक की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है– इसको भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। सपादक स्वय यह कार्य कर सके, इसकी आशा कथमपि नही की जा सकती क्योंकि सपादन भी अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है, उसकी तैयारी मे ही उसे बहुत कुछ करने का दायित्व लेना पडता है। इसलिए समयाभाव, मस्तिष्क की थकान तथा अन्य सामयिक कारणो मे वह इस कार्य को करने मे, स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाता है।

सस्कृत के सब ध में, यदि दूसरे पहलू पर भी विचार करें– तो कोई अच्छा या साधारण सस्कृतज्ञ भी किसी मूल्य पर इसके लिए तैयार नही होता, क्योंकि अर्थयुग होने से, इससे मिलने वाला पारिश्रमिक उसके लिए नगण्य रहता है। परन्तु किया भी क्या जाय? इस समस्या का कोई प्रतीकार ढूंढने पर भी नहीं मिलता। प्राचीन गुरु शिष्य सबन्ध टूट जाने और आपसी सपर्क न रहने के कारण आज उच्च कक्षाओ मे पढने वाले सस्कृत के छात्र भी हस्तलिखित ग्रन्थो की शुद्ध प्रतिलिपि करने मे असमर्थ सिद्ध हो रहे है।

ऐसी दशा में, संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो एव पाण्डुलिपियो के प्रकाशन मे जो बाधाएं आती हैं उनकी अनदेखी कैसे की जा सकती है? समस्या का कोई स्थायी हल निकल सके–इस आशा से, मुझे यहां वस्तुस्थिति की ओर सभी सबद्ध लोगो का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अस्तु।

सब ओर से निराश होने पर, अन्त मे, मैंने इस गतिरोध को दूर करने और समस्या का तात्कालिक उपाय सुझाने के लिए अपने ज्येष्ठ–सहोदर आचार्य प० श्री महादेवप्रसाद द्विवेदी जी से परामर्श किया। उन्होने इस सम्पूर्ण प्रसग को सुनकर आश्चर्यमिश्रित खेद प्रकट करते हुए मुझे आश्वासन दिया कि 'यदि ऐसी स्थिति आ गई है तो मैं स्वय साहित्य सेवा के इस पवित्र कार्य में सक्रिय सहयोग देकर हाथ बटाऊँगा, और जैसे भी सभव होगा समय निकालकर तथा अन्य कार्यों का व्यवधान सहकर भी इस कार्य को पूरा करने का प्रयास करूँगा।' अपने इस आश्वासन को उन्होंने बडी तत्परता के साथ भली भांति निभाया, और व्यस्त होते हुए भी अपना बहुमूल्य समय देकर, कठोर परिश्रम के साथ, थोडे

समय में इस विशाल ग्रन्थ की शुद्ध, सुवाच्य प्रेस कापी तैयार करके मुझे सौंप दी। उनका यह सामयिक सहयोग यदि न मिला होता तो इस सकट से छुटकारा पा सकना मेरे लिए सहज ही समव न होता। उनके इस स्वाभाविक वात्सल्य और अनुज-स्नेह के लिए मेरे द्वारा, यहा कोई औपचारिक आभार प्रकट करना न केवल उसका महत्व घटाना होगा, बल्कि नैतिक दृष्टि से, ऐसा करना मेरी अपनी अधिकार-सीमा का भी उल्लङ्घन माना जायगा।

सपादन-सबन्धी कठिनाइयाँ—'आगमरहस्य' के सपादन मे आनेवाली कठिनाइयो की उपेक्षा करके यदि यहाँ इस सबन्ध में कोई चर्चा न की जाय तो मेरे विचार मे यह सारा प्रसग अधूरा ही रह जायगा। अत आगम प्रेमियो की जानकारी के लिए अपने अनुभव के आधार पर, यहाँ दो शब्द कह देना आवश्यक और न्यायसगत होगा।

आगम या तन्त्र एक ऐसा स्वतन्त्र शास्त्र है, जिसका अन्य किसी शास्त्र से कोई समन्वय या सरोकार नही है। इसके अपने नियम, सकेत और परिभाषाए अलग होने से यह स्वभावत कठिन और दुरूह है। यद्यपि तत्र साहित्य का विशाल भण्डार इस देश में मौजूद है किंतु वह समान रूप से सबके लिए उपयोगी नही है। प्रथम तो यह मूलरूप मे, ऐसी सकेत की भाषा में लिखा गया है कि स्वय यदि कोई चाहे तो भी उसके पल्ले कुछ नही पड सकता—क्योकि ज्योतिष और आयुर्वेद की तरह पूर्णत पारिभाषिक शास्त्र होने से, बिना गुरुमुख से अध्ययन किये यह किसी भी दशा मे समझ में नहीं आता। दूसरे अब इसका प्रचार-प्रसार अत्यत सीमित हो जाने से—इस विषय के जानकारो का प्राय अभाव हो गया है और होता जा रहा है। जो इने-गिने लोग, कही ढूँढने पर मिलेंगे भी, वे विषम देश-काल के कारण इस ओर से उदासीन हो गए हैं। इसलिए देखा जाय तो सारा वातावरण ही इतना कुछ बदल गया है कि इसकी कही कोई चर्चा ही नही सुनाई देती।

जैसा कि पहले मैं लिख चुका हूँ—'मितभाषिणी' के लिखने के उद्देश्य मे, मुझे कई उपलब्ध तन्त्र-साहित्य के ग्रन्थों का एकाधिक बार अवलोकन और चितन करना पड़ा और कई स्थलों पर ऐसी विसगतियाँ दिखाई दीं जिनका समाधान करने के लिए मुझे महीनो का समय लगाना पडा और आगे बढने का अवसर न आया। प्रस्तुत ग्रन्थ में इतने अधिक विषयो का समावेश किया गया है कि उन सबकी छानबीन करने के लिए बहुत-से ग्रन्थो की अपेक्षा होती है—जो किसी भी तरह उपलब्ध नही हो सकते। इसलिए मैंने अपने पुस्तकालय में उपलब्ध साहित्य का सहारा लेकर इस कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। क्योकि और कोई रास्ता न दिखाई दिया। इसमें मुझे

नारदातिलक, मन्त्रमहोदधि, चिदम्बररहस्य और प्रपचसार से पूरी पूरी सहायता मिली। कालिकापुराण-यामल आदि अन्य ग्रन्थो से भी बहुत कुछ उपयोगी विषयो के सवाद और समन्वय मे सहायता लेनी पडी। बाद में, परिस्थितिवश, जब विवृति लिखने का विचार छोडना पडा—तब मेरा भार बहुत कुछ हल्का पड गया। फिर भी, इस कार्य मे सालो लग गए। इसे मैं गुरुदेव का अनुग्रह मानता हूँ कि उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर मैंने पूरे आत्मसतोष के साथ यह मजिल पार की। आगम ग्रन्थ होने से, मैंने पूरी गभीरता और सतर्कता से इस आद्योपान्त ग्रन्थ को शुद्ध और सन्देहमुक्त बनाने मे मनोनियोग के साथ कार्य किया है। इसके लिए मुझे कितना शारीरिक और बौद्धिक श्रम करना पडा-इसका निर्णय पाठक स्वय करेगे। फिर भी, जाने अनजाने प्रमादवश यदि कही कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसके लिए मुझे साधुजन अवश्य क्षमा करेगे।

वार्त्ता का प्रसारण—इस प्रसग मे, यह भी उल्लेखनीय है कि 'आगमरहस्य' को अपनी विशेषताओ के कारण, सन् १९६५ मे 'प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और पाण्डुलिपिया' इस वार्तामाला के अन्तर्गत आकाशवाणी के जयपुर केन्द्र मे मैंने एक वार्ता प्रसारित की थी। इसके द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बारे मे लोगो को पहली बार जानकारी मिली थी। तब से, कई लोगो ने मुझसे व्यक्तिगत सपर्क करके इसे देखने की अपनी उत्सुकता जाहिर की थी। यह सतोष की बात है कि अब यह ग्रन्थ इस रूप मे सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकेगा—और आगमानुरागी अपनी चिरप्रतीक्षित माँग को पूर्ण कर सकेगे। मैंने अपनी वार्ता मे अधिकतर उन प्रकरणो और अशो के बारे मे विशेष रूप से चर्चा की थी-जिनका उपासना मे कोई सीधा सम्बन्ध न होकर, शारीरिक और मानसिक रूप से मनुष्य को स्वस्थ एव सबल बनाने मे है। जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो तरह से हमारे जीवन को प्रभावित करने के साथ साथ आत्मसयम की पद्धति पर चलने मे पूर्णतया सहायक बनते हैं। किन्तु, इसके लिए भावनात्मक शुद्धि की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है जो कि निरन्तर अभ्यास के कारण, स्वत स्फूर्त होकर हमारे सकल्प को दृढ बनाती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने विवेक के तराजू पर—उचित-अनुचित का भेद समझ सकने की क्षमता उत्पन्न करें, अन्यथा हमारा व्यवहार सतुलित न होने पर स्वय का या समाज अथवा राष्ट्र का हित साधन नही किया जा सकता। तथ्य यह है कि नवीन प्राचीन का झमेला खडा करके किसी वस्तु के गुण-दोष की परीक्षा नहीं हो सकती—उसके लिए आन्तरिक अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। इसीलिए भारत राष्ट्र के मूर्धन्य महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' मे चेतावनी देते हुए हमें सतर्क किया है—

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि' ॥'

इसका अभिप्राय एकाङ्गी न होकर व्यापक है और यह स्पष्ट इगित करता है कि व्यक्ति अपने आपके लिए स्वय एक कसौटी है। प्रकारान्तर मे नीतिकारो ने भी इस ओर ध्यान खीचा है—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥'

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान द्वारा साहित्य-प्रकाशन—भारत के प्राचीन सस्कृत वाङमय के सरक्षण और प्रकाशन के क्षेत्र मे राजस्थान सरकार का प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान जो उल्लेखनीय कार्य कर रहा है उसके लिए साहित्य-सेवी समाज उसकी सराहना किये बिना नही रह सकता क्योंकि चिरकाल से विस्मृत और उपेक्षित विभिन्न विषयो की दुर्लभ पाण्डुलिपियो और हस्तलिखित ग्रन्थो के सरक्षण और प्रकाशन द्वारा जहाँ इस देश के प्राचीन साहित्य के प्रचार और प्रसार को प्रोत्साहन और बल मिलता है वहाँ लोक रुचि को जाग्रत करने, प्रभावशाली ढग से उसे इस ओर आकृष्ट करने म भी यह अधिक सहायक होता है जो कि न केवल सस्कृत के लिए बल्कि समूचे भारतीय भाषा परिवार के लिए एक उज्ज्वल भविष्य का सकेत है।

अन्त मे प्रतिष्ठान के सम्मान्य सचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिन विजय जी महाराज, तथा इसके उपसचालक एव मेरे निकटतम सुहृद प० श्री गोपालनारायण जी बहुरा के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके सतत-सहयोग और सहानुभूति से इस ग्रन्थ का प्रकाशन सभव हो सका है। इसके साथ ही उक्त प्रतिष्ठान के वर्तमान निदेशक, डा० फतहसिंह जी को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनके सौजन्यपूर्ण सहयोग से ग्रन्थ की प्रस्तावना आदि का शेष मुद्रण कार्य शीघ्रता और सरलता से सपन्न हो सका।

इस प्रसग म, मेरे पूज्यपाद पिता जी के शिष्य प० श्री विश्वेश्वर शास्त्री ने प्रेस की ओर से प्रूफ शोधन का कार्य करने म जो श्रम किया है, उसकी मैं सराहना करता हूँ मुद्रण कार्य को गतिशील बनाने तथा प्रेस के साथ निरन्तर सपर्क बनाये रखने म एव समय समय पर प्रूफ के वाचन म मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० सत्यदेव द्विवेदी ने जिस उत्साह से हाथ बटाया है— उसके लिए मै

मगल कामना करता हूँ। साथ ही, ज्येष्ठ कन्या, आयुष्मती शारदा शर्मा ने ग्रथ के परिशिष्ट मे लगे हुए विभिन्न चार्टों को तैयार करने तथा प्रस्तावना के लेखन में आवश्यक सामग्री जुटाने में जो परिश्रम किया है, उसके लिए वह शुभ कामना की अधिकारिणी है।

इसके अतिरिक्त, शकर आर्ट प्रिण्टर्स, जयपुर के प्रोप्राइटर श्री राधेश्याम शर्मा भारद्वाज, जो नई पीढी के एक कुशल और उदीयमान प्रेस व्यवसायी हैं, और मेरे छात्र रह चुके हैं—के प्रति मैं अपनी शुभ कामना प्रकट करता हूँ, क्योकि यदि उन्होने व्यक्तिगत रुचि लेकर, पूरे उत्साह के साथ इस कार्य की देखरेख न की होती, तो कदाचित् उक्त पुस्तक का मुद्रण इतना शुद्ध और सुन्दर न हो पाता।

अत मे, मैं आशा करता हूँ कि भारतीय आगमशास्त्र के प्रेमियो और विद्वानो को यदि इससे कुछ भी सन्तोष मिल सका तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा। साथ ही, पुस्तक में सभावित मानव सुलभ त्रुटियों के लिए विज्ञ-पुरुष मुझे क्षमा करेगे—इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

गुरुपूर्णा,
'सरस्वती पीठ' जयपुर।
२१-७-६७

विनीत—
गगाधर द्विवेदी

अथागमरहस्यपूर्वार्द्धस्य

स्थूलविषयसूची

प्रथमपटल

इति श्रीमदागमरहस्ये पूर्वार्द्धस्य स्थूलविषयसूची समाप्ता ।



अथ

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतं

आगमरहस्यम्

गजानन विघ्नहर गणार्चितपदाम्बुजम् ।
सेवित सिद्धिबुद्धिभ्यामनिश श्रेयसे श्रये ॥१॥

नित्यामनन्ता प्रकृति पुराणीं,
चिदीश्वरीं सर्वजगन्निवासाम् ।
शिवार्धदेहामगुणा गुणाढ्या,
वर्णार्थरूपा प्रणमामि देवीम् ॥२॥

श्रीगुरून् करुणापूर्णानज्ञानध्वान्तभास्करान् ।
विद्याविलसितानन्दान् प्रणौमि निखिलार्थदान् ॥३॥

जीयाज्जयपुराधीश-रार्मसिहाभिधो नृप ।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे भूभ्रमक्रम ॥४॥

दानी रिपुचयध्वसी नीतिज्ञ कुशल शुचि ।
विद्याविचारसन्तुष्टो हृष्ट सल्लोकलोचन ॥५॥

दयालु र्गुरुदेवार्चारत शुभकथ कृती ।
दृढप्रज्ञो दृढाज्ञश्च येनेय भूपिता मही ॥६॥

अथागमान् समालोक्य सम्प्रदायत्रयाश्रयात् ।
तदागमरहस्य यत् तन्यते बालबोधकम् ॥७॥

सन्तीह मुनिबद्धौघा बहव सुगमा अपि ।
तथापि मम यत्नोऽय भवेत् सज्जनतोपकृत् ॥८॥

तत्रैषा सूचना सृष्टिभेदस्तत्त्वनिरूपणम् ।
तत्त्वभेदा नादसृष्टि कुडली-सृष्टिकीर्तनम् ॥९॥

प्रथमे पटले ज्ञेया वर्णव्यक्तिर्द्वितीयके ।
तथा पचकलाभेदा प्रणवागसमुद्भवा ॥१०॥
तृतोये बीजजा सृष्टि शारीर कर्मसभवम् ।
देहमिथ्यात्वकथन मोहवैभववर्णनम् ॥११॥
उपासनाप्रवृत्तिश्च ततो भक्तिचतुष्टयम् ।
तुर्ये दीक्षावश्यकता तच्छब्दार्थप्रशसने ॥१२॥
गुणदोषौ गुरोश्चैव शिष्यस्यापि च तावुभौ ।
तथा दोषोऽपरीक्षायामुभयोस्तन्निषेधनम् ॥१३॥
विवेक स्त्रीगुरोर्मन्त्रग्रहणं श्रीगुरु विना ।
देशोद्भवगुरूणा च गुणदोषनिरूपणम् ॥१४॥
गुरुधर्मास्तथा दीक्षाफल मन्त्रप्रदानके ।
देवभेदप्रकथन तथा च गुप्तदीक्षणम् ॥१५॥
दोषो दीक्षाविचारेषु सिद्धकालो मनुश्रवे ।
पचमे गुरुमाहात्म्य तदाचारश्च पूजनम् ॥१६॥
गुरोरभावे तन्, मातृपितृगोत्रप्रशसनम् ।
षष्ठे चोपासनोपास्यसाकारत्वनिरूपणम् ॥१७॥
साकारसेवावैशिष्ट्य देवानामैक्यता तथा ।
विद्याभेदास्तथा शभुभेदास्तासा क्रमेण हि ॥१८॥
प्रादुर्भावश्च विद्यानामगदेवास्तयोदिता ।
पुप्रकृत्योरभेदश्च षष्ठे प्रात क्रिया तथा ॥१९॥
अजपाविनियोगश्च सप्तमे शौचकर्म च ।
दन्तशुद्धिस्तथा स्नान विभूतितिलकादिकम् ॥२०॥
सन्ध्याभेदा द्वारपूजा यागमण्डपशोधनम् ।
अष्टमे भूतशुद्धिश्च प्राणार्पणविधिस्तथा ॥२१॥
शखार्घ्यकलशाना च सस्थिति पीठपूजनम् ।
पचायतनसस्थानमुपचाराश्च षोडश ॥२२॥

निर्माल्य पुष्पपत्राणा नवमे न्याससन्तति. ।
सभेदा मातृकान्यासा अन्येऽप्यावश्यका फलम् ॥२३॥
दशमे मत्रसस्कारो मालाना सस्कृतिस्तथा ।
यत्राणा रचना तद्वत् सस्कार फलकीर्तनम् ॥२४॥
एकादशे पुरश्चर्या क्रिया जपविधिस्तथा ।
सूतकादिकसकेतदशक कुल्लुका मनो ॥२५॥
मत्रजागरण त्वास्यशुद्धिश्च योनिमुद्रणम् ।
द्वादशे च पुरश्चर्या कर्तुं नियमसाधना ॥२६॥
प्रारभे भावि विज्ञानहेतोस्स्वप्ननिरीक्षणम् ।
साचारश्च पुरश्चर्या विधिश्चैव त्रयोदशे ॥२७॥
होमश्च तर्पण मार्ष्टिस्तथा होमे शुभाशुभौ ।
होमद्रव्यप्रमाण च तत् फल च तथा समित् ॥२८॥
अग्नेरगप्रकथन फल स्थडिलज पुन ।
स्रुक् स्रुवौ तौ विना होमस्ततश्चैव चतुर्दशे ॥२९॥
दमनार्चा पवित्रार्चा विधि पर्वविशेषकम् ।
ततः पचदशे पूजा कुमार्याः श्रीशिवावलिः ॥३०॥
गुणभेदै पशुवलिः षोडशे मन्त्रसिद्धिदा ।
उपाधा भेदसहिता पुरश्चर्यानुकल्पकम् ॥३१॥
सिद्धचिह्नानि तद् भेदाश्चोत्तमामध्यमाधमा ॥३२॥
परिभाषोपचारेषु निर्माल्यकथन तत ।
भेदास्तथोपचाराणा ग्राह्याग्राह्यप्रकीर्तनम् ॥३३॥
तत सप्तदशे प्रायश्चित्त विष्णुशिलाफलम् ।
वैष्णव तिलक तद्वच्छैवे बाणपरीक्षणम् ॥३४॥
भस्मसधारणविधी रुद्राक्षधारण तथा ।
अरिमत्रपरित्यागविधिरष्टादशे तथा ॥३५॥
मत्रसशुद्धिकथन मत्रदोषनिरूपणम् ।
एकोनविंशे दीक्षागवास्तुयागपुरस्सरम् ॥३६॥

ध्वजारोपो मडपस्य साधन विंशतौ तथा ।
निर्माण वेदिकायाश्च ह्यंकुरारोपणक्रम ॥३७॥

ततः स्यात् कुडनिर्माण नाभियोनिस्थितिस्तथा ।
एकविंशे मडलानि द्वाविंशे च तथा पुन ॥३८॥

दीक्षाभेदाश्च तत्कृत्य त्रयोविंशेऽधिवासनम् ।
चतुर्विंशे तथा होमस्सदाचारविधिस्तत ॥३९॥

पचविंशे च षट्कम निरूपणमत परम् ।
षड्विंशे मुद्रिकाभेदास्सप्तविंशे च योगकम् ॥४०॥

सभेदमष्टाविंशे च योगाङ्ग समुदीरितम् ।
एव निर्णीय पटलैरष्टाविंशतिभिर्युतम् ॥४१॥
पूर्वार्धं मूलतन्त्रस्थवाक्यरत्नैर्विभूषितम् ।

अथागमरहस्य इति कथनादागमशब्दार्थस्तु यामले-

'आगत शिववक्त्रेभ्यो गत च गिरिजामुखे ॥४२॥
मत श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते' ॥४३॥ इति ।

आगमस्वरूपमाह तन्त्रान्तरे-

'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवताना तथार्चनम् ।
साधन चैव सर्वेषा पुरश्चरणमेव च ॥४४॥

षट्कर्मसाधन चैव ध्यानयोगश्चतुर्विध ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागम त विदुर्बुधा' ॥४५॥

सिद्ध सिद्धै प्रमाणैस्तु हित चात्र परत्र च ।
आगमश्शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिन ॥४६॥ इति ।

आगमप्राशस्त्य श्रीमदाचार्यैरपि प्रपचसारे प्रपञ्चितम्—

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भव ।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागमसभव ॥४७॥

इति वचनमाकलय्य किमप्यागमरहस्य स्फुटीक्रियते मूलवाक्यमाहृत्य । तत्रादौ सृष्टिज्ञानस्यावश्यकत्वात् तदेव विविच्यते-

यदाह शारदायाम्-

निर्गुणस्सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयस्सनातन ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्य सगुण सकल स्मृत ॥४८॥
सच्चिदानंदविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् विन्दुसमुद्भव ॥४६॥
परशक्तिमय साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुन ।
विन्दु र्नादो बीजमिति तस्य भेदास्समीरिता ॥५०॥
विंदु शिवात्मको बीज शक्तिर्नादस्तयोर्मिथ. ।
समवाय' समाख्यात सर्वागमविशारदैं ॥५१॥
रौद्री विन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्य समुत्पन्ना रुद्र-ब्रह्म-रमाधिपा ॥५२॥
सज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिण ।

एतदेव प्रयोगसारे-

नित्य सर्वगत सूक्ष्म सदानन्दो निरामय ।
विकाररहित साक्षी शिवो ज्ञेय सनातन ॥५३॥
तत् शक्तिभूत सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादि-मूर्तिभिः ।
कर्त्ता भोक्ता च संहर्त्ता सकलः स जगन्मय ॥५४॥
तस्माद् विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसभवा ॥५५॥

वायवीयसहितायामपि-

शिवेच्छया पराशक्ति शिवतत्त्वैकता गता ।
ततः परिस्फुरत् पादौ सर्गे तैल तिलादिवत् ॥५६॥

पचरात्रे च-

एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानदरूपिणीम् ।
समस्ततत्त्वसघातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ॥५७॥
व्यक्ता करोति नित्या ता प्रकृति परम पुमान् ।
नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्ति पुरूपा सा तदा स्मृता ॥५८॥

अन्यत्रापि–

अभिव्यक्ता पराशक्तिरविनाभावलक्षणा ।
अखडपरचिच्छक्ति व्याप्ता चिद्रूपिणी विभु ॥५९॥
समस्ततत्त्वभावेन विवर्तो या समन्विता ।
प्रयाति विन्दुभाव' च क्रियाप्राधान्यलक्षणम् ॥६०॥

प्रयोगसारे–

विन्दु शिवात्मकस्तत्र बीज शक्त्यात्मक स्मृतम् ।
तयो र्योगेऽभवन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तय ॥६१॥
रौद्री विन्दो समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत ।
वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन् ॥६२॥
ब्रह्मविष्णवीश्वरास्तत्तन्मण्डलेषु[2] व्यवस्थिता । इति ।

अथ विन्दुसृष्टिः-

शारदायाम्[3]–

भिद्यमानात् पराद् विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
शब्दब्रह्मेति त प्राहु सर्वागमविशारदा ॥६३॥
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगु ।
न हि तेषा तयो सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि ॥६४॥
चैतन्य सर्वभूताना शब्दब्रह्मेति मे मति ।
तत् प्राप्य कुडलीरूप प्राणिना देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदत ॥६५॥

तथा च योगिनीहृदये–

स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत् प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत् प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ॥६६॥

१–प्रमेन्द्वासत्वादिरूपतया विन्दार्त्रैविध्य ध्येयम् ।
२–तत्त मडले यन्हीदर्श मडले ।
३–शारदातिलके विन्दुसृष्टि प्रतिपादिता द्रष्टव्या ।

तत्त्वाना लक्षणानि सौभाग्यसुभगोदये-

चिदियमनुत्तरशक्तिर्निजेच्छया निखिलमपि जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे सस्पन्द प्रथम शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञै ॥६७॥

इच्छा सव स्वेच्छा सततसमवायिनी सती शक्ति ।
सचराचरस्य जगतो वीज निखिलस्य निजनिलीनस्य ॥६८॥

स्वेच्छा शक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य ।
निग्रसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः ।
विश्व पश्चात् पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जात ॥६९॥

सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमति ।
मायाविभेदवुद्धि निजांशजातेषु निखिलजीवेषु ॥७०॥

नित्य तस्य निरकुशविभव वेलेव वारिधे रुन्धे ।
स तया परिमितमूर्तिः सकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ॥७१॥

रविरिव सध्या-रक्तः सहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटु ।
सपूर्णकर्तृताद्या वह्वच सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
सकोचात् सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रुढयत्येवम् ॥७२॥

तत् सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किंचित् कर्तारममु कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥७३॥

सर्वज्ञतास्य शक्ति परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुपपादयन्ती विद्येति निगद्यते वुधैराद्यै ॥७४॥

नित्यपरिपूर्णतृप्ति. शक्तिस्तस्यैव परिमितानु सती ।
भोगेषु रजयन्तो सततमम् रागतत्त्वता जाता ॥७५॥

सा नित्यतास्य शक्ति निकृष्टनिधनोदयप्रदानेन ।
नियति परिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण ॥७६॥

याऽस्या स्वतत्रताख्या शक्ति सङ्कोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववश नियतममु नियमयन्त्यभून्नियति ॥७७॥

मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिन पुमान् पशु र्भवति ।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन सवद्ध ॥७८॥

इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य सङ्कुचद्रूपा ।
सकलितेच्छाद्यात्मकसत्त्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती ॥७९॥

बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृति ।
इच्छास्य रजोरूपाहङ्कृतिरासीदह प्रतीतिकरी ॥८०॥

ज्ञानापि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारण बुद्धि ।
तस्य क्रिया तमोमयमूर्ति र्मन उच्यते विकल्पकरी ॥८१॥

वामादिपंचभेद स एव सङ्कुचितविग्रहो देव ।
ज्ञानक्रियोपरागप्राधान्याद् विविधविषयरूपोऽभूत् ॥८२॥

श्रोत्र चक्षु स्पर्शनजिह्वाघ्राणानि बोधकरणानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्याकानि कर्मकरणानि ॥८३॥

शब्दस्पर्शौ रूप रसगधौ चेति भूतसूक्ष्माणि ।
अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेश ॥८४॥

गगनमनिलश्च तेज सलिलं भूमिश्च पचभूतानि ।
श्रोत्रादिकरणवेद्या शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ॥८५॥

वचनकरी वागासीत् पाणि स्यात् करणभूत आदाने ।
गमनविसर्गानन्दत्रितये पादादिक करणम् ॥८६॥

गधवती भूमि स्यादापस्सासिद्धिकद्रवास्तेज ।
उष्णस्पर्शमरूपस्पर्शौ वायुरम्बर शब्दम् ॥८७॥ इति ।

अन्यच्च शारदायाम्–

अथ तत्त्वानि बहुधा शैवाद्यागमभेदत ।
षट्त्रिंशत् शिवतत्त्वानि द्वात्रिंशद् वैष्णवानि तु ॥८८॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि मंत्राणि प्रकृते पुन ।
उक्तानि दश तत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मन ॥८९॥

तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिव शक्ति सदाशिव ।
ईश्वरो विद्यया सार्धं पचशुद्धान्यमूनि हि ।
माया कालश्च नियतिः कला विद्या पुन स्मृता ॥९०॥

रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ।
प्रकृतिर्बुद्धयहंकारौ मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ॥६१॥

कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पचभूतानि देशिकाः ।
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ॥६२॥

शैवानामपि तत्त्वाना विभागोऽत्र प्रदर्शितः ।
जीवप्राणधियश्चित्त ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यथ ॥६३॥

तन्मात्राः पंचभूतानि हृत्पद्मं तेजसात् त्रयम् ।
वासुदेवादयश्चेति तत्त्वान्येतानि शार्ङ्गिणः ॥६४॥

पचभूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
गर्वो बुद्धिः प्रधानं च मंत्राणीति विदुर्बुधाः ॥६५॥

निवृत्त्याद्याः कलाः पच ततो विन्दुकलाः पुनः ।
नादः शक्तिः सदापूर्वं शिवश्च प्रकृते विदुः ॥६६॥

आत्मा विद्या शिवः पश्चात् शिवो विद्या स्वय पुनः ।
सप्ततत्त्वं च तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिपदात्मनः ॥६७॥

अथ नादसृष्टिक्रमः-

अथ नादात्मन शंभो कालबन्धो कलात्मन ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिव ॥६८॥

सदाशिवोद्भवस्त्वीशस्ततो रुद्रसमुद्भव ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेव समुद्भव ॥६९॥

मूलभूतात् ततोऽव्यक्ताद् विकृतात् परवस्तुन ।
आसीत् किल महत् तत्त्व गुणान्त करणान्तकम् ॥१००॥

अभूत् तस्मादहकारस्त्रिविध सृष्टिभेदत ।
वैकारिकादहकाराद्देवा वैकारिका दश ॥१०१॥

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका ।
तैजसादिन्द्रियाण्यासंस्तन्मात्राक्रमयोगत ॥१०२॥

भूतादिकादहङ्कारात् पञ्चभूतानि जज्ञिरे ।
शब्दात् पूर्वं वियत् स्पर्शाद् वायुरूपाद् हुताशनः ॥१०३॥
रसादम्भः क्षमा गन्धादिति तेषां समुद्भवः ।
स्वच्छं वियन्मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः ॥१०४॥
पीता भूमिः पञ्चभूतान्येकैकाधारतो विदुः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा भूतगुणाः स्मृताः ॥१०५॥
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कलाः स्मृताः ।
निवृत्तिः सुप्रतिष्ठा स्याद् विद्या शान्तिरनन्तरम् ।
शान्त्यतीतेति विज्ञेया नाददेहसमुद्भवाः ॥१०६॥

अन्यच्च वायवीयसंहितायाम्—

शक्तिः प्रथमसम्भूता शान्त्यतीतपदोत्तरा ।
शान्त्यतीतपदाच्छक्तेस्ततः शान्तिपदं क्रमात् ॥१०७॥
ततो विद्यापदं तस्मात् प्रतिष्ठापदसंग्रहः ।
निवृत्तिपदमुत्पन्नं प्रतिष्ठापदतः परम् ॥१०८॥
एवमुक्ता समासेन सृष्टिरीश्वरचोदिता ।
आनुलोम्यादथैतेषां प्रातिलोम्येन संहृतिः ॥१०९॥
अस्मात् पञ्चपदोद्दिष्टा न सृष्ट्यन्तरमिष्यते ।
कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तं तस्माद्विश्वमिदं जगत् ॥११०॥ इति ।

अथ बीजस्य शक्तिमूलत्वात्, तत्सृष्टिक्रमो यथा—

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसंनिधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥१११॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।
परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता ॥११२॥
योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥११३॥
शङ्खावर्तक्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥११४॥

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा ।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरा विभु ॥११५॥
त्रिधाम-जननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।
द्विचत्वारिंशदर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥११६॥
गुणिता सर्वगात्रेण कुण्डलीपरदेवता ॥११७॥
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमय जगत् ।
एकधा गुणिता शक्ति सर्वविश्वप्रवर्तिनी ॥११८॥
वेदादिबीज श्रीबीज शक्तिबीज मनोभवम् ।
प्रासादं तुवुरं पिण्ड चिन्तारत्न गणेश्वरम् ॥११९॥
मार्त्तण्ड भैरव दौर्गं नारसिंह वराहजम् ।
वासुदेव हयग्रीव बीज श्रीपुरुषोत्तमम् ॥१२०॥
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ।
यदा भवति सा सविद् द्विगुणीकृतविग्रहा ॥१२१॥
हसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरक्षपे ।
सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपुरुषौ ॥१२२॥
यद् यदन्यज्जगत्यस्या युग्म तत् तदजायत ।
त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिद्रूपा शिवगेहिनी ॥१२३॥
प्रसूते त्रैपुर मन्त्र मन्त्र शक्तिविनायकम् ।
पाशाद्य-त्र्यक्षर मन्त्र त्रैपुटश्चन्द्रनायकम् ॥१२४॥
सौर मृत्युञ्जय शाक्त शाम्भव विनतासुतम् ।
वागीशी त्र्यक्षर मन्त्र नीलकण्ठ विषापहम् ॥१२५॥
यत्र त्रिगुणित देव्या लोकत्रयगुणत्रयम् ।
धामत्रयं सा वेदाना त्रय वर्णत्रय शुभम् ॥१२६॥
त्रिपुष्कर स्वरान् देवी ब्रह्मादीना त्रय त्रयम् ।
वह्ने कालत्रय शक्तेस्त्रय वृत्तित्रय महत् ॥१२७॥
नाडीत्रय त्रिवर्गं सा यद् यदन्यत् त्रिधा मतम् ।
चतु प्रकार गुणिता शाम्भवी शर्मदायिनी ॥१२८॥

तदानीं पद्मिनीबन्धो करोति चतुरक्षरम् ।
चतुर्वर्णं महादेव्या देवीतत्त्वचतुष्टयम् ॥१२९॥
चतुर सागरानन्त करणाना चतुष्टयम् ।
सूक्ष्मादींश्चतुरो भावान् विष्णोर्मूर्त्तिचतुष्टयम् ॥१३०॥
चतुष्टय गणेशानामात्मादीना चतुष्टयम् ।
ओजा पूकादिक पीठ धर्मादीना चतुष्टयम् ॥१३१॥
दमकादीन् गजान् देवी यद् यदन्यच्चतुष्टयम् ।
पचधा गुणिता पत्नी शभो सर्वार्थसाधिनी ॥१३२॥
त्रिपुरा पचकूट सा तस्या पचाक्षरद्वयम् ।
पचरत्न महादेव्या सर्वकामफलप्रदम् ॥१३३॥
पचाक्षर महेशस्य पंचवर्णान् गरुत्मत ।
समोहनादिकान् पच कामबाणान् सुरद्रुमान् ॥१३४॥
पच प्राणादिकान् वायून् पंचवर्णान् महेशितु ।
मूर्त्ती पचकला पच [1]पचब्रह्मश्च क्रमात् ॥१३५॥
सृजत्येषा परा शक्ति र्वेदवेदार्थरूपिणी ।
षोढा सा गुणिता देवी धत्ते मत्र षडक्षरम् ॥१३६॥
षट्कूट त्रिपुरामंत्र गाणपत्य षडक्षरम् ।
षडक्षर हिमरुचे र्नारसिंह षडक्षरम् ॥१३७॥
ऋतून् वसन्तप्रभवान् षण् मोदादीन् गणाधिपान् ।
कोशानूर्मीन् रसान् शक्ती शाकिन्याद्या षडध्वन ॥१३८॥
यत्र षड्गुणित शक्ते षडाधारानजीजनत् ।
षड्विध यज्जगत्यस्मिन् सर्वं तत् परमेश्वरी ॥१३९॥
सप्तधा गुणिता नित्या शकरार्धशरीरिणी ।
सप्तार्णं त्रिपुरामत्रं सप्तवर्णं विनायकम् ॥१४०॥
सप्तक व्याहृतीना सा सप्तवर्णं सुदर्शनम् ।
लोकान् गिरीन् स्वरान् धातून् मुनीन् द्वीपान् ग्रहानपि ॥१४१॥

[1]पचब्रह्ममहामत्रा ।

समिध सप्त सख्याता सप्तजिह्वा हविर्भुज ।
अन्यत् सप्तविध यद् यत्तदस्या समजायत ॥१४२॥

अष्टधा गुणिता शक्ति शैवमष्टाक्षरद्वयम् ।
विष्णो ओंकारनामान मन्त्रमष्टाक्षरं परम् ॥१४३॥

अष्टाक्षर हरे शक्तेरष्टाक्षरयुग परम् ।
भानोरष्टाक्षर दौर्गमष्टार्णं परमात्मन ॥१४४॥

अष्टार्णं नीलकण्ठस्य वासुदेवात्मकं मनुम् ।
यत्र कामार्गल दिव्यं देवीयत्रं घटार्गलम् ॥१४५॥

गधाष्टकं शुभ देवी-देवाना हृदयङ्गमम् ।
आह्याद्या भैरवान् शर्वमूर्त्तीराशावसूनपि ॥१४६॥

अष्टपीठ महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम् ।
अष्टौ च प्रकृतीर्विघ्नान् वक्रतुण्डादिकान् क्रमात् ॥१४७॥

अणिमादिगुणान् नागान् वह्नेर्मूर्त्ती यमादिकान् ।
आत्माष्टक जगत्यन्यत् सर्वं वितनुते तदा ॥१४८॥

गुणिता नवधा नित्या सूते मंत्र नवात्मकम् ।
नवकं शक्तितत्वाना तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥१४९॥

नवक पीठशक्तीना शृ गारादीन् रसान् नव ।
माणिक्यादीनि रत्नानि नववर्गयुतानि सा ॥१५०॥

नवक प्राणदूतीना मण्डल नवक शुभम् ।
यद् यन्नवात्मक लोके सर्वमस्या उदञ्चति ॥१५१॥

दशधा गुणिता शभोर्भाविनी भवदु सहा ।
दशाक्षर गणपतेस्त्वरितायाः दशाक्षरम् ॥१५२॥

दशाक्षर सरस्वत्या यक्षिण्याश्च दशाक्षरम् ।
वासुदवात्मक मत्रमश्वारूढा दशाक्षरम् ॥१५३॥

त्रिपुरा दशकूट सा त्रिपुराया दशाक्षरम् ।
नाम्ना पद्मावती मत्र रमामत्र दशाक्षरम् ॥१५४॥

दशकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ।
नाडीनां दशकं विष्णोरवतारान् दश क्रमात् ॥१५५॥
दशकं लोकपालानां यद् यदन्यत् सृजत्यसौ ।
एकादश क्रमात् सविद् गुणिता सा जगन्मयी ॥१५६॥
रुद्रैकादशिनीमाद्या शक्तेरेकादशाक्षरम् ।
एकादशाक्षर वाण्या रुद्रानेकादश क्रमात् ॥१५७॥
समुद्गिरति सर्वज्ञा गुणिता द्वादश क्रमात् ।
नित्यामत्र महेशान्या वासुदेवात्मकं मनुम् ॥१५८॥
राशीन् मासान् हरेर्मूर्त्तौ यंत्र सा द्वादशात्मकम् ।
अन्यदेतादृश सर्वं यत् तदस्या अजायत ॥१५९॥
यदा सूर्यगुणा देवी द्वादशी चण्डभैरवी ।
यदा कामगुणा देवी कामभेदा च तारिणी ॥१६०॥
चतुर्दशगुणा जाता वंशीकरणकालिका ।
दशपचगुणा जाता महापचदशी स्मृता ॥१६१॥
कलागुणा यदा शक्ति श्रीमहाषोडशी तदा ।
यदा सप्तदशा देवी छिन्नमस्ता तदा भवेत् ॥१६२॥
अष्टादशगुणा देवी महामधुमती भवेत् ।
ऊनविंशद्गुणा देवी महापद्मावती तदा ॥१६३॥
गुणिता विंशति यदा विंशद्वर्णा रमा भवेत्
एकविंशद्गुणा देवी प्रोक्ता श्रीकामसुन्दरी ॥१६४॥
द्वाविंशद्गुणिता विद्या दक्षिणा कालिका तदा ।
त्रयोविंशद् गुणा देवी विद्येशी तु तदा भवेत् ॥१६५॥
चतुर्विंशति तत्त्वात्मा यदा भवति शोभना ।
गायत्रीं सवितु शंभो गायत्रीं मदनात्मिकाम् ॥१६६॥
गायत्रीं विष्णुगायत्रीं गायत्रीं त्रिपदात्मन
गायत्रीं दक्षिणामूर्त्ते गायत्रीं शम्भुयोषित ॥१६७॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि तस्यामासन् परात्मनि ।
पचविंशद्गुणा देवी पचमी सुदरी तदा ॥१६८॥
षड्विंशगुणिता शक्ति षष्ठी विद्या प्रकीर्तिता ।
सप्तविंशद्गुणा देवी महारत्नेश्वरी भवेत् ॥१६९॥
अष्टाविंशतिधा सा वै गुणिता परमा कला ।
अष्टाविंशाक्षरी विद्याऽमृतसजीवनी परा ॥१७०॥
ऊनत्रिंशद्गुणा देवी महानीलसरस्वती ।
त्रिंशद्गुणा यदा विद्या वसोर्धारा तदा स्मृता ॥१७१॥
एकत्रिंशद्गुणा देवी त्रैलोक्यमोहिनी भवेत् ।
द्वात्रिंशद्भेदगुणिता सर्वमत्रमयी विभु ॥१७२॥
सूते मृत्युजय मत्र नारसिह महामनुम् ।
लवणाद्य मनु मत्र वरुणस्य महात्मन ॥१७३॥
हयग्रीवमनु दीर्गं वाराह वह्निनायकम् ।
गणेशितु र्महामत्र मत्रमन्नाधिपस्य च ॥१७४॥
मत्र श्रीदक्षिणामूर्त्ते र्मालामत्र मनोभुव ।
त्रिष्टुभ वनवासिन्या अघोराख्य महामनुम् ॥१७५॥
भद्रकालीमनु लक्ष्म्या मालामत्र यमात्मकम् ।
मत्र सा देवकीसूनो र्मंत्र श्रीपुरुषोत्तमम् ॥१७६॥
श्रीगोपालमनु भूमे र्मनु तारामनु क्रमात् ।
महामत्र महालक्ष्म्या मत्र भूतेश्वरस्य च ॥१७७॥
क्षेत्रपालात्मक मत्र मत्रमापन्निवारकम् ।
सूते मातगिनी विद्या सिद्धविद्या शुभोदयाम् ॥१७८॥
त्रयस्त्रिंशद् गुणा चेत् स्याद् भवेत् श्रीकामतारिणी ।
चतुस्त्रिंशद् गुणा शक्तिरघोराख्या तदा भवेत् ॥१७९॥
पचत्रिंशद् गुणा देवी सगीतमोहिनी भवेत् ।
षट्त्रिंशद् गुणिता विद्या वगलाख्या तदा भवेत ॥१८०॥

षट्त्रिंशत च तत्त्वाना शैवाना रचयत्यसौ ।
अन्यान् मन्त्रांश्च यंत्राणि शुभदानि प्रसूयते ।।१८१।।

सप्तत्रिंशद्गुणा शक्ति प्रोक्ता विद्या त्वरुन्धती ।
अष्टत्रिंशद्गुणा चेत् स्यादन्नपूर्णेश्वरी मता ।।१८२।।

गुणितैकोनचत्वारिंशन्नकुली परिकीर्तिता ।
चत्वारिंशद्गुणा शक्ति प्रोक्ता विद्या त्रिकण्टकी ।।१८३।।

गुणितैकचत्वारिंशत् तदा राजेश्वरी कला ।
द्विचत्वारिंशद्गुणिता त्रैलोक्याकर्षिणी तदा ।।१८४।।

त्रिचत्वारिंशद्गुणिता राजराजेश्वरी स्मृता ।
चतुश्चत्वारिंशद्गुणिता कुक्कुटी परिकीर्तिता ।।१८५।।

पचचत्वारिंशता च सिद्धविद्या प्रकीर्तिता ।
रसचत्वारिंशद्गुणा प्रोक्ता श्रीमृत्युहारिणी ।।१८६।।

सप्तचत्वारिंशद्गुणा महाभोगवती मता ।
अष्टचत्वारिंशद्गुणा वासवी परिकीर्तिता ।।१८७।।

नवचत्वारिंशद्गुणा फेत्कारी परिकीर्तिता ।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभु ।।१८८।।

शक्तिस्ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो विन्दुस्तस्मादासीत् परा तत ।।१८९।।

पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरीसर्गजन्मभू ।
इच्छा-ज्ञान-क्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।।१९०।।

क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ।
अकारादिसकारान्ता द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ।।१९१।।

पञ्चाशद्वारगुणिता पचाशद्वर्णमालिकाम् ।
सूते तद्वर्णतो भिन्नान् कलारुद्राविकान् क्रमात् ।।१९२।।

निरोधिका भवेद् वह्निरर्धेन्दु स्यान्निशाकर ।
अर्कस्स्यादुभयो योगे विन्द्वात्मा तेजसांनिधि ।।१९३।।

जाता वर्णा यतो विन्दो शिवशक्तिमयादत ।
अग्निसोमात्मकास्ते स्यु शिवशक्तिमयाद् रवे. ॥
येन संभवमापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिण ॥१९४॥ इति ।

शक्तिसगमे–

एकैक मातृकावर्ण प्रतिविद्यासकाशत ।
उत्पन्ना परमेशानी विश्वोत्पत्तिपरायणा ॥१९५॥
यो भावो यस्य वै प्रोक्तस्तेन भावेन सस्थिता ।
स्वेच्छया वलय कृत्वा यथा कुण्डलिनी स्थिता ॥१९६॥
तया विद्यास्तु सञ्जाता ह्यक्षोभ्य-मुनिरूपिणी ।
एवं विद्या समुत्पन्ना कुडलीतो महेश्वरि ॥१९७॥
सार्धत्रिवलया देवि ! मनुष्यस्य प्रकीर्तिता ।
श्रीदेव्या कुण्डली देवि ! स्वेच्छया गुणिता शिवा ॥१९८॥

योगिनीहृदयेऽपि–

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वर ॥१९९॥ इति ।

इतिश्रीमदागमरहस्ये सतसग्रहे सृष्टिकथन नाम प्रथम पटल ।

द्वितीयः पटलः ।

अथ वर्णव्यक्तिरारभ्यते, यदाह शारदायाम्–

ततो व्यक्ति प्रवक्ष्यामि वर्णाना वदने नृणाम् ॥
प्रेरिता मरुता नित्य सुषुम्णा रन्ध्रनिर्गता ।
कण्ठादिकरणै वर्णा क्रमादाविर्भवन्ति ते ॥२००॥

योगार्णवे–

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भाव पराख्य.
पश्चात् पश्यन्त्यथहृदयगो बुद्धियुड् मध्यमाख्य ।
वक्त्रे वैखर्य्यथरुरुदिषोरस्य जन्तो सुषुम्णा
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसघ ॥२०१॥

एषु स्वरा स्मृता सौम्या स्पर्शा सौरा शुभोदया ।
आग्नेया व्यापका सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता ॥२०२॥

स्वरा षोडश विख्याता स्पर्शास्ते पचविंशति ।
तत्त्वात्मान स्मृता स्पर्शा मकार पुरुषो यत ॥२०३॥

व्यापका दश ते काम-धन-धर्मप्रदायिन ।
ह्रस्व स्वरेषु पूर्वोक्त परो दीर्घ क्रमादिमे ॥२०४॥

शिवशक्तिमयास्ते स्यु विन्दुसर्गावसानका ।
विन्दु पुमान् रवि प्रोक्त सर्ग शक्ति निशाकर ॥२०५॥

स्वराणा मध्यम यत्तु चतुष्क तन्नपुसकम् ।
पिंगलाया स्थिता ह्रस्वा इडाया सगता परे ॥२०६॥

सुषुम्णा मध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुसका ।
विना स्वरैस्तु नान्येषा जायते व्यक्तिरञ्जसा ।
शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद् वर्णान् मनीषिण ॥२०७॥

मातृकाहृदयेऽपि—

वर्णा शिवा समाख्याता स्वरा षोडशशक्तय ।
शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ॥२०८॥ इति ।

कारणात् पचभूतानामुद्भूता मातृका यत ।
ततो भूतात्मका वर्णा पच पच विभागत ॥२०९॥

वाय्वग्निभूजलाकाशा पचाशल्लिपय क्रमात् ।
पच ह्रस्वा पच दीर्घा विन्द्वन्ता सधिसभवा ॥२१०॥

पचश कादय य-क्ष-ल-स-हान्ता समीरिता ।
सोमसूर्याग्निभेदेन मातृकावर्णसंभवा ॥२११॥

अष्टात्रिंशत् कलास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिता ।
अमृता मानदा पूषा तुष्टि पुष्टी रतिर्धृति ॥२१२॥

शशिनी चन्द्रिका कान्ति ज्योत्स्ना श्री प्रीतिरङ्गदा ।
पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्य स्वरजा कला ॥२१३॥

तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचि ज्वालिनी रुचि ।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥२१४॥
कभाद्या वसुदा सौराष्टडान्ता द्वादशेरिता ।
धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिंगिनी ॥२१५॥
सुश्री सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ।
यादीना दशवर्णाना कला धर्मप्रदा इमा ॥२१६॥
अभयेष्टकरा ध्येया श्वेतपीतारुणा क्रमात् ।
तारस्य पचभेदेभ्य पचाशद्वर्णगा कला ॥२१७॥
सृष्टिऋ द्धि स्मृति मेंधा काति लक्ष्मी द्युति स्थिरा ।
स्थिति सिद्धिरिति प्रोक्ता कचवर्गकला क्रमात् ॥२१८॥
अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्ना तप्तचामीकरप्रभा ।
एता करधृताक्षस्रक्पकजद्वयकुण्डिका ॥२१९॥
जरा च पालिनी शातिरीश्वरी रतिकामिके ।
वरदा ह्लादिनी प्रीति र्दीर्घा स्युष्टतवर्गजा ॥२२०॥
उकाराद् विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभा ।
अभीतिदरचक्रेष्टबाहव परिकीर्तिता ॥२२१॥
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तन्द्रा क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ।
उत्कारी मृत्युरेताः स्यु कथिता पयवर्गजा ॥२२२॥
रुद्रेण मार्णादुत्पन्ना शरच्चन्द्रसमप्रभा ।
उद्वहन्त्योऽभय शूल कपाल बाहुभि र्वरम् ॥२२३॥
ईश्वरेणोदिता बिन्दो पीता श्वेतारुणा सिता ।
अनन्ता च शवर्गस्था जपाकुसुमसनिभा. ॥२२४॥
अभय हरिण टक दधाना बाहुभि र्वरम् ।
निवृत्ति सप्रतिष्ठा स्याद् विद्याशान्तिरनन्तरम् ॥२२५॥
इ धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ।
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायनी तत ॥२२६॥

व्यापिनी व्योमरूपा स्युरनन्ताः स्वरसयुता ।
सदाशिवेन सजाता नादादेता सितत्विष ॥२२७॥
अक्षस्त्रक्पुस्तकगुणकपालाढ्यकराम्बुजाः ।
न्यासे तु योजयेदादौ षोडश स्वरगा कला ॥२२८॥
इति पचाशदाख्याता. कला· सर्वसमृद्धिदा ।
मातृकावर्णभेदेभ्य सर्वे मत्रा प्रजज्ञिरे ॥२२९॥
मत्र-विद्याविभागेन द्विविधा मत्रजातय ।
मत्रा पुदेवता ज्ञेया विद्या स्त्रीदेवता पुन ॥२३०॥
स्त्री-पुनपुसकात्मान सर्वे मत्रा प्रकीर्तिता ।
पुमत्रा हुफडन्ता स्यु द्विठान्तास्तु स्त्रियो मता ॥२३१॥
नपुसका नमोऽन्ता स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा ।
शस्तास्ते त्रिविधा मत्रा वश्यशान्त्यभिचारके ॥२३२॥
अग्नीषोमात्मका मत्रा विज्ञेया क्रूरसौम्ययो ।
कर्मणो वह्नितारान्त्यवियत्प्राया समीरिता ॥२३३॥
आग्नेया मनव सौम्या भूयिष्ठेन्द्वमृताक्षरा ।
आग्नेया सम्प्रबुद्धयन्ते प्राणे चरति दक्षिणे ॥२३४॥
भागेऽन्यस्मिन् स्थिते प्राणे सौम्या बोध प्रयान्ति च ।
नाडीद्वयगते प्राणे सर्वे बोध प्रयान्ति च ।
प्रयच्छन्ति फल सर्वे प्रबुद्धा मत्रिणा सदा ॥२३५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सरसग्रहे वर्णव्यक्तिकथन नाम द्वितीय पटल ॥२॥

तृतीय. पटलः ।

एव पूर्वं वर्णव्यक्तिमुक्त्वा, इदानीं बीजसृष्ट्या जगत तदात्मकत्वमुच्यते—

पञ्चभूतात्मक सर्वं चराचरमिद जगत् ।
अवरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदत ॥२३७॥ इति ।

अन्यत्रापि—

देहश्चतुर्विधो ज्ञेयो जन्तोरुत्पत्तिभेदत ।

उद्‌भिद स्वेदजोऽण्डोऽन्त्यश्चतुर्थस्तु जरायुज ।
उद्‌भिद्य भूमि निर्गच्छेदुद्‌भिद स्थावरस्तु स ॥२३८॥

तन्त्रान्तरे—

उद्‌भिद स्थावरा ज्ञेया तृणगुल्मादिरूपिण ।
तत्र सिक्ता जलै भूमिरन्तरूष्मविपाचिता ॥२३९॥

वायुना व्यूहमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते ।
तथा चोप्तानि बीजानि ससिक्तान्यम्भसा पुन ॥२४०॥

उच्छूनता मृदुत्व च मूलभाव प्रयाति च ।
तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसभव ।
पर्णात्मक तत काण्ड काण्डाच्च प्रसव पुन ॥२४१॥

तथा च शारदायाम्—

चरास्तु त्रिविधा प्रोक्ता स्वेदाण्डजजरायुजा ।
स्वेदजाः कृमिकीटाद्या अण्डजा पन्नगादय ।
जरायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणा निगद्यते ॥२४२॥ जन्म इति शेष ।

अन्यत्रापि प्रयोगसारे—

किं तत्र स्वेदजा ये तु ज्ञेयास्ते चाप्ययोनिजा ।
स्थिरा विवायवो भिन्नाश्चत्वारिंशत्सहस्रधा ॥२४३॥

अण्डजा पक्षिण सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपा ।
अण्डजो वर्तुलीभूतः शुक्रशोणितसयुतात् ॥२४४॥

कालेन भिन्नात् पूर्णात्मा निर्गच्छन् प्रक्रमिष्यति ।
योनिजा प्राणिनो भिन्ना चतुषष्टिसहस्रधा ।
निगद्यन्ते तेषु नृणामुद्भव शास्त्रसंमतः ॥२४५॥ इति ।

रुद्रयामले तु श्रीदेव्युवाच—

शरीर कीदृश नाथ ! मुक्ति र्वा केन कर्मणा ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि ब्रूहि मे शशिशेखर ! ॥२४७॥

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि शरीर कर्मरूपिणम् ।
रजस्वला च या नारी विशुद्धा पचमे दिने ॥ २४७॥

पतिता कामबाणेन तत पुरुषमीहते ।
भगलिङ्गसमायोगात् मैथुन स्यात् तदा तयो. ॥२४८॥

अन्योन्यदर्शनादेव जायते च महत् सुखम् ।
क्षरते च तदा रेत प्राणापानविसश्रितम् ॥२४९॥

बिन्दुरेको विशेद् गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ ।
क्षितिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥२५०॥

सर्वेषा तत्र तत्त्व स्याद् देहस्ये रक्तबीजयो ।
नाभिरन्ध्रे तदा देवि भ्राम्यते च समीरणै ॥२५१॥

कुम्भकारो यथा चक्रे घटते च घटादिकम् ।
तथा समीरणो गर्भे घटते प्राणिना तनुम् ॥२५२॥

कलल चैकरात्रेण पचरात्रेण बुद्बुदम् ।
शोणित दशरात्रेण मासपिण्ड चतुर्दशे ॥२५३॥

घनमास च विंशाहे पिंडीभावोपलक्षितम् ।
पचविंशे च पूर्णाहि मासपिण्डोऽङ्कुरायते ॥२५४॥

एकमासे तु सपूर्णे पचभूतानि धारयेत् ।
आवौ सजायते बीजो ब्रह्माण्डमहतोऽङ्कुरः ॥२५५॥

तस्य मध्ये सुमेरुश्च ककालदण्डरूपक ।
चराचराणा सर्वेषा देवादीना विशेषत ॥२५६॥

आलय सर्वभूतानां मेरोरभ्यन्तरेऽपि च ।
पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यन्त्रित ।
कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभाव प्रपद्यते ॥२५७॥ इति ।

अत्रायमाशय —पूर्वजन्मशतसचितकर्मणां मध्ये फलप्रदानोन्मुख प्रबलमेव ययात्मकं दु खसुखोभयात्मफलक-मनुष्यशरीरोपभोग्य यत् कर्म तदनुरूपेण अविद्यारूपेण यन्त्रित उत्पद्यते । एतेन नित्यस्यात्मनोऽनुत्पत्तिरुक्ता प्रविष्ट इत्यर्थं ।

प्रदीपकलिकाकारो जीवो हृदि सदा स्थित ।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुन ॥२५८॥
गुणबद्धस्तथा जीव प्राणापानेन कृष्यते ।
जीव एव महेशानि ! परिवर्णानपि शृणु ॥२५९॥
अक्षिणी नासिका कर्णौ जिह्वा च कमलानने ।
हस्तौ पादौ महेशानि गुह्योपस्थौ क्रमात् प्रिये ॥२६०॥
नाभिश्च परमेशानि मनश्च परमेश्वरि ।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्त्याख्यामवस्था सेवते हृदि ॥२६१॥
इन्द्रियाणा च सर्वेषा मन परमसारथि ।
पापपुण्यं महेशानि बन्धन मनस प्रिये ॥२६२॥
सङ्गत्या सदसत्कर्म जीवः सर्वं करोति हि ।
शुद्धसत्त्वात्मको जीव सदसत्कर्मवर्जित ॥२६३॥
मनसा जीवसयोगात् तत्कार्यं कुरुते सदा ।
मासद्वये तु सपूर्णे भेदस्तत्र प्रजायते ॥२६४॥
मज्जास्थीनि त्रिभि र्मासै केशास्त्वक् च चतुष्टये ।
कर्णाक्षिनासिकावक्त्र कण्ठोदर च पञ्चमे ॥२६५॥
शुक्रादुत्पद्यते रक्त रक्ताद् विन्दुसमुद्भव ।
प्राणतो वायुरुत्पन्न कालाग्नि स्यादपानत ॥२६६॥
शुक्रतो नाभिकोत्पत्ति शुक्रादग्निसमुद्भव ।
मासतश्च मनोत्पत्ति मज्जा चापि ततो भवेत् ॥२६७॥
वायुना प्राणनिष्पत्ति प्राणादग्निसमुद्भव ।
शुक्रेणोत्पादिता जिह्वा नासिका सर्वदेहिनाम् ॥२६८॥
रक्तादुत्पद्यते नेत्र वामं चैव तु दक्षिणम् ।
प्राणादुत्पद्यते शून्य घ्राणरन्ध्रद्वय तदा ॥२६९॥
षष्ठे मुख तथा पादौ सर्वाङ्गानि च सप्तमे ।
सधि सम्पूर्णता याति अष्टमे मासि वै तत ॥२७०॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु विशेष –

द्वितीये तु घन पिण्ड पेशी षट्घनमर्बुदम् ।
स्त्रीपुन्नपुसकाना तु प्रागवस्था क्रमादिमा ॥२७१॥
तृतीये त्वंकुरा पचकराग्निशिरसो मता ।
अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्मा स्यु र्युगपत्तथा ॥२७२॥
विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मानन्तरसभवान् ।
एषा प्रकृतिरन्या तु विकृति समता सताम् ।
चतुर्थे व्यक्तता तेषा भावानामपि जायते ॥२७३॥
मातृज चास्य हृदय विषयानभिकाङ्क्षति ।
अतो मातृमनोऽभीष्ट कुर्याद् गर्भसमृद्धये ॥२७४॥
ता च द्विहृदया नारीमाहु र्दोहदिनीं बुधा ।
अदानाद् दोहदाना स्यु गर्भस्य व्यङ्गतादय ॥२७५॥
मातु र्यद्विषयाऽलाभस्तदार्त्तो जायते सुत ।
गर्भे स्यादर्थवान् भोगी दोहदात् राजदर्शने ॥२७६॥
अलकारे सुललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे ।
देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने ॥२७७॥
गोधा शशे तु निद्रालु र्बली गोमासदर्शने ।
माहिषेण तु रक्ताक्ष लोमश सूयते शिशुम् ॥२७८॥
प्रवुद्धं पचमे पित्त मासशोणितपुष्टता ।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशरोमविविक्तता ॥२७९॥
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ।
अष्टमे त्वक्श्रुती स्याता ओजश्च तश्च हृद्भवम् ॥२८०॥
शुद्धमापीतरक्त च निमित्त जीवित मतम् ।
पुनरम्यां पुनर्गर्भं चचल तत् प्रधावति ।
अतो जातोऽष्टमे मासे न जीवत्योजसोज्झित ।

यामले तु–

अण्डाधार तु कङ्कालमारभ्य गुदमूलत ।
द्वात्रिंशज्जालयितो यो प्रथितो वर्धते सदा ॥२८

तस्य मध्ये सदा सर्वनाड्यस्तत्र व्यवस्थिता ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ॥२८३॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा ॥२८४॥
अन्याश्च नाडिका क्षुद्रा सहस्राणि द्विसप्तति ।
नाड्योऽनन्ता समुत्पन्ना सुषुम्णा पंचपर्वसु ॥२८५॥

पंच पर्वाणि च—स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धयाज्ञातानि । तत्राऽधोऽधो ग्रन्थिमारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं पर्वसमाप्तिरिति ।

मूलाधारोद्गतः प्राणस्ताभि र्व्याप्नोति तां तनुम् ।

आसां स्थानं यामले—

इडा च वामभागे तु पिंगला दक्षिणे तथा ।
वक्त्ररन्ध्रे सुषुम्णा च गान्धारी वामचक्षुषि ॥२८६॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
वामे यशस्विनी चैव मुखे चालम्बुषा मता ॥२८७॥
कुहूश्च लिंगमूले तु शंखिनी शिरसोपरि ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दशनाडिकाः ॥२८८॥

आसां स्वरूपं योगार्णवे—

इडा च शंखकुन्दाभा सव्यस्था चन्द्ररूपिणी ।
पिंगला सितरक्ताभा दक्षस्था सूर्यरूपिणी ॥२८९॥
तयो र्मध्ये सुषुम्णाख्या अग्नीषोमस्वरूपिणी ।
इडापृष्ठे तु गान्धारी मयूरगलसन्निभा ॥२९०॥
सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्तिता ।
हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या नाडी तस्याः पुरः स्थिता ॥२९१॥
सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता ।
पूषा तु पिंगला पृष्ठे नीलजीमूतसन्निभा ॥२९२॥
याम्यभागस्य नेत्रान्ताद् यावत्पादतलं गता ।
अलम्बुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता ॥२९३॥

यशस्विनी शखवर्णा पिगला पूर्वदेशगा ।
गान्धार्याश्च सरस्वत्या मध्यस्था शखिनी मता ॥२६४॥
सुवर्णवर्णा पादादिकर्णान्ता सव्यभागके ।
पादागुष्ठादिमूर्धान्त याम्यभागे कुहू मंता ॥२६५॥

अत्र विशेषस्तन्त्रयोगे–

पूर्वोक्ताया' सुषुम्णाया मध्यस्थाया सुलोचने ।
नाभिहृत्कठतालुभ्रू मध्यपर्वसमुद्भवा ॥२६६॥
अधोमुख्य शिरा काश्चिदूर्ध्वमुख्यस्तथाऽपरा ।
परा तिर्यग् गतास्या च तत्र लक्षत्रयाधिका ॥२६७॥
नाड्योऽर्धलक्षसख्याता. प्रधाना समुदीरिता ।
तासु सर्वासु बलवान् प्राणो वायु समन्तत ।
सस्थित सर्वदा व्याप्त ॥२६८॥ इति ।

अध्यात्मविवेके तु–

अस्थ्ना शरीरे सख्या स्यात् षष्टियुक्त शतत्रयम् ।
त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत ॥२६९॥
द्विशते त्वस्थिसधीना स्यातामत्र दशोत्तरे ।
पेशी-स्नायु-शिरा-सधि-सहस्रद्वितय मतम् ॥३००॥
नवस्नायुशतानि स्यु पचपेशीशतान्यपि ।
अधिका विंशति स्त्रीणा स्तनयो दिग् भगे दश ॥३०१॥
शिरा धमनिकाना तु लक्षाणि नवविंशति ।
सार्धानि स्यु नवशती षट्पचाशद्युता तथा ॥३०२॥

श्रीयामले–

क्षितिश्च वारि तेजश्च पवनाकाशमेव च ।
स्थैर्यं गता इमे पच बाह्याभ्यन्तर एव च ॥३०३॥
अस्थिचर्म तथा नाभिलोममांस तथैव च ।
एते पचगुणा प्रोक्ता पृथिव्यां च व्यवस्थिता ॥३०४॥

मल मूत्र तथा श्लेष्मा शुक्र शोणितमेव च ।
एते पचगुणा प्रोक्ता आपस्तत्र व्यवस्थिता ॥३०५॥
क्षुधा तृषा तथा निद्रा प्रमोह कान्तिरेव च ।
एते पचगुणा प्रोक्तास्तेजस्तत्र व्यवस्थितम् ॥३०६॥
धावन चलनोत्क्रमणे सङ्कोचनप्रसारणे ।
एते पचगुणा प्रोक्ता मारुतस्तत्र सस्थित ॥३०७॥
रागो द्वेषश्च मोहश्च भय लज्जा तथैव च ।
एते पचगुणा प्रोक्ता आकाशे च व्यवस्थिता ॥३०८॥

अध्यात्मविवेके किंचिद् विशेष –

अस्थि-मास-त्वच-स्नायु-रोम एव तु पंचमम् ।
इति पचविधा प्रोक्ता पृथिवी कठिनात्मिका ॥३०९॥
लाला मूत्र तथा शुक्र शोणित मज्ज-पचमम् ।
अपा पचगुणा एते द्रवरूपा प्रकीर्तिता ॥३१०॥
क्षुधा तृष्णा भय निद्रा आलस्य क्षान्तिरेव च ।
तृष्णात्मका गुणा एते तेजस परिकीर्तिता ॥३११॥
धावन चलन भुक्तिराकुचनप्रसारणम् ।
एते पंचगुणा वायो क्रियारूपा व्यवस्थिता ॥३१२॥
रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहस्तथैव च ।
व्योम्न पचगुणा एते शून्याख्ये सुखितात्मनि ॥३१३॥ इति ।

यामले–

राजस प्राणसज्ञ स्यात् मुख्यो देहस्य धारक ।
तद्भेदा दश विख्याता यै र्व्याप्त स्याच्छरीरकम् ॥३१४॥
प्राणोऽपान समानश्चोदानव्यानौ च वायव ।
नाग कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनजय ॥३१५॥
एते दशगुणा प्रोक्ता सर्वप्राणेषु सस्थिता ।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमडले ॥३१६॥

समानो नाभिदेशे तु उदान' कण्ठदेशग ।
व्यान सर्वशरीरे तु प्रधाना पंचवायव' ॥३१७॥

योगार्णवे विशेष –

इन्द्रनीलप्रतीकाश प्राणरूप प्रकीर्तितम् ।
आस्यनासिकयो मंध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे ॥३१८॥
प्राणालयमिति प्राहु पादागुष्ठेऽपि केचन ।
अपानयत्यपानोऽयमाहार च मलायितम् ॥३१९॥
शुक्रं मूत्रं तथोत्सर्गमपानस्तेन मारुत ।
इन्द्रगोपप्रतीकाश सध्याजलदसन्निभ ॥३२०॥
स च मेढ्रे च पायौ च ऊरूवक्षणजानुषु ।
जघोदरे कृकट्या च नाभिमूले च तिष्ठति ॥३२१॥
व्यानो व्यानशयत्यन्न सर्वव्याधिप्रकोपन ।
महारजतसुप्रख्यो हानोपादानकारक. ॥३२२॥
स चाक्षिकर्णयो मंध्ये कट्या वै गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥३२३॥
स्पन्दयत्यधर ववत्र गात्रनेत्रप्रकोपन ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुत ॥३२४॥
विद्युत्पावकवर्ण स्यादुत्थानासनकारक ।
पादयो र्हस्तयोश्चापि स तु सन्धिषु वर्तते ॥३२५॥
पीत भक्षितमाघ्रात रक्तपित्तकफानिलान् ।
सम नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः ॥३२६॥
गोक्षीरसदृशाकार सर्वदेहे व्यवस्थित ।
उद्गारे नाग इत्युक्तो नीलजीमूतसन्निभ ॥३२७॥
उन्मीलने स्थित कूर्मो भिन्नाञ्जनसमप्रभ ।
कृकलस्तु क्षुते चैव जपाकुसुमसन्निभ ॥३२८॥
विजृम्भणे देवदत्त शुद्ध स्फटिकसन्निभ ।
धनञ्जयस्तथा घोषे महारजतवर्णक ॥३२९॥

ललाटे चोरसि स्कन्धे हृदि नाभौ त्वगस्थिषु ।
नागाद्या वायव पञ्च सहैव परिधिष्ठिता ॥३३०॥ इति ।

शारदायामपि–

अग्नयो दोषदूष्येषु सलीना दश देहिन ॥३३१॥ इति ।

एतेषा नामानि योगनिबन्धे–

ते जातवेदस सर्वे कल्माष कुसुमस्तथा ।
दहन शोषणश्चैव तपनश्च महाबल ।
पिठर पत्तगः स्वर्णस्त्वगधो भ्राज एव च ॥३३२॥ इति ।

अथ षडूर्मय शारदायाम्–

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनस स्मृतौ ।
शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मय ॥३३३॥

षट्कौशिक च तत्रैव–

स्नाय्वस्थिशुक्रमज्जान त्वङ्मासास्राणि शोणिताव् ।
षट्कौशिकमिदं प्रोक्त सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥३३४॥

अन्यत्रापि–

मृदष शोणित मेदो मास प्लीहा यकृद् गुद ।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मता ॥३३५॥
श्मश्रुलोमकचा स्नायुशिराधमनयो नखा ।
दशना शुक्रमित्यादि स्थिरा पितृसमुद्भवा ॥३३६॥ इति ।

अन्यदपि यामले–

ब्रह्माण्डे ये गुणा सन्ति ते तिष्ठन्ति शरीरके ।
पातालो भूधरा लोका आदित्यादिनवग्रहा ॥३३७॥
नागाश्च सर्वदेहिना पिण्डमध्ये व्यवस्थिता ।
पादाधस्त्वतलं विद्यात् तदूर्ध्वं वितल तथा ॥३३८॥
जानुनो सुतल चैव महातल सन्धिरन्ध्रके ।
तलातल गुल्फमध्ये लिंगमूले रसातलम् ॥३३९॥

पाताल कटिसन्धौ च पादादौ लक्षयेद् बुध ।
भूर्लोको नाभिदेशे तु भुवो लोकस्तथा हृदि ॥३४०॥
स्वर्लोक कण्ठदेशे तु महर्लोकश्च चक्षुषि ।
जनलोकस्तदूर्ध्वं च तपोलोको ललाटके ॥३४१॥
सत्यलोको महायोनौ भुवनानि चतुर्दश ।
त्रिकोणे च स्थितो मेरुरूर्ध्वलोके च मन्दर ॥३४२॥
कैलासो दक्षिणे कोणे वामकोणे हिमालय ।
गन्धमादो वीथिमध्ये क्रमेण परमेश्वरि ॥३४३॥
विन्दौ विष्णुस्तदूर्ध्वे च सप्तैते कुलपर्वता ।
अस्मिन् स्थाने च द्रष्टव्यो जम्बूद्वीपो व्यवस्थित ॥३४४॥
प्लक्षद्वीपश्च मासेषु क्रौंचद्वीप शिखासु च ।
शाकद्वीप पयोरक्ते प्राणिना सर्वसन्धिषु ॥३४५॥
तदूर्ध्वे शाल्मलिद्वीप कुशश्च लोमसञ्चये ।
नाभौ च पुष्करद्वीप सागरास्तदनन्तरम् ॥३४६॥
लवणोदस्तथा मूत्रे शुक्रे क्षीरोदसागर ।
मज्जा दधिसमुद्रश्च तदूर्ध्वं घृतसागर ॥३४७॥
वसायामुदक प्रोक्त इक्षु स्यात् कटिशोणिते ।
शोणितेषु सुरा प्रोक्ता ख्यातास्ते सागरा प्रिये ॥३४८॥
ग्रहाणा मण्डल चैव शृणु वक्ष्यामि पार्वति ॥३४९॥
नादचक्रे स्थित सूर्यो विन्दुचक्रे च चन्द्रमा ।
लोचने मगल प्रोक्तो हृदि सोमसुतस्तथा ॥३५०॥
उदरे गुरुरित्युक्त शुक्र शुक्रस्तथैव च ।
नाभिचक्रे शनि प्रोक्तो मुखे राहु सदास्थित ॥३५१॥
पादे नाभौ च केतुश्च शरीरे ग्रहमण्डलम् ।
नवमे मासि गर्भस्य सर्वान् सस्मरते मन ॥३५२॥
नवद्वारे पुरे देही समयाश्च विकारिकान् ।
सुगादु ससम कृत्वा भुङ्क्ते च हृदये नृणाम् ॥३५३॥

सुकृत दुष्कृत चैव यत्कृत पूर्वजन्मनि ।
तत् सर्वं सकलं ज्ञात्वा ऊर्ध्वपादो ह्यधोमुख ॥३५४॥

तन्त्रान्तरे-

पाल्यतरितहस्ताभ्या श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय स ।
उद्विग्नो गर्भसवासादास्ते गर्भे लयान्वित ॥३५५॥
स्मरन् पूर्वानुभूताश्च नानायोनीश्च यातना ।
मोक्षोपायमभिध्यायन् वर्ततेऽभ्यासतत्पर ॥३५६॥

अन्यत्रापि-

कृताञ्जलि ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिश्रित ।
अध्यास्ते सकुचद्गात्रो गर्भे दक्षिणपार्श्वल ॥३५७॥
वामपार्श्वस्थिता नारी क्लीव मध्याश्रित मतम् । इति ।

यामले-

इत्थभूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम् ।
स्मरँस्तिष्ठति दु खात्मा छन्नदेहो जरायुणा ॥३५८॥
कालक्रमेण स शिशु र्मातर क्लेशयत्यपि ।
गर्भे च सुप्रविष्टेऽपि तिमिते घोरदर्शने ॥४५९॥
यदि माता सुख भुङ्क्ते ह्यन्नपानादिक तत ।
जनन्या नाभिदेशे तु मुख दत्त्वा पिबत्यसौ ॥
ततो जीवति गर्भोऽसावन्यथा मरण भवेत् ॥३६०॥

किंचिद्विशेषो योगार्णवे –

आविश्य भुक्तमाहार स वायु कुरुते द्विधा ।
स प्रविश्यान्त्रमध्यस्थ पृथक् किट्ट पृथक् जलम् ॥३६१॥
अग्नेरूर्ध्वं जल स्थाप्य तदन्न च जलोपरि ।
जलस्याध स्वय प्राण स्थित्वाग्नि धमते शनै ॥३६२॥
वायुना व्यूह्यमानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम् ।
अन्न तदुष्णतोयेन समन्तात् पच्यते पुन ॥३६३॥

द्विधा भवति तत् पक्व पृथक् किट्ट पृथग् रसम् ।
रसेन तेन ता नाडी प्राणान् पूरयते पुन ॥३६४॥
प्रतर्पयन्ति सपूर्णास्तत्र देह समतन्त ।
मातृ रसवहानाडीमनुबद्धा पराभिधा ॥
नाभिस्थनाडीगर्भस्य मात्राहृतरसावहा ॥३६५॥ इति ।

अन्यत्रापि-

त्रसरेणुद्वय जन्तु क्षणमात्रेण वर्धते ।
नाडिकामात्रतो यूकायुगल च मुहूर्तत ॥
यूकाना वेदसख्य च दिनमात्राद् यवद्वयम् ॥३६६॥ इति ।

यामले-

अभ्यस्यामि शिव ज्ञान ससारार्णवतारकम् ।
चिरयोगी तथा भूत्वा मुक्तो यास्यामि तत्क्षणम् ॥३६७॥
एव विचिन्त्यमानोऽसौ गर्भसप्राप्तसकट ।
नि सार्यते तदा बाल प्रबलै सूतिमारुतै ॥३६८॥
पतितोऽपि न जानाति मूर्च्छितोऽपि ततश्च स ।
सूतिवातगभीरेण योनिरन्ध्रस्य पीडनात् ॥३६९॥
विस्मृत सकल ज्ञान गर्भे यच्चिन्तित हृदि ।
यथा भवति उल्वेषु सूतिभूतेषु पीडनात् ॥३७०॥
मातर स्मरते नित्य बुभुक्षादौ च रोदिति ।
रक्ताधिकाद् भवेन्नारी भवेत् शुक्राधिकात् पुमान् ।
नपुसक च जायेत समे च रक्तबीजयो ॥३७१॥ इति ।

अन्यच्च प्रयोगसारे विशेष -

द्वाविंशतिरजोभागा शुक्रमात्राश्चतुर्दश ।
गर्भसजनने काले पुस्त्रियो सभवन्ति हि ॥३७२॥
नारी रजोऽधिकेंऽशे स्यान्नर शुक्राधिकेंऽशके ।
उभयोरक्तसख्यायां स्यान्नपुसकसभव ॥३७३॥ इति ।

अन्यदपि वाग्भटे–

स्त्रीपुंसो सामरस्ये तु प्राप्ते शुक्रार्तवे पुन ।
वायुना बहुधा भिन्ने यथास्व बह्वपत्यता ॥३७४॥
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतै मलै ।
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता ॥३७५॥
शुक्रगर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ।
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयो पुनः ।
रोगाल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव च ॥३७६॥

पंचैतानि च सृज्यन्ते गर्भस्यस्यैव देहिन ।
आयु कर्म च वित्त च विद्या निधनमेव च ॥३७७॥
बालकश्च शिशुश्चैव गण्ड कैशोरकस्तथा ।
तत पर तु युवक प्रौढश्चैव तत परम् ॥
अतिप्रौढस्तथा वृद्धस्त्वतिवृद्धस्तत परम् ॥३७८॥
प्रमित मरणश्चैव अवस्था परिकीर्तिता ।
तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम् ॥३७९॥
केवल तन्मनुष्याणा नान्येषा प्राणिना क्वचित् ।
प्रेतदेहमिति प्रोक्तं क्रमादेतन्न सशय ॥३८०॥
तत सपिण्डीकरणे बान्धवै सुकृतेन वै ।
पूर्णे सम्वत्सरे देहस्ततोऽन्यो हि प्रपद्यते ॥३८१॥
तत स नरक याति स्वर्गं वा स्वेन कर्मणा ।
देवत्वमथ मानुष्यं पशुत्व पक्षिता तथा ॥३८२॥

कृमित्वं स्थावरत्व च जायते जन्मकर्मभि ।
स्थावरा जगमाद्याश्च पक्षिण. पशवो नरा ॥३८३॥

जायन्ते च म्रियन्ते च संसारे दु खसागरे ।
कर्मणा जायते जन्तु कर्मणैव प्रलीयते ॥३८४॥

देहे विनष्टे तत्कर्म पुन देंह प्रलभ्यते ।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ॥३८५॥

तथा शुभाशुभं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ।
प्राक्तन बलवत् कर्म कोऽन्यथा कर्त्तुमर्हति ॥३८६॥
देह कर्मात्मक. प्रोक्तस्तत्र देवि ! प्रतिष्ठितम् ।
कर्मयोगानुरूपेण निर्माणं विधिना दिशेत् ॥३८७॥
चराचरमिदं सर्वं देह' कर्मात्मक प्रिये ।
माता कर्म पिता कर्म कर्मैव परम गुरु ॥३८८॥
स्वर्गं वा नरकं वापि कर्मणैव लभेन्नर' ।
सुखदु खमयै. स्वीयै पुण्यपापै नियन्त्रित ॥३८९॥
तत्तज्जातियुत देह संभोगं च स्वकर्मजम् ।
तत्र जन्मसहस्राणि सहस्रै रपि पार्वति ॥३९०॥
कदाचिल्लभते जन्तु र्मानुष्य पुण्यसचयात् ।
निद्राभीमैथुनाहारा सर्वेषा प्राणिना समा ॥३९१॥
ज्ञानवान् मानव प्रोक्तो ज्ञानहीन. पशु प्रिये ।
सम्पद स्वप्नसकाश यौवन कुसुमोपमम् ॥३९२॥
तडिच्चञ्चलमायुश्च यस्य ज्ञान स मानव ।
चतुराशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ॥३९३॥
न मानुष्य विनान्यत्र तत्त्वज्ञान तु लभ्यते ।
ब्रह्मविष्णुमहेशादिर्देवता भूतजातय ॥३९४॥
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेय समाचरेत् ।
स्वदेहधनदारादिनिरता सर्वजन्तव ॥३९५॥
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताऽज्ञानमोहिता ।
प्रभव सर्वदु खानामाश्रम सकलापदाम् ॥३९६॥
आलय सर्वपापाना ससार वर्जयेत् प्रिये ।
प्रतिक्षणमय काय क्षीयमाणो न लक्ष्यते ॥३९७॥
आमकुम्भ इवाम्भस्थो विशीर्णश्च विभाव्यते ।
अपत्य मे कलत्र मे धन मे बान्धवाश्च मे ॥३९८॥

लपन्तमिति मर्त्यं च हन्ति कालो वृकोदर ।
पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ॥३९९॥

शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि ! का कथा ।
मोहपाशमयै पाशै र्नरो बद्धो हि तिष्ठति ॥४००॥

स्त्रीधनादिषु ससक्तो मुच्यते न कदाचन ।
अशक्ता देहकर्माणि सुखदुःखानि भुञ्जते ॥४०१॥

परतन्त्राज्ञानिनो देवि ! यान्त्यायान्ति पुन पुन. ।
अबन्धबन्धन सगमसत्सग महाविषम् ॥४०२॥

सत्सगश्च विवेकश्च निर्मल लोचनद्वयम् ।
यस्य नास्ति नर· सोऽन्ध कथ न स्यादमार्गगः ॥४०३॥

द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तु र्न ममेति प्रमुच्यते ॥४०४॥

ममेत्यध्यसनाद् बद्धो विमुक्ति र्न ममेति च ।
मासलुब्धो यथा मत्स्यो लौह शकु न पश्यति ॥४०५॥

सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधा न पश्यति ।
ज्ञात्वा पापविनिर्भिन्न सिक्त विषयसर्पिषा ॥४०६॥

रागद्वेषानलै पक्व मृत्युरश्नाति मानवम् ।
स्वदेहमपि जीवोऽय त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि ॥४०७॥

स्त्रीमातृधनपुत्रादिसबन्ध केन हेतुना ।
शत जीवति सत्पुण्यो निद्रा तस्यार्धहारिणी ॥४०८॥

बालभोगजरादु खैरर्ध तदपि निष्फलम् ।
दु खमूलो हि ससार स यस्यास्ति स दु खित ॥४०९॥

तस्य त्याग कृतो येन स सुखी नापर प्रिये ।
प्रभाते मलमूत्राभ्या क्षुत्तृड्भ्या मध्यगे रवौ ॥४१०॥

रात्रौ मदननिद्राभ्या बाध्यन्ते मानवा सदा ।
दिव्यौषध न सेवन्ते महाव्याधिविनाशनम् ॥४११॥

तद्व्याधिवर्धनात्पथ्यं कुर्वन्ति हि कुभेषजम् ।
सुकर्म फलदं हित्वा दुष्कर्माणि करोति यः ॥४१२॥
कामधेनुं समाक्रम्य ह्यर्कक्षीरं स मृग्यति ।
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ॥४१३॥
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंचयः ।
अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ॥४१४॥
ध्रुवं यो नार्जते धर्मं सज्ञेयो मूढचेतनः ।
न पुत्रोऽपि सहायार्थं पिता माता न गच्छति ॥४१५॥
न च पुत्री न च ज्ञातिः धर्मस्तिष्ठति केवलम् ।
पुत्रदारमयैः पाशैः पुमान् बद्धो न मुच्यते ॥४१६॥
पण्डिते चैव मूर्खे च बलिन्यप्यथ दुर्बले ।
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योः सर्वत्र तुल्यता ॥४१७॥
राजतः सलिलादग्नेश्चौरतश्च जलादपि ।
भयं देहवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥४१८॥
सद्यः स्वकार्यं कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमप्यथवाऽकृतम् ॥४१९॥
कर्मणा मनसा वाचा यो धर्मनिरतः सदा ।
अफलाकाङ्क्षिचित्तो यः स मोक्षमधिगच्छति ॥४२०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं तन्मायाजनितस्य च ।
किमन्यमपि देवेशि ! मोहयेदमरानपि ॥४२१॥

तथा च मार्कण्डेये–

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत् ।

अस्यार्थः–तया महामायया, जगत् सम्मोह्यते । न केवलं जगत् देवानपि ।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥४२२॥

ज्ञानिनामिति प्रदाशायामिति । निरयज्ञानिनामपीत्यर्थः । महती चासौ माया येनि महामाया । ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मोहजनकत्वात् महामाया ।

तथा चोक्त यामले-

सा एव माया प्रकृति र्या मोहयति शकरम् ।
हरिं तथा विरञ्चि च तथैवान्यांश्च निर्जरान् ॥४२३॥

कालिकापुराणे-

गर्भान्तर्ज्ञानसम्पन्न प्रेरित सूतिमारुतै' ।
उत्पन्न ज्ञानरहित कुरुते या अहर्निशम् ॥४२४॥
पूर्वातिपूर्वजन्मोत्थ-संसारेण नियोज्य च ।
आहारादौ ततो मोह ममत्व ज्ञानसशयम् ॥४२५॥
क्रोधोपरोधलोभेषु क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा पुन पुन ।
पश्चात् कामो नियोज्याशु चिन्तायुक्तमहर्निशम् ॥४२६॥ इति ।

मोहपरत्वे नारद प्रति विष्णुवाक्यम्-

महद्विष्णोरहकारो बभूव सहसेति च ।
सर्वं मल्लोमकूपेषु विश्वमेवाहमीश्वर ॥४२७॥
सहारभैरवो भूत्वा त जग्राह स लीलया ।
कलहे गगया सार्धं वाण्या नारायणाग्रत. ॥४२८॥
सरस्वतीं च तत्याज तस्या दर्पं बभञ्ज स ।
दर्पयुक्ता महालक्ष्मी र्बभूव सहसा मुने ॥४२९॥
पराभूता महादेव ! जयेन विजयेन च ।
दर्पयुक्ता सतीं वीक्ष्य शम्भुस्तत्याज सत्वरम् ॥४३०॥
लज्जामवाप सा देवी तस्या दर्पं बभञ्ज स ।
बभूव दर्प सावित्र्या वेदमाताऽहमेव च ॥४३१॥
काले चकार तस्याश्च सुपुत्रायात्मदर्शनम् ।
बभूव दर्पो गगाया अह निर्वाणदेति च ॥४३२॥
जह्नु द्वारा च तद् दर्पं जहार जगतापति ।
जहार माहिष दर्पं दुर्गाद्वारा पुरा मुने ॥४३३॥
श्रीदाम्न शापयोगेन राधा दर्पं बभञ्ज स ।
ब्रह्मण सहसा ब्रह्मन्निति दर्पो बभूव ह ॥४३४॥

तद्व्याधिवर्धनाऽपथ्य कुर्वन्ति हि कुभेषजम् ।
सुकर्म फलद हित्वा दुष्कर्माणि करोति य ॥४१२॥
कामधेनु समाक्रम्य ह्यर्कक्षीर स मृग्यति ।
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ॥४१३॥
नित्यं सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्मसंचय ।
अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ॥४१४॥
ध्रुव यो नार्जते धर्मं सज्ञेयो मूढचेतन ।
न पुत्रोऽपि सहायार्थं पिता माता न गच्छति ॥४१५॥
न च पुत्री न च ज्ञाति धर्मस्तिष्ठति केवलम् ।
पुत्रदारमयै पाशै पुमान् बद्धो न मुच्यते ॥४१६॥
पण्डिते चैव मूर्खे च बलिन्यप्यथ दुर्बले ।
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्यो सर्वत्र तुल्यता ॥४१७॥
राजत सलिलादग्नेश्चौरतश्च जलादपि ।
भय देहवता नित्य मृत्यो प्राणभृतामिव ॥४१८॥
सद्य स्वकार्यं कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्यु 'कृतमप्यथवाऽकृतम् ॥४१९॥
कर्मणा मनसा वाचा यो धर्मनिरत सदा ।
अफलाकाङ्क्षिचित्तो य स मोक्षमधिगच्छति ॥४२०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं तन्मायाजनितस्य च ।
किमन्यमपि देवेशि ! मोहयेदमरानपि ॥४२१॥

तथा च मार्कण्डेये–

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत् ।

अस्यार्थ –तया महामायया, जगत् सम्मोह्यते । न केवल जगत् देवानपि ।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥४२२॥

ज्ञानिनामिति प्रदाशायामिति । निरपज्ञानिनामपीत्यर्थ । महती चासौ माया चेति महामाया । ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मोहजनकत्वात् महामाया ।

तया चोक्त यामले–

सा एव माया प्रकृति र्या मोहयति शकरम् ।
हरिं तया विरञ्चि च तथैवान्यांश्च निर्जरान् ॥४२३॥

कालिकापुराणे–

गर्भान्तर्ज्ञानसम्पन्न प्रेरित सूतिमारुतैं ।
उत्पन्न ज्ञानरहित कुरुते या ग्रहर्निशम् ॥४२४॥
पूर्वातिपूर्वजन्मोत्त्य-संसारेण नियोज्य च ।
ग्राहारादौ ततो मोह ममत्व ज्ञानसशयम् ॥४२५॥
क्रोधोपरोधलोभेषु क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा पुन पुन ।
पश्चात् कामो नियोज्याशु चिन्तायुक्तमर्हानिशम् ॥४२६॥ इति ।

मोहपरत्वे नारद प्रति विष्णुवाक्यम्–

महद्विष्णोरहकारो बभूव सहसेति च ।
सर्वं मल्लोमकूपेषु विश्वमेवाहमीश्वर ॥४२७॥
सहारभैरवो भूत्वा त जग्राह स लीलया ।
कलहे गगया सार्धं वाण्या नारायणाग्रत. ॥४२८॥
सरस्वतीं च तत्याज तस्या दर्पं बभञ्ज स ।
दर्पयुक्ता महालक्ष्मी बभूव सहसा मुने ॥४२९॥
पराभूता महादेव ! जयेन विजयेन च ।
दर्पयुक्ता सतीं वीक्ष्य शम्भुस्तत्याज सत्वरम् ॥४३०॥
लज्जामवाप सा देवी तस्या दर्पं बभञ्ज स ।
बभूव दर्प सावित्र्या वेदमाताऽहमेव च ॥४३१॥
काले चकार तस्याश्च सुपुत्रायात्मदर्शनम् ।
बभूव दर्पो गगाया ग्रह निर्वाणदेति च ॥४३२॥
जह्नु द्वारा च तद् दर्पं जहार जगतापति ।
जहार माहिष दर्पं दुर्गाद्वारा पुरा मुने ॥४३३॥
श्रीदाम्न शापयोगेन राधा दर्पं बभञ्ज स ।
ब्रह्मण सहसा ब्रह्मन्निति दर्पो बभूव ह ॥४३४॥

अह त्रिजगता धाता कर्त्ता हर्त्ताहमीश्वर ।
त ब्रह्मणा समूह च दर्शयामास तत्क्षणात् ॥४३५॥
कालेन मोहिनीद्वारा तमपूज्य चकार सः ।
पुनस्तद्दर्पभंगश्च शिवद्वारा बभूव ह ॥४३६॥
विष्णो र्बभूव गर्वश्च जगत्पाताहमीश्वर ।
तदात्मविस्मृतिस्तत्र बभूव रामजन्मनि ॥४३७॥
अह विश्व बिभर्मीति शेषे दर्पो बभूव ह ।
तद्दर्पं गरुडद्वारा चूर्णीभूत चकार स· ॥४३८॥
स्वय शिव स्वदर्पं च विवाह न चकार स ।
त ज्ञात्वा मायया मोह कृत्वा स्त्रीसंयुतं हरम् ॥४३९॥
पुन र्जहार तत्पत्नीं दक्षकन्या महासतीम् ।
वर्षं शुशोच तद्देह क्रोडे कृत्वा तु शकर ॥४४०॥
जन्मान्तरे च संप्राप्तस्ता सती पार्वती मुदा ।
पुन र्वृकासुराद् भीतो जगाम शरण हरे ॥४४१॥
भगवानपि तस्यार्थे दैत्यं भस्मीचकार स ।
केदारकन्यकाद्वारा धर्मदर्पं बभञ्ज स ॥४४२॥
यमो माण्डव्यशापेन शूद्रयोनिमवाप ह ।
तदा पुन शताब्दान्ते तत शूद्रो बभूव स ॥४४३॥
साम्बोऽपि मातृशापेन गलत्कुष्ठी बभूव ह ।
तदा सूर्यव्रतं कृत्वा पुनः शुद्धो बभूव ह ॥४४४॥
चन्द्रो दर्पमदेनैव जहार च गुरो प्रियाम् ।
बभूव दर्पभगश्च यक्ष्मग्रस्तोऽभवत्तदा ॥४४५॥
सूर्यदर्पस्तेजसा च हन्तु शकरकिंकरम् ।
सुमालीत्यभिधं दैत्य ज्वलन्त च स्वतेजसा ॥४४६॥
सूर्यं दृष्ट्वा शकरश्च शूलेनैव जघान ह ।
पुनश्च त महादेवो जीवयामास सत्वरम् ॥४४७॥

वह्नि र्दप्तो भृगो शापात् सर्वभक्षी बभूव सः ।
जयस्य विजयस्यापि दर्पभगो बभूव ह ॥४४८॥

वैकुण्ठात् पतित सोऽभूत् ब्रह्मशापच्छलेन च ।
त्वमेवासीन्नारदश्च पुरा पुत्र. प्रजापते ॥४४६॥

गन्धर्वश्च पितु शापात् शूद्रपुत्रस्तत क्रमात् ।
शक्राभिमानभङ्ग' च गौतमेन चकार स. ॥४५०॥

कामदर्पं हरक्रोधज्वाला भस्मीचकार स' ।
कार्त्तवीर्यं दर्पभङ्ग रामद्वारा बभूव ह ॥४५१॥

शरभेन नृसिंहस्य [1]रामस्य रघुवशत ।
दुर्वाससोऽम्बरीषेण लक्ष्मणस्य च रावणात् ॥४५२॥

सुमेरो र्वायुना भग्नोऽगस्त्येन च समुद्रज ।
पृथुना च पृथिव्याश्च दर्पभङ्गो बभूव ह ॥४५३॥

विप्रपुत्रस्य मरणे हरणे कृष्णयोषिताम् ।
कर्णेन सार्धं समरे पार्थदर्पं बभञ्ज ह ॥४५४॥

एव मायासमाविष्टा हन्ताऽज्ञानविमोहिता ।
अविद्याध्यसितात्मान सर्वे सर्वं प्रचक्रिरे ॥४५५॥ इति ।

सा महामाया द्विविधा । विद्या, अविद्या च । या महामाया मुक्ते र्हेतुभूता सा विद्या । या महामाया ससारबन्धनहेतुभूता सा अविद्या ।

तदुक्त मार्कण्डेये-

सा विद्या परमा मुक्ते र्हेतुभूता सनातनी ।
ससारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥४५६॥ इति ।

अन्यच्च-

विद्या वाप्यथवा विद्या द्वावेव माययाऽऽवृते ।
तत् कर्म यच्च बन्धाय सा विद्या परिकीर्तिता ॥४५७॥

[1]रामस्य परशुरामस्य ।

यन्न बन्धाय तत्कर्म सा विद्या परिकीर्तिता ।
विद्या तु सर्वदा सेव्या नाविद्यापि कथचन ॥४५८॥

अविद्या कर्मबन्ध स्यात् तस्मिन् ज्ञान प्रणश्यति ।
ज्ञाननाशाद् भवेद् हानि र्हानौ संहरणं पुन ॥४५९॥

संहारात्तु भवेद् घोरो घोर नरकमेव च ।
तस्मादविद्या कुत्रापि नैव सेव्या कथचन ॥
या विद्या सा महामाया सा तु सेव्या सदा बुधै ॥४६०॥

'योऽविद्यामुपासते सोऽपि तम प्रविशति ।' इत्यादि श्रुत्या स्मृत्या च - ससारनियतिरूपा अविद्या । तद्विपरीता विद्या ।

तथाच रुद्रयामले-

सुखदा मोक्षदा नित्या सर्वभूतेषु सस्थिता ।
यदा तुष्टा भवेन्माया तदा सिद्धिमुपालभेत् ॥४६१॥

वन्दनीया सदा स्तुत्या पूजनीया च सर्वदा ।
श्रोतव्या कीर्त्तितव्या च माया नित्या नगात्मजे ॥४६२॥

वृथा न कालं गमयेद् द्यूतक्रीडादिना सुधी ।
गमयेद् देवतापूजा-जपयज्ञस्तवादिना ॥४६३॥

किमन्यैरसदालापै र्यत्रायु र्व्ययतामियात् ।
तस्मान्मन्त्रादिक सर्वं विज्ञाय श्रीगुरो र्मुखात् ।
सगुणोपासनपरो निर्गुणत्वेन चिन्तयन् ॥४६४॥

भक्तियुक् तन्मनस्कश्च शरणागतभावन ।
शरण्यं परमेशान चिन्तयेत् स्थिरमानस ॥
सुखेन मुच्यते देवि ! घोरससारसागरात् ॥४६५॥ इति ।

भक्तिलक्षणं तन्त्रान्तरे-

संसारे यत्र यद् वस्तु विद्यते यत्र कुत्रचित् ।
व्याप्यत्वेन स्वरूपेण विभु सर्वत्र व्यापक ॥४६६॥

इति सञ्चिन्त्य मनसा सेवनीय प्रभुर्मुदा ।
आशाऽपि स्वामिनोऽन्यस्मात् कर्तव्या न कदाचन ॥४६७॥

विलोक्यावसर तस्य स्वार्थं चैव निवेदयेत् ।
एव सेवा प्रकुर्याद् य प्रशस्त सेवक स्मृत ॥४६८॥

अथ शरणागतलक्षण तत्रैव–

भरन्यास स्वभाराणा स्वामिन्येव निवेदनम् ।
प्रतिकूलस्य सन्त्यागश्चानुकूल्येन वर्त्तनम् ॥
विरोधी स्वामिनस्त्याज्यो विश्वसेदपि स्वामिनि ॥४६९॥इति।

य शरण्यस्य शरणमागच्छति स शरणागत । तत्र लक्षणचतुष्टयं सगच्छते ।

अथ शरण्यलक्षणम्–

वात्सल्यत्व सुशीलत्व भरत्व स्वामिता तथा ।
ज्ञान स्वतन्त्रता चैव शरण्यलक्षण त्विदम् ॥४७०॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे तृतीय पटल ॥३॥

अथ चतुर्थः पटलः।

यामले–

एवं लक्षणसम्पन्न सुशील सर्ववित् स्थिर. ।
पुरुषार्थसमावाप्त्यै सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत् ॥४७१॥

तस्मान्मन्त्रादिक सर्वं विज्ञाय श्रीगुरो मुंखात् ।
सुखेन मुच्यते देवि ! घोरससारसागरात् ॥४७२॥

तदेव यामले–

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि यथा त्वं परिपृच्छसि ।
विना दीक्षा न मोक्ष स्यात् प्राणिना शिवशासनात् ॥४७३॥

न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि स ।
द्वयोरभ्यासयोगेन ब्रह्मससिद्धिकारकम् ॥४७४॥

तम परिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृत ॥४७५॥
संप्राप्ते षोडशे वर्षे दीक्षा कुर्यात् समाहित ।
स्पर्शखण्डे यथा स्पृष्टमय सौवर्णता व्रजेत् ॥
दीक्षाविद्धस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते ध्रुवम् ॥४७६॥ इति ।

दीक्षाशब्दार्थमाह कुलार्णवे–

दिव्यज्ञान यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं यत ।
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभि ॥४७७॥

मन्त्रमुक्तावल्याम्–

जपो देवार्चनविधि कार्यो दीक्षान्विते नरे ।
उपचारसहस्रैस्तु योजितो भक्तिसंयुत ॥४७८॥ इति ।

यामले–

अदीक्षितार्चनं देवा न गृह्णन्ति कदाचन ।
कर्माऽखिलं वृथा यस्मात् तस्माददीक्षित पशु ॥४७९॥
अत सर्वाश्रमेषु दीक्षाया आवश्यकत्वम् ।

तथा अन्यत्रापि–

दीक्षामूलं जप सर्वं दीक्षामूलं परं तप ।
देवि ! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धि र्न च सद्गति ॥४८०॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपयज्ञादिका क्रिया ।
न भवेत्तु फल तेषा शिलायामुप्तबीजवत् ॥४८१॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।
अदीक्षितोऽपि मरणे रौरव नरक व्रजेत् ॥४८२॥
नादीक्षितस्य कार्यं स्यात् तपोभि नियमै र्व्रतै ।
न तीर्थगमनेनापि न च शारीरयन्त्रणै ॥४८३॥
कोटिजन्मार्जितं पाप ज्ञाताज्ञातकृत च यत् ।
दीक्षाग्रहणमात्रेण पलायति न संशय ॥४८४॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्वर्णस्तेयादिपातकम् ।
उपपातकलक्षाणि हन्ति दीक्षाग्रहान्नर ॥४८५॥ इति ।

क्रियासारे–

कल्पे दृष्ट्वा तु यो मन्त्रं जपते तु विमूढधीः ।
मूलनाशो भवेत्तस्य फलमस्य सुदूरत. ॥४८६॥

तथा च यामले–

गुरो र्मुखान्महाविद्या गृह्णीयात् पापनाशिनीम् ।
तस्माद् यत्नाद् गुरुं कृत्वा मन्त्रसाधनमाचरेत् ॥४८७॥

गुरुशब्दार्थो यामले–

गकार' सिद्धिद प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहक ।
उकार शम्भुरित्युक्तस्त्रिधात्मा गुरुरव्यय ॥४८८॥

गुरुलक्षण सारसग्रहे–

विशुद्धमातापितृको जितेन्द्रिय
सर्वागमज्ञ परदु खकातर ।
यथार्थवाग् वेदविदङ्गपारग
शान्त कुलीनो गुरुरीरितो द्विज ॥४८९॥ इति ।
'द्विज' इत्युपादानात् नान्य ।

अन्यत्रापि–

शान्तो दान्त कुलीनश्च विनीत शुद्धवेषवान् ।
शुद्धाचार सुप्रतिष्ठ शुचि र्दक्ष सुबुद्धिमान् ॥४९०॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्र-तन्त्र-विशारद ।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ॥४९१॥
ससारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिन ।
तत्त्वप्लवप्रदानेन स एव हि गुरु स्मृत ॥४९२॥ इति ।

तथा च तन्त्रे–

अनाचारोऽपि च द्विजो वर्णाना गुरुरेव स ।

अन्यत्रापि-

स्वधर्मनिरतो भूत्वा श्रुत्वा द्विजगुरो र्मुखात् ॥
सर्वसिद्धिमवाप्नोति शीघ्रं देवत्वमाप्नुयात् ॥४६३॥

शूद्र शूद्रमुखाच्छ्रुत्वा विद्या वा मन्त्रमुत्तमम् ।
गृहीत्वा नरकं याति दु खं प्राप्नोति नित्यश ॥४६४॥

अथ निन्द्यशिष्यलक्षणम्-

पापिने क्रूरचेष्टाय शठाय कृपणाय च ।
निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च ॥४६५॥

भक्तिहीनाय देवेशि ! न देया मलिनाय च ।
गुरुता शिष्यता वापि तयो र्वत्सरवासत ॥४६६॥ इति ।

सारसग्रहेऽपि-

सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत् ॥४६७॥

अपरीक्षणे दोपस्तत्रैव-

राज्ञि चामात्यजो दोप पत्नी-पापं स्वभर्तरि ।
तथा शिष्यार्जित पाप गुरु प्राप्नोति निश्चितम् ॥४६८॥इति ।

यामले विशेप -

वर्षैकेन भवेद् योग्यो विप्रो गुणसमन्वित ।
वर्षद्वयात्तु राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभि ॥
चतुर्भि र्वत्सरै शूद्र कथिता शिष्ययोग्यता ॥४६९॥

तथा योगिनीतन्त्रे-

पितु र्मन्त्र न गृह्णीयात् तथा मातामहस्य च ।
सोदरस्य कनिष्ठस्य वैरिपक्षाश्रितस्य च ॥५००॥

गणेशविमर्शिण्याम्-

यते र्दीक्षा पितुर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिन ।
विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिका ॥५०१॥

यामले च–

न पत्नीं दीक्षयेद् भर्त्ता न पिता दीक्षयेत् सुताम् ।
न पुत्रं च तथा भ्राता भ्रातर नैव दीक्षयेत् ॥५०२॥

प्रमादाच्च तथाऽज्ञानात् पितुर्दीक्षा समाचरन् ।
प्रायश्चित्त तत कृत्वा पुनर्दीक्षा समाचरेत् ॥५०३॥

पितुरिप्युपलक्षण मातामहादीनामपि । प्रायश्चित्त तु अयुतसावित्रीजप । सर्वत्र तथा दर्शनात् । 'दशसाहस्रजापेन सर्वकल्मपनाशिनी' इति वाक्यात् ।

सिद्धमन्त्रो यदि पतिस्तदा पत्नीं च दीक्षयेत् ।
शक्तित्वेन वरारोहे न च सा पुत्रिका भवेत् ॥५०४॥

तथा च सिद्धयामले–

यदि भाग्यवशाद् देवि ! सिद्धविद्या लभेत् प्रिये ।
तदैव ता तु दीक्षेताकृत्वा गुरुविचारणाम् ॥५०५॥

तथा मत्स्यसूक्तेऽपि–

निर्बीज च पितुर्मन्त्रं शैवे शाक्ते न दुष्यति ।

इति कौलिकमन्त्र-दीक्षापरम् । अथवा शाक्ते तारादिविद्यायाम् । मत्स्यसूक्ते 'निजकुलतिलकाय ज्येष्ठपुत्राय दद्यादि'ति वचनात् ।

श्रीक्रमेऽपि–

मनुर्विमृश्य दातव्यो ज्येष्ठपुत्राय धीमते ॥५०६॥

तथा विष्णुमन्त्रमधिकृत्य–

साधु पृष्ट त्वया ब्रह्मन् ! वक्ष्यामि सकल तव ।
ब्रह्मणा कथित पूर्वं वसिष्ठाय महात्मने ॥५०७॥

वसिष्ठोऽपि स्वपुत्राय मत्पित्रे दत्तवान् स्वयम् ।
प्रसन्नहृदय स्वच्छ पिता मे करुणानिधि ।
कुरुक्षेत्रे महातीर्थे सूर्यपर्वणि दत्तवान् ॥५०८॥ इति ।

अन्यच्च–

स्त्रियो दीक्षा शुभा प्रोक्ता मातुरष्टगुणा स्मृता ।
स्वप्नलब्धा च या दीक्षा तत्र नास्ति विचारणा ॥५०९॥

स्त्रीपद सर्वस्त्रीपरम् ।

तल्लक्षण योगसारे च–

साध्वी चैव सदाचारा गुरुभक्ता जितेन्द्रिया ।
सर्वतन्त्रार्थसारज्ञा सधवा पूजने रता ।
गुरुयोग्या भवेदेषा विधवा परिवर्जयेत् ॥५१०॥

यत् – 'विधवाया सुतादेशात् कन्याया पितुराज्ञया ।' इति विधवाया गुरुत्वे यदुक्त, तदमूलम् । समूलत्वेऽपि सिद्धमन्त्रपरम् तथा च 'सिद्धमन्त्रे नर सर्वमयोग्य योग्यता नयेत् ।' इति वचनबलात् साधितमन्त्रपरम् ।

योगिनीहृदये–

स्वप्नलब्धे तु कलशे गुरो प्राणान् निवेशयेत् ।
वटपत्रे कुङ्कुमेन लिखित्वा ग्रहणं शुभम् ॥
तत शुद्धिमवाप्नोति अन्यथा विफल भवेत् ॥५११॥

इद तु सद्गुरोरभावे । तत्सम्भवे तस्मादेव गृह्णीयात् ।

यामले–

गुरोरभावे मन्त्राणा ग्रहणक्रममुच्यते ।
कृष्णपक्षे त्रयोदश्या दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥५१२॥

लिखित्वा राजते पत्रे तालपत्रेऽथवा पुन ।
मन्त्र तत् स्थण्डिले स्थाप्य पूजयित्वा महेश्वरम् ॥५१३॥

पायसादि निवेद्य च कृत्वा त प्रणिपत्य च ।
शतकृत्त्व पठेन्मन्त्रं दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥
सर्वेषा चैव मन्त्राणामेव ग्रहणमिष्यते ॥५१४॥

अन्यच्च–

नद्या समुद्रगामिन्यास्तीरे स्थित्वा तथोत्तरे ।
स्थण्डिल रचयेत् तत्र शुचौ देशे शुभे दिने ॥५१५॥

तालपत्रे लिखित्वा तु मन्त्र तत्र निधाय च ।
आवाह्य भास्कर तत्र यथाविधि समर्चयेत् ॥५१६॥

तत्सन्निधावष्टशतं पठेत् साधकसत्तम ।
एवं गृह्णीत मतिमानपूर्वोऽयं विधि स्मृत. ॥५१७॥
वैष्णवे वैष्णवो ग्राह्य शैवे शैवश्च शाक्तिके ।
शैव शाक्तश्च सर्वत्र दीक्षास्वामी न सशय. ॥५१८॥

अथ देशविशेषेण गुरुप्राधान्यम् । तथा च वीरागमे–

कुमारी हिमवन्मध्ये स्वत कृष्णमृगान्विते ।
देशे जातस्तु यो विद्वानाचार्यत्वमथार्हति ॥५१९॥

एतदेव शिवयोगपद्धतिकार ।

पृथ्वीधराचार्यस्तु–

मध्यदेशकुरुक्षेत्रनाभोज्जयिनिसम्भवा ।
अन्तर्वेदिप्रतिष्ठाना आवन्त्याश्च गुरूत्तमा ॥५२०॥
गौडा शालोद्भवाश्चौला मागधा केरलास्तथा ।
कौसलाश्च दशार्णाश्च गुरव सप्त मध्यमा ॥५२१॥
कार्णाटा कौङ्कणाश्चैव कच्छाभीरोद्भवास्तथा ।
कालिगा कामरूपाश्च काम्बोजाश्चाधमा स्मृता ॥५२२॥ इति ।

वाराहीतन्त्रे–

स्वनाम्ना न गुरु कार्यो भार्याञ्च मातृनामिकाम् ॥५२३॥

देवीमते च–

आचार्य शैवशास्त्रज्ञ सितदेशसमुद्भव ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा शिवभक्तिपरायण ॥
यजमानानुकूलर्क्षजन्मा देशिक उच्यते ॥५२४॥

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि–

गृहस्थ ब्रह्मचर्यस्थ ककाराष्टकवर्जितम् ।
गुरु कुर्वीत सततमुपवासव्रते रतम् ॥५२५॥ इति ।

तथा–

सर्वत्र व्यतिरिक्तं तु आत्मान वेत्ति यो द्विज ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरु र्नात्र सशय ॥५२६॥ इति ।

यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ।
स एव देशिको ज्ञेय· सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥५२७॥

इत्यादीनि बहूनि वाक्यानि विस्तारभिया न लिखितानि ।

अथ दीक्षाफल यामले–

दीक्षिता ब्राह्मणा यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ।
ऐन्द्रं लोकं क्षत्रियास्तु प्राजापत्य तथा विश ॥
शूद्रा गन्धर्वनगर यान्ति दीक्षाप्रभावत ॥५२८॥

अत्र शूद्रस्यापि दीक्षाधिकारश्रुते 'न शूद्राय मनु दद्यादिति वचन वेद-मन्त्रपर, देवताविशेपपर मन्त्रविशेपपर वा द्रष्टव्यम् ।

तन्त्रान्तरे–

प्रणवाद्य न दातव्य मन्त्रं शूद्राय सर्वथा ।
आत्ममन्त्रं गुरोर्मन्त्र मन्त्र चाजपसज्ञकम् ॥५२९॥
स्वाहाप्रणवसंयुक्त शूद्रे मन्त्रं ददन् द्विज ।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥५३०॥

तथा वाराहीतन्त्रे–

गोपालस्य मनुर्देयो महेशस्यापि पादजे ।
तत्पत्न्याश्चापि सूर्यस्य गणेशस्य मनु तथा ।
एपा दीक्षाधिकारी स्यादन्यथा पापभाग् भवेत् ॥५३१॥

इति वचनादन्यदेवता मन्त्रेशूद्रस्याऽनधिकार ।

नृसिंहतापनीयेऽपि–

सावित्रीं प्रणव यत्तु लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रयो र्नेच्छन्तीति ॥५३२॥

लक्ष्मीं श्रीबीजम् । लक्ष्मीमन्त्रमिति केचित् । गोपालस्य दशाक्षर श्यामाया द्वाविंशत्यक्षरश्च मन्त्र स्वाहागर्भोऽपि देय ।

अतएव क्रमदीपिकायाम्–

नात्र सिद्धसाध्यपेक्षास्ति न वा सिद्धारिचिन्तनम् ।
न चाधिकारिचिन्ताऽत्र ग्रहणे कालिकामनो ॥५३३॥इति।

इति कालीकुलसर्वस्वे। तस्माद् गोपालस्य दशाक्षरे श्यामाया द्वाविंशत्यक्षर-मन्त्रग्रहणे च शूद्रस्याधिकार ।

भूतशुद्धौ–

तन्त्रोक्तं प्रणव देवि ! वह्निजाया च सुन्दरि ।
प्रजपेत् सततं शूद्रो नात्र कार्या विचारणा ॥५३४॥ इति ।

अन्यत्रापि–

अघोरो दक्षिणामूर्तिरुमा माहेश्वरो मनु ।
हयग्रीवो वराहश्च लक्ष्मीनारायणस्तथा ॥५३५॥

प्रणवाद्याश्चतुर्वर्णा वह्नेर्मन्त्रास्तथा रवे ।
प्रणवाद्यो गणपति र्हरिद्रागणनायक ॥५३६॥

सौराष्टाक्षरमन्त्रश्च तथा रामषडक्षर ।
मन्त्रराजो ध्रुवादिश्च प्रणवो वैदिको मनुः ॥५३७॥

वर्णत्रयाय दातव्या एते शूद्राय नो बुधै ।
सुदर्शन पाशुपत आग्नेयास्त्र नृकेसरी ॥५३८॥

वर्णद्वयाय दातव्या नान्यवर्णे कदाचन ।
छिन्नमस्ता च मातङ्गी त्रिपुरा कालिका शिव ॥५३९॥

लघुश्यामा कालरात्रि र्गोपालो जानकीपति ।
उग्रतारा भैरवश्च देया वर्णचतुष्टये ॥५४०॥

मृगीदृशा विशेषेण मन्त्रा एते सुसिद्धिदा ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा नार्यधिकारिणी ॥५४१॥

अन्यच्च चिदम्बरे–

माया काम श्रिय वाच प्रदद्यान्मुखजन्मने ।
मायामृते बाहुजेभ्य ऊरुजेभ्य श्रिय गिरम् ॥५४२॥

वाणीबीज तु शूद्रेभ्योऽन्येभ्यो वर्म-वषट्-नम ।
येषा मनूना सिद्धादिशोधन नास्ति तान् ब्रुवे ॥५४३॥

एकवर्णस्त्रिवर्णो वा पञ्चार्णो रसवर्णकः ।
सप्तार्णो नववर्णश्च रुद्रार्णो रदनाक्षर ॥५४४॥

अष्टार्णो हसमन्त्रश्च कूटो वेदोदितो ध्रुवः ।
स्वप्नलब्ध स्त्रिया प्राप्तो मालामन्त्रो नृकेसरी ॥५४५॥
प्रासादो रविमन्त्रश्च वाराही मातृका परा ।
त्रिपुरा काममन्त्रश्च सुसिद्ध पक्षिनायकः ॥५४६॥
बौद्धमन्त्रा जैनमन्त्रा नैषु सिद्धादिशोधनम् ।
एतद् भिन्नेषु मन्त्रेषु शुद्धिरावश्यकी मता ॥५४७॥

तथा च सिद्धसारस्वते-

नृसिंहार्कवराहाणा प्रासाद-प्रणवस्य च ।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणा सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥५४८॥
स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे ।
वैदिकेषु च मन्त्रेषु सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥५४९॥ इति ।

अथ सिद्धविद्या चामुण्डातन्त्रे, मुण्डमालायामपि-

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥५५०॥
वगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमला तथा ।
एता दश महाविद्या सिद्धविद्या प्रकीर्तिता ॥५५१॥
नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति न नक्षत्रविचारणा ।
कालादिशोधनं नास्ति न चामित्रादिदूषणम् ॥५५२॥
सिद्धविद्या तथा नात्र युगसेवापरिश्रम ।
नास्ति किञ्चिन्महादेवि ! दु खसाध्यं कथञ्चन ॥५५३॥

इत्यादिवचनादेषु विचाराभाव । तथापि याथार्थ्ये प्रशसापरमेव । यन सर्वत्र विचारस्यावश्यकत्व, दुरदृष्टवशात् कदाचिदरिमन्त्रस्य स्वप्नादौ प्राप्त्या तद्दोषस्य दृष्टत्वादिति साम्प्रदायिका । अतएव सिद्धादिशोधनक्रम कालादिनियममपि वृहद्दीक्षापटले लिखाम ।

विशेषस्तु गुप्तदीक्षातन्त्रे-

मृतमप्यनुगच्छेत विद्यामन्त्री विशेषत ।
मन एव मनुष्यस्य पूर्वकर्माणि शसति ॥५५४॥

यदि न स्यान्महेशानि ! मनुष्यस्य कथं भवेत् ।
दीक्षाया च मनो भद्रे ! पूर्वजन्मस्मृति विना ॥५५५॥
तस्माच्च यत्नतो देवि ! पूर्वविद्या समुद्धरेत् ।
वकुलाश्वत्थवटक पत्ररत्न शृणु प्रिये ॥५५६॥
वटपत्रे महेशानि शक्तिमन्त्रं लिखेद् गुरु ।
अश्वत्थे विष्णुमन्त्र च वकुले शिवमन्त्रकम् ॥५५७॥
रक्तेन चन्दनेनाथ काश्मीरेणाथवा प्रिये ।
शक्तिमन्त्र लिखेद् देवि चन्दनं विष्णुमन्त्रकम् ॥
भस्मना शिवमन्त्र च विलिखेत् परमेश्वरि ॥५५८॥
सप्तपत्रेषु तत्तद्देवतामन्त्र लिखेदित्यर्थ ।
प्राणप्रतिष्ठा तन्मन्त्रे कारयेद् यत्नत सुधी ।
तत्तद्देवताया प्राणप्रतिष्ठा कुर्यादित्यर्थ ।
यथाशक्त्युपचारेण सम्पूज्य परमेश्वरि ॥५५९॥
तत शिष्योऽर्घपात्र तु हस्ते कृत्वा महेश्वरि ।
अनेन मनुना देवि भास्कराय निवेदयेत् ॥५५०॥
आप क्षीर कुशाग्राणि घृत दधि तथा मधु ।
रक्तानि करवीराणि तथा रक्तं च चन्दनम् ॥
अष्टाङ्ग एषोऽर्घो वै भानवे परिकीर्तित ॥५५१॥

मन्त्रस्तु–

ॐ भो देव ! पृथिवीपाल ! सर्वशक्तिसमन्वित ।
ममार्घञ्च गृहाण त्व पूर्वविद्या प्रकाशय ॥५५२॥
अर्घं दात्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलि पठेत् तत ।
न दद्यात् भास्करायार्घं शखतोये महेश्वरि ॥५५३॥
ॐ सूर्य सोमो यम कालो महाभूतानि पञ्च च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो नव साक्षिण ॥५५४॥
ॐ सर्वे देवा शरीरस्था मम मन्त्रस्य साक्षिण ।
पूर्वजन्मार्जिता विद्या मम हस्ते प्रकाशय ॥५५५॥

पठित्वेदं महेशानि सत्वरं पत्रमुद्धरेत् ।
उद्धृत्य पत्रमेकं तु गुरो हस्ते प्रदापयेत् ॥५६६॥
गुरुस्तामक्षरश्रेणीमुद्धृत्य परमेश्वरि ।
सेतु दत्वा महेशानि ! तन्मन्त्राष्टशत जपेत् ॥५६७॥
शिष्यस्य मस्तके हस्त दत्वा चाष्टशतं जपेत् ।
गुरुस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शिष्यस्तत्सम्मुखस्थित ॥५६८॥
आचम्य संयतो भूत्वा प्राणायाम विधाय च ।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा ऋष्यादिकसमन्वितम् ॥५६९॥
अष्टकृत्वो जपेन्मन्त्र दक्षकर्णे महेश्वरि ।
एषा दीक्षा सर्वतन्त्रे शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥५७०॥
गुरोर्लब्धा महाविद्यामष्टोत्तरशत जपेत् ।
गुरवे दक्षिणा दद्यात् वित्तशाठ्यविवर्जित ॥५७१॥
गुरवे गुरुपुत्राय तत्पत्न्यै वा प्रदापयेत् ।
गुरो प्रीतिसमुत्पत्तौ देवता प्रीतिमाप्नुयात् ॥५७२॥
देवं तु प्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
पत्ररत्नप्रदानेन दीक्षा कुर्यात् कलौ युगे ॥५७३॥
तत सिद्धो भवेन्मन्त्री नात्र कार्या विचारणा ।
एतद् ज्ञानं विना देवि ! दीक्षा कुर्याच्च यो नर ॥५७४॥
दीक्षा च विफला तस्य देवता न प्रसीदति ।
दीक्षां प्राप्य तत शिष्यो दण्डवत् प्रणमेद् गुरुम् ॥५७५॥

ततो गुरुर्वदेत्-

उत्तिष्ठ वत्स ! मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव ।
कीर्तिः श्री कान्तिमेधायुर्बलारोग्य सदाऽस्तु ते ॥५७६॥इति ।

अत्र मन्त्रग्रहणे विशेष -

अपि चान्य प्रवक्ष्यामि मन्त्रसिद्धिकर परम् ।
मन्त्रसाधकयोरैक्य दुर्लभ भुवि मानवं ॥५७७॥

उक्तं साकर्षणे तन्त्रे शिवेनाऽखिलवेदिना ।
आनन्दाख्ये पञ्चरात्रे शुक्राय कवये पुरा ॥५७८॥

सस्कृत पूजित मन्त्र दत्वा शिष्याय देशिक ।
कुर्यादथ तयोर्मध्ये शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥५७९॥

मन्त्रं विदर्भयित्वा तु नामवर्णैर्यथाक्रमम् ।
आद्यन्ते सकल नाम तत प्रणवमालिखेत् ॥५८०॥

स्वरा पत्रेषु सलेख्या ध्यायेत् तानमृतात्मकान् ।
भूर्जे रोचनगन्धाद्यै पद्ममध्ये सुशोभने ॥५८१॥

मृदा पवित्रयाऽऽवेष्ट्य तत्पुन सिक्थकेन च ।
निक्षिपेन्मधुरे तत्तु मृण्मये लघुभाजने ॥५८२॥

क्षीरपूर्णे तु वै कुम्भे तत् क्षिपेल्लघुभाजनम् ।
धारयेद् देशिक कुम्भमग्निकुण्डसमीपत ॥५८३॥

मन्त्रसाधकयोरैक्यसिद्ध्यर्थं जुहुयात् तत. ।
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञ सहस्र शतमेव वा ॥५८४॥

कुम्भे सम्पातयेच्चैव मधुराणा त्रयं शुभम् ।
निधाय निक्षिपेत् कुम्भ शनैस्त महदम्भसि ॥५८५॥

मन्त्रसाधकयोरैक्य भवेदेव फलप्रदम् ।
एतद् यो न विजानाति नाऽसौ देशिक उच्यते ॥५८६॥

रहस्य कथित चैतन्न देयं यस्य कस्यचित् ।
उत्तमाय तु शिष्याय प्रियपुत्राय वा वदेत् ॥५८७॥ इति ।

अन्यच्च यामले–

स्नानसध्ये सदाचार नित्य काम्य तथैव च ।
मन्त्रसिद्धिप्रकाराश्च शिष्यायाभिवदेद् गुरु ॥५८८॥

मन्त्र दत्वा गुरुर्देवि ! उपवास समाचरेत् ।
महान्धकारनरके कृमि र्भवति नान्यथा ॥५८९॥

पुनरपि यामले–

दीक्षा कृत्वा यदा मन्त्री उपवासं समाचरेत् ।
तस्य देव सदा रुष्ट शाप पतति मूर्धनि ॥५९०॥

तत्त्वसारे च–

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेश स उच्यते ॥५६१॥

दीक्षाया विचारे दोषमाह गुप्तदीक्षातन्त्रे–

य कुर्याच्चक्रगणना दीक्षाया पशुपामर ।
स भ्रष्ट स च पापिष्ठो विष्ठाया जायते कृमि ॥५६२॥
कि कुलेन धनेनैव राश्यादिकविचारणे ।
सिद्ध-साध्य-सुसिद्धारिविचारे कि प्रयोजनम् ॥५६३॥
नास्ति सत्य महेशानि ! नक्षत्रादिविचारणा ।
राश्यादिगणना नास्ति शकरेणेति भाषितम् ॥५६४॥

आगमकल्पद्रुमे–

रविसक्रमणे चैव सूर्यस्य ग्रहणे तथा ।
तत्र लग्नादिक किञ्चित् न विचार्यं कथचन ॥५६५॥

यामले–

शरत्काले युगाद्याया ग्रहणे चन्द्रसूर्ययो ।
बोधने चैव दुर्गाया कालाकाल न शोधयेत् ॥५६६॥

मत्स्यसूक्ते–

ग्रहणे च महातीर्थे नास्ति कालस्य निर्णय ।
सोमग्रहे विष्णुमन्त्रं सूर्ये शक्ति न चाचरेत् ॥५६७॥

यामले–

सूर्यग्रहे शक्तिमन्त्र न प्रदद्यात् जिजीविषु ।
न गृह्णीयादपि तथा यदीच्छेदात्मनो हितम् ॥५६८॥ इति ।

शक्तिमन्त्रपद पंचमीपरम् । यत्तु–
'श्रीवामचालीयीजानि मोपा दीर्गार्यपो मनु ।
भवेदुपग्रहे सर्पो नृणां सीध्रकमन्त्रद ॥'
'पराश्रीवामयीजानि' इति कुलमूलावतारे पाठ । पूर्ववाक्ये म शक्तिमन्त्रं श्रीविद्यापरम् । शिवदीक्षाटीकाकाररस्यैवमेव मन्यते ।

यामले–

लग्ने वाप्यथवाऽलग्ने यत्र तत्र तिथावपि ।
गुरोराज्ञानुरूपेण दीक्षा कार्या विधानत ॥५९९॥
न तिथि र्न व्रतं पूजा न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षाया कारणं ज्ञानं स्वेच्छाप्राप्ते सदा गुरो ॥६००॥
सर्वे वारा ग्रहा सर्वे नक्षत्राणि च राशय ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरु सर्वं शुभावहम् ॥
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपत ॥६०१॥ इति ।

विश्वसारे–

गृहीत्वा च महाविद्या जपेज्जीवावधि प्रिये ।
महागुरुनिपातादौ न पूजाया विकल्पना ॥६०२॥
मोहाद् वा यदि वा दैवात् पूजयेन्न च साधक ।
तस्य सर्वविनाश स्यान्मारयेत् तं सदाशिव ॥६०३॥
अशुचौ वा शुचौ वापि सर्वकालेऽपि सर्वदा ।
पूजयेत् परया भक्त्या नात्र कार्या विचारणा ॥६०४॥ इति ।

यामलेऽपि–

पूजयेत् सूतके वापि जनने शवजेऽपि वा ।
सर्वत्रैव विधि प्रोक्त सर्वकामफलप्रद ॥
वाह्यपूजाक्रमेणैव ध्यानयोगेन वा यजेत् ॥६०५॥

देवीविषये–

पूजा कार्या विशेषेण विधिना साधकोत्तमैः ॥६०६॥ इति ।

वाराहीतन्त्रे विशेष –

तारायाश्चैव काल्याश्च छिन्नायाश्चैव सुव्रते ।
सूतके मृतके चैव न त्यजेद् वै जपार्चनम् ॥६०७॥ इति ।

यामलेऽपि–

अशुचि र्वा शुचि र्वापि गच्छन् तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
न दोषो मलिने जापे सर्वदेवेषु सर्वदा ॥६०८॥

तत्त्वसारे च–

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेश स उच्यते ॥५६१॥

दीक्षाया विचारे दोषमाह गुप्तदीक्षातन्त्रे–

य. कुर्याच्चक्रगणना दीक्षायां पशुपामर ।
स भ्रष्ट स च पापिष्ठो विष्ठाया जायते कृमि ॥५६२॥
किं कुलेन धनेनैव राश्यादिकविचारणे ।
सिद्ध-साध्य-सुसिद्धारिविचारे किं प्रयोजनम् ॥५६३॥
नास्ति सत्य, महेशानि ! नक्षत्रादिविचारणा ।
राश्यादिगणना नास्ति शकरेणेति भाषितम् ॥५६४॥

आगमकल्पद्रुमे–

रविसक्रमणे चैव सूर्यस्य ग्रहणे तथा ।
तत्र लग्नादिक किञ्चित् न विचार्यं कथंचन ॥५६५॥

यामले–

शरत्काले युगाद्याया ग्रहणे चन्द्रसूर्ययो ।
बोधने चैव दुर्गाया कालाकालं न शोधयेत् ॥५६६॥

मत्स्यसूक्ते–

ग्रहणे च महातीर्थे नास्ति कालस्य निर्णय ।
सोमग्रहे विष्णुमन्त्र सूर्ये शक्ति न चाचरेत् ॥५६७॥

यामले–

सूर्यग्रहे शक्तिमन्त्र न प्रदद्यात् जिजीविषु ।
न गृह्णीयादपि तथा यदीच्छेदात्मनो हितम् ॥५६८॥ इति ।

शक्तिमन्त्रपदं पंचमीपरम् । यत्तु–
'श्रीकामकामीबीजानि गोपा दीर्गार्ग्यो मनु ।
भवेद्ग्रहे मध्यो नृणां सौभाग्यप्रद ॥'
'पराश्रीकामबीजानि' इति कुलमूलावतारे पाठ । पूर्ववाक्ये न शक्तिमन्त्रं श्रीविद्यापरम् । निबन्धोक्तटीकाकारस्तथैव मन्यते ।

यामले-

लग्ने वाप्यथवाऽलग्ने यत्र तत्र तिथावपि ।
गुरोराज्ञानुरूपेण दीक्षा कार्या विधानत ॥५९९॥
न तिथि र्न व्रत पूजा न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षाया कारणं ज्ञान स्वेच्छाप्राप्ते सदा गुरो ॥६००॥
सर्वे वारा ग्रहा सर्वे नक्षत्राणि च राशय ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरु सर्वं शुभावहम् ॥
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपत ॥६०१॥ इति ।

विश्वसारे-

गृहीत्वा च महाविद्या जपेज्जीवावधि प्रिये ।
महागुरुनिपातादौ न पूजाया विकल्पना ॥६०२॥
मोहाद् वा यदि वा दैवात् पूजयेन्न च साधक ।
तस्य सर्वविनाश स्यान्मारयेत् त सदाशिव ॥६०३॥
अशुचौ वा शुचौ वापि सर्वकालेऽपि सर्वदा ।
पूजयेत् परया भक्त्या नात्र कार्या विचारणा ॥६०४॥ इति ।

यामलेऽपि-

पूजयेत् सूतके वापि जनने शवजेऽपि वा ।
सर्वत्रैव विधि प्रोक्त सर्वकामफलप्रद ॥
बाह्यपूजाक्रमेणैव ध्यानयोगेन वा यजेत् ॥६०५॥

देवीविषये-

पूजा कार्या विशेषेण विधिना साधकोत्तमै ॥६०६॥ इति ।

वाराहीतन्त्रे विशेष -

तारायाश्चैव काल्याश्च छिन्नायाश्चैव सुव्रते ।
सूतके मृतके चैव न त्यजेद् वै जपार्चनम् ॥६०७॥ इति ।

यामलेऽपि-

अशुचि र्वा शुचि र्वापि गच्छन् तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
न दोषो मलिने जापे सर्वदेवेषु सर्वदा ॥६०८॥

विश्वसारेऽपि-

जाग्रतेऽपि शयानेऽपि भुञ्जाने गमनेऽपि वा ।
सिद्धमन्त्रे न दोषः स्यान्नाशौचनियमस्तथा ॥
न कल्पना दिवा रात्रौ न च सन्ध्यावसानके ॥६०६॥इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे मन्त्रग्रहणादि चतुर्थ पटल ॥४॥

अथ पञ्चमः पटलः ।

एव दीक्षा प्राप्य श्रीगुर्वचार पालयेत् । अथ श्रीगुर्वाचारनिर्णय तन्त्रे-

गुरु सर्वसुराधीशो गुरु साक्षी कृताकृते ।
सम्पूज्य सकल कर्म कुर्यात् तस्याज्ञया सदा ॥६१०॥

गमन पूजनं जाप्यं मनन भोजन तथा ।
गृहीत्वाज्ञा गुरो कुर्यात् तस्य सिद्धिर्विना जपात् ॥६११॥

त्रिसन्ध्यं श्रीगुरो ध्यानं त्रिसन्ध्यं पूजनं गुरो ।
त्रिसन्ध्य भावयेन्नित्य गुरुं परमकारणम् ॥६१२॥

स्वगुरु हि विना देवि ! नान्यञ्च गुरुमर्चयेत् ।
प्रत्यक्ष वा परोक्ष वा प्रत्यह प्रणमेद् गुरुम् ॥६१३॥

एकग्रामस्थित' शिष्य प्रत्यह प्रणमेद् गुरुम् ।
क्रोशमात्रस्थितो भक्त्या प्रत्यह प्रणमेद् गुरुम् ॥६१४॥
अर्धयोजनग शिष्य प्रणमेत् पञ्चपर्वसु ।
एकयोजनमारभ्य योजनद्वादशावधि ॥६१५॥

तत्तत्सत्यागतं मासि श्रीगुरु प्रणमेत् प्रिये ।
यदि दूरेषु चार्वङ्गि ! स्वगुरु नगनन्दिनि ।
सवत्सरस्य मध्ये तु पूजयेद् विधिनाऽमुना ॥६१६॥

पूजाक्रमस्तु परातन्त्रे, तथा च देवीं प्रति भैरववाक्यम्-

गुरुपूजां प्रवक्ष्यामि सर्वतन्त्रेषु गोपिताम् ।
दीक्षां गृहीत्वा विधिवद् गुरो कुलविचक्षणात् ॥६१७॥

तदाज्ञा शिरसाऽऽदाय साधयेत् स्वमनु तत॰ ।
संप्राप्ते पर्वकाले तु तथाभ्युदयपर्वणि ॥६१८॥
गुरुमानीय देवेशि ! शून्यगेहे चतुष्पथे ।
श्मशाने वा वने वापि स्वगृहे वापि पार्वति ॥
तत्र भूमौ लिखेद् यन्त्रं यथावद् वर्ण्यते मया ॥६१९॥
विन्दु त्रिकोण वसुकोणविम्बं
वृत्ताष्टपत्र शिखिवृत्तयुक्तम् ।
धरागृह वह्नितटोभिरीड्यं
यन्त्र गुरोर्देवि ! मया प्रदिष्टम् ॥६२०॥
सिन्दूरेण विलिख्याथ पूजयेच्चक्रमीश्वरि ।
गणेशधर्मवरुणकुवेरसहिता शिवे ॥६२१॥
द्वा स्था पूज्या सुपुष्पैश्च गन्धाक्षतपुरसरै ।
असिताङ्गो रुरुश्चण्ड क्रोधेशोन्मत्तभैरवौ ॥६२२॥
कपाली भीषणो देवि ! सहारोऽर्च्योऽष्टपत्रके ।
परमानन्दनाथश्च प्रकाशानन्दनायक ॥६२३॥
श्रीभोगानन्दनाथश्च समयानन्दनायक ।
गगनानन्दनाथश्च विश्वानन्दस्तयेश्वरि ॥६२४॥
भुवनानन्दनाथश्च श्रीस्वात्मानन्दनायक ।
अष्टौ कुलगुरून् देवि ! पूजयेद् वसुपत्रके ॥६२५॥
मदनानन्दनाथश्च श्रीलीलानन्दनाथकम् ।
महेश्वरानन्दनाथं पूजयेद् वै त्रिकोणके ॥६२६॥
विन्दौ गुरुञ्च सम्पूज्य गन्धाक्षतपुर सरै ।
तत्र विन्दौ गुरुं देवि ! स्थापयेद् भक्तिपूर्वकम् ॥६२७॥
सम्पूजयेत् स्वमूलेन दक्षिणा कालिका यजेत् ।
महाकाल यजेत् तत्र कामं कामेश्वरीं तत ॥६२८॥
गुरुं च परमं देवि ! परमेष्ठिगुरुं तत ।
परात्परगुरुं चैव स्वगुरो र्मूर्ध्नि तं यजेत् ॥६२९॥

सम्पूज्य विविधै पुष्पै माल्यैराभरणोत्तमै ।
दक्षिणाभि महेशानि भक्ष्यै भोज्यै सलेह्यकै ॥६३०॥
चोष्यै पेयैश्च खाद्यैश्च बलि दत्त्वा च तर्पयेत् ।
आनन्दरससम्पूर्णं गुरुं बुद्ध्वा महेश्वरि ।
तत्र देवि गुरु नत्वा प्रार्थयेत् स्वमनोरथम् ॥६३१॥
एव सम्पूजयेद् देवि ! स्वगुरुं पुण्यवासरे ।
स एव भैरव साक्षात् भुक्तिमुक्त्योश्च भाजनम् ॥६३२॥
यस्य तुष्टो गुरुर्देवि ! तस्य तुष्टा महेश्वरी ।
गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गति ॥६३३॥
गुरुमभ्यर्चयेन्नित्यं येन तुष्यति सुन्दरी ।
एव यो नार्चयेद् देवि ! स भवेद् ब्रह्मराक्षस ॥६३४॥ इति ।

अन्यच्च यामले–

एकत्र गुरुणा सार्धं स्वपेदुपविशेत्तु य ।
स याति नरक घोरं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥६३५॥
गुरुणाऽऽलोकित शिष्य उत्तिष्ठेदासन त्यजेत् ।
जातिविद्याधनाऽहन्ता दूरीकृत्य गुरु मुदा ॥६३६॥
प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ प्रदक्षिणमथाचरेत् ।
आयान्तमग्रतो गच्छेद् गच्छन्त तमनुव्रजेत् ॥६३७॥
प्रणम्य प्रवसेत् पार्श्वे तदा गच्छेत् तदाज्ञया ।
मुखावलोकं सेवेत कुर्यादाज्ञा तदाहृत ॥६३८॥
असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि ।
ऋणदान तथाऽऽदान वस्तूना क्रयविक्रयौ ॥६३९॥
न कुर्याद् गुरुणा सार्धं शिष्यो देवि ! कथञ्चन ।
गुरु र्माता पिता स्वामी बान्धव सुहृद् गुरु ॥६४०॥
इत्याधाय मनो नित्य यजेत् सर्वात्मना गुरुम् ।
गुरोरग्रे पृथक् पूजामौद्धत्य परिवर्जयेत् ॥६४१॥

दीक्षा व्याख्या विभुत्व च गुरोरग्रे परित्यजेत् ।
आसन शयन वस्त्र भूषण पादुका तथा ॥६४२॥
छत्र चामरमन्यच्च यद् यदिष्ट सुपूरयेत् ।
यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ ॥६४३॥
ऐक्य विभाव्य देवेशि ! एव भक्तिक्रमे स्थित ।
गुरुशय्याऽऽसन यान पादुकोपानहौ तथा ।
स्नानोदकं तथा छाया लघयेन्न कदाचन ॥६४४॥

अन्यत्रापि–

देवच्छाया गुरुच्छाया शक्तिच्छाया न लघयेत् ।
यदि प्रमादतो देवि गुरोरग्रे प्रपूजयेत् ॥६४५॥
स याति नरक घोर सा पूजा विफला भवेत् ।
रिक्तहस्तेन नो पश्येद् राजान देवता गुरुम् ॥६४६॥
फलपुष्पादि चादाय यथाशक्त्या समर्पयेत् ।
भक्त्या वित्तानुसारेण गुरुमुद्दिश्य यत् कृतम् ॥६४७॥
स्वल्पमेव महत्तुल्य न च शाठ्यकृत यदि ।
गुर्वर्थे कृपणो देवि ! रौरव नरक व्रजेत् ॥६४८॥
गुरुवाक्यानृतकृत्य आत्मवाक्य तु रोपयेत् ।
गुरु जेतु मनो यस्य पच्यते नरकार्णवे ॥६४९॥
गुरोर्नाम न भाषेत जपकालादृते क्वचित् ।
देव गुरु गुरुस्थान क्षेत्र क्षेत्राधिदेवताम् ।
सिद्ध सिद्धादिवासाश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥६५०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविश शूद्राश्च नगनन्दिनि ।
भुञ्जते परया भक्त्या गुरोरुच्छिष्टभोजनम् ॥६५१॥
आगच्छेद् यदि चार्वङ्गि ! गुरु शिष्यस्य मन्दिरे ।
शिष्यस्य तद्दिन देवि ! कोटिसूर्यग्रहै समम् ॥६५२॥
चन्द्रग्रहणकालं हि तद्दिन वरवर्णिनि ।
गुरोर्दर्शनमात्रेण सर्वपापै प्रमुच्यते ॥६५३॥

गुरुं वा गुरुपुत्रं वा पत्नीं वा वरवर्णिनि ।
विलङ्घ्य यदि चार्वङ्गि ! गच्छेत् साधकसत्तमः ।
तत्क्षणात् चञ्चलापाङ्गि ! नरकं चोत्तरोत्तरम् ॥६५४॥

साक्षाद् वापि परोक्षे वा गुरोराज्ञां समाचरेत् ।
परोक्षे तदनुज्ञाया विधानं शृणु पार्वति ॥६५५॥

पूजाकाले तु चार्वङ्गि ! आगच्छेत् शिष्यमन्दिरे ।
गुरुर्वा गुरुपुत्रो वा तत्पत्नी वा महेश्वरि ॥६५६॥

तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत् स्वगुरुं प्रिये ।
यद्यप्यल्पं गुरुद्रव्यमदत्तं स्वीकरोति यः ।
तिरश्चां योनिमाप्नोति क्रव्यादैः भक्ष्यते सदा ॥६५७॥

सहस्रारे गुरोः पादपद्मं ध्यात्वा प्रपूज्य च ॥
स्तुत्वा च प्रीणयेदेवं मनसा ध्यानतत्परः ॥६५८॥

अथ प्रार्थनामन्त्रः -

ॐ विहितं विदधे नाथ ! विधेयं यत् कृपाकर ।
अविरुद्धं भवत्वत्र तत् त्वदीयप्रसादतः ॥
इति मन्त्रेण सम्प्रार्थ्य ततः कर्म समाचरेत् ॥६५९॥

महिषमर्दिनीतन्त्रे देवीं प्रति शिववाक्यम्-

दिव्यं वीरं च चार्वङ्गि ! पूर्वोक्तं बहुशः प्रिये ।
मानवस्य क्रमं देवि ! सङ्क्षेपात् कथयामि ते ॥६६०॥

गुरुश्च परमश्चैव परमेष्ठी परात्परः ।
स्वगुरुः परमेशानि साक्षाद् ब्रह्म न संशयः ॥६६१॥

तत्पिता परमगुरुः स्वयं विष्णुः क्षितौ सदा ।
तत्पिता परमेष्ठिस्तु स महेश्वर ईरितः ।
परब्रह्म महेशानि ! तत्पिता तु परात्परः ॥६६२॥

शान्तो मनोरमः सद्गुरुः सौम्यः ।

अत एव श्रीगुरुनमस्कारमन्त्रे—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर ।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम ॥६६३॥
अखण्डमण्डलाकार सर्वव्यापि सदाशिवम् ।
सर्वेषा सर्वद देव प्रणमामि पुन पुन ॥६६४॥
त्रिसन्ध्यं श्रीगुरो ध्यानं त्रिसन्ध्य पूजन गुरो ।
त्रिसन्ध्यं भावयेन् नित्य गुरुं परमकारणम् ॥६६५॥
गुरु विना वरारोहे ! न हि सिद्धि कदाचन ।
गुरु स्मृत्वा महेशानि ! दिवसे दिवसे नर. ॥६६६॥
पूजयेन्मानसै गंन्धै धूंपै दींपैस्तथोत्तमै ।
भक्ष्यै भोंज्यैस्तथा पेयै र्दधिदुग्धैरनेकधा ॥६६७॥
पनसै र्नारिकेलैश्च तथा रम्भाफलै प्रिये ।
अन्नै र्नानाविधै र्देवि पूजयेत् स्वगुरु प्रिये ॥६६८॥
गन्धै र्माल्यैश्च गिरिजे पूजयेद् भक्तित सदा ।
स्वर्णैश्च पट्टवस्त्रैश्च तथा कार्पाससम्भवै ॥६६९॥
अतिचित्रै र्विचित्रैश्च विविधैश्च मनोहरै ।
आसनै र्विविधै र्देवि रक्तकवलकैस्तथा ॥६७०॥
तथा नानाविधै र्द्रव्यै पूजयेत् स्वगुरुं प्रिये ।
तथैव गुरपत्नीं च पूजयेत् कुलनायिके ॥६७१॥
गुरुवद् गुरुपुत्रेषु गुरुवत् तत्सुतादिषु ।
तदभावे च तत्पत्नीं पुत्र वा पौत्रमर्चयेत् ॥६७२॥
तदभावे गुरो कन्या स्नुषा चापि प्रपूजयेत् ।
एषामभावे देवेशि ! गुरुगोत्र प्रपूजयेत् ॥६७३॥
गोत्राभावे वरारोहे तथा मातामहस्य च ।
मातुल मातुलानीं वा पूजयेद् विधिपूर्वकम् ॥६७४॥
यदि नो पूजयेद् देवि ! अनेन विधिना गुरुम् ।
प्रायश्चित्तीभवेद् देवि ! तत्क्षणादेव साधकः ॥६७५॥

काशीसमं महेशानि ! य पश्येद् गुरुमन्दिरम् ।
शिवतुल्यो भवेदेव तत्क्षणात् साधकाग्रणीः ॥६७६॥

यद् यदिष्टतम लोके साधकस्य शुचिस्मिते ।
तत्सर्वं गुरवे दद्यात् भक्त्या परमया युत ॥६७७॥

तदैव सहसा सिद्धि साधकस्य भवेद् ध्रुवम् ।
पूजाकाले यदा गच्छेद् गुरु शिष्यस्य मन्दिरम् ॥६७८॥

तदा पूजा परित्यज्य पूजयेत् स्वगुरु शिवे ।
देवतापूजनार्थं च यद्यत् पुष्पादिक भवेत् ॥६७९॥

तेन सम्पूज्य श्रीनाथ सिद्धो देवत्वमाप्नुयात् ।
गुरोरभावे तत्पूजामाज्ञाया सर्वथा चरेत् ॥६८०॥

मानसैरुपचारैश्च इति शास्त्रस्य निर्णय ।
गुरुपत्नीं महेशानि ! साक्षाद् देवीं विभावयेत् ॥६८१॥

गणेशसदृश देवि ! गुरुपुत्र विभावयेत् ।
गुरुमुद्दिश्य यद् दानमक्षय तद् भवेत् शिवे ॥६८२॥

गुरौ प्रीति समुद्दिश्य दानं कुर्यात् स्वशक्तित ।
गुरौ प्रीतिसमुत्पत्तौ देवता प्रीतिमाप्नुयात् ॥६८३॥

देवे तु प्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
गुरौ समीपे नो ब्रूयान् मिथ्या साधकसत्तम ।
गुरौ देवमयी मूर्ति वर्तते भुवि स्वेच्छया ॥६८४॥ इति ।

श्रीक्रमेऽपि-

उत्पादकब्रह्मदात्रो गरीयान् ब्रह्मद पिता ।
तस्मान्मन्येत सतत पितुरप्यधिकं गुरुम् ॥६८५॥

ज्ञानार्णवे-

गुरौ मनुष्यबुद्धि च मन्त्रे चाक्षरभावनाम् ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धि कुर्वाणो नरक व्रजेत् ॥६८६॥

जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नत ।
गुरुर्विशेषत पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शक ॥६८७॥
गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्मनु ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥६८८॥
गुरोर्हितं हि कर्तव्यं वाङ्मन कायकर्मभि ।
अहिताचरणाद् देवि ! विष्ठायां जायते कृमि ॥६८९॥
मन्त्रत्यागाद् भवेन्मृत्यु गुरुत्यागाद् दरिद्रता ।
गुरुमंत्रपरित्यागाद् रौरव नरक व्रजेत् ।
गुरुसेवापरो मन्त्री देवोपासनमाचरेत् ॥६९०॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्संग्रहे गुर्वाचारो नाम पचम पटल ॥५॥

षष्ठः पटलः ।

अथ क्रमप्राप्तोपास्ति लिख्यते ।
यच्च यामले कुलार्णवे च–

आभिरूप्याच्च बिंबस्य पूजायाश्च विशेषत ।
साधकस्य च विश्वासात् सान्निध्यं देवता भजेत् ॥६९१॥
गवा सर्पि शरीरस्थं न करोत्यात्मपोषणम् ।
सुकर्मरचितं दत्तं पुनस्ता एव पोषयेत् ॥६९२॥
एवं सर्वशरीरस्थो घृतवत् परमेश्वर ।
विना चोपासनाद् देवि ! न ददाति फलं नृणाम् ॥६९३॥
ध्यात स्मृत पूजितो वा नमितो वापि यत्नत. ।
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पूजितो यो विमुक्तिद ॥६९४॥ इति ।

नन्वित्यादिवाक्ये पूजादिकस्य चतुर्वर्गप्रदत्व समवति । पुनश्च ब्रह्मणो निर्गुणस्य केन कथ पूजादिक कार्यं शरीररहितत्वात् । तदेव केन प्रकारेण चतुर्वर्गफल दातु शक्यते इत्याशक्याह । सगुणनिर्गुणभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यम् ।
तदाह श्रीरामतापनीये कुलार्णवे च—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥६९५॥

चिन्मयस्य ज्ञानमयस्य । अद्वितीयस्यैकस्य ।

यदाह मार्कण्डेये-चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।

तच्च योगिनीहृदये स्वच्छन्दसग्रहे च-

तत्त्वातीत वरारोहे ! वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
निर्द्वन्द्व परम तत्त्वं शिवाख्य परमं पदम् ॥६९६॥ इति ।

गोपालतापनीये श्रुतिरपि-एकमेव पर ब्रह्म माययाभूच्चतुष्टयमिति ।
तथा च श्रुति -बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया ।
तथा च अग्निपुराणे-सकलो निष्कलो ज्ञेय सर्वज्ञ परमो हरि । इति ।
स्वच्छन्दसग्रहेऽपि-सकल निष्कल चापि नीरूप निर्विकल्पकम् । इति ।

एतदेव यामलेऽप्युक्तम्-

सगुणा निर्गुणा चेति महामाया द्विधा मता ।
सगुणा मायया युक्ता तया हीना तु निर्गुणा ॥६९७॥

निष्कलस्य कलया मायया रहितस्य । उपासकाना ज्ञानयोगरहितभक्तानाम् ।

भूतशुद्धौ-

निश्चलं परमं ब्रह्म कुत प्रकीर्तित सुखम् ।
निराकारं निरीह च रहितमिन्द्रियेण च ॥६९८॥

जन्मकर्मादिक तस्य ब्रह्मणो नास्ति भामिनि ।
जन्मकर्माणि सर्वाणि प्रकृते सन्ति भामिनि ! ॥६९९॥

तथा च लैङ्गे-

सर्वेषामेव मर्त्याना विभोर्दिव्य वपु शुभम् ।
सकलं भावनायोग्य योगिनामेव निष्कलम् ॥७००॥

योगिनां कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोगयुक्तानामित्यर्थ । मायार्थमुपकारार्थम् ।

तथा च भार्गवे-

साधूनामाश्रमस्थानां भक्तानां भक्तवत्सल ।
उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ॥७०१॥

एतादृशो ब्रह्मण स्वस्वरूपनाशकारणेति ।

तच्च बृहन्नारदीये-

भक्ताना मोक्षदानाय भवतो रूपकल्पना ॥७०२॥

अन्यदपि मार्कण्डेये श्रीसुमेधसो वाक्यम्-

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयता मम ॥७०३॥
देवाना कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा ।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते ॥७०४॥ इति ।

अत एव पु प्रकृत्योरभेद ।

तच्चअद्भुतरामायणे-

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति फलहेतवे ।
अभेदञ्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वदर्शिन ॥७०५॥ इति ।

तथा च शक्तिसङ्गमे-

तेज पुञ्जमयं देवि ! ब्रह्मरूपं सनातनम् ।
तेज पुञ्जादेव भूतं जगदेतच्चराचरम् ॥७०६॥
रामो जात शिवो देवि ! राजराजेश्वर शिव ।
श्री सैव सुन्दरी जाता विष्णु र्जातो महेश्वर ॥७०७॥
लक्ष्मीपति र्यो देवेशि ! स च वै पार्वतीपति ।
गौरीपति र्यो देवेशि ! स च लक्ष्मीपति प्रिये ॥७०८॥
उभयो र्व्यत्ययो देवि ! जात एव महेश्वरि ।
गौरीलक्ष्म्यो र्व्यत्यय हि एवमेव शृणु प्रिये ॥७०९॥
सीता चैव स्वयं गौरी लक्ष्मी श्रीकुलसुन्दरी ।
एवं जात महेशानि शिवरामात्मक जगत् ॥७१०॥
क्वचिच्च विष्णुवद्ध्येय क्वचिच्छैवात्मकं प्रिये ।
अत्रार्थे प्रत्ययो देवि ! शिवरामाद्वयं यत ॥७११॥
विष्णुध्यान शिवध्यान गौरीलक्ष्म्यो र्महेश्वरि ।
शिवरामात्मकं ज्ञान ब्रह्मरूप सनातनम् ॥७१२॥

उभयोरन्तरं देवि यः पश्यति स मूढधीः ।
तस्य नाशो भवत्येव नात्र कार्या विचारणा ॥७१३॥

तस्मात् साधकाना हितार्थाय ब्रह्मण पु स्त्रीरूपकल्पनेति ।

विष्णुयामले विष्णुवाक्य देवी प्रति–

मातस्त्वत्परमं रूप तन्न जानाति कश्चन ।
कालाद्या. स्थूलरूपं हि यदर्चन्ति दिवौकस ॥७१४॥
स्त्रीरूप वा स्मरेद् देवि पुरूपं वा स्मरेच्छिवे ।
स्मरेद् वा निष्कलं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥७१५॥ इति ।

स्तनयोन्याद्यवयवावच्छिन्नशरीर स्त्रीरूपावतार ।

यथा–

काली नीला महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तका ।
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा प्रत्यङ्गिरा पुन ॥७१६॥
कामाख्या वशिनी बाला मातङ्गी शैलवासिनी ।
इत्याद्या सकला विद्या सदा पूर्णफलप्रदा. ॥७१७॥

अन्यत्रापि–

तामाद्या केचिदाहुश्च लक्ष्मीं तामपरे जगु ।
भवानीं चापरे तद्वद् गिरिजेत्यम्बिकेति च ॥७१८॥
दुर्गेति भद्रकालीति चण्डी माहेश्वरी तथा ।
कौमारी वैष्णवी चेति वाराह्यैन्द्रीति चाऽपरे ॥७१९॥
ब्राह्मीति विद्याऽविद्येति मायेति च तथा परे ।
प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षय ॥७२०॥ इति ।

लिङ्गाद्यवयवावच्छिन्न पु रूपावतार । यथा ब्रह्मविष्णुशिवादय ।

एवम्–

मत्स्य कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्ध कल्की च ते दश ॥७२१॥

ननु सवन्तु गृहस्थैरनुपास्य फनाजमकत्वात् । यत,–'गृहस्थानां च सर्वेषां ब्रह्म वै ब्रह्मचारिणामिति । सर्वेषामित्युपादानात् शिवविष्णुदुर्गादीनामुपासना कार्या ।

तया च कौर्मे–

मानुपाणामुमादेवी तथा विष्णुस्तथा शिव ।
यो यस्याभिमत पुस सा हि तस्यैव देवता ।
किन्तु कार्याविशेषेण पूजिता स्वेष्टदा नृणाम् ॥७२२॥

यामले शिववाक्यम्–

एक प्रशसमानेन सर्वे देवा· प्रशसिता ।
एकं विनिन्दमानो य सर्वानेव विनिन्दति ॥७२३॥ इति ।

ईश्वरस्य प्रशसाया न सुख नि दाया न दु खम् । षड्र्मिरहितत्वात् । किन्तु निन्दकस्य नरकमेव ।

तथा चोक्त यामले–

देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत् ।
भेदकृन्नरक याति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥७२४॥ इति ।

वाराहेऽपि–

यथा दुर्गा तथा विष्णु र्यथा विष्णुस्तथा शिव ।
एतत् त्रय त्वेकमेव न पृथग्भावयेत् सुधी ॥७२५॥

योऽन्यथा भावयेद् देवान् पक्षपातेन मूढधी ।
स याति नरक घोर रौरवं पापपूरुष ॥७२६॥

यामले–

ध्यानगम्य प्रपश्यन्ति रुचिभेदात् पृथग्धिय ।

तन्त्रान्तरे–

एकैव हि महामाया नामभेदसमाश्रिता ।
विमोहनाय लोकाना तस्मात् सर्वमयो भवेत् ।
सदसद्व्यापिनी शक्ति पराप्रकृतिरीश्वरी ॥७२७॥ इति ।

प्रकृतिशब्दार्थस्तु प्रकृतिखण्डे–

प्रकृष्टवाचक प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृति सा प्रकीर्तिता ॥७२८॥

गुणे सत्त्वे प्रकृष्टे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ ।
मध्यमः कृश्च रजसि तिशान्ते तमसि स्मृतः ॥७२९॥

त्रिगुणात्मस्वरूपत्वात् प्रकृति कथ्यते श्रुतौ ।
प्रधाना सृष्टिकरणे सर्वशक्तिसमन्विता ॥७३०॥

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधा रूपा बभूव सा ।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता ॥७३१॥

सा च ब्रह्मस्वरूपा स्यान्नित्या सा च सनातनी ।
यथात्मा च तथा शक्ति र्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥७३२॥

अत एव हि योगीन्द्रा स्त्रीपुंभेदं न मन्वते ।
सर्वं ब्रह्ममय विश्वं ब्रह्म सा तत्र नारद ॥७३३॥

स्वेच्छामयस्य देवस्य परमात्मसिसृक्षया ।
आविर्बभूव सहसा मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥३४॥

साऽपि पञ्चविधा भूता सृष्टिकर्मविभेदिका ।
गणेशजननी दुर्गा शिवरूपा शिवप्रिया ॥७३५॥

नारायणी विष्णुमाया पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी ।
सुखमोक्षहर्षदात्री दुःखशोकार्तिनाशिनी ॥७३६॥

वाग्बुद्धिविद्याज्ञानाधिदेवता परमात्मन ।
सर्वविद्यास्वरूपा च तृतीया च सरस्वती ॥७३७॥

माता चतुर्णां वेदाना वेदाङ्गाना च छन्दसाम् ।
पवित्ररूपा गायत्री सावित्री ब्रह्मण प्रिया ॥७३८॥

देवी चतुर्थी कथिता पंचमीं वर्णयामि ते ।
गोलोकवासिनी देवी गोपीवेषविधायिका ॥७३९॥

अथ विद्याक्रम शक्तिसङ्गमे-

काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी बगला रमा ।
मातङ्गी भुवना सिद्धविद्या च भैरवी तथा ॥७४०॥

धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृता ।
चण्डेश्वरी लघुश्यामा तथा त्रिपुरनायिका ॥७४१॥

त्रयोदश महाविद्या शृणुष्व षोडशीं प्रिये ।
दशपूर्वाश्च संगृह्य जयदुर्गा च शूलिनी ॥७४२॥

अश्वारूढा महाविद्या त्रैलोक्यविजयाभिधा ।
वाराही अन्नपूर्णा च कलासंख्या प्रकीर्तिता ॥७४३॥

अथ विद्याना भैरवा-

कालिकाया महाकाल' सुन्दर्या ललितेश्वर ।
तारायाश्च तथाऽक्षोभ्य छिन्नाया क्रोधभैरव ॥७४४॥

भुवनाया महादेवो धूमाया कालभैरव ।
नारायणो महालक्ष्म्या भैरव्या वटुक स्मृत ॥७४५॥

मातंग्याश्च मतङ्ग स्यादथवा स्यात् सदाशिवः ।
मृत्युञ्जयस्तु वगलाविद्याया परिकीर्त्तित ॥७४६॥

अथ [1]विद्याना प्रादुर्भाव, तत्रादौ कालीप्रादुर्भाव शक्तिसङ्गमे-

युगादिसमये देवि ! यथायोगेन साम्प्रतम् ।
आदिनाथ गुणातीतं काल्या संयुतमीश्वरम् ॥७४७॥

विपरीतरतं देवं सामरस्यपरायणम् ।
पूजार्थमागता देवा गन्धर्वाप्सरसा गणा ॥७४८॥

वन्दित प्राह देवेश सुन्दरीं प्राणवल्लभे ! ।
त्रैलोक्यसुन्दरि ! प्राणस्वामिनि ! प्राणरञ्जिनि ।
किमागत भवत्याद्य मम भाग्योदयो महान् ॥७४९॥

आदिशक्तय ऊचु -

सहारात् तारित देव !'त्वया विश्वं जनप्रिय ।
सृष्टेरारम्भकार्यार्थमुद्युक्तोऽसि महेश्वर ॥७५०॥

---

१ दशमहाविद्याना प्रादुर्भाव शक्तिसङ्गमे, सविस्तर निरूपित ।

तव सामरसानन्ददर्शनार्थं समागता ।
वर्तते तव देवेश ! चास्माक सौख्यसागरः ॥७५१॥
एवं श्रुत्वा महादेवो ध्यानावस्थितमानस ।
ध्यानं हित्वा महादेव प्रोवाच कालिकां प्रति ॥७५२॥
कालि ! कालि ! मुण्डमालाप्रिये भैरवनादिनि ।
शिवारूपधरे घोरे घोरदंष्ट्रे भयानके ॥७५३॥
त्रैलोक्यभक्षणकरि सुन्दर्य सन्ति तेऽग्रत ।
सुन्दरीवीक्षणं कर्म कुरु कालप्रिये शिवे ॥७५४॥
ध्यान मुञ्च महादेवि ता गच्छन्ति गृह प्रति ।
इति श्रुत्वा कालिका तु तत्रैवान्तरधीयत ॥७५५॥
त्रिशन्निखर्वषड्वृन्दनवत्यर्बुदकोटय ।
दर्शनार्थं तपस्तेपे सा वै कुत्र गता प्रिया ॥७५६॥
देव्या कृपा तदा जाता मम ध्यानपर शिव ।
यन्त्रप्रस्तारबुद्धिस्तु शिवे जाता हि सत्वरम् ॥७५७॥
श्रीचक्रराजप्रस्ताररचनाभ्यासतत्पर ।
इतस्ततो भ्राम्यमाणस्त्रैलोक्य चक्रमध्यगम् ॥७५८॥
वीक्ष्य विभ्रमचित्तोऽभूच्चिन्ताविष्ट सदाशिव ।
चक्रपारदर्शनार्थं कोट्यर्बुदयुग गतम् ॥७५९॥
भक्तप्राणप्रिया देवी महाश्रीचक्रनायिका ।
तत्र विन्दौ पर रूपं सुन्दर सुमनोहरम् ॥७६०॥
रूप जात महेशानि जाग्रत्त्रिपुरसुन्दरी ।
रूप दृष्ट्वा महादेवो राजराजेश्वरोऽभवत् ॥७६१॥
तस्या कटाक्षमात्रेण तस्या रूपधर शिव ।
महानिशासु सञ्जाता भक्तिगम्या कुलेश्वरी ॥७६२॥ इति ।

अथ सुन्दरीप्रादुर्भाव –

एकस्मिन् समये पूर्वं ब्रह्मरूप सदाशिव ।
राजराजेश्वरी काली कोटिब्रह्माण्डनायिका ॥७६३॥

देवानुग्रहणार्थाय मानारूपं वितन्वती ।
सद्ब्रह्मभावना कृत्वा पूर्वं परशिवः स्थित ॥७६४॥
सर्वं संहारकं कर्म कृत्वा कुण्डं विधाय च ।
चिदग्निकुण्डसम्भूत सुन्दर सद्गुणोत्तरम् ॥७६५॥
रूपं जात महेशानि महारात्रिदिने शिवे ।
अवन्त्या जातमेतद्धि कालीरूप गुणोत्तरम् ॥७६६॥
प्रथमा कादिविद्या च हादिविद्या द्वितीयका ।
सर्वा अपि महाविद्या एकरूपा निरन्तरा ॥७६७॥ इति ।

अथ ताराप्रादुर्भाव –

नष्टे ब्रह्माण्डगोले तु नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
तत्र जज्ञे स्वय विष्णुश्चतुर्भुजसमन्वित ॥७६८॥
तस्य नाभौ तदा ब्रह्मा जज्ञे देवश्चतुर्मुख ।
ललाटदेशात् तस्यैव रुद्रो जज्ञे स्वय हरे ॥७६९॥
ब्रह्मा पप्रच्छ देवेश विष्णु त्रिभुवनेश्वरम् ।
का विद्या च समाराध्य चतुर्वेदो निगद्यते ॥७७०॥
एव वै ब्रह्मणा पृष्टो विष्णु पप्रच्छ शकरम् ।
कथयामास देवेशो महानीलसरस्वतीम् ॥७७१॥
मेरो पश्चिमकूले च चोलनाममहाह्रद ।
तत्र जज्ञे स्वय देवी माता नीलसरस्वती ॥७७२॥
एतस्मिन्नेव काले तु मेरुशृङ्गपरायण ।
जपयज्ञं समासाद्य त्रियुग तपसि स्थित ॥७७३॥
ममोर्ध्ववक्त्रान्निसृत्य तेजोराशिस्तदा हरे ।
ह्रदे चोले निपत्यैव नीलवर्णोऽभवत् पुरा ॥७७४॥
ह्रदस्य चोत्तरे भागे ऋषिरेको महत्तर ।
अक्षोभ्यनाम चाश्रित्य मुनिवेषधर॰ शिव ॥७७५॥
येनादौ जप्यते या तु स तस्य ऋषिरीरित ।
विश्वव्यापकतोये तु चीनदेशे स्वय शिवा ॥७७६॥

अकारोपरि टकारस्तत्रोपरि च हूंकृति ।
कूर्चबीजस्वरूपा सा प्रत्यालीढपदाऽभवत् ।
महोग्रतारा सञ्जाता चित्प्रभा श्रीमहाकला ॥७७७॥ इति ।

अथास्या अङ्गभेदा –

आदौ तु स्पर्शतारा स्यात् ततश्चिन्तामणिः स्मृत ।
ततः सिद्धिजटा प्रोक्ता उग्रतारा तत परम् ॥७७८॥

हंसतारा ततो देवि ! निर्वाणरूपिणी कला ।
महानीला महेशानि नीलशाम्भवरूपिणी ॥७७९॥

महानीलोत्तर देवि पूर्वसम्राट्लय शिवे ।
एवमन्येऽपि कथ्यन्ते रहस्यान्यपि पार्वति ॥७८०॥

वटुक क्षेत्रपश्चैव गणपो योगिनी तथा ।
अक्षोभ्यो विजया वह्निस्तथैव चण्डघण्टिका ॥७८१॥

श्रीषोढापञ्चक देवि ! कामसोमादयस्तथा ।
कुल्लुका पञ्चक देवि तथार्द्धपटिका मता ॥७८२॥

शिवं घोर पाशुपत चक्र तु जयदुर्गकम् ।
अमोघफलदा यक्षी तथा पद्मावती शिवे ॥७८३॥

उद्भटाम्बा बौद्धनाथ पार्श्वनाथस्तथैव च ।
तारिणी यक्षिणी प्रोक्ता मञ्जुघोषो महेश्वर ॥७८४॥

प्रत्यङ्गिरा नारसिंही भैरवाष्टकमेव च ।
पंचकल्पलतामन्त्रा सर्वकामफलप्रदा ॥७८५॥

रक्तचामुण्डिका नित्यक्लिन्नाविद्या तथैव च ।
राजवश्यकरा मन्त्रास्तथाऽन्ये खड्गजादयः ॥७८६॥

लुलायखरशार्दूलकपिवश्यकरास्तथा ।
धनुर्विद्या शस्त्रविद्या जलाग्निस्तम्भिनी तथा ।

अथ छिन्नाप्रादुर्भाव –

शृणु देवि ! महाभागे ! छिन्नाया सम्भवं शुभम् ।
पुरा देवि युगादौ तु कैलासे पर्वतोत्तमे ॥७८८॥
मया सह महामाया शृङ्गारे तत्परा ह्यभूत् ।
ममोपरि समासाद्य वीतरागरता ह्यभूत् ॥७८९॥
शुक्रोत्सरणकाले तु चण्डमूर्त्तिरभूत्तदा ।
उत्सृज्य शुक्रमात्मीयं बहिर्देशं गता तदा ॥७९०॥
एतस्मिन्नेव काले तु सख्यौ तस्या बभूवतु ।
तस्या शरीरसम्भूते द्वे शक्ती शुभदायिके ॥७९१॥
डाकिनी वर्णिनी देवि ! सर्वशक्तिसमन्विते ।
सख्यौ सा समुपालम्य चण्डदेवी महोदया ॥७९२॥
साधूना च हितार्थाय दुष्टाना च वधाय च ।
पुष्पभद्रानदीतीरे जगाम चण्डनायिका ॥७९३॥
उष काले तदा तत्र मज्जनं सा समाकरोत् ।
वर्णिनी डाकिनी तस्या मज्जन ते प्रचक्रतुः ॥७९४॥
मध्याह्नसमये तत्र क्षुधायुक्ते बभूवतु ।
चण्डिका प्रच्छतस्ते तु भक्षण परिकल्पय ॥७९५॥
तयोस्तद्वचन श्रुत्वा रहस्य चण्डिका शुभा ।
चिच्छेद निजमूर्धान निरीक्ष्य सकल जगत् ॥७९६॥
वामनाड्या गलद्रक्तं डाकिनीं पर्यतोषयत् ।
दक्षिणाद् वर्णिनीं देवीं पाययद् रक्तमात्मन ॥७९७॥
ग्रीवामूलगलद्रक्तै मस्तक पर्यतोषयत् ।
एव क्रीडा तदा कृत्वा सन्ध्याया गृहमागता ॥७९८॥
आदाय निजमूर्धान कबन्धोपरि पार्वती ।
निजमूर्त्ति समासाद्य या पुरा परिकीर्तिता ।
वीररात्रिदिने जाता दिनान्ते परमा कला ॥७९९॥ इति ।

अथ अङ्गभेदा –

गुरुमन्त्रो मालिनी च कुल्लुकापञ्चकं तथा ।
काली तारा च नकुली मातङ्गी सिद्धिसुन्दरी ॥८००॥

त्रिजटैकजटा श्यामा सभेदा चैव पार्वती ।
विकटा लम्पटा देवी यक्षिणी परिकीर्तिता ॥८०१॥

यक्षस्तु भ्रामको देवि ! दीपिनी परिकीर्तिता ।
दीपिनीकालिकायास्तु गणेशादिचतुष्ककम् ॥८०२॥

वटुकश्च महाकालो क्रोधराजोऽपरोऽपि च ।
पार्श्वमण्डलकं देवि ! महामहिषमर्दिनी ।
भवानी कमलाऽघोरचतुष्कं परमेश्वरी ॥८०३॥ इति ।

अथ षोडशीप्रादुर्भाव –

एकस्मिन् समये देवि ! द्वे शक्ती समुपस्थिते ।
प्रपञ्चमूलो हि शिव. काल्यत्र मम संवद ॥७०४॥

द्वितीयवाक्येऽपि तथा घोरद्र ष्ट्रेति संवद ।
तृतीयवाक्ये देवेशि ! द्वितीया सुन्दरीं प्रति ॥८०५॥

त्रैलोक्यसुन्दरि प्राणप्रिये ममस्वरूपिणि ।
इत्युक्ते दक्षिणा देवी ब्रह्मरूपाऽथ चण्डिका ॥८०६॥

आदिशक्ति पूर्वरूपा क्रोधाक्रान्ता बभूव ह ।
तदैव सुन्दरीरुप सौभाग्यार्णवक परम् ॥८०७॥

राजराजेश्वरीरूपं बिभ्रती परमेश्वरी ।
तदा परशिव शभु विस्मयाञ्चितलोचन ॥८०८॥

महाप्रपञ्चरूपा च कोटिब्रह्माण्डनायिका ।
प्रकर्षेण तु पञ्चाना सयोगो युगपद् भवेत् ॥८०९॥

प्रपञ्चेशीति सा प्रोक्ता सुन्दर्यां च प्रपञ्चता ।
श्रीषोडशी तदा जाता महासाम्राज्यदायिनी ॥८१०॥

इति सत्य परं प्रोक्त मोहरात्रिसमुद्भवा ।
महानिशामुखे जाता श्रीविद्या परमा कला ।
शिवकाञ्च्या च श्रीशैले जाता श्रीत्रिपुराम्बिका ॥८११॥

ब्रह्माण्डपुराणे तु–

पुरा भण्डासुरो नाम सर्वदैत्यशिखामणि ।
विशुक्रश्च विषङ्गश्च भ्रातरौ द्वौ बभूवतु ॥८१२॥
शौर्यवीर्यश्रियोन्नद्धौ ब्रह्माण्डक्षयकारकौ ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च दृष्ट्वा त दीप्ततेजसम् ॥८१३॥
पलायनपरा सन्त स्वे स्वे धाम्नि सदा वसन् ।
भ्रष्टाधिकारात्त्रिदशा यक्षा सिद्धादयस्तथा ॥८१४॥
केचित् पातालगर्भस्था केचिदम्बुधिवारिषु ।
एतस्मिन्नन्तरे ज्ञात्वा चराचरनिवासिनी ॥८१५॥
या देवी परमा शक्ति परब्रह्मस्वरूपिणी ।
चिदग्निकुण्डात् सम्भूता इन्द्रप्रस्थे महामखे ।
जघान भण्ड दैत्येन्द्र युद्धे युद्धविशारदा ॥७१६॥ इति ।

अथास्या [1]अङ्गभेदा –

अश्वारूढा महादेवी सम्पत्कर्षा तथैव च ।
श्रीतिरस्करिणी चैव दण्डिनी मन्त्रनायिका ॥८१७॥
बाला च परमेशानी नकुली कुरुकुल्लका ।
ताराम्बिका कामकला नित्याषोडशक तथा ॥८१८॥
विद्या तुरीया देवेशि ! रश्मिविद्या तथैव च ।
नवचक्रेश्वरी देवी परिवारगणै सह ॥८१९॥
चतुश्चरणविद्या च तथैव पञ्चपञ्चिका ।
षडासनमहाविद्या पञ्चैव समयाम्बिका ॥८२०॥
ऊर्ध्वाम्नायपराविद्याऽनुत्तराम्नायदेवता ।
परार्द्धाधिकसख्याता परिवारा महेश्वरि ॥८२१॥

१ शक्तिसङ्गमे ।

अथ वगलामुखीप्रादुर्भावस्तत्रैव-

पुरा कृतयुगे देवि ! वातक्षोभ उपस्थिते ।
चराचरविनाशश्च सजलं ब्रह्मगोलकम् ॥८२२॥
दृष्ट्वा तु देवदेवेशि ! विष्णुश्चिन्तापरायण. ।
हरिद्राख्ये सिद्धिकुण्डे तपोऽर्थं च मनो दधे ॥८२३॥
स्वयं पीतेश्वरो भूत्वा जपध्यानपरायण ।
सप्तार्बुदयुग देवि श्रीविद्यापूजने रत ॥८२४॥
तपसा तेन सन्तुष्टा श्रीविद्या त्रिपुराम्बिका ।
हरिद्राख्यं सरो दृष्ट्वा जलक्रीडनतत्परा ॥८२५॥
महापीतह्रदाख्यो हि जागर्त्ति वसुधातले ।
सौराष्ट्रदेशे जागर्त्ति तत्रस्था वगलाम्बिका ॥८२६॥
श्रीविद्यासम्भवं तेजो व्यजृम्भत इतस्तत ।
चतुर्दशी भौमयुता मकरार्कसमन्विता ॥८२७॥
कुलर्क्षयोगे संजाता वीररात्रीति सा मता ।
तस्यामेवार्धरात्रौ तु पीतह्रदनिवासिनी ॥८२८॥
ब्रह्मास्त्रविद्या सञ्जाता त्रैलोक्यस्तम्भिनी परा ।
तत्तेजो विष्णुजं तेज प्रतिबिम्बप्रयोगत ॥८२९॥
स्तम्भनाख्यो महाबाणस्तत्रोत्पन्नो महेश्वरि ! ।
चतुर्दशी भृगुयुता कुम्भसङ्क्रान्तिसयुता ॥८३०॥
शिवऋक्षसमायुक्ता महानिशीथिनी कला ।
शिवरात्रि समाख्याता धर्मकर्मसु पुण्यदा ॥८३१॥

अथास्या मङ्गभेदा -

मृत्युञ्जयश्च वटुकस्तथोत्कीलनदेवता ।
पञ्चास्त्रविद्या देवेशि कुल्लुकापञ्चकं तथा ॥८३२॥
तथाऽपराजिता श्यामा चाण्डाली च हरिद्रक ।
विडालपक्षिणीदेवी स्तम्भनस्त्वरिता तथा ॥८३३॥

स्वप्नेश्वरी चैकजिह्वा मन्त्राऽन्ये भैरवादय ।
गणपाद्याश्च मनवो भिन्नरूपेण सन्ति ये ॥८३४॥ इति ।

अथ महालक्ष्मीप्रादुर्भाव –

सम्प्राप्ते फाल्गुने मासि कृष्णैकादशिका तथा ।
भृगुवारयुता देव्यचलारात्रिरीरिता ।
महालक्ष्मी तदा जाता सर्वसौभाग्यदायिनी ॥८३५॥

लक्ष्मीप्रादुर्भाव –

क्षीरोदमथनाज्जाता जगत्सौभाग्यरूपिणी ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थं सा विष्णुवक्ष स्थलस्थिता ॥८३६॥

कृष्णाष्टम्या भाद्रपदे कोलासुरनिकृन्तनी ।
एतत्तिथौ समुत्पन्ना महामातङ्गिनी कला ॥८३७॥

अथाङ्गभेदा –

महालक्ष्म्यङ्गमन्त्राश्च श्रीविष्णु गणपोऽण्डज ।
धनदा च कुबेरश्च निधिमन्त्रा अपि प्रिये ॥८३८॥

विद्याभेदाश्च देवेशि ! भुवना वज्ररूपिणी ।
विद्या भोगवती देवि ! लक्ष्मीनारायण पर ।
कामाक्षी धनराज्ञीति लक्ष्म्यङ्गदेवता स्मृता ॥८३९॥इति ।

अथ मातङ्गीप्रादुर्भाव –

पुरा कदम्बविपिने नानापक्षिसमाकुले ।
अतिक्रूरविभूतीना वश्यार्थं परमेश्वरि ॥८४०॥

मतङ्गाख्यो मुनिर्देवि ! कदम्बारण्यमध्यग ।
दशवर्षसहस्राणि तपस्तेपे निरन्तरम् ॥८४१॥

तत्र तेज समुत्पन्न सुन्दरीनेत्रत शिवे ।
तेजोराशिरभूत्तत्र तत्र श्रीकालिकाम्बिका ।
श्यामल रूपमास्थाय राजमातङ्गिनी ह्यभूत् ॥८४२॥

अथोच्छिष्टमातङ्गी-

सुधासिन्धुशयानं वै हरिं परमदैवतम् ।
श्यामादेवीसमायुक्त शेषपर्यङ्कशायिनम् ॥८४३॥
तत्र जातौ महात्मानावुभौ नारदतुम्बुरू ।
प्रणम्याञ्जलिबन्धेन रमानाथमपृच्छताम् ।
नारायण महादेव गीतज्ञानं वद प्रभो ! ॥८४४॥

श्रीनारायण उवाच-

एकस्मिन् समये पूर्वं गतोऽहं शङ्करं प्रति ।
तत्र व्याघ्रासनासीन पार्वत्या सह शङ्कर ॥८४५॥
जय देव ! महादेव ! उमासहितशङ्कर ।
इत्थमाकर्ण्य च शिव समुत्थाय च सादरम् ॥८४६॥
समालिलिङ्ग मा शम्भु पार्वत्यालिङ्गितत्प्रिया ।
विचित्रमासन दत्तं निविष्टोऽह श्रिया सह ॥८४७॥
तत्र दृष्ट महाचक्र मारीचगणसकुलम् ।
अनेकरससयुक्तं विविधास्वादनं युतम् ॥८४८॥
सामरस्यं तदा जातमुच्छिष्ट गलितं तदा ।
अनेकगुणसम्पन्ना तत्रोत्पन्ना कुमारिका ॥८४९॥
उच्छिष्ट देहि देहीति पार्वत्या शङ्करेण च ।
भाषमाणा ददौ प्रीत पार्वत्या सह शङ्कर ॥८५०॥
दत्तोच्छिष्टमूचतुस्तौ शृणु त्वमावयोर्गिरम् ।
अनेकगुणसम्पन्ने सुशीलेऽत्त कुमारिके ! ॥८५१॥
त्वा यजन्ति च ये कन्ये जपहोमार्चनादिभि ।
तेषा कर्माणि सेत्स्यन्ति वश्यादिकमभीप्सितम् ॥८५२॥
तदा प्रभृति चोच्छिष्टा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
अनेकगुणसम्पन्ना साधकानां वरप्रदा ॥८५३॥
श्रुत्वा तद्वचन सा च मारीचगणसवृता ।
सस्मिता शिवयोरग्रे साञ्जलि हृष्टमानसा ॥८५४॥

तदा प्रभृति विप्रेन्द्रकन्या शर्वोऽन्यवेदयत् ।
गीत नृत्यं च वाद्य च कलाकौशलमप्यथ ॥८५५॥

नानारूपाणि चाङ्गानि दर्शितानीह पार्वती ।
तदा प्रभृति नाम्ना सा जातोच्छिष्टमतङ्गिनी ।
सैव श्रीसुमुखी जाता सिद्धिविद्या महेश्वरी ॥८५६॥ इति ।

अथाङ्गभेदा –

मातङ्ग्या अङ्गमन्त्राश्च नकुली च सरस्वती ।
मातङ्गी पादुका देवि ! लघुश्यामा च कामिनी ॥८५७॥

वीरभद्रो मतङ्गश्च प्रमदा मोहिनी परा ।
भोगेशयक्ष सम्प्रोक्तो देवि ! गुप्ततमो मनु ॥८५८॥

अथ सिद्धमातङ्ग्या अङ्गभेदा –

पुलिन्दिनी भैरवश्च उच्छिष्टगणपस्तथा ।
पिशाचगणपो देवि ! उच्छिष्टभैरवोऽपर ॥८५९॥

मातङ्गी नकुली रत्नविद्या वाग्वादिनी तथा ।
महामधुमती देवि ! तथा कर्णपिशाचिनी ॥८६०॥

एकवीरा च त्वरिता घण्टाकर्णो निशाचर ।
अघोर कुल्लुकाना च पञ्चक परिकीर्तितम् ॥८६१॥ इति ।

अथ भुवनेश्वरीप्रादुर्भाव –

अथ श्रीभुवना वक्ष्ये त्रैलोक्योत्पत्तिमातृकाम् ।
पुरा कृतयुगस्यादौ ब्रह्मा क्रूरतपोवृत ॥८६२॥

तपसा तस्य सन्तुष्टा सृष्टिशक्ति महेश्वरी ।
विश्व जागर्त्ति यद् योनौ यत्रैव लयमेष्यति ॥८६३॥

चैत्रमासे शुक्लपक्षे नवम्या तारिणी कला ।
समुत्पन्ना महेशानि ! क्रोधरात्रिरिति स्मृता ।
सृष्ट्युत्पादनकार्यार्थमुत्पन्ना परमेश्वरी ॥८६४॥

अथाङ्गभेदा -

अङ्गमन्त्रान् प्रवक्ष्यामि भुवनाया शृणु प्रिये ।
शिव शिवा विधाता च त्रिपुटा वटुकस्तथा ॥८६५॥

कुल्लुकापञ्चक देवि पञ्चायतनमेव च ।
गौरी श्रीरञ्जिनीमन्त्रो विद्याभेदा' सशक्तय ॥८६६॥

लोकपालादिमनवो वाणीमन्त्रास्तथा प्रिये [1] ।
हयग्रीव पिङ्गली च खड्गरावण एव च ॥८६७॥

अथ धूमावतीप्रादुर्भाव -

एकस्मिन्नेव काले तु महासंहारचञ्चला ।
दक्षप्रजापते यंज्ञे सती देहसमुद्भवात् ॥८६८॥

धूमाद् धूमावती जाता मुखात् कालमुखी मता ।
तद्धूमसम्भवा विद्या सर्वशत्रुविनाशिनी ॥८६९॥

धूमावती तथा जाता भक्तानुग्रहकाक्षया ।
प्राप्तेऽक्षयतृतीयाया भौमवारे निशामुखे ॥८७०॥ इति ।

अथाङ्गभेदा -

धूमावत्यङ्गमन्त्राश्च वीरेशो वटुक शिवे ।
प्रत्यङ्गिरा च शरभस्तथा पाशुपतो मनु ॥८७१॥

संहारास्त्र च ककुदी तथा कर्कटिका शिवे ।
मारिणी त्वरिता विद्या कुल्लुकापञ्चकं शिवे ॥८७२॥ इति ।

अथ गणेशप्रादुर्भाव -

भाद्रे मासि चतुर्थ्यां तु गणेशोत्पत्तिरीरिता ॥८७३॥ इति ।

श्रीमद्विष्णो शिवस्याप्याविर्भावस्तत्तत्पुराणे प्रसिद्धत्वात् नात्र लिखित ।

अथ पुम्प्रकृत्योरभेदकरमागमे शिववाक्यम्-

कदाचिदाद्या ललिता पुरुषा कृष्णविग्रहा ।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवश जगत् ॥८७४॥

कदाचिदाद्या श्रीतारा पुरुषा रामविग्रहा ।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता ॥८७५॥

छिन्नमस्ता नृसिंह स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्यात् मीनो धूमावती भवेत् ॥८७६॥

वगला कूर्ममूर्त्ति स्याद् वलभद्रस्तु भैरवी ।
महालक्ष्मी भवेद् बौद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥८७७॥ इति ।

एव विज्ञाय मतिमान् भेदभावविवर्जित ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा भावयेदिष्टमात्मन' ॥८७८॥

प्रवृत्ति मार्गमाणस्तु दीक्षादेशेन पूजयेत् ।
निवृत्ति मार्गमाणस्तु भेदवादं विवर्जयेत् ॥८७९॥ इति ।

सर्वशक्तिमयत्वाच्च शक्ति सेव्या विचक्षणै ।
सर्वेषा फलदाने च शक्तेरेव प्रधानता ॥८८०॥ इति ।

यदुक्त श्रीस्वामिचरणै –

'त्रयाणा देवाना त्रिगुणजनिताना परशिवे !
भवेत् पूजा, पूजा तव चरणयो र्या विरचिता' ॥८८१॥ इति ।

तथोक्त देवीपुराणे–

विष्णुपूजासहस्राणि शिवपूजाशतानि च ।
अम्बिकाचरणार्चाया कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥८८२॥ इति ।

अतोऽशेषमूलत्वात् कोमलान्त करणत्वात् भुक्तिमुक्तिदातृत्वाच्च शक्तिरेव सर्वार्थसाधिकोपास्या चेति । अन्यदुपासनाया वहुतरकायक्लेशेनापि मुक्तिमात्रम् ।

तदुक्त समयातन्त्रे–

कदाचित् कस्यचिद् भुक्ति कदाचिन्मुक्तिरेव च ।
एतस्या साधकस्याऽथ भुक्ति र्मुक्ति करे स्थिता ॥८८३॥

रुद्रयामलेऽपि–

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोग ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकस्य भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥८८४॥

योऽन्येभ्यो दर्शनेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिं च काङ्क्षति ।
स्वप्नलब्धधनेनैव धनवान् किं भवेद् हि स ॥८८५॥
शुक्तौ रजतविभ्रान्तिं यथा जायेत पार्वति ।
तथान्यसमयेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिं च काङ्क्षति ॥८८६॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे गुर्वाचारादि पुम्प्रकृत्योरभेदभावना त कथन नाम षष्ठ पटल ॥ ६ ॥

सप्तमः पटलः ।

एव सद्भावमापन्नो मन्त्राराधनमाचरेत् ।

तत्प्रथमत प्रात कृत्यमेव निरूप्यते । यदकरणे दोषमाह यामले–

प्रातःकृत्यमकृत्वा तु यो देव भक्तितोऽर्चयेत् ।
तस्य पूजा तु विफला शौचहीना यथा क्रिया ॥८८७॥

अत –

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय चिन्तयेद् गुरुदैवतम् ।
स्वमूर्धनि सहस्रारे शिवाख्यपुरबिन्दुके ॥८८८॥ इति ।

ब्राह्ममुहूर्त्तमाह यामले–

द्वौ दण्डौ रात्रिशेषे तु मुहूर्त्तं ब्राह्मक विदु ॥८८९॥ इति ।

गुरुध्यानञ्च तत्रैव–

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय कृत्वा शौचादिकं सुधी ।
परिधायाम्बरं शुद्ध मन्त्रस्नान समाचरेत् ॥८९०॥

मन्त्रस्नान यथा यामले–

प्राणायामप्रयोगेन चिन्तयेन्मूलमात्मन ।
मन्त्रदैवतयोरैक्य मन्त्रस्नान विदु बुधा ॥८९१॥

तद्यथा–

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
तयोरन्तर्गता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥८९२॥

ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषसमाकुले ।
य स्नाति मानसे तीर्थे तस्य जन्म न विद्यते ।
इद मानसिक स्नान प्रोक्तं हरिहरादिभि. ॥८९३॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

स्मृत्युक्तेन विधानेन सम्यक् शौचं विधाय च ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य कृत्वा न्यास यतात्मवान् ॥८९४॥
प्रविश्य देवतास्थानं निर्माल्यमपकृष्य च ।
दद्यात् पुष्पाञ्जलिं विद्वानर्घ्यपाद्ये तथैव च ॥८९५॥
मुखप्रक्षालन दद्यात् दद्याद् वै दन्तधावनम् ।
दद्यादाचमनीयं च दद्याद् वासोऽमल शुभम् ॥८९६॥
नमस्कृत्यासने शुद्धे उपविश्य गुरु स्मरेत् ।
शिरस्थशुक्लपद्मस्थ प्रसन्न द्विभुजाक्षिकम् ॥८९७॥
शशाङ्कामृतसङ्काश वराभयलसत्करम् ।
शुक्लाम्बरधर श्रीमच्छुक्लमाल्यानुलेपनम् ॥८९८॥
वामोरौ रक्तशक्त्या च युत पद्मकरस्थया ।
एव ध्यात्वा पुनश्चैन पञ्चभूतमयैर्यजेत् ॥८९९॥
गन्धतत्त्व पार्थिवस्य कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगतः ।
खमय च महापुष्प तर्जन्यङ्गुष्ठयोगत ॥९००॥
वायुरूप महाधूप तर्जन्या विनियोजयेत् ।
तेजोरूप महादीप मध्यमाङ्गुष्ठयोगत ॥९०१॥
अमृत चैव नैवेद्यमनामाङ्गुष्ठयोगत ।
अञ्जल्याऽथ नमस्कारं ताम्बूल वाग्भवात् स्मृतम् ॥९०२॥
स्वस्वबीजेन सर्वं तु नमस्कारेण योजयेत् ।
गुरो मन्त्रं प्रयत्नेन प्रजपेत् सुरवन्दिते ॥९०३॥
बाला च भुवनेशानी रमा चैव सुरेश्वरि ।
भावत्रयमिद प्रोक्त गुरुमन्त्रे प्रतिष्ठितम् ॥९०४॥

तत स्वगुरुनामान्ते आनन्दनाथमालिखेत् ।
रक्तशक्तिपदान्ते च अम्बापदमथालिखेत् ॥६०५॥

श्रीपादुका समुच्चार्य पूजयामीति सञ्जपेत् ।
तेजोरूप समर्प्याऽथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम् ॥६०६॥

अन्यदपि पादुकाभेदमुत्तरार्धे बृहद्दीक्षापटले लिखाम ।

अथ श्रीगुरुस्तोत्र मया भूतशुद्धौ–

ॐ नमामि सद्गुरु शान्त प्रत्यक्षं शिवरूपिणम् ।
शिरसा योगपीठस्थ मुक्तिकामार्थसिद्धये ॥६०७॥

श्रीगुरु परमानन्द नमाम्यानन्दविग्रहम् ।
यस्य सन्निधिमात्रेण चिदानन्दायते परम् ॥६०८॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥६०९॥

अखण्डमण्डलाकार व्याप्त येन चराचरम् ।
तत्पद दर्शित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥६१०॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम ॥६११॥

एव च श्रीगुरु नत्वा मूले कुण्डलिनीं तत ।
स्मरेत् षट्पद्मयोगेन तत्तद्वर्णं तदीश्वरम् ॥६१२॥

तिस्र कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाडिका मता ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिता ॥६१३॥

प्रधान मेरुदण्डोऽत्र सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा नाम्नी तु या नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी ॥६१४॥

शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।
पिङ्गलाख्या द्वितीया च पुरूपा सूर्यविग्रहा ॥६१५॥

दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरा मता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा ॥६१६॥

सवतेजोमयी शक्ति सुषुम्णा वह्निरूपिणी ।
सुषुम्णान्तर्गता चित्रा चन्द्रकोटिसमप्रभा ॥६१७॥

सर्वदेवमयी सा तु योगिना हृदयङ्गमा ।
तस्य मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी ।
ब्रह्मरन्ध्र तु तन्मध्ये हरवक्त्रात् सदाशिवम् ॥६१८॥

वामावर्तक्रमेणैव वेष्टितं विसतन्तुवत् ।
सुषुम्णामध्यसस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमात् ॥६१९॥

आधाराख्ये मूलचक्रे रक्तवर्णे चतुर्दले ।
वादिसान्तार्णसयुक्ते क्षेत्रे गोदावरीसमे ॥६२०॥

कर्णिकाया स्थिता योनिस्त्रिकोण परमेश्वरि ! ।
तद्योनि परमेशानि इच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥६२१॥

अपराख्य हि कन्दर्पमाधारे तत्त्रिकोणके ।
स्वयम्भुलिंग तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम् ॥६२२॥

ध्यायेच्च परमेशानि ! शिवं चामलसुन्दरम् ।
कुण्डली तेन मार्गेण यातायातं करोति हि ॥६२३॥

भित्त्वा भित्त्वा पुरीं याति, आयाति कुण्डली सदा ।
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥६२४॥

प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।
शिव वेष्ट्य महेशानि ! सर्वदा परितिष्ठति ॥६२५॥

येन मार्गेण गन्तव्य ब्रह्मद्वार निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वार प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥६२६॥

मूलमाधारपद्काना मूलाधार ततो विदु ।
लिङ्गमूले पुष्कराख्ये स्वाधिष्ठान तु षड्दलम् ॥६२७॥

वादिलान्तार्णसंयुक्त विद्रुमाभ मनोहरम् ।
नाभौ तु गण्डकीक्षेत्र मणिपूरेऽथ नीलभम् ॥६२८॥

डादिफान्तार्णसयुक्तदलैश्च दशभिर्युतम् ।
हृदये द्वादशदले काश्या पिङ्गलवर्णके ॥६२६॥

कादिठान्तार्णसंयुक्त तप्तहाटकसन्निभम् ।
तन्मध्ये बाणलिंग तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥६३०॥

शब्दब्रह्ममय' शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनाऽऽहत तु तत्पद्म योगीष्ट परिकीर्तितम् ॥६३१॥

कंठदेशे विशुद्धचाख्य धूम्रवर्णं मनोहरम् ।
स्वरैं षोडशभि र्युक्त कुरुक्षेत्रमनुत्तमम् ॥६३२॥

विशुद्धिस्तन्मयं यस्मादाकाशाख्यं महाद्भुतम् ।
आज्ञानाम भ्रुवो र्मध्ये द्विदल तन्मनोहरम् ।
हंसाक्षरयुत देवि ! त्रिवेणीक्षेत्रमुत्तमम् ॥६३३॥

इतराख्य महालिङ्ग तन्मध्ये काञ्चनप्रभम् ।
आज्ञासंक्रमण तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ॥६३४॥

कैलासाख्य तदूर्ध्वे तु रोधिनीति तदूर्ध्वत ।
तत्र पद्मं सहस्रार नादबिन्दुत्रयान्वितम् ॥६३५॥

अकथादित्रिरेखाभि र्हंलक्षत्रयकोणके ।
तन्मध्ये परबिन्दु च सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ॥६३६॥

वामावर्तस्थितं देवि अकथादित्रयं शुभे ।
शून्यरूप शिवं साक्षाद् बिन्दु परमकुण्डलीम् ॥६३७॥

सार्धत्रिवलयाकारा कोटिविद्युत्समप्रभाम् ।
वृत्ता कुडलिनीशक्ति र्गुणत्रयसमन्विता ॥६३८॥

शून्यभाग महादेवि ! शिवशक्त्यात्मक प्रिये ।
सर्पाकारा शिव वेष्ट्य सर्वदा तत्र सस्थिता ॥६३९॥

शिवशक्त्यात्मक बिन्दु भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी ॥६४०॥ इति ।

गन्धर्वमालिकायाम्-

शिवविष्णुब्रह्ममयं विन्दु योनिं शुचिस्मिते ।
सर्वोपरि महेशानि विन्दुब्रह्मस्वरूपिणी ॥६४१॥ इति ।
भवो विन्दुरितिख्यात भव च तत्त्रिकोणकम् ।
भवन भवसम्बन्धात् जायते भुवनत्रयम् ॥६४२॥ इति ।

अन्यच्च यामले-

पञ्चभूतानि देवेशि ! षष्ठं मानसमीश्वरि ।
षट्चक्रस्थस्थितान्येव चक्रमार्गे विचिन्तयेत् ॥६४३॥
शिवरूप सहस्रार सुखदु खविवर्जितम् ।
मन्दारपुष्परचित नानागन्धानुमोदितम् ।
तत्रोपरि महादेव सदा तिष्ठति सुन्दरि ॥६४४॥
ध्यायेत् सदाशिव देव शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
महारत्नलसद्भूष दीर्घबाहु मनोहरम् ॥६४५॥
सुखप्रसन्ननयन स्मेरास्य सतत प्रिये ।
सकुण्डल महारत्नहारेण च विभूषितम् ॥६४६॥
गोलपद्मसहस्राणा मालया शोभित वपु ।
अष्टबाहु त्रिनयन विभु पद्मदलेक्षणम् ॥६४७॥
किंकिणीकटिसंयुक्त नूपुरादिविभूषितम् ।
एव स्थूल वपुस्तस्य भावयेत् कमलेक्षणे ॥६४८॥
पद्ममध्ये स्थित देवं निरीह शब्दरूपकम् ।
एव सर्वेषु चक्रेषु शक्तिरुद्रौ विचिन्तयेत् ॥६४९॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव ।
तत परशिवश्चैव षट्शिवा परिकीर्तिता ॥६५०॥
विशुद्धौ डाकिनी देवी अनाहते च राकिनी ।
लाकिनी मणिपूरस्था काकिनी लिङ्गगोचरे ॥६५१॥
आधारे शाकिनी देवी आज्ञाया हाकिनी तथा ।
याकिनी ब्रह्मरन्ध्रस्था सर्वकामफलप्रदा ॥६५२॥

ध्यायेत् कुडलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गसंस्थिताम् ।
श्यामा सूक्ष्मा सृष्टिरूपा सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम् ।
विश्वातीता ज्ञानरूपा चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् ॥६५३॥

रक्तामिति सुन्दरीविषये ।

हूकारवर्णसम्भूता कुडली परदेवता ।
विभक्त कुडलीदेहमात्मान हसमन्त्रत ॥६५४॥
प्रवृद्धवह्निसयोगे मनसा मारुतं सह ।
ऊर्ध्वं नयेत् कुडलिनीं जीवात्मसहितां पराम् ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्र सा भित्त्वा च ग्रन्थिपञ्चकम् ॥६५५॥

ग्रन्थिपञ्चक तु स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञान्तानि । तत्राद्यं ग्रन्थिमारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्त ग्रन्थिसमाप्तिः ।

षट्चक्रमध्यमार्गेण सुषुम्णावर्त्मना तथा ।
हसेन मनुना देवीं सहस्रार समानयेत् ॥६५६॥
सदाशिवो महेशानि यत्रास्ते परमेश्वर ।
तत्र गत्वा महादेवी कुडली परदेवता ॥६५७॥
देवी रूपवती कामसमुल्लासविहारिणी ।
मुखारविन्दगन्धेन मोदयित्वा पर शिवम् ॥६५८॥
प्रबोध्य परमेशानं तत्रोपरि वसेत् प्रिये ।
शिवस्य मुखपद्म हि चुम्बते कुडली तदा ॥६५९॥
सदाशिवेन सा देवी रमते क्षणमात्रकम् ।
अमृत जायते तत्र तत्क्षणात् परमेश्वरी ॥६६०॥
तदुद्भूतामृत देवि ! साक्षात् लाक्षारसोपमम् ।
तेनामृतेन देवेशि ! तर्पयेत् परदेवताम् ॥६६१॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधार क्रमात् सुधी. ॥६६२॥
यतस्तत क्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनो लयम् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति ॥६६३॥

जरामरणदु खाद्यै मुंच्यते भवबन्धनैं ।
इत्युक्त परम योगं योनिमुद्राप्रबन्धनम् ॥६६४॥

कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा पर पुरुषमेति सा ।
रमते सेयमव्यक्ता पुनरेकाकिनी सती ॥६६५॥ इति ।

सकेतपद्धत्याम्-

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हस. प्रकीर्तितम् ।
रूप विन्दुरिति ख्यातं रुपातीत तु निष्कलम् ॥६६६॥

एतेन 'हस' इत्यक्षरद्वय देव्या पादपद्मयुग ज्ञात्वा हसेति मन्त्रेण षट्चक्रभेद-क्रमेण सहस्रार नीत्वा चन्द्रमण्डलामृतेनाप्लाव्य तदमृतेन षट्चक्रस्थ-शिवशक्त्यादीना-प्लाव्य सोऽहमिति मन्त्रेण स्थान नयेदित्यर्थ ।

तथा चोक्त योगतत्त्वे-

हसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत् ।
सोऽहं मन्त्रेण च पुन स्वस्थानमानयेत् सुधी ॥६६७॥ इति ।

स्वस्थान मूलाधारम् ।

समयातन्त्रे देवीवाक्यम्-

देवदेव ! महादेव ! सृष्टिस्थित्यन्तकारक ।
मूर्ध्नि पद्म सहस्रार रक्तवर्णमधोमुखम् ॥६६८॥

तन्मध्यस्थ गुरुं ध्यायेत् शान्तरूप सशक्तिकम् ।
मूलाधारे महाशक्ति कुण्डलीरूपधारिणी ॥६६९॥

अधोमुखं क्रमेणैव सर्वं पद्म विभावयेत् ।
तदा कथ भवेत्तत्र चिन्तन गुरुदेवयो ॥६७०॥

एतदाकर्ण्य शिवो वदति-

यथायुक्त त्वया देवि ! कथित वीरवन्दिते ।
एवमेव तु सन्देहो जायते नात्र सशय ॥६७१॥

कथ्यते परमेशानि सन्देहच्छेदकारणम् ।
तानि पद्मानि देवेशि सुषुम्णान्त स्थितानि च ॥६७२॥

परब्रह्मस्वरूपाणि शब्दब्रह्ममयानि च ।
तत्सर्वं पङ्कज देवि सर्वतोमुखमेव च ॥६७३॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौ भावौ जीवसस्थितौ ।
प्रवृत्तिमार्गं ससारी निवृत्ति परमात्मनि ॥६७४॥
प्रवृत्तिभावचिन्तायामधोवक्त्राणि चिन्तयेत् ।
निवृत्तियोगमार्गेषु सदैवोर्ध्वमुखानि च ॥६७५॥
एवमेतद् भावभेदात् क सन्देहोऽभिजायते ।
इत्येतत् कथित देवि मम ज्ञानावलोकितम् ॥६७६॥
अथ योग प्रवक्ष्यामि येन देवमयो भवेत् ।
मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता भवेत् ॥६७७॥
तावत् किञ्चिन्न सिद्धयेत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ।
यदि जागर्त्ति सा देवी बहुभि पुण्यसञ्चयै ॥६७८॥
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादय ।
योगो, योगाद् भवेन्मुक्ति र्भवेत् सिद्धिरखण्डिता ॥६७९॥
सिद्धे मनो पराप्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णय ।
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते पर निर्वाणमाप्नुयात् ॥६८०॥
संसारोत्तारणं मुक्ति र्योगशब्देन कथ्यते ।
प्राणायामे जपे योगैस्त्यक्तनिद्रा जगन्मयी ॥६८१॥
तदा सिद्धि र्भवेदेव नाऽत्र कार्या विचारणा ।
चतुर्दल स्यादाधार स्वाधिष्ठान तु षड्दलम् ॥६८२॥
नाभौ दशदल पद्म सूर्यसंख्यादल हृदि ।
कण्ठे स्यात् षोडशदल भ्रूमध्ये द्विदल तथा ॥६८३॥
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रार मातृकाक्षरमण्डितम् ।
अधोवक्त्र शुक्लवर्णं रक्तकिञ्जल्कभूषितम् ॥६८४॥
रक्तवर्णं सुन्दरीविषये ज्ञेयम्, समयात्रोक्तत्वात् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव ।
तत परशिवश्चैव षट्शिवा परिकीर्तिता ॥६८५॥

डाकिनी राकिनी चैव शाकिनी लाकिनी तथा ।
काकिनी हाकिनी चैव शक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥६८६॥

आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोर्मध्ये विशेषत ।
स्वयम्भुसंज्ञो वाणाख्य तथैवेतरसञ्ज्ञक ॥६८७॥

लिङ्गत्रय महेशानि प्रधानत्वेन चिन्तयेत् ।
मूलाधारे स्थिता भूमि स्वाधिष्ठाने जल तथा ॥६८८॥

मणिपूरे स्थित तेजो हृदये मारुतं तथा ।
विशुद्धौ तु महेशानि आकाशं कमलेक्षणे ॥६८९॥

आज्ञाचक्रे महेशानि मन सर्वार्थसाधकम् ।
तदूर्ध्वे परमेशानि युगपद्ममुख सदा ।
तस्योपरि महेशानि विभु ध्यायेत् सदाशिवम् ॥६९०॥

ऊर्ध्वमुखाऽधोमुखसहस्रारपद्मान्तर्गतमूर्ध्वमुखद्वादशदलपद्मोपरि शिव ध्यायेदिति भाव ।

तदेव यामले—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
[1]कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशान्तसरसीरुहं भजे ॥६९१॥

षट्चक्र परमेशानि ऊर्ध्वचक्र सदाशिवम् ।
शवते पुर महेशानि सदाशिवपुरोपरि ॥६९२॥

एतदेव यामले श्रीशिवेन प्रपञ्चितम्—

शिवस्थान शैवा परमपुरुष वैष्णवगणा
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे ।
पद देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥६९३॥ इति ।

तेन हस इत्यक्षरद्वयरूप पादपद्मयुगल ध्यायेदित्यर्थ ।

पुनश्च समयातन्त्रे—

वसित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता ।
रमते तन्मयीभूता मन्त्रप्राणमयीश्वरी ॥६९४॥

---

१ पादुकापञ्चकस्तोत्रे 'विवर' इत्यस्य स्थाने 'कनक' इति पाठोऽपि दृश्यते ।

एकीभावं तयोस्तत्र चिन्तयेद् गतमानस ।
इष्टदेवस्वरूपा ता भावयेत् कुण्डलीं पराम् ॥९९५॥
सदा षोडशवर्षीया पीनोन्नतपयोधराम् ।
नवयौवनसम्पन्ना सर्वावयवशोभिनीम् ॥९९६॥
सर्वशृङ्गारभूषाढ्या मदचञ्चललोचनाम् ।
एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रमष्टोत्तरशत शिवे ॥९९७॥
मातृकामालया देवि तथाऽज्ञाचक्रमानयेत् ।
तत्रैवेतरलिंगेन योजयेत् कुडलीं पराम् ॥९९८॥
तामिष्टदेवता ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये ।
हृत्पद्मे ता समानीय शिवेन सह योजयेत् ॥९९९॥
देवीरूपा च ता ध्यात्वा जपेदष्टशत प्रिये ।
मणिपूरे तु ता नीत्वा शिवेन सह योजयेत् ॥१०००॥
देवीरूपा च ता ध्यात्वा शतमष्टोत्तर जपेत् ।
स्वाधिष्ठाने ततो नीत्वा शिवेन सह योजयेत् ॥१००१॥
शतमष्टोत्तर मन्त्रं जपेद् ध्यायन् पराम्बिकाम् ।
तत पूर्वक्रमेणैव मूलाधार समानयेत् ॥१००२॥
तत्र लिङ्ग स्वयम्भु च ध्यायेद्विन्दुसमप्रभम् ।
शुक्लवर्णं रक्तबाहु पञ्चवक्त्र त्रिलोचनम् ॥१००३॥
प्रसन्नवदनं शान्त नीलकण्ठविराजितम् ।
कपर्दिन स्फुरत्सर्वलक्षण कुन्दसन्निभम् ॥१००४॥
षट्चक्रे परमेशानि ध्यात्वा देवीं जगन्मयीम् ।
भुजङ्गरूपिणी देवीं नित्या कुण्डलिनीं पराम् ॥१००५॥
बिसतन्तुमयीं साक्षाद् देवीममृतरूपिणीम् ।
अव्यक्तरूपिणीं रम्या ध्यानगम्या वरानने ॥१००६॥
ध्यात्वा जप्त्वा च देवेशि ! साक्षाद् ब्रह्ममयो भवेत् ।
एव द्वादशधा देवि यातायात करोति य ॥१००७॥

स मुक्त सर्वपापेभ्यो मन्त्रसिद्धि र्न चान्यथा ।
यत्रकुत्र मृतश्चाय गङ्गायां श्वपचालये ॥१००८॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मभूयाय कल्प्यते नान्यथा प्रिये ।
तत सम्प्रार्थयेत् देव मनुभि प्रार्थनामयै ॥१००९॥ इति।
त्रैलोक्यचैतन्य ! मयाऽऽदिदेव ! श्रीनाथ ! विष्णो ! भवदाज्ञयैव ।
प्रात समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥१०१०॥
संसारयात्रामनुवर्तमान त्वदाज्ञया देव ! परेश विष्णो ।
स्पर्धातिरस्कारकलिप्रमादभयानि मा माऽभिभवन्तु नाथ ! ॥१०११॥
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।
त्वया हृषीकेश ! हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।१०१२
एतत्श्लोकत्रयेणैव दैवत प्रार्थयेद् बुध ।
श्रीनाथ विष्णो स्थाने तु कार्य ऊहोऽन्यदैवते ॥१०१३॥

आदिदेव, श्रीनाथ, विष्णो, हृषीकेश इत्यादीनि पदानि औपलक्षणिकानि । अस्मिन् स्थाने विश्वेश शम्भो इति शैवे, शाक्ते भवानि दुर्गेति पाठ । इति सम्प्रार्थ्य स्व देवमजपामपि चिन्तयेत् ।

तच्च अजपामाहात्म्य यामले–

अजपा नाम गायत्री मुनीना मोक्षदायिनी ।
तस्या सकल्पमात्रेण सर्वपापै प्रमुच्यते ॥१०१४॥

तथा शारदायाम्–

वियदर्धेन्दुललित तदादि सर्गसयुतम् ।
अजपाख्यो मनु प्रोक्तो द्व्यक्षर. सुरपादप ॥१०१५॥
ऋषि र्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्री छन्द ईरितम् ।
देवता जगतामादि सप्रोक्तो गिरिजापति ।
हसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गक्रिया मनो ॥१०१६॥
उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्धाम्बिकेश
पाशाभीती वरदपरशू सन्दधान कराब्जै ।
दिव्याकल्पै र्नवमणिमयै शोभित विश्वमूलं
सौम्याग्नेय वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ॥१०१७॥ इति ।

अन्यत्रापि-

एवं ध्यात्वा महेशानं मानसैरर्चयेत् तत. ।
मूलाधारादिचक्रेषु स्थितान् देवान् क्रमात् सुधीः ॥१०१८॥
ध्यात्वाभ्यर्च्य तथा वर्णान् तत्रस्थानजपापुटान् ।
सस्मृत्य चक्रदेवाय तत्सख्याक जपं तत. ॥१०१९॥
समर्प्य क्रमतो मन्त्री श्वासरूप महामनुम् ।
क्रमोत्क्रमगत जप्त्वा मुक्त सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१०२०॥ इति ।

अन्यत्रापि-

वीरहंसात्मिकाविद्यासङ्कल्प कारयेद् बुधः ।
हसाख्या साधन वक्ष्ये मन्त्रिणा हितकाम्यया ॥१०२१॥
यस्य विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञो भुवि जायते ।
हसात्मिका भगवतीं जीवो जपति सर्वदा ॥१०२२॥
अस्या· स्मरणमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नर ।
ऋषिर्हंस समाख्यात परहसोऽस्य देवता ।
छन्दश्चाव्यक्तगायत्री नियोगो योगसिद्धिद ॥१०२३॥

सुरेन्द्रसंहितायाम्-

ऋषि हँसोऽव्यक्तपूर्वो गायत्रं छन्द उच्यते ।
देवता परमादिस्य हसो ह बीजमुच्यते ॥१०२४॥

स शक्ति कीलक· सोऽहं प्रणवस्तत्त्वमेव हि ।
उदात्तस्वर इत्येवं मनोरस्य प्रकीर्तित ।
मोक्षार्थे विनियोग स्यादेव कुर्यात् सदा नर ॥१०२५॥

वीरचूडामणौ-

सूर्यात्मने च हृद् देवि सोमात्मने शिरस्तथा ।
निरजनं शिखा ज्योति निरामासा तथापरे ॥१०२६॥

अव्यक्तं नेत्रयो न्यंस्य अनन्तोऽस्त्रे न्यसेत् तत ।
एवं न्यासविधिं कृत्वा ध्यायेद् देव सनातनम् ॥१०२७॥

द्या मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति ख वैं नाभि चन्द्रसूर्यों च नेत्रे ।
दिश: श्रोत्रे यस्य पादो क्षितिश्च ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥१०२८

एवं ध्यात्वा प्रसन्नात्मा गणेशादिभ्य अर्पयेत् ।

एतच्च यामले-

ध्यात्वा जप प्रजप्याथ षट्चक्रदेवता स्मरेत् ।
मूलाधारे गणेशान वादिसान्तार्णसयुते ॥१०२९॥
रक्तवर्णं त्रिनयन वारणास्य चतुर्भुजम् ।
अभय च वर चारु पाशाकुशयुत विभुम् ॥१०३०॥
वल्लभासहित देवि ! गणनाथ विभाव्य च ।
तद्भागं षट्शत तत्तु समर्प्यास्मै पुनस्तथा ॥१०३१॥
स्वाधिष्ठाने च ब्रह्माण वाणीसहितमीश्वरि ।
ध्यायेत् षड्दलपद्मे तु वादिलान्तार्णसयुते ॥१०३२॥
तप्तचामीकरप्रख्य पङ्कजस्थ चतुर्भुजम् ।
अभय च वरं कुण्डीमक्षमाला कराम्बुजे ॥१०३३॥
बिभ्राण सस्मितं ध्यात्वा सपूज्य च दलस्थितान् ।
वर्णान् स्मृत्वाऽस्य भाग वैं षट्सहस्र समर्प्य च ॥१०३४॥
सम्प्रार्थ्य मणिपूरे तु विष्णु लक्ष्मीयुत स्मरेत् ।
डादिफान्तार्णसयुक्त इन्द्रनीलमणिप्रभम् ॥१०३५॥
सर्वभूषणसशाभिगात्रं त्रिभुवनेश्वरम् ।
पीताम्बरधर देव तथा श्रीवत्सकौस्तुभै ॥१०३६॥
शोभित वाहुभि शखचक्रकौमोदकीकजै ।
लक्षित चिन्त्य संपूज्य स्मृत्वा वर्णान् दलान्तगान् ॥१०३७॥
तज्जप षट्सहस्र तु देवायास्मै निवेद्य च ।
प्रणम्य प्रार्थ्य श्रीनाथमनाहतविभु स्मरेत् ॥१०३८॥
कर्पूरसदृश त्र्यक्ष गिरिजासहित शिवम् ।
शान्त चन्द्रधर नागधर चर्माम्बर तथा ॥१०३९॥

कादिठान्तार्णसंयुक्ते दले द्वादशके हरम् ।
चिन्त्य सपूज्य तद्वर्णान् दलगानजपापुटान् ॥१०४०॥
सस्मृत्य षट्सहस्रं तज्जपमस्मै निवेद्य च ।
सम्प्रार्थ्य परमेशान विशुद्धि चिन्तयेद् बुध ॥१०४१॥
षोडशारं स्वरयुत तत्रस्थ परमेश्वरम् ।
ज्योतिर्मय तत्त्वरूप जीवात्मानं विचिन्त्य च ॥१०४२॥
इच्छाशक्तियुत देव परमात्मानमव्ययम् ।
पूज्य वर्णान् विचिन्त्याऽथ तज्जप तु सहस्रकम् ॥१०४३॥
समर्प्य प्रार्थ्य देवेशमाज्ञाचक्र विचिन्तयेत् ।
द्विदल हक्षवर्णाढ्य शुक्लरक्तपद गुरुम् ॥१०४४॥
चिच्छक्तिसहित देव श्रीनाथं करुणाकरम् ।
ध्यात्वा सपूज्य चिन्त्यार्णाविजपापुटितौ तथा ॥१०४५॥
सहस्र तज्जपं तस्मै समर्प्य च प्रणम्य च ।
सम्प्रार्थ्य चिन्तयेदित्थ सहस्रार शिवालयम् ।
मातृकार्णयुत शश्वत् पदं परशिव तथा ॥१०४६॥
पराशक्तियुत शान्त स्मृत्वा पूज्य विचिन्त्य च ।
सहस्रं तज्जप तस्मै देवाय च परात्मने ॥१०४७॥
समर्प्याऽनम्य मनसा पुन न्यासादिक चरेत् ।
प्राणायाम विधायाथ तन्मय भावयन् पठेत् ॥१०४८॥
अहं ब्रह्मास्मि सद्रूप नित्यमुक्त न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽह सर्वदा सर्वगस्तथा ॥१०४९॥
प्रात प्रभृति सायान्त सायादिप्रातरन्तत ।
यत् करोमि जगद्योने ! तदेव तव पूजनम् ॥१०५०॥
गुरुदेवात्मनामित्यमैक्य स्मृत्वा भुव स्पृशेत् ।
वहन् नाडीस्थपादेन मन्त्रमेनमुदीरयन् १०५१॥
समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे ॥१०५२॥

शरक्षेपं भुवं गत्वा निर्ऋत्या निर्जने तथा ।
तृणास्तरितभूदेशे श्वासोच्छ्वासविवर्जितः ॥१०५३॥
मलोत्सर्गं तत कुर्याद् रात्रौ दक्षिणदिङ्मुख ।
उदङ्मुखो दिवा भूत्वा संध्ययोरप्युदङ्मुख ॥१०५४॥
शौचं कृत्वा प्रयत्नेन बाह्याभ्यन्तरयोरपि ।
देवतागुणनामानि स्मरन् तीर्थमथो व्रजेत् ॥१०५५॥

एतत्कृत्य स्फुटतयोत्तरभागे पद्धतिखण्डे लिखाम ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सरसग्रहे प्रात कृत्यादि शौचान्तकथन नाम सप्तम पटल ॥७॥

अष्टमः पटलः ।

अथाऽऽचम्य ततो मन्त्री दन्तधावनमाचरेत् ।

तच्च गान्धर्वे-

दन्तकाष्ठं मुखे दत्त्वा पूजयेद् यस्तु देवताम् ।
तत्पूजा विफला देवि ! भवत्येव न सशय ॥१०५६॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

विधायावश्यकं शौच आचम्य दन्तधावनम् ।
मुखप्रक्षालनादींश्च कृत्वा स्नानं समाचरेत् ॥१०५७॥ इति ।

दक्षिणामूर्तौ-

क्लींमथो कामदेवश्च तत सर्वजनं वदेत् ।
प्रियाय हृदयान्तोऽयं मनु दन्तविशुद्धये ।
चतुर्दशाक्षरं दन्तान् क्षालयेत् सिद्धिहेतवे ॥१०५८॥

यामले-

स्नानमूला क्रिया सर्वा श्रुतिस्मृत्युदिता नृणाम् ।
तस्मात् स्नान सदा कुर्यात् श्रीपुष्ट्यारोग्यवर्धनम् ॥१०५९॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

अरुणे चोदिते मन्त्री तीर्थे वा विमले जले ।
स्नायादिति शेष ।

स्नान स्यादान्तर बाह्य द्विविधं कथित बुधै ।
कोटिसूर्यप्रतीकाश निजभूषायुधै र्युतम् ॥१०६०॥
शिरस्थं संस्मरेद् देव तत्पादोदकधारया ।
विशन्त्या मूलचक्र च निजदेहविशुद्धये ॥१०६१॥
प्रक्षाल्यान्तर्गत पापं विरजो जायते नर. ।
एव कृत्वाऽऽन्तरस्नान स्नायाद् वेदोक्तमार्गत ॥१०६२॥
अघमर्षणसूक्त च स्मरन्नन्तर्जले शुचि ।
मन्त्रस्नान तत कुर्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥१०६३॥ इति ।

नीलतन्त्रे-

पुनर्निमज्य पयसि सकल्प च समाचरेत् ।
इष्टदेवसपर्यार्थं तान्त्रिकस्नानमाचरेत् ॥१०६४॥ इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

प्राणानायम्य मूलेन कृत्वा न्यास षडङ्गकम् ।
अस्त्रेण मृदमानीय त्रिभाग तत्र कारयेत् ॥१०६५॥
भागमेकं जले चैव क्षिपेन्मन्त्र समुच्चरन् ।
एक मूर्धादिनाभ्यन्तं पठन् मूल विलेपयेत् ।
एक षडगे सलिप्य तीर्थमावाहयेत् तत ॥१०६६॥ इति ।

मन्त्रमहोदधौ-

हृन्मन्त्राकुशमुद्राभ्या तीर्थमाकृष्य मण्डलात् ।
मन्त्रत्रयेणाम्बुमध्ये लिख्यते तन्मनुत्रयम् ॥१०६७॥
ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करै स्पृष्टानि ते रवे ! ।
तेन सत्येन मे देव तीर्थं देहि दिवाकर ॥१०६८॥
गगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति ! ।
नर्मदे ! सिन्धु ! कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु ॥१०६९॥
आवाहयामि त्वा देवि ! स्नानार्थमिह सुन्दरि ।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥१०७०॥

ततो वमिति वीजेन योजयेत्तानि तज्जले ।
अग्न्यर्केन्दुमण्डलानि तत्र सञ्चिन्तयेत् पुन॰ ॥१०७१॥
मन्त्रयेत् तेन वीजेन रविवारं ततो जलम् ।
कवचेनाऽवगुण्ठ्याऽथ रक्षेदस्त्रेण तत्पुन. ॥१०७२॥
मूलमन्त्रेणेशवारमभिमन्त्र्य नमेज्जलम् ।
मन्त्रेण वक्ष्यमाणेन देवता मनसि स्मरन् ॥१०७३॥
आधार सर्वभूताना विष्णोरतुलतेजस ।
तद्रूपाश्च ततो जाता आपस्ता प्रणमाम्यहम् ॥१०७४॥
मज्जेज्जले स्मरेत् तत्र मूल च देवताकृतिम् ।
उन्मज्य सिञ्चेत् क सप्तकृत्व. कलशमुद्रया ॥१०७५॥
मूलेनाऽथ चतुर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् निजा तनुम् ।
लिख्यन्ते तेऽत्र चत्वारो मन्त्रा शङ्करभाषिता ॥१०७६॥
सिसृक्षो निखिल विश्व मुहु शुक्र प्रजापते ।
मातर सर्वभूतानामापो देव्य पुनन्तु माम् ॥१०७७॥
अलक्ष्मी मलरूपा या सर्वभूतेषु सस्थिता ।
क्षालयन्ति निजस्पर्शादापो देव्य पुनन्तु माम् ॥१०७८॥
यन्मे केशेषु दौर्भाग्य सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् घ्नन्तु वो नम ॥१०७९॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षय सुखम् ।
सन्तोष शान्तिरास्तिक्य विद्या भवतु वो नम ॥१०८०॥
प्रणवादि सर्वत्र ।

ततो देवान् मनुष्यांश्च सक्षेपात् तर्पयेत् पितॄन् । इति ।

आर्द्रवस्त्रेण यत् कर्त्तव्य तदाह यामले–

नाभिमात्रोदके स्थित्वा देवीमर्कगता स्मरन् ।
जपेदष्टोत्तरशत लभते महतीं श्रियम् ।
सहारमुद्रया चैव तीर्थमुद्वास्य वाग्यत ॥१०८१॥ इति ।

गौतमीये–

पीडयित्वाम्बरं चोरू प्रक्षाल्याचम्य वाग्यत ।
धारयेद् वाससी शुद्धे परिधानोत्तरीयके ।
तीर्थाभावात् स्वसदने स्नायादुष्णेन वारिणा ॥१०८२॥ इति ।

मन्त्रमहोदधौ–

अल्पा एव प्रकर्त्तव्या तत्र मन्त्रा यथोदिता ।
हस्तयोरप आधाय कुर्यात्तत्राघमर्षणम् ॥१०८३॥

भस्मना गोरजोभि र्वा स्नायान्मन्त्रेण वाऽक्षम ।
तत आचम्य पीठस्थस्तिलक रचयेत् सुधीः ॥१०८४॥

केशवाद्यभिधानैस्तु स्थानेषु द्वादशस्वपि ।
ललाटोदरहृत्कण्ठे दक्षपार्श्वांसकर्णत ॥१०८५॥

वामपार्श्वांसकर्णे च पृष्ठदेशे ककुद्यपि ।
ललाटे तु गदा कुर्याद् हृदये नन्दक पुन ॥१०८६॥

शङ्खं चक्र भुजद्वन्द्वे शार्ङ्गं बाण च मूर्धनि ।
इत्थं तु वैष्णवः कुर्यात् शैव कुर्यात् त्रिपुण्ड्रकम् ॥१०८७॥

अग्निहोत्रोत्थितं भस्माऽऽदायाग्निरिति मन्त्रत ।
अभिमन्त्र्य त्र्यम्बकेन कुर्यात् पञ्चत्रिपुण्ड्रकौम् ॥१०८८॥

क्रमात् तत्पुरुषाघोरसद्योजातेशनामभि ।
भालांसोदरवक्षस्सु ऋग्भिस्तेषामथापि वा ॥१०८९॥ इति ।

अन्यच्च भविष्यपुराणे–

त्रिपुण्ड्रेण विना कुर्यात् यत्किञ्चित् वैदिकीं क्रियाम् ।
सा निष्फला भवत्येव ब्रह्मणा च कृता यदि ॥१०९०॥ इति ।

अन्यत् त्रिपुण्ड्रमाहात्म्य धर्मपुराणे–

वैष्णवो वाथ शैवो वा शाक्तो वा सौर एव वा ।
त्रिपुण्ड्रेण विना पूजा कुर्वाणो यात्यधोगतिम् ॥१०९१॥ इति ।

भविष्ये–

सच्छिद्रं कुरुते यस्तु पुण्ड्रं पशुपते द्विज ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु तस्य च्छिद्र प्रजायते ॥१०९२॥ इति ।

शक्तिविषये यामले–

तिलक रक्तगन्धेन चन्दनेनाऽथवा प्रिये ।
देव्यस्त्र विलिखेद् भाले ताराबीज ततो हृदि ।
शक्ति मध्यगता कुर्यात् साधको निरुपद्रव. ॥१०९३॥

देव्यस्त्र स्वस्वोपासितदेव्यस्त्रमित्यर्थ ।

समाप्य वैदिकीं सन्ध्या तान्त्रिकीं समुपाचरेत् ।
अगुलीय करे कृत्वा सुवर्णरजतै कुशै ॥१०९४॥
सुवर्णं रजतं चैव जपपूजादिकर्मसु ।
एष एव कुशः प्रोक्तो न दर्भो वनसम्भव ।
तर्जन्या राजत धार्यमनामाया च स्वर्णजम् ॥१०९५॥ इति ।

यामले पुनस्तत्रैव–

अथ सन्ध्या प्रवक्ष्यामि तान्त्रिकीं सर्वसिद्धिदाम् ।
उपविश्याचमेन्मन्त्रै पयोभिर्हीनबुद्बुदै ।
प्रणवश्चात्मतत्त्वाय विद्यातत्त्वाय वै तत ॥१०९६॥
शिवतत्त्वाय संप्रोक्त क्रमेणवह्निवल्लभा ।
मूलान्तैरेभिराचम्य पूर्वोत्तरमुख सुधी ॥१०९६॥
साधको मूलमुच्चार्य वामहस्ते जलं तत ।
गृहीत्वा तज्जल देवि तत्रमूलं समुच्चरन् ॥१०९७॥
शिवो वायुर्जलं पृथ्वी वह्निबीजैस्त्रिधा पुनः ।
अभिमन्त्र्य च मूलेन सप्तधा तत्त्वमुद्रया ॥१०९८॥
गलित क क्षिपेन्मूर्ध्नि शेष दक्षे निधाय च ।
इडयाकृष्य देहान्त क्षालितै पापसञ्चयं ॥१०९९॥
कृष्णवर्णं तदुदक दक्षनाड्या विरेचितम् ।
दक्षहस्तेन तन्मन्त्री पापरूप विचिन्त्य च ॥११००॥

पुरतो वज्रपाषाणे प्रक्षिपेदस्त्रमन्त्रतः ।
जले मन्त्र समालिख्य तर्पयेत् परदेवताम् ॥११०१॥
उत्तराभिमुखो भूत्वा गुरुमात्र प्रतर्पयेत् ।
तृप्यता जगता माता भैरवस्तृप्यता तथा ॥११०२॥
मूलान्ते नाम चोच्चार्य तर्पयामि तत परम् ।
स्वाहान्त तर्पणं कुर्यात् पचविंशतिसख्यया ॥११०३॥
तर्पण च प्रकुर्वीत द्वितीयान्तमथोच्चरन् ।
पचविंशतिसंख्यं वा दशधा वा त्रिधाऽपि वा ॥११०४॥
एकैकाञ्जलितोयेन परिवाराश्च तर्पयेत् ।
ततश्च दिननाथाय दद्यादर्घत्रय सुधी ॥११०५॥
सूर्यमंत्र समुच्चार्य ध्रुवो ह्रीं हस इत्यथ ।
मार्तण्डभैरवायेति प्रकाशशक्तिसयुतम् ॥११०६॥
ङेन्तमुक्त्वा ग्रहराशियुतायान्ते च ठद्वयम् ।
त्रिधाञ्जलिं क्षिपेन्मन्त्री कर्मणा साङ्गसिद्धये ॥११०७॥
तोयाञ्जलिं पुनश्चैव सूर्यमडलमध्यगाम् ।
मूलदेवीमथो ध्यायन् सूर्यमडलरूपिणीम् ॥११०८॥
तत उच्चार्य गायत्रीं विसृजेदनयार्घ्यकम् ।
गायत्रीं भावयेद् देवीं सूर्यासनकृताश्रयाम् ॥११०९॥
कुंडलीं त्रिविधा देवीं तथा बीजत्रय त्रिधा ।
तुरीया कुडलीं मूर्ध्नि नित्यानन्दस्वरूपिणीम् ॥१११०॥
मूलाधारे वाग्भव च चन्द्रवर्णसमं स्मरेत् ।
वह्निकुडलिनीं नित्या बालार्कसदृशाननाम् ॥११११॥
हृदये कामबीज च कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
सूर्यकुडलिनीं तत्र नित्यानन्दस्वरूपिणीम् ॥१११२॥
भ्रूमध्ये शक्तिबीज च कोटिचन्द्रसमप्रभम् ।
चन्द्रकुडलिनीं तत्र स्रवदमृतविग्रहाम् ॥१११३॥

बीजत्रयमये विन्दौ तुर्यां विन्दुत्रयात्मिकाम् ।
सूर्यकुडलिनीं देवीं केवला ज्ञानविग्रहाम् ॥१११४॥

तमूलाधारे–

बालार्कमंडलाभासा भानुवह्नीन्दुलोचनाम् ।
पाशाकुशौ शराश्चाप धारयतीं शिवा स्मरेत् ॥१११५॥

ध्याह्ने हृत्पद्मे–

मध्याह्ने चिन्तयेद् देवीं नवयौवनशोभिताम् ।

याह्ने भ्रूमध्ये–

सायाह्ने चिन्तयेद् देवीं त्रैलोक्यैकप्रभामयीम् ।
नवयौवनसपन्नामुज्ज्वला परमा कलाम् ॥१११६॥

कयासारे–

तामेव चिन्तयेद् रात्रौ भोगमोक्षकरीं शिवाम् ।
गायत्रीं प्रजपेद् विद्वानष्टाविंशतिसंख्यया ।
मनसा प्रजपेन्मन्त्री गायत्रीं च विशेषत ॥१११७॥

ाथर्वे–

गायन्त त्रायते यस्माद् गायत्री तेन चोच्यते ।
महापातकयुक्तोऽपि दशधा प्रजपेद् यदि ॥१११८॥
सत्य सत्य महेशानि मुक्तो भवति तत्क्षणात् ।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या गायत्रीं प्रजपेद् यदि ॥१११९॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो भवेत् पूजाधिकारवान् ।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या मूलमन्त्रं ततो जपेत् ॥११२०॥
एषा शक्तिमयी सध्या कर्तव्या साधकोत्तमै ।
ततो मौनी विशुद्धात्मा हृदि विद्या परा जपन् ॥११२१॥
अवहिर्मानसो भूत्वा यागभूमिमथाऽऽविशेत् ।
सध्यायां पतितायां वा गायत्रीं दशधा जपेत् ॥११२२॥

कालत्रयेऽपि कर्तव्या सध्या साधकसत्तमैः ।
तुरीयाऽपि च कर्तव्या यथाकाले विमुक्तये ॥११२३॥

अकरणे दोषमाह लक्ष्मीकुलार्णवे–

संध्यया च विहीनो यो न दीक्षाफलमाप्नुयात् ॥११२४॥

शक्तिविषये तान्त्रिकीसध्याया शूद्रस्याप्यधिकार –

सध्यात्रय तथा कुर्याद् ब्राह्मणो विधिपूर्वकम् ।
तंत्रोक्तविधिपूर्वं तु शूद्र सध्या समाचरेत् ॥११२५॥ इति ।

सर्वसाधारणी तु मन्त्रमहोदधौ–

कृत्वा सध्या स्वशास्त्रोक्ता तत्र सध्यामथाऽऽचरेत् ।
प्राणायाम षडङ्ग च कृत्वादाय करे जलम् ॥११२६॥
त्रिर्जप्त्वा मूलमत्रेणेत्याचमेत् त्रिर्जपन् मनुम् ।
पुनर्दक्षकरेणाम्भो गृहीत्वा वामहस्तत ॥११२७॥
निधाय तस्माच्च्योतद्भि विन्दुभि सप्तधा तनुम् ।
समार्ज्य मूलमत्रेणावशिष्टं तत् पुनर्जलम् ॥११२८॥
दक्षहस्ते समादाय नासिकान्तिकमानयेत् ।
इडयान्त समाकृष्य तद्धौतं पापसंचयं ॥११२९॥
कृष्णवर्णं पिंगलया रेचित प्रविचिन्त्य तत् ।
क्षिपेदस्त्रेण पुरत कल्पिते भिदुरोपले ॥११३०॥
अघमर्षणमेतद्धि निखिलाघविनाशनम् ।
पुनरञ्जलिनाऽऽदाय जलमर्घं दिशेद् तत ॥११३१॥
त्रिवार मूलमन्त्रान्ते षोडशार्णमनु जपन् ।
रविमडलसंस्थाय देवायार्घ्यंपद तत ॥११३२॥
कल्पयामीतिमंत्रोऽयं षोडशार्ण उदाहृत ।
सूर्यमडलग ध्यायन्निष्टदेवमनन्यधी ॥११३३॥
प्रजपेन्मत्रगायत्रीं मूलमष्टोत्तर शतम् ।
अष्टाविंशतिवार वा तर्पयेत् तावदम्भसि ॥११३४॥

दत्त्वार्घं दिननाथाय तीर्थं संहारमुद्रया ।
विसृज्यार्कं लोकपालान् नत्वा देवस्तुतिं पठन् ॥११३५॥
यागस्थानं समागत्य प्रक्षाल्याङ्घ्री तयाऽऽचमेत् ।
गार्हपत्यादिकानग्नीन् हुत्वोपस्थाय तानपि ॥११३६॥
देवतागारमागत्य समाचम्येद् यथाविधि ।
केशवनारायणमाधवैः पीत्वा जलं त्रिधा ॥११३७॥
करौ गोविन्दविष्णुभ्यां क्षालयेन्मधुसूदन ।
त्रिविक्रमाभ्यामोष्ठौ वा मन श्रीधराभ्यां मुखम् ॥११३८॥
हृषीकेशेन हस्तौ च चरणौ पद्मनाभत ।
दामोदरेण मूर्धानं प्रोक्ष्य सकर्षणादिकान् ॥११३९॥
मुखादिष्वगुष्ठागुल्या वेदादि प्रोणने न्यसेत् ।
मुखे संकर्षण वासुदेवप्रद्युम्नकौ नसो ॥११४०॥
अनिरुद्धं च पुरुषोत्तममक्ष्णो प्रविन्यसेत् ।
अधोक्षज नृसिंह च कर्णयोर्नाभितोऽच्युतम् ॥११४१॥
जनार्दन हृदि न्यस्य उपेन्द्रमपि मूर्धनि ।
असयोश्च हरिं कृष्ण वैष्णवाचमन त्विदम् ।
केशवाद्याश्चतुर्थ्यन्ता नमोऽन्ता प्रणवादिका ॥११४२॥ इति ।

आगमान्तरे–

प्राग्वक्त्रश्चोदङ्मुख सूपवीती,
बध्वा चूडा जानुमध्यस्थबाहु ।
तोय चेक्षन् नूपविष्टोऽथ मौनी,
स्यादाब्रह्मस्त्वेकधाराचमिष्यन् ॥११४३॥
अदुष्टरसगधाद्यैरकीटाफेनबुद्बुदै ।
अनुष्णैरम्बुभि शुद्धैराचमेदभिवीक्षितै ॥११४४॥
हृत्कठास्यगता पुनन्ति विबुधा नापो द्विजादीन् क्रमात्
त्रि पीता वृपलस्त्रियावपि सकृत् कुडादिलोमादिकान् ।

आचम्य त्रिरपस्त्रिवेदपुरुषा. प्रीणन्ति निर्माष्टि यत्
द्वि साष्टार्वषडगयज्ञपुरुषा. प्रीता' स्युरगुष्ठतः ॥११४५॥

प्रीणात्यर्कमनामिका नयनयो स्पर्शात्तथागुष्ठयुक्
सागुष्ठा'त्वथ तर्जनी समभिता प्राणद्वये मारुतम् ।
अगुष्ठेन कनिष्ठिका श्रवणयोराशाश्च नाभे वसू–
नात्मान।तु हृदशयोर्गिरमृषीन् मूर्ध्नं समस्तागुले. ॥११४६॥ इति ।

आस्ये नसो प्रदेशिन्यानामया नेत्रकर्णयो ।
कनिष्ठया नाभिदेशेऽगुष्ठ सर्वत्र सयुत ॥११४७॥

तलेन हृदय न्यस्य सर्वाभि मस्तकेंऽसयो ।
आत्मविद्याशिवैस्तत्त्वैं स्वाहान्तं प्रपिबेदप ॥११४८॥

हा हीं हूमादिमं शैवे शाक्ते वाग्बीजपूर्वकं ।
क्षालनादिकमंगुल्या' स्पर्शोऽपि स्यादमत्रत ॥११४९॥

एवमाचम्य सामान्यार्घेण द्वारं प्रपूजयेत् ।
तार ख वह्निसर्गाढ्य द्वारार्घ्यं साधयामि च ॥११५०॥

उक्तास्त्रमनुना पात्र क्षालयेत् पूरयेन्मृदा ।
तीर्थान्यावाह्य गधादीन् तत्राश्ये (?) तिगमादिना ॥११५१॥

धेनुमुद्रा प्रदर्श्याऽथ मूलेनाष्टाभिमत्रयेत् ।
सामान्यार्घविधि प्रोक्तस्तेनार्चेद् द्वारदेवता ॥११५२॥

द्वारमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य गणेश चोर्ध्वतो यजेत् ।
महालक्ष्मीं दक्षभागे वामभागे सरस्वतीम् ॥११५३॥

पुनर्दक्षे यजेद् विघ्न गगा च यमुनामपि ।
पुनर्वामे क्षेत्रपाल स्व सिन्धुयमुने अपि ॥११५४॥

पुनर्दक्षे च धातार विधातार तु वामत ।
तद्वन्निधीश खपद्मो ततोऽर्चेद् द्वारपालकान् ॥११५५॥

ये द्वारपाला देवाना ते कथ्यते पृथग्विधा ।
नन्द सुनन्दश्चण्डश्च प्रचडो बलसज्ञक ॥११५६॥

प्रबलो भद्रसंज्ञश्च सुभद्रो वैष्णवा मता ।
नंदिसंज्ञो महाकालो गणेशो वृषभस्तथा ॥११५७॥
भृ गीरी ह्यभिध स्कन्द पार्वतीशाभिध परे ।
चडेश्वरा इमे शैवा शाक्तेया मातर स्मृता ॥११५८॥

र ब्राह्मयाद्या इति ।

वक्रतुण्डश्च कदष्ट्रो महोदरगजाननौ ।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्नराजश्च सप्तमः ॥११५९॥
धूम्रराजो गणपते द्वारपाला इमे स्मृता. ।
इन्द्रो यमोऽथ वरुणः कुवेरस्त्रिपुरामते ॥११६०॥
द्वारपूजा विधायेत्थ विघ्नानुत्सारयेत् त्रिधा ।
आत्मान शंकर ध्यात्वा दृष्टचा दिव्यान् निवारयेत् ॥११६१॥

करमित्युपलक्षणम् । स्वोपासितदेवतारूपमिति पूज्यपूजकयोरभेदात् ।

नभ स्थानेऽर्घपानीयै पार्ष्णिघातै र्धरागतान् ।
अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि सस्थिता ॥११६२॥
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ।
अपक्रामन्तु भूतानि पिशाचा सर्वतो दिशम् ॥११६३॥
सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ।
विनिवार्याखिलान् विघ्नान् इदं मन्त्रद्वयं पठन् ॥११६४॥
अवकाशप्रदानायान्तरायाणा विनिर्गमे ।
सकोचयित्वा वामाग गृह दक्षपदा विशेत् ।
क्षेत्रपाल च धातार नैर्ऋत्या दिशि पूजयेत् ॥११६५॥

पचाशत्सख्याकाना क्षेत्रपालाना नामानि पुरश्चरणपटले लिखामस्तत्पूजा च ।

अनन्त विमल पद्म ङेन्तासननमोऽन्वितम् ।
जप निदध्याद् दर्भास्त्रीन् कुशचर्माम्बरासने ॥११६६॥
काष्ठपल्लववशाश्मगोशकृत्तृणमृण्मयम् ।
विषम कठिन मत्री त्यजेदासनमाधिजम् ॥११६७॥

आसनमन्त्र ऋष्यादयस्तन्त्रान्तरे—

तदासनस्पर्शिमुशन्ति कूर्मं छन्दस्तथा स्यात् सुतल सुधीरे ।
प्रोक्ता तु पृथ्वी किल देवतास्य जपादिकर्मण्युपयोग युक्त ॥११६८॥

पृथ्वि त्वयेति मंत्रेण प्रागुदग्वा समाविशेत् ।
कुर्यात् स्वस्तिकपाथोजवीरादिष्वेकमासनम् ॥११६९॥

पौष्प दारुमयं वस्त्र चर्मकौशेयवाससम् ।
षड्विध चासन प्रोक्तं देवताप्रीतिकारकम् ॥११७०॥ इति ।

आसनविशेष तत्फल च पुरश्चरणपटले लिखाम ।

अर्घ्यपाद्याचमनीय-मधुपर्काचमनस्य च ।
पच पात्राणि पुष्पादीन् स्थापयेत् स्वीयदक्षिणे ॥११७१॥

वामेऽम्बुपात्रं व्यजनं क्षत्रमादर्शचामरे ।
कृताञ्जलि वामदक्षे गुरून् गणपति नमेत् ॥११७२॥

न्यस्यास्त्रं करयोस्तालत्रयं दिग्बन्धनं चरेत् ।
अगुष्ठयुक्ततर्जन्या सुदर्शनमनु जपन् ॥११७३॥

प्रणवो हृदये ङेऽन्त सुदर्शनपदं पुन ।
अस्त्राय च फडित्युक्तो मन्त्रो द्वादशवर्णवान् ॥११७४॥

विधाय वह्निप्राकार भूताजेयो भवेत् सुधी ।
चन्दनागरुकर्पूरैरन्तरं धूपयेत्तत ॥११७५॥

प्राणानायम्य तारेण पूरकुम्भकरेचकै. ।
द्वात्रिशता चतु षष्ट्या क्रमात् षोडशसख्यया ।
देवार्चा योग्यतावाप्त्यै भूतशुद्धि समाचरेत् ॥११७६॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे स्नानादिकर्मकथन नाम अष्टम पटल ॥८॥

। नवमः पटलः ।

अथ भूतशुद्धि—

मूलाधारे स्थिता देवीं कुडलीं परदेवताम् ।
विसततुनिभां विद्युत्प्रभां ध्यायेत् समाहित ॥११७७॥

मूलाधारात् समुत्थाप्य सगता हृदयाम्बुजे ।
सुषुम्णा मार्गमाश्रित्याऽऽदाय जीव हृदम्बुजात् ॥११७८॥
प्रदीप्तकलिकाकारा ब्रह्मरन्ध्रगता स्मरेत् ।
जीव ब्रह्मणि संयोज्य हंसमन्त्रेण साधक ॥११७९॥
पादादिब्रह्मरन्ध्रान्त स्थितं भूतगणं स्मरेत् ।
स्ववर्णबीजाकृतिभि र्युक्तं तद्विधिरुच्यते ॥११८०॥
पादादिजानुपर्यन्तं चतु कोण सवज्रकम् ।
भूबीजाढ्य स्वर्णवर्णं स्मरेदवनिमडलम् ॥११८१॥
जान्वादिनाभिचन्द्रार्धनिभ पद्मद्वयाकितम् ।
वं बीजयुक्त श्वेताभमंभसो मंडल स्मरेत् ॥११८२॥
नाभे हृंदयपर्यन्त त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम् ।
र बीजेन युतं रक्त स्मरेत् पावकमण्डलम् ॥११८३॥
हृदो भ्रूमध्यपर्यन्त वृत्त षड्विंदुलाञ्छितम् ।
य बीजयुक्त धूम्राभं नभस्वन्मण्डल स्मरेत् ॥११८४॥
आब्रह्मरन्ध्र भ्रूमध्याद् वृत्तं स्वच्छ मनोहरम् ।
हं बीजयुक्तमाकाशमडलं प्रविचिंतयेत् ॥११८५॥
यद् हस्तपायूपस्थवाक् क्रमाद् ध्येया धरादिगा ।
स्वकीयविषयै र्युक्ता गमनग्रहणादिभि ॥११८६॥
घ्राण च रसना चक्षु स्पर्शन श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
क्रमाद् ध्येय धरादिस्थ गधादिगुणसयुतम् ॥११८७॥
ब्रह्मविष्णुशिवेशाना सदाशिव इतीरिता ।
धरादिभूतसंघेशा ध्येयास्तन्मण्डलेषु ते ॥११८८॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्चतुर्थिका ।
शान्त्यतीतेति पचैव कला ध्येया धरादिगा ॥११८९॥
समानोदानव्यानाश्चापानप्राणौ च वायव ।
धरादिमडलगता पच ध्येया क्रमादिमे ॥११९०॥

एव भूतानि सचिन्त्य प्रत्येक प्रविलापयेत् ।
भुव जले जल वह्नौ वह्नि वायौ नभस्यमुम् ॥११६१॥
विलाप्य खमहंकारे महातत्त्वेऽप्यहकृतिम् ।
महान्तं प्रकृतौ मायामात्मनि प्रविलापयेत् ॥११६२॥
शुद्धसविन्मयो भूत्वा चिंतयेत् पापपुरुषम् ।
दक्षकुक्षिस्थितं कृष्णमगुष्ठपरिमाणकम् ॥११६३॥
विप्रहत्याशिरोयुक्त कनकस्तेयबाहुकम् ।
मदिरापानहृदयं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥११६४॥
पापिसगपदद्वन्द्वमुपपातकरोमकम् ।
खड्गचर्मधर दुष्टमधोवक्त्र सुदु सहम् ॥११६५॥
वायुबीज स्मरन् वायु सपूर्य्येन विशोषयेत् ।
स्वशरीरयुत मत्री वह्निबीजेन निर्दहेत् ॥११६६॥
कुम्भके परिजप्तेन तत पापनरोद्भवम् ।
बहि र्भस्म समुत्सार्य वायुबीजेन रेचयेत् ॥११६७॥
सुधाबीजेन देहोत्थ भस्म संप्लावयेत् सुधी ।
भूबीजेन घनीकृत्य भस्म तत् कनकाण्डवत् ॥११६८॥
विशुद्धमुकुराकारं जपन् बीज विहायस ।
मूर्धादिपादपर्यन्तान्यङ्गानि रचयेत् सुधी ॥११६९॥
आकाशादीनि भूतानि पुनरुत्पादयेत् चित ।
सोऽह मन्त्रेण चात्मानमानयेद् हृदयाम्बुजे ॥१२००॥
कुडली जीवमादाय परसगात् सुधामयम् ।
सस्थाप्य हृदयाम्भोजे मूलाधारगता स्मरेत् ॥१२०१॥
भूतशुद्धि विधायैवं प्राणस्थापनमाचरेत् ।
प्राणप्रतिष्ठामत्रस्य विधानमभिधीयते ॥१२०२॥
प्राणमंत्रस्य मुनयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
उक्तमृग्यजुष साम छंद छदोविशारदै ॥१२०३॥

चैतन्यरूपा प्राणात्मा देवताशक्तिरीरिता ।
पाशो वीज त्रपा शक्ति विनियोगोऽसु सस्थितौ ॥१२०४॥

ऋषीन् शिरसि वक्त्रेषु छंदासि देवता हृदि ।
गुह्ये बीज पदो शक्ति न्यस्य कुर्यात् षडंगकम् ॥१२०५॥

कवर्गं नभ आद्यै हृं त्वशब्दाद्यै. शिर स्मृतम् ।
टश्रोत्राद्यै शिखा प्रोक्ता तवागाद्यैस्तनुच्छदम् ॥१२०६॥

पवक्तव्यादिभि र्नेत्रमस्त्रं येनान्तरिन्द्रियै ।
आत्मनेऽन्तान् मनूनगान् विन्यसेद् हृदयादिषु ॥१२०७॥

पचम प्रथम पश्चात् द्वितीय च चतुर्थकम् ।
तृतीयमित्थ क्रमलो वर्गवर्णान् समुच्चरेत् ॥१२०८॥

यवर्गोऽप्येवमुच्चार्यं नभश्चे तोऽन्तिमो भृगु ।
विमल चेति चोच्चार्या क्रमाद् वर्णा सविन्दव ॥१२०९॥

नभो वाय्वग्निवार्भूमिनभ आदय ईरिता ।
शब्दस्पर्शरूपरसगधा शब्दादयो मता ॥१२१०॥

श्रोत्र त्वग् नयनं जिह्वा घ्राण श्रोत्रादय स्मृता ।
वाक् पाणिपादपाय्वुपस्थाश्च वागादय पुन ॥१२११॥

वक्तव्या दानगमनविसर्गानिदसज्ञका ।
वक्तव्याद्या बुद्धिमनोऽहकाराश्चित्तसयुता ॥१२१२॥

अतरिन्द्रियसज्ञा स्युरेवमुक्त पडङ्गकम् ।
नाभेरारभ्य पादान्त पाशबीज प्रविन्यसेत् ॥१२१३॥

नाभ्यन्त हृदयाच्छक्ति हृदन्त मस्तकाच्छृणिम् ।
त्वगसृङ्मासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि विन्यसेत् ॥१२१४॥

आत्मने हृदयान्तानि यादिसप्तादिकान्यपि ।
ओज सद्यान्विताकाशपूर्वं प्राण तु खादिकम् ॥१२१५॥

भृग्वादिक न्यसेत् जीवमेतान् हृदयदेशत ।
यकाराद्या आद्यवर्णा सर्वे स्युश्चन्द्रभूषिता ॥१२१६॥

ततः समस्तमूलेन मूर्धादि चरणावधि ।
विधाय व्यापकं न्यासं ध्यायेत् प्राणेश्वरीं ततः ॥१२१७॥
पाशं चापासृक्कपाले शृणीषून् शूलं हस्तैर्बिभ्रतीं रक्तवर्णाम् ।
रक्तोदन्वत्पोतरक्ताबुजस्थां देवीं ध्याये प्राणशक्तिं त्रिनेत्राम् ॥१२१८॥
ध्यायन् हृदि करं दत्त्वा त्रिर्जपेत् तन्मनुं सुधीः ।
वक्ष्येऽधुना मन्त्रोऽस्तस्योद्धारं ध्यातृसुखावहम् ॥१२१९॥
पाशं मायां शृणिं प्रोच्य यादीन् सप्तेन्दुसयुतान् ।
ताराञ्चितं नभः सप्तवर्णमत्र ततोऽजपाम् ॥१२२०॥
मम प्राणा इह प्राणा मम जीव इह स्थितः ।
मम सर्वेन्द्रियाण्युक्त्वा मम वाङ्मन ईरयेत् ॥१२२१॥
चक्षुःश्रोत्रप्राणपदात् प्राणा इह समीर्य च ।
आगत्य सुखमुच्चार्य चिरं तिष्ठन्त्विद पठेत् ॥१२२२॥
वह्निजाया च सप्तार्णं मन्त्रमन्ते पुनर्वदेत् ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रोऽयं स्मृतः प्राणनिधापने ॥१२२३॥
सविंदवो मेरुहसाकाशा सर्गी भृगुः पुनः ।
मायेति तारुद्धोऽयं मन्त्रः सप्ताक्षरो मतः १२२४॥
ममास्येति पदस्यादौ पाशादीनि समुच्चरेत् ।
यन्त्रेषु प्रतिमादौ वा प्राणस्थापनमाचरेत् ।
मम स्थाने तस्य तस्य षष्ठ्यन्तामभिधा पठेत् ॥१२२५॥

अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्—

हृदि हस्तं संनिधाप्य प्राणस्थापनमाचरेत् ।
ततो जन्मादिकद्व्यष्टक्रिया संस्कारसिद्धये ॥१२२६॥
षोडश प्रणवावृत्तीः कृत्वा शक्तिं परां स्मरेत् ।
एवं प्राणान् प्रतिष्ठाप्य मातृकान्यासमाचरेत् ॥१२२७॥
श्रीकण्ठाद्या शंभुभक्तो वैष्णवः केशवादिकाम् ।
गणेशाद्या तु तत् सेवी शक्तिभाङ् मातृका कला ॥१२२८॥

समुद्रा मातृकाभेदा न्यासपटले लिखाम ।

न्यस्य वेवमयो भूत्वा ध्यायेदिष्ट स्वमात्मवान् ।
तत्तन्मुद्रा प्रदर्श्याथ कुर्यान्मानसपूजनम् ॥१२२६॥
प्रार्थयेत ततो देव मंत्रेणानेन तन्मना ।
स्वागत देवदेवेश सम्मुखो भव केशव ।
गृहाण मानसीं पूजा यथार्थपरिभाविताम् ॥१२३०॥

केशवेत्युपलक्षणम् ।

केशवेति पदस्थाने कार्य ऊहोऽन्यदैवते ।
यस्य यस्य च देवस्य यथाभूषणवाहनम् ॥१२३१॥
सचिन्त्य हृदयाम्भोजे पूजयेन्मानसैस्तया ।
सायुध च तथा साग सर्वोपस्करसयुतम् ॥१२३२॥
मनसा पूजयित्वैव क्षण तद्गतमानसः ।
स्थित्वा मूलमनु विद्वान् जपेदष्टोत्तर शतम् ॥१२३३॥
जप निवेद्य देवाय स्थापयेदर्घ्यमुत्तमम् ।
बाह्यसंपूजनायाथ तत्प्रकारोऽभिधीयते ॥१२३४॥
स्ववामाग्रे तु षट्कोणवृत्तभूपुरवेष्टितम् ।
कृत्वाग्निकोणमूर्ध्वाग्र स्तम्भयेत् शङ्खमुद्रया ॥१२३५॥
पुष्पाक्षतै षडंगानि तत्राग्न्यादिषु पूजयेत् ।
अस्त्रक्षालितमाधार तत्र दध्यान्मनु जपन् ॥१२३६॥
म वह्निमण्डलायेति ततो दशकलात्मने ।
अमुकार्घेति पात्रान्ते सनाय नम इत्यपि ॥१२३७॥
चतुर्विशतिवर्णोऽयमाधारस्थापने मनु ।
आधारे पूर्वकाद्यादि दशार्च्चेत् पावकी कला ।
स्वमत्रक्षालित शख स्थापयेत् तन्मनु स्मरन् ॥१२३८॥

शखे विशेषस्त्रिपुरार्णवे–

शखोदरस्थितावर्त्तं युक्त्या निस्सार्य तत्र तु ।
योनित्रय तयैक वा शखे कुर्याद् विचक्षण ॥१२३९॥

यामलेऽपि–

मुख्य शंखः श्वेतवर्णो मध्य पीतादिवर्णयुक् ।
नीलवर्णं परित्याज्यस्तथैव कृमिभक्षित ॥१२४०॥ इति ।

अं सूर्यमण्डलायान्ते द्वादशेतिकलात्मने ।
अमुकार्घ्येति पात्राय नमोऽन्त इत्यक्षिवर्णवान् ॥१२४१॥
शखस्थापनमन्त्रोऽय तार कामो महाजल ।
चराय वर्मफट् स्वाहा पाञ्चजन्याय हृन्मनु ॥१२४२॥
शखस्य विशत्यर्णाढ्यस्तेन प्रक्षालयेत्तु तम् ।
कला द्वादश सूर्यस्य शखोपरि यजेत् क्रमात् ॥१२४३॥
विलोममातृका मूल विलोम च पठन् जलं ।
आपूर्य मनुनेष्ट्वा त तत्रार्च्चेदैन्दवी कला ॥१२४४॥

अग्निसूर्येन्दूना कला द्वितीयपटलतो ज्ञेया ।

ॐ सोममण्डलायान्ते षोडशान्ते कलात्मने ।
अमुकार्घ्यामृतायेति हृन्मनुश्चार्घ्यपूजने ॥१२४५॥
आह्वयेत् तत्र तीर्थानि तन्मन्त्रशृणिमुद्रया ।
रविमण्डलत स्वीयहृदोदेवमथाऽऽह्वयेत् ॥१२४६॥
अष्टकृत्वो जपेन्मूल स्पृष्ट्वा जलमनन्यधी ।
अप्सु विन्यस्य चागानि हृदा सपूजयेदथ ॥१२४७॥
मूलं जपेदष्टशत छादयन् मत्स्यमुद्रया ।
सरक्षेदस्त्रमन्त्रेण छोटिकामुद्रया जलम् ॥१२४८॥
मुद्रया चावगुण्ठिन्या वर्मणा त्ववगुण्ठयेत् ।
अमृतीकृत्य गोमुद्रा कुर्वन्नमृतबीजत ॥१२४९॥
सरोधिन्या सन्निरुध्य तत्र मुद्रा प्रदर्शयेत् ।
शखमौशलचक्राख्या परमीकृत्य तत् पुन ॥१२५०॥
महामुद्रा विरचयन् योनिमुद्रा प्रदर्शयेत् ।
कृष्णमन्त्रे गालिनीं च रामे गरुडमुद्रिकाम् ॥१२५१॥

शङ्खदक्षिणदिग्भागे प्रोक्षणीपात्रपूरणम् ।
कृत्वार्घाम्बु क्षिपेत्तत्र तेनोक्षेत् त्रिर्निजा तनुम् ॥१२५२॥

प्रजपन् मूलगायत्रीं पूजावस्तुचय तथा ।
पाद्याचमनपात्रे च दध्यादर्घ्यस्य चोत्तरे ॥१२५३॥

एवमर्घ्यविधि प्रोक्त सर्वसाधारणो मया ।
विहाय शंकरं सूर्यमर्घ्ये शङ्ख• प्रशस्यते ॥१२५४

हेमरूपोदुम्बराब्जरीतिदारुमृदुद्भवम् ।
पालाश पद्मपत्रं च स्मृत पाद्यादिभाजनम् ॥१२५५॥

अशक्तावर्घ्यपात्रेण पाद्यादीनि निवेदयेत् ।
अंतर्याग ततः कुर्यात् पीठे वेहमये सुधी ॥१२५६॥

न्यासस्थानेषु मण्डूकमुख्यान् गन्धादिभि र्यजेत् ।
पीठमत्रान्तमत्रेज्या हृदये स्वेष्टदेवता ॥१२५७॥

कुण्डलीं च तयोत्त्थाप्य द्वादशान्ते परं नयेत् ।
तदुत्त्थामृतधाराभि प्रीणयेत् परदेवताम् ॥१२५८॥

जप कृत्वा निवेद्यास्मै मनसा ता विसर्जयेत् ।
मूर्ध्नि हृत्पादगुह्येषु तत पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥१२५९॥

अन्तर्याग विधायेत्थ वाह्यपूजनमारभेत् ।
द्विविध स्याल्लब्धमानो बाह्यान्तरमुपासनम् ।
न्यासिना चान्तरं प्रोक्तमन्येषामुभय तथा ॥१२६०॥

वारवीयसहितायामपि–

आदावभ्यन्तर यागमग्निकार्यावसानकम् ।
विधाय मानव पश्चाद् बहिर्यागं समाचरेत् ॥१२६१॥ इति ।

आद्यमेवं ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
वर्धिन्या प्रक्षिपेत् किंचिदर्घोदकमनन्यधी ॥१२६२॥

प्राणानायम्य मूलेन वामे गुरुत्रय नमेत् ।
दक्षिणे च गणेशान पीठपूजामथाचरेत् ॥१२६३॥

स्वर्णादिरचिते यन्त्रे यद्वा चन्दननिर्मिते ।
मण्डूकात् परतत्त्वान्तं दिङ्मध्ये पीठशक्तयः ॥१२६४॥
मण्डूकश्चाथ कालाग्निरुद्र आधारशक्तियुक् ।
कूर्मो धरा सुधासिंधुश्श्वेतद्वीपसुराङ्घ्रिपाः ॥१२६५॥
मणिहर्म्यं हेमपीठं धर्मो ज्ञानं विरागता ।
ऐश्वर्यं धर्मपूर्वास्तु चत्वारस्ते नञादिकाः ॥१२६६॥
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चेतरे ।
मध्येऽनन्तं तत्त्वपद्ममानन्दमयकन्दकम् ॥१२६७॥
संविन्नालं ततः प्रोक्ता विकारमयकेशराः ।
प्रकृत्यात्मकपत्राणि पञ्चाशद्वर्णकर्णिका ।
सूर्यस्येन्दोः पावकस्य मण्डलत्रितयं ततः ॥१२६८॥
सत्त्वं रजस्तमः पश्चादात्मायुक्तोऽन्तरात्मना ।
परमात्माऽथ ज्ञानात्मा तत्त्वे मायाकलादिके ॥१२६९॥
विद्यातत्त्वं परं तत्त्वं कथिताः पीठदेवताः ।
पूजने सर्वदेवानां पीठे ताः परिपूजयेत् ॥१२७०॥
पृथिव्यनन्तरं पूज्यः क्षीराब्धिर्माधवे श्रियम् ।
इक्षुसिन्धुर्गणेशे स्यादन्यत्रामृतसागरम् ॥१२७१॥
अग्निराक्षसवाय्वीशकोणे धर्मादयः स्मृताः ।
इन्द्रकीनाशवरुणसोमाशासु नञादिकाः ॥१२७२॥
धर्मादिपूजने प्राची तथैवावरणार्चने ।
पूजकस्य पुरः कल्प्या शक्रादिषु यथास्वकम् ॥१२७३॥
श्वेता कृष्णारुणा पीता श्यामा रक्ता सितासिता ।
रक्ताम्बराभयधरा ध्येयाः स्युः पीठशक्तयः ॥१२७४॥
शालग्रामे मणौ यंत्रे नित्यपूजां समाचरेत् ।
हेमादिप्रतिमायां वा स्थापितायां यथाविधि ॥१२७५॥
अङ्गुष्ठादिवितस्त्यन्तमाना स्यात् प्रतिमा गृहे ।
पूज्या न दग्धा भिन्ना वा नोर्ध्वाधोदृङ्मविक्रिया ॥१२७६॥

लिंग वा लक्षणोपेत तत्राऽऽवाहनमाचरेत् ।
मूलमुच्चार्य हृदयात् सुषुम्णा वर्त्मना सह ॥१२७७॥
द्वारेण ब्रह्मरंध्रस्य नासारध्रविनिर्गतम् ।
पुष्पाञ्जलौ मातृकाब्जे योजयित्वा विनि क्षिपेत् ॥१२७८॥
मूर्त्तौ पुष्पाञ्जलिं चैतदावाहनमुदीरितम् ।
शालग्रामे स्थितायां वा नावाहनविसर्जने ॥१२७९॥
आवाह्याद्युपचारेषु श्लोकान् शम्भूदितान् पठेत् ।
आत्मसस्थमज शुद्धं त्वामह परमेश्वर ।
अरण्यामिव हव्याशं मूर्त्तावावाहयाम्यहम् ॥१२८०॥

मूर्त्ताविति स्थाने यंत्रेष्वित्यादिपदकल्पना ।

पचायतनपक्षे तु मध्ये विष्णुं ततोऽर्चयेत् ।
अग्निनिर्ऋतिवायव्येशानेषु गणनायकम् ॥१२८१॥
रविं शिवां शिवं मध्ये गणेशश्चेत् शिव शिवाम् ।
रविं विष्णुं रवौ मध्ये विघ्नाजनगजेश्वरान् ॥१२८२॥
भवान्या मध्यसंस्थायामीशविघ्नार्कमाधवान् ।
हरे मध्यगते सूर्यगणेशगिरिजाच्युतान् ॥१२८३॥
सपूज्यादौ मध्यगत गणेशादि ततो यजेत् ।
गणेशे मध्यसस्थे तु पूजयेद् भास्करादिल ॥१२८४॥

केषाञ्चिद्विषये पचाङ्गाभावो यामले—

श्यामाया भैरवीतारांछिन्नमस्तासु भैरवि ।
मञ्जुघोषे, तथा रौद्रे, पचांगो नेष्यते बुधै ॥१२८५॥
तत्रापि गुह्यकालीविषये पचायतनी अस्त्येव ।

यन्त्रेषु पूजाक्रमो यथा विश्वसारे—

भूपुरेषु चतु कोणे पूजयेत् क्रमत सुधी ।
मध्ये सपूज्य विधिवत् पचायतनदेवता ॥१२८६॥

पुनर्मंत्रमहोदधौ-

विधायावाहन चेत्प्रमावाहिन्या तु मुद्रया ।
संस्थापिन्या स्थापयेत् त मूलान्ते श्लोकमुच्चरन् ॥१२८७॥
तवेयं महिमा मूर्तिस्तस्या त्वा सर्वग प्रभो ! ।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम् ॥१२८८॥
ऊह. कार्यो भवान्यादौ श्लोकमावाहनादिषु ।
मूलश्लोकौ पठन् कुर्यादासनं चोपवेशनम् ॥१२८९॥
सर्वान्तर्यामिने देव ! सर्वबीजमयं शुभम् ।
स्वान्त स्थाय पर शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम् ॥१२९०॥
अस्मिन् वरासने देव ! सुखासीनोऽक्षरात्मक ।
प्रतिष्ठितो भवेश ! त्वं प्रसीद परमेश्वर ॥१२९१॥
मूल श्लोकं पठन् कुर्यात् सन्निधान समुद्रया ।
अनन्या तव देवेश मूर्तिशक्तिरियं प्रभो ॥१२९२॥
सान्निध्यं कुरु तस्या त्व भक्तानुग्रहतत्पर ।
पठन् मूलं तथा श्लोकं सन्निरुध्यात् स्वमुद्रया ॥१२९३॥
आज्ञया तव देवेश कृपाम्भोधे गुणाम्बुधे ।
आत्मानन्दैकतृप्त त्वा सरुणध्मि महेश्वर ! ॥१२९४॥
मुद्रया सम्मुखीकुर्यान्मूल श्लोकं च सपठन् ।
अज्ञानाद् दौर्मनस्याद्वा वैकल्यात् साधनस्य च ॥१२९५॥
यदपूर्णं भवेत् कृत्य तदप्यभिमुखो भव ।
कुर्वीत मूलश्लोकाभ्या प्रार्थिन्या मुद्रयार्चनम् ॥१२९६॥
दृशा पीयूषवर्षिण्या पूरयन् यज्ञविष्टरम् ।
मूर्त्तावायज्ञसपूर्ते स्थिरो भव महेश्वर ! ॥१२९७॥
न्यसेत् षडग देवागे सकलीकरणं सुधी ।
मूलं श्लोकं पठन् कुर्यादवगुण्ठनमुद्रया ॥१२९८॥
अभक्तवाङ्मनश्चक्षु श्रोत्रदूरादपि स्थिते ।
सुतेज पंजरेणाशु वेष्टितो भव सर्वत. ॥१२९९॥

गोमुद्रयाऽमृतीकृत्य विदध्यात् परमीकृतिम् ।
महामुद्रा विरचयन् तत स्वागतमाचरेत् ॥१३००॥

मूलमंत्र तथा श्लोक पठन् तद्गतमानस ।
यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवा स्वाभीष्टसिद्धये ॥१३०१॥

तस्मै ते परमेशाय स्वागतं स्वागत च मे ।
तत सुस्वागत कुर्यान्मूलश्लोकौ समुच्चरन् ॥१३०२॥

कृतार्थोऽस्मि, गृहीतोऽस्मि सफल जीवन मम ।
आगतो देवदेवेश सुस्वागतमिद पुन ।
श्यामाकविष्णुक्रान्ताब्जदूर्वोशीर च चन्दनम् ॥१३०३॥

मूलश्लोकेन चामन्त्र्य पाद्य पादाम्बुजेऽर्पयेत् ।
यद् भक्तिलेशसपर्कात् परमानन्दसभव ॥१३०४॥

तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये ।
लवंगजातीकक्कोलान् प्रक्षिप्याचमनीयके ॥१३०५॥

दद्यादाचमन वक्त्रे मूलश्लोकसुधाक्षरै ।
वेदानामपि वेदाय देवाना देवतात्मने ॥१३०६॥

आचमन कल्पयामीश ! शुद्धाना शुद्धिहेतवे ।
अर्घ्यपात्रे क्षिपेद् दूर्वा तिलदर्भाग्रसर्षपान् ॥१३०७॥

यवपुष्पाक्षतान् गन्ध मूर्ध्नि तेनार्घ्यमाचरेत् ।
मूलश्लोकशिरोमंत्रै देवस्य मन्त्रवित्तम ॥१३०८॥

तापत्रयहर दिव्य परमानन्दलक्षणम् ।
तापत्रयविनिर्मुक्त तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम् ॥१३०९॥

पात्रे तु मधुपर्कस्य दध्याज्यमधु निक्षिपेत् ।
मूलश्लोकसुधामंत्रै र्दध्यात् त वदने प्रभो ॥१३१०॥

सर्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मने ।
मधुपर्कमिद देव ! कल्पयामि प्रसीद मे ॥१३११॥

जातीकर्पूरकक्कोलबहुमूलतमालकान् ।
तच्चूर्णयेद् यथाम्नाय पुनराचमनीयकम् ॥१३१२॥

पुनराचमन दद्यान्मूलं श्लोकान्तर पठन् ।
उच्छिष्टोऽप्यशुचि र्वापि यस्य स्मरणमात्रत ॥१३१३॥

शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम् ।
स्नानवस्त्रोपवीतान्ते नैवेद्यान्तेऽपि तत् स्मृतम् ॥१३१४॥

पाद्यादिद्रव्याभावे तु तत् स्मरन्नक्षतान् क्षिपेत् ।
गन्धतैल ततो दद्यान्मूल श्लोक पठन् सुधी ।
स्नेह गृहाण स्नेहेन लोकनाथ महाशय ॥१३१५॥

सर्वलोकेषु शुद्धात्मन् ददामि स्नेहमुत्तमम् ।
हरिद्राद्यैस्तमुद्वर्त्य स्नापयेद्रुभय पठन् ॥१३१६॥

महाकपिलपञ्चरात्रे विशेष –

रजनी सहदेवी च शिरीषो लक्ष्मणाऽपि च ।
सदाभद्राकुशाग्राण्युद्वर्तनमिहोच्यते ॥१३१७॥

अभ्यगोद्वर्तने चापि महास्नान समाचरेत् ।
परमानदबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्तये ॥१३१८॥

सागोपागमिह स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते ।
तत सहस्र शतेन शत वा शक्तितोऽपि वा ॥१३१९॥

गन्धयुक्तोदकैरीशमभिषिचेन्मनु जपन् ।
पठन् मूल तत. श्लोक दद्याद् वस्त्रोत्तरीयके ॥१३२०॥

मायाचित्रपटच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे ।
निरावरणविज्ञानवासस्ते कल्पयाम्यहम् ॥१३२१॥

यमाश्रित्य महामाया जगत्समोहिनी सदा ।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम् ॥१३२२॥

पीत विष्णु सित शम्भु रक्तं विघ्नार्कशक्तिषु ।
सच्छिद्र मलिन जीर्णं त्यजेत्तैलादिदूषितम् ॥१३२३॥

उपवीत भूषणानि प्रयच्छेदुभयं पठन् ।
यस्य शक्तित्रयेणेद संप्रोतमखिल जगत् ॥१३२४॥

यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्र प्रकल्पये ।
स्वभावसुन्दरागाय नानाशक्त्याश्रयाय ते ॥१३२५॥

भूपणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चित ! ।
मूलमन्त्रेण पुटितमेकैक मातृकाक्षरम् ॥१३२६॥

विन्यसेद् देवतागेपु योगोऽयं लोकमोहन ।
कनिष्ठया पात्रसस्थ पूर्ववद् गन्धमर्पयेत् ॥१३२७॥

परमानन्दसौभाग्यपरिपूर्णदिगन्तरम् ।
गृहाण परम गन्ध कृपया परमेश्वर ! ॥१३२८॥

तत कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्या गन्धमुद्रा प्रदर्शयेत् ।
मूल श्लोकं पठन् नत्वा पुष्पाणि विनिवेदयेत् ॥१३२९॥

तुरीयवनसभूत नानागुणमनोहरम् ।
अमन्दसौरभं पुष्प गृह्यतामिदमुत्तमम् ॥१३३०॥

तर्जन्यगुष्ठयोगेन पुष्पमुद्रा प्रदर्शयेत् ।
अक्षतानर्कधत्तूरौ विष्णौ नैवार्पयेत् सुधी. ॥१३३१॥

बन्धूकं केतकीं कुन्दं केशरं कुटजं जपाम् ।
शकरे नार्पयेत् विद्वान् मालतीं यूथिकामपि ।
शक्तौ दूर्वार्कमन्दारान् मालूर तगर रवौ ॥१३३२॥

दूर्वाशब्द श्वेतदूर्वापरम् । एतद्विधायकवाक्य सकेतपटले द्रष्टव्यम् ।

विनायके तु तुलसीं नार्पयेद् जातुचिद् बुध ।
श्वेत पीत हरेरिष्टं रक्तं रविगणेशयो ॥१३३३॥

निर्गन्धकेशकीटादिदूषितं चोग्रगन्धकम् ।
मलिन तनुसस्पृष्टमाघ्रात स्वविकासितम् ।
अशुद्धभाजनानीत स्नात्वानीत च याचितम् ॥१३३४॥

शुष्कं पर्युषितं कृष्ण भूमिगं नार्पयेत् सुमम् ।
चम्पकं कमल त्यक्त्वा कलिकामपि वर्जयेत् ॥१३३५॥

कुरण्डक काञ्चनार वर्जयेद् बृहतीद्वयम् ।
पुष्प पत्र फलं देवे न प्रदद्यादधोमुखम् ॥१३३६॥
पुष्पाञ्जलौ न तद्दोष तथा पर्युषितस्य च ।
तुलसी वकुलोऽब्जश्च चम्पकश्च सरोजिनी ॥१३३७॥
बिल्वकल्हारदमनास्तथा मरुबक कुश ।
दूर्वा हि वल्ल्यपामार्गविष्णुक्रान्तामुनिद्रुम ॥१३३८॥
धात्रीयुतानामेतेषा पत्रै कुर्यात् सुरार्चनम् ।
जम्बूदाडिमजम्बीरतिंतिणीबीजपूरका ।
रम्भा धात्री च बदरी रसाल पनसोऽपि च ॥१३३९॥
येषा फलै र्यजेद् देव तुलसी तु हरे प्रिया ।
सुवर्णपुष्पतुलसी नैव निर्माल्यता व्रजेत् ॥१३४०॥

एतेषा निर्माल्यकथन ज्ञानमालायाम्–

बिल्वापामार्गजातीतुलसिशमिशताकेतकीभृंगदूर्वा-
मदाम्भोजा हि दर्भा मुनितिलतगरब्रध्नकल्हारमल्ली ।
चम्पाश्वारातिकुम्भीमरुबकदमना बिल्वतोऽहानि च स्यु-
स्त्रिशत्[1] त्र्येकार्य्यरीशोदधिनिधिवसुभूभूयमा भूय एव ॥१३४१॥

प्रथमावृत्त्या बिल्वादीना द्वितीयावृत्त्या दर्भादीना दिनसख्या बोध्या ।

पुष्पपूजा विधायेत्थं कुर्यादावरणार्चनम् ।

इदानी तत्रातरोक्ती विशेषो लिख्यते–

अनिर्माल्य सनिर्माल्यमर्चनं द्विविध मतम् ।
दिव्यै र्मनोरमै द्रव्यै र्गन्धपुष्पै स्रगादिभि ।
यदर्चनमनिर्माल्य दिव्यभोगापवर्गदम् ॥१३४२॥
ग्राम्यारण्यादिसभूतै र्यागद्रव्यै र्मनोरमै ।
भक्त्यै यत् क्रियते सम्यक् सनिर्माल्य तदर्चनम् ॥१३४३॥

१–अत्र सकेतित सख्याक्रमस्त्वेवम्–त्रिशत् ३०, त्रि ३, एक १, आर्य ६, अरि ६, ईश ११, उदधि ४, निधि ९, वसु ८, भू १, भू १, इति ।

त्र तत्त्वसागरसहितायां निर्माल्यत्वमुक्तम्–

जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गत. ॥१३४४॥
पंचमिश्र महाभूतं भानुना शशिना तथा ।
प्राणिमिश्र द्विरेफाद्यं पौष्पैरेव न सशय. ॥१३४५॥
अतो निर्माल्यमित्युक्तम् ··· ·· ··· ।

निर्माल्य चेदनेन फल कथमित्याशक्य तत्रैवोक्तम् –

घ्रातपुष्पात् फल सिध्येदल्प नो मानसाद् यथा ।
तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चानुपायत ।
अल्पबुद्धया ततो नृणा बाह्यपुष्पै भवेत् क्रिया ॥१३४६॥ इति ।
अगानि दिक्पहेत्यन्त ततो धूपादिक चरेत् ।
अग्निनिर्ऋतिवाय्वीशकोणेषु हृदय शिर ॥१३४७॥
शिखा कवचमाराध्य नेत्रमग्रे प्रपूजयेत् ।
दिक्ष्वस्त्रमगदेव्यस्ता ध्यातव्या वामलोचना ॥१३४८॥
सिताश्वेताऽसिता स्तिस्रो रक्ता इष्टाऽभयान्विताः ।
स्वस्वदिक्षु यजेद् दिक्पान् जातिहेत्यादिसयुतान् ॥१३४९॥
तारादिनिजबीजाद्यान् तत्प्रयोगोऽधुनोच्यते ।
तार बीजमथेन्द्रायाऽमुकाधिपतये तत ।
सायुधाय सवाहान्ते नायसान्ते तथा परि ॥१३५०॥
वारायान्ते सशक्तीतिकायामुकपदं तत ।
पार्षदाय नमोऽन्तोऽयं दिक्पालाना मनु स्मृत ॥१३५१॥
इन्द्रायेति पदस्थाने वह्न्यादिपदमुच्चरेत् ।
अग्नि तथा यम रक्षो वरुण पवन विधुम् ॥१३५२॥
ईशान पन्नगाधीशमध ऊर्ध्वं पितामहम् ।
पीतो रक्त सितो धूम्र शुक्लो धूम्रसितावुभौ ॥१३५३॥
गौरोऽरुण क्रमादेते वर्णत परिकीर्तिता ।
स्वस्वबीजादिका बीजसमूह कथ्यतेऽधुना ॥१३५४॥

मास रक्त विष मेरु जलं वायु भृंगु वियत् ।
एतानि शशियुक्तानि पाशो मायान्तिमा मता ॥१३५५॥
आद्याऽमुकपदस्थाने क्रमाज्जाति वदेत् सुधीः ।
सुरतेज प्रेतरक्ष सलिलप्राणतारका ॥१३५६॥
भूता हि लोका विज्ञेया आशापालकजातय ।
वज्र शक्ति दण्डमसि पाशमंकुशक गदाम् ॥१३५७॥
शूलं चक्रं पद्ममेषामायुधानि क्रमाद् विदु ।
पीतशुक्लसिताकाशविद्युद्रक्तसितासिता ॥१३५८॥
कुरुविन्दपाटलाभा वज्राद्या परिकीर्तिता ।
ऐरावतोऽजमहिषप्रेतमीनपृषन्नरा ॥१३५९॥
वृषभ स्यन्दन हंसो वाहनानि प्रकीर्तिता ।
पार्षदात् पूर्वममुकस्थाने स्यात् स्वेष्टदेवता ॥१३६०॥
यातुतोयपयो मध्येऽनन्त पूर्वेशयोऽस्तु कम् ।
पूजान्ते लोकपालाना मुद्रा सदर्शयेदिमाम् ॥१३६१॥
पाणिमूले मुसलग्ने शाखा सर्वा प्रसारिता ।
लोकेशानामिय मुद्रा तेषामर्चासु दर्शयेत् ॥१३६२॥
प्रत्यावृत्ति क्षिपेद् देवे पुष्प मंत्रमिम जपन् ।
अभीष्टसिद्धि मे देहि शरणागतवत्सल ॥१३६३॥
भक्त्या समर्पये तुभ्यमिदमावरणार्चनम् ।
आह्वानाद्युपचारेषु प्रत्येक पुष्पपायसी ॥१३६४॥
दत्वा प्रक्षाल्य च करौ उपचारान्तर चरेत् ।
धूपपात्रस्थितागारे क्षिप्त्वाऽगरुपुरादिकम् ॥१३६५॥
पात्रमस्त्रेण सप्रोक्ष्य हृदा पुष्पं समर्पयेत् ।
संस्पृशन् वामतर्जन्या मूलं श्लोक च सपठन् ॥१३६६॥
वनस्पतिरसोपेतो गन्धाढ्य. सुमनोहर ।
आघ्रेय सर्वदेवानां धूपोऽय प्रतिगृह्यताम् ॥१३६७॥

सागाय सपरीत्यन्ते वाराय डेन्तदेवता ।
धूप समर्पयामीति नमोऽन्तं मन्त्रमुच्चरन् ॥१३६८॥
शखाम्बु प्रक्षिपेद् भूमौ धूपमुद्रा प्रदर्शयन् ।
तर्जन्यगुष्ठयोगेन घण्टामर्चेत् स्वमन्त्रतः ॥१३६९॥
जयध्वनिमन्त्रमात स्वाहान्तश्च दशाक्षर ।
वादयन् वामहस्तेन कीर्तयन् देवतागुणान् ॥
धूपयेद् दक्षहस्तेन देवता नाभिदेशत ॥१३७०॥
जलं पुष्पाञ्जलि दद्याद् दीपदानमपीदृशम् ।
वाममध्यमया स्पर्शो मूलश्लोकस्य कीर्तनम् ॥१३७१॥
सुप्रकाशो महादीप सर्वतस्तिमिरापह ।
सबाह्याभ्यन्तरज्योति र्दीपोऽय प्रतिगृह्यताम् ॥१३७२॥
धूपस्थाने दीपपद मध्यमागुष्ठयोगत ।
दीपमुद्रादर्शन तु तद्दानं नेत्रदेशत ॥१३७३॥
भूमपक्षे तु वर्त्तीना विषमा वर्त्तिका मता ।
घृतदीपो दक्षिणे स्यात् तैलदीपस्तु वामत ॥१३७४॥
सितवर्त्तियुतो दक्षे वामाङ्गे रक्तवर्त्तिका ।
दीपान्यद् धूपवज्ज्ञेय् ततो नैवेद्यमर्पयेत् ॥१३७५॥
स्वर्णादिभाजने साज्यशर्कर पायसादिकम् ।
परिवेश्य यथाशक्ति प्रोक्षेत् कैरस्त्रमन्त्रितै ॥१३७६॥
चक्रमुद्रामथाऽऽरच्य सप्रोक्षेन्मन्त्रितै जंलै ।
वायुबीजेनार्कवार ततस्तज्जालमारुतै, ॥१३७७॥
नैवेद्यदोष सशोध्य चिन्तयेद् दक्षिणे करे ।
अग्निबीज तस्य पृष्ठे वाम करतले न्यसेत् ॥१३७८॥
त दर्शयित्वा नैवेद्ये तदुत्थेनाग्निनाऽखिलम् ।
नैवेद्यदोष सन्दह्य बीजोत्थाऽमृतधारया ॥१३७९॥
प्रोक्ष्य मूलेन तत् स्पृष्ट्वाऽष्टशो मूलमनु जपेत् ।
दर्शयित्वा धेनुमुद्रा गन्धपुष्पैस्तदर्पयेत् ॥१३८०॥

देवे पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा तेजो देवमुखोत्थितम् ।
विचिन्त्य वामाङ्गुष्ठेन स्पृशेन्नैवेद्यभाजनम् ॥१३८१॥
दक्षहस्ते जलं धृत्वा मूलं श्लोकं शिरः पठन् ।
सत्पात्रसिद्धं सुहविः विविधानेकभक्षणम् ॥१३८२॥
निवेदयामि देवेश ! सानुगाय गृहाण तत् ।
सागायेत्यादिकं प्रोच्य जलमुत्सृज्य भूतले ॥१३८३॥
नैवेद्यमुद्रामङ्गुष्ठानामिकाभ्यां प्रदर्शयेत् ।
सपुष्पाभ्यां कराभ्यां त्रिः प्रोद्धरन् भोज्यभाजनम् ॥१३८४॥
निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविः हरे ।
षोडशार्णमिति प्रोच्य ग्रासमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥१३८५॥
वामहस्तेन पद्मामां प्राणाद्या दक्षिणेन तु ।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठे मुद्रा प्राणस्य कीर्तिता ॥१३८६॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैरपानस्य तु मुद्रिका ।
अनामामध्यमाङ्गुष्ठे व्यानस्येय तु मुद्रिका ॥१३८७॥
कनिष्ठानामामध्याभिः साङ्गुष्ठाभिश्चतुर्थिका ।
सर्वाभिः सा समानस्य प्राणाद्यान् ङे द्विठान्वितान् ॥१३८८॥
तारपूर्वान् जपन् मुद्राः प्राणादीनां प्रदर्शयेत् ।
ततो जवनिकां धृत्वा ब्रह्मशाद्यैरिदं पठेत् ।
पद्य शाली भक्तमिति मूलमंत्रं च सप्तधा ॥१३८९॥
ब्रह्मेशाद्यैः परितः उरुभिः सूपविष्टैः समेतो
लक्ष्म्या सिञ्जद्वलयकरया सादरं वीज्यमानः ।
नर्मक्ष्वेल्या प्रहसितमुखैः हासयन् पङ्क्तिभोक्तॄन्
भुङ्क्ते पात्रे कनकघटिते षड्रसं श्रीरमेशः ॥१३९०॥

लक्ष्म्या इति पदे गौर्या, सिद्धया, प्रभया। रमेशपदेऽन्यदेवस्याऽप्यूह श्रीमहेशः, गणेशः, दिनेशः, चिद्विलासेत्यादि।

शालीभक्तं सुभक्तं शिशिरकरसितं पायसापूपसूपं
लेह्यं चोष्यं च पेयं सितममृतफलं वारिमृष्टं सुखाद्यम् ॥

श्राज्य प्राज्य संमज्य नयनरुचिकरं राजिकैलामरीचि-
स्वाद्वाढ्य शाकराजीपरिकरममृताहारजोष जुषस्व ॥१३९१॥
प्रतिसीरामपाकृत्य दद्यात् श्लोकं पठन् जलम् ।
समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकर परम् ॥१३९२॥
श्रखण्डानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ।
स्थण्डिलेऽग्निमुपादाय वैश्वदेवक्रिया चरेत् ॥१३९३॥
मूलेन वीक्ष्य चास्त्रेण कृत्वा प्रोक्षणताडने ।
कुशैस्तद्वर्मणाऽभ्युक्ष्य यथोक्तं स्थापयेत् शुचिम् ॥१३९४॥
तन्मन्त्रेण समभ्यर्च्याऽऽह्वयेत् तत्रेष्टदेवताम् ।
पूजयेद् गन्धपुष्पैस्ता महाव्याहृतिभिस्तत ॥१३९५॥
हुत्वा व्यस्तसमस्ताभिराहुतीना चतुष्टयम् ।
श्रन्नं मूलेन जुहुयात् पञ्चविंशतिसख्यया ॥१३९६॥
पुन व्याहृतिभि हुत्वा मूर्तौ देव नियोजयेत् ।
वह्नि विसृज्य देवाय दद्यादाचमनोदकम् ॥१३९७॥
तेज सयोज्य देवास्ये निर्गत देववक्त्रत. ।
नैवेद्याश तदुच्छिष्टभोजिने विनिवेदयेत् ॥१३९८॥
विष्वक्सेनो हरेरुक्तश्चण्डेश्वर उमापते ।
विकर्त्तनस्य चण्डाशु वक्रतुण्डो गणेशितु ॥१३९९॥
शक्तेरुच्छिष्टचाण्डाली स्मृता उच्छिष्टभोजिनः ।
ततो जवनमूर्त्ताय कुर्यादारात्रिक सुधी ॥१४००॥
अथो निवेद्य ताम्बूल दर्शयेच्छत्रचामरे ।
पठेदेकमना भूत्वा सार्धं श्लोकचतुष्टयम् ॥१४०१॥
बुद्धि सवासना क्लृप्ता दर्पण मंगलानि च ।
मनोवृत्ति विचित्रा ते नृत्यरूपेण कल्पिता ॥१४०२॥
ध्वनयो गीतरूपेण शब्दो वाद्यप्रभेदत ।
छत्राणि तव पद्मानि कल्पितानि मया प्रभो ॥१४०३॥

सुषुम्णा ध्वजरूपेण प्राणाद्याश्चामरात्मना ।
अहंकारो गजत्वेन वेग क्लृप्तो रथात्मना ॥
इन्द्रियाण्यश्वरूपाणि शब्दादि रथवर्त्मना ॥१४०४॥
मन प्रग्रहरूपेण बुद्धि सारथिरूपत ।
सर्वमन्यत्तथा क्लृप्त तवोपकरणात्मना ॥१४०५॥
श्लोकानेतान् पठित्वा तु मूलमन्त्रमनन्यधी ।
यथाविधि जपित्वा तं मन्त्रेण विनिवेदयेत् ॥१४०६॥
जपविधिस्तु मन्त्रसकेतपटले लिखाम ।
क्षिपन्नर्घ्यस्य पानीय देवता दक्षिणे करे ।
गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत् कृत जपम् ॥१४०७॥
सिद्धि भवतु मे देव त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिता ।
कीर्तित श्लोकरूपोऽयं मन्त्रो जपनिवेदने ॥१४०८॥
दत्वा पराङ्मुख चार्घ्यं पुष्पै शंखं प्रपूजयेत् ।
दण्डवत् प्रणिपत्येश देवें कुर्यात् प्रदक्षिणाः ॥१४०९॥
अजेशशक्तिगणपभास्कराणा क्रमादिमा ।
वेदार्धचन्द्रवह्न्यद्रिसख्या स्यु. सर्वसिद्धये ।
स्तुत्वा ब्रह्मार्पणाख्येन मनुनाऽऽत्मानमर्पयेत् ॥१४१०॥
स्तुत्वेति सस्कृतप्राकृतभाषारूपै कवचसहस्रनामस्तोत्रादिभिरिति ।
इत पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारत ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यन्तेऽवस्थासु मनसा वदेत् ।
वाचा हस्ताभ्या पद्भ्यामुदरेण शिश्नकस्तत ॥१४११॥
मेपोऽनन्तान्वितो यत्स्मृत यदुक्त च यत्कृतम् ।
तत्सर्वं प्रोच्य ब्रह्मार्पण भवत्वग्निवल्लभा ॥१४१२॥
मा मदीय च सकलं हरयेऽन्ते समर्पयेत् ।
तारस्तत्सदिति प्रोक्तो ब्रह्मार्पणमनुर्बुधै ॥१४१३॥
प्रणवादिद्व्यशीत्यर्णो देवतात्मसमर्पणे ।
संहारमुद्रया देव संहरेद् हृदये निजे ॥१४१४॥

अन्यस्मिन् दैवते कार्यं ऊहो हरिपदे बुधैः ।
एव सम्पूज्य देवेश ब्रह्मयज्ञं समाचरेत् ।
योगक्षेमं तत कृत्वा मध्याह्ने स्नानमाचरेत् ॥१४१५॥
स्मार्तं तान्त्रं च पूर्वोक्त सन्ध्या तर्पणमप्यथ ।
संपूज्य पूर्ववद् देव वैश्वदेवादिक चरेत् ॥१४१६॥
देवप्रसाद भुञ्जीत सम्भोज्य ब्राह्मणोत्तमान् ।
आचम्य देवं संस्मृत्य पुराणं शृणुयात् सुधीः ॥१४१७॥
सध्या होम च निर्वृत्य देवं संपूज्य पूर्ववत् ।
शयीत शुद्धशय्याया भुक्त्वाल्पं देवता स्मरन् ॥१४१८॥
एवं य पूजयेत् देव त्रिकालं धर्ममाचरन् ।
न जातु वैरिभि र्दुःखैः पीड्यते देवरक्षित ॥१४१९॥
त्रिकालपूजनाशक्तौ कार्यं द्वि सकृदर्थदः ।
विशेषेण यजेद् देवं सङ्क्रान्त्यादिषु पर्वसु ॥१४२०॥
दशभि पंचभि र्वापि पूजयेदुपचारकै ।
अशक्त कारयेत् पूजा दद्यादर्चनसाधनम् ॥१४२१॥
दानाऽशक्त समर्चन्त पश्येत् तत्परमानस ।
साधना भाविनी त्रासी दौर्बोधी सौतकी तथा ॥१४२२॥
आतुरी पञ्चधोक्ता सा पूजास्ता कीर्त्यते क्रमात् ।
पूजा साधनवस्तूनामभावान् मनसैव सा ॥१४२३॥
पूजाम्भसा वा शुद्धेन साधना भाविनी तु सा ।
त्रस्त सपूजयेद् देव यथालब्धोपचारकै ॥१४२४॥
मानसै र्वापि सा त्रासी ज्ञेया सपूर्णसिद्धिदा ।
बाला वृद्धा स्त्रियो मूर्खा दुर्बोधा तत्कृता स्तुता ॥१४२५॥
यथाज्ञान सुरार्चा सा दौर्बोधी कीर्तिता बुधै ।
सूतकी तु नर स्नात्वा कृत्वा सन्ध्या च मानसीम् ॥१४२६॥
मानसै र्वार्चयेत् कामी निष्काम सर्वमाचरेत् ।
सौतक्युक्ताऽऽतुरो रोगी न स्नायात् न च पूजयेत् ॥१४२७॥

विलोक्य मूर्ति देवस्य यदि वा सूर्यमंडलम् ।
सकृन्मूलमनु जप्त्वा तत्र पुष्पं विनिक्षिपेत् ॥१४२८॥
ततो रोगे गते स्नात्वा पूजयित्वा गुरून् द्विजान् ।
पूजाविक्षेपदोषो मे माऽस्त्विति प्रार्थयेत्तु तान् ॥१४२९॥
तेभ्यश्चाशिषमादाय स्वं देवं पूर्ववद् यजेत् ।
आतुरी कीर्तिता पूजा पञ्चैव शिवकीर्तिता ॥१४३०॥
स्वयं संपाद्य सर्वाणि श्रद्धया साधनानि य॰ ।
पूजयेत् तत्परो देवं स लभेताऽखिलं पदम् ॥१४३१॥
पूजनेन फलार्धः स्यादन्यदत्तैस्तु साधनैः ।
तस्मात् स्वय समानीय साधनान्यर्चनं चरेत् ॥१४३२॥
देवपूजाविहीनो य स नरो नरके पतेत् ।
यथाकथंचित् देवार्चा विधेया श्रद्धयान्वितै ॥१४३३॥
पूज्यैहिकसुखं भुक्त्वाप्यन्ते देवत्वमाप्नुयात् ॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे पूजाक्रम नाम नवम पटल ।

दशमः पटलः ।

अथानन्तर न्यासस्यावश्यकत्वात् कतिचिन्न्यासा लिख्यन्ते ।

कुलप्रकाशतन्त्रे–

न्यास विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधा ।
न्यासात् तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥१४३५॥
आगमोक्तेन मार्गेण न्यासान् नित्यं करोति य ।
देवताभावमाप्नोति मन्त्रसिद्धिश्च जायते ॥१४३६॥
अकृत्वा न्यासजात यो मूढात्मा प्रभजेन्मनून् ।
सर्वविघ्नैश्च बाध्येत व्याघ्रं मृगशिशुर्यथा ॥१४३७॥
यो न्यासकवचच्छन्नो मन्त्र जपति त प्रिये ।
विघ्ना दृष्ट्वा पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजा. ॥१४३८॥
ते च सर्वसाधारणत्वेन गांधर्वे, विशेषाश्च तत्तत्कल्पतो ज्ञेया ।

भूतशुद्धि मातृका च पीठन्यासं तथैव च ।
ऋष्यादिसहितानीह षडगानि करागयो' ॥१४३९॥
विद्यान्यास महेशानि कृत्वा देवमयो भवेत् ।
एतदेव हि नित्यं स्यादन्यत् काम्य प्रकीर्तितम् ॥१४४०॥
ये तु षोढादयो न्यासा कार्या. सौभाग्यवाञ्छया ।
तत् तत् कल्पे च द्रष्टव्या एतदेव ब्रवीमि ते ॥१४४१॥
देव एव यजेद् देवं नादेवो देवमर्चयेत् ।
न्यासात् तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत् ॥१४४२॥

भूतशुद्धिस्तु पूजापटले कथितैव । तथापि किंचिल्लिखामि ।

शैवागमे–

शरीराकारभूताना भूताना यद् विशोधनम् ।
अव्यक्तब्रह्मसपर्काद् भूतशुद्धिरियं मता ॥१४४३॥
भूतशुद्धि विना कर्म जपहोमार्चनादिकम् ।
भवेत् तन्निष्फलं सर्वप्रकारेणाऽप्यनुष्ठितम् ॥१४४४॥
स्वभावत' सदा शुद्ध पचभूतात्मकं वपु ।
मलमूत्रसमायुक्त सर्वदेव महेश्वरि ॥१४४५॥
तस्यैव हि विशुद्ध्यर्थं वाय्वग्निसलिलाक्षरै ।
शोषदाहौ तथा भस्म प्रोत्सारामृतवर्षणम् ॥१४४६॥
आप्लावन च कर्तव्यं पूरकुंभकरेचकै ।
आदौ विलाप्य भूतानि पृथिव्यादीनि च क्रमात् ॥१४४७॥

तद्यथा–

गधादिघ्राणसयुक्ता पृथिवीमप्सु सहरेत् ।
रसादिजिह्वया सार्धं जलमग्नौ प्रलापयेत् ॥१४४८॥
रूपादि चक्षुषा सार्धमग्नि वायौ नयेल्लयम् ।
समीरमम्बरे विद्वान् स्पर्शादि त्वक्समन्वितम् ॥१४४९॥
अहकारे हरेद् व्योम सशब्दं तं महत्यपि ।
महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे ॥१४५०॥

सच्चिदानन्दरूपं यद् वैष्णवं परमं पदम् ।
पृथिव्यादिक्रमात् सर्वं तत्र लीनं विचिन्त्य च ॥१४५१॥
आप्लावनादिकं कार्यं प्राणायामप्रयोगतः ।
हृदि हस्तं संनिधाय प्राणान् संस्थापयेत्ततः ।
प्राणान् संस्थाप्य विधिवन्मातृकान्यासमाचरेत् ॥१४५२॥

अथ मातृकान्यासो मन्त्रमहोदधौ–

एवं प्राणान् प्रतिष्ठाप्य मातृकान्यासमाचरेत् । इति ।

अन्यच्च–

मातृकायाः षडङ्गं च मातृकान्यासमेव च ।
सर्वेषां प्रथमं कृत्वा पश्चात् तत्रोदितान् न्यसेत् ॥१४५३॥

अन्यत्रापि–

रुद्रैर्युक्ता केवलाम्बा मनुना कर्मारम्भे मातृका विन्यसेद् यः ।
मन्त्रास्तस्य कुर्वते शीघ्रसिद्धिं पापैः सार्द्धं याति नाशं जरा च ॥१४५४॥

सा द्विधा–

मातृका द्विविधा प्रोक्ता परा च अपरा तथा ।
सुषुम्णान्तः परा ज्ञेया अपरा देहमाश्रिता ॥१४५५॥ इति ।

तत्क्रमस्तु मन्त्रमहोदधौ–

अकाराद्या क्षकारान्ता वर्णाः प्रोक्ता तु मातृका ।
प्रजापतिर्मुनिस्तस्या गायत्री छन्द ईरितम् ॥४५६॥
सरस्वती देवतोक्ता विनियोगोऽखिलाप्तये ।
हलो बीजानि चोक्तानि स्वराः शक्तय ईरिताः ॥१४५७॥
मूर्ध्नि वक्त्रे हृदि न्यस्य ऋष्यादीन् साधकोत्तमः ।
पञ्चवर्गैर्यादिभिश्च षडङ्गानि समाचरेत् ॥१४५८॥
क्लीबहीनशशाङ्काढ्य-ह्रस्वदीर्घान्तरस्थितैः ।
सानुस्वारं जातियुक्तं ध्यायेद् देवीं ततोऽम्बुजे ॥१४५९॥
पञ्चाशदर्णैः रचितांगभागां धृतेन्दुखण्डां कुमुदावदाताम् ।
वराभये पुस्तकमक्षसूत्रं भजे गिरं सन्दधतीं त्रिनेत्राम् ॥१४६०॥
ध्यात्वा प्रपूजयेत् पीठे देवताः पूर्वमीरिताः ॥

पीठशक्तयस्तु मण्डूकादिपरतत्त्वान्ता पूजापटलतो ज्ञेया ।

पीठशक्तेस्तदुपरि सरस्वत्यो नवार्चयेत् ।
मेधा प्रज्ञा प्रभा विद्या श्रीधृतिस्मृतिबुद्धय ॥१४६१॥
विद्येश्वरीति संप्रोक्ता मातृकापीठशक्तय ।
वियद्भृगुस्थं मनुयुक् विसर्गाढ्यं च मातृका ॥१४६२॥
योगपीठाय नत्यन्तो मनुरासनदेशने ।
मूर्ति सकल्प्य मूलेन तस्या वाणीं प्रपूजयेत् ॥१४६३॥
आदावंगानि सपूज्य द्वितये पूजयेत् स्वरौ ।
द्वौ द्वौ तृतीये वर्गांश्च वर्गशक्तीश्चतुर्थके ॥१४६४॥
व्यापिनी पालिनी चेति पावनी क्लेदिनी पुन ।
धारिणी मालिनी पश्चाद् हंसिनी शखिनी तथा ॥१४६५॥
वर्गशक्तय इत्युक्ता पंचमे त्वष्टमातर ।
षष्ठे शक्रादयो देवा सप्तमे वज्रपूर्वका ।
इत्थ सपूज्य देवेशीं न्यसेद् वर्णान् निजाङ्गके ॥१४६६॥

अथ मातृकान्यासस्य द्विवारवकथनात् आदावन्तर्मातृका यामले—

अथान्तर्मातृकान्यास शृणु त्व कमलानने ।
द्व्यष्टपत्राम्बुजे कण्ठे स्वरान् षोडश विन्यसेत् ॥१४६७॥
द्वादशच्छदहृत्पद्मे कादीन् द्वादश विन्यसेत् ।
दशपत्राम्बुजे नाभौ डकारादीन् न्यसेद् दश ॥१४६८॥
षट्पत्रमध्ये लिङ्गस्थे वकारादीन् न्यसेच्च षट् ॥
आधारे चतुरो वर्णान् वादीन् सान्तान् न्यसेदथ ॥१४६९॥
हक्षौ भ्रूमध्यगे पद्मे द्विदले विन्यसेत् प्रिये । इति ।

बहिर्न्यासस्तु मन्त्रमहोदधौ—

ललाटमुखवृत्ताक्षिश्रवोनासासु गण्डयो ।
ओष्ठयो र्दन्तपङ्क्त्योश्च मूर्ध्नि वक्त्रे न्यसेत् स्वरान् ॥१४७०॥
बाह्वो सन्धिषु साग्रेषु कचवर्गौ न्यसेत् सुधी ।
टतवर्गौ पदोस्तद्वत् पार्श्वयो पृष्ठदेशत. ॥१४७१॥

नाभौ कुक्षौ पवर्गं च हृदंश-ककुदंशत ।
न्यस्य यादिचतुर्वर्णात् शादिषट्कं ततो न्यसेत् ॥१४७२॥

हृदादिकरयोरङ्घ्र्योर्जठरे वदने तथा ।
यादियोग त्वगसृगादिषु सर्वान्यासे प्रकीर्तित. ॥१४७३॥

सृष्टिन्यास विधायैवं स्थितिन्यासं समाचरेत् ।
ऋषिश्छन्दश्च पूर्वोक्त देवता विश्वपालिनी ॥१४७४॥

उपविष्टा वल्लभाङ्के ध्यायेद् देवीमनन्यधी ।
मृगबालं वरं विद्यामक्षसूत्र दधत्करै ॥१४७५॥

मालाविद्यालसद्धस्ता वहन् ध्येय. शिवो गिरम् ।
एवं ध्यात्वा डकाराद्यान् वर्णानिगेषु विन्यसेत् ॥१४७६॥

गुल्फादिजानुपर्यन्त स्थितिन्यासोऽयमीरित ।
न्यासे सहारसज्ञे तु ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् ॥१४७७॥

सहारिणी सपत्नाना शारदा देवता स्मृता ।
अक्षस्रक्टंकसारगविद्याहस्तां त्रिलोचनाम् ॥१४७८॥

चन्द्रमौलिं कुचानम्रा रक्ताब्जस्था गिरं भजे ।
ध्यात्वैव विन्यसेद् वर्णान् क्षाद्यानन्तान् विलोमत. ॥१४७९॥

सृष्टिन्यासे तु सर्गान्ता सर्गबिन्द्वन्तिका स्थितौ ॥
बिन्द्वन्ता संहृतौ चैषां पूर्ववच्चागपूजने ॥१४८०॥

न्यस्या सर्वत्र नत्यन्ता वर्णा वा तारसपुटा ॥
सृष्टिन्यासं स्थितिन्यास पुन कुर्यात् प्रयत्नत ॥१४८१॥

किञ्चिद् विशेषस्तु यामले–

स्थित्यन्ता तु गृहस्थाना सृष्ट्यन्ता ब्रह्मचारिणाम् ।
संहारान्ता मातृका स्यान्न्यासे तु यतिवाणयो ॥१४८२॥

विरक्ताना गृहस्थाना संहारान्तापि शस्यते ।
सपत्नीकवनस्थाना स्थित्यन्तापि विधीयते ॥१४८३॥

विद्यायिनामथैतेया सृष्टचन्तापि विधीयते ।
मुद्रया मनसा वाऽथ पुष्पेन तत्त्वमुद्रया ॥
मातृका विन्यसेत् प्राज्ञोऽप्यन्यथा विफल भवेत् ॥१४८४॥

न्यत्रापि-

ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सविन्दु र्विन्दुवर्जित. ।
पंचाशद्वर्णविन्यास. क्रमादुक्तो मनीपिभि. ॥ ॥१४८५॥ इति ।

पर च-

चतुर्धा मातृका प्रोक्ता केवला विन्दुसंयुता ।
सविसर्गा शोभया च रहस्यं शृणु कथ्यते ॥१४८६॥

विद्याकरी केवला च शोभया मुक्तिदायिनी।
सविसर्गा भुक्तिदात्री सबिन्दु र्बिन्दुदायिनी ॥१४८४॥

विन्दुर्मोक्षम् ।

वेशुद्धेश्वरे-

वाग्भवाद्या च वाक्सिद्धयै रमाद्या श्रीप्रवृद्धये ।
हृल्लेखाद्या सर्वसिद्धयै कामाद्या लोकवश्यदा ॥१४८८॥

श्रीकण्ठाद्यामिमा न्यस्य सर्वमत्र प्रसीदति ।
धन्य यशस्यमायुष्य कलिकल्मषनाशनम् ॥१४८९॥

य' कुर्यान्मातृकान्यास स एव स्यात् सदाशिव ।
पूज्य ध्यायन् महेशानीं समाहितमना सुधी ॥१४९०॥

स्थानेषु क्रमतो न्यस्य पूर्वोक्तेषु जपेल्लिपिम् ।
पंचाशत्सख्यया नित्य यावल्लक्ष प्रपूर्यते ॥ १४९१॥ इति ।

लक्ष लक्षसख्ययेति । एकवार न्यास कृत्वा एकवारं जपेदिति ज्ञेयम् ।

दशाशेन तिलै र्होमं कुर्याच्च मधुराप्लुतै ।
पयो मधु घृत चेति समं त्रिमधुरं स्मृतम् ॥ १४९२॥ इति ।

अन्ये बहवो भेदास्तथापि दश भेदा लिख्यन्ते-

शुद्ध बिन्दुयुत विसर्गसहित हृल्लेखया श्रीयुतं ।
बालासपुटित तथा च परया श्रीविद्ययाऽलंकृतम् ॥

आरोहादवरोहतश्च सततं न्यास पुन हंसयो-
र्यो जानाति स एव सर्वजगता सृष्टिस्थितिध्वंसकृत् ॥१४६३॥

अत्र शुद्धत्वेऽपि बिन्दुयुक्तत्व वर्णाना वीर्यद्योतनार्थमिति सम्प्रदाय ।

अन्यच्च-

शुद्धश्चापि सबिन्दुकस्त्वथकलायुक केशवाद्या तथा
श्रीकंठादियुतश्च शक्तिकमलामारैस्तथैककश ॥
न्यासास्ते दशधा पृथङ् निगदितास्ते ब्रह्मयागान्तिका
सर्वे साधकसिद्धिसाधनविधौ सकलपकल्पद्रुमाः ॥१४६४॥ इति ।

प्राणायाम तत. कुर्यात् प्रणवेन यथाविधि ।

प्राणायाममुद्रा यथा-

कनिष्ठानामिकागुण्ठै यन्नासापुटधारणम् ।
प्राणायाम' स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना ॥१४६५॥

तद्यथा विशुद्धेश्वरे-

प्राणायामत्रय चैव कुर्याद् वै तदनन्तरम् ।
पूरके वामनाड्या तु कुर्यात् षोडशधा जपात् ॥१४६६॥
कुम्भकं मध्यनाड्या तु चतुष्षष्टिजपात्तत ।
रेचन पिङ्गलया तु द्वात्रिंशज्जपसख्यया ॥१४६७॥
विपरीत तत कुर्याद् यथाशक्त्या तु साधक ॥
तदशक्तौ तदर्धेन तदर्धेनाऽथवा शिवे ।
प्राणायाम विना देवपूजने न हि योग्यता ॥१४६८॥ इति ।

अन्यच्च हठयोगे-

इडया पिब षोडशभि पवन कुरु षष्टिचतुष्टयमतरगम् ।
त्यज पिङ्गलया शनकै शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्वचधिकै ॥१४६६॥

अन्यत्रापि-

कर्मणोन्ते तथारम्भे प्राणसयममाचरेत् ।
प्रणवेन तथा मूलमुखार्णेन प्रयत्नत ।
प्राणायाम विना कर्म कृतमप्यकृतं भवेत् ॥१५००॥ इति ।

प्राणायामस्य सगर्भादयोऽन्ये षड्भेदा अनावश्यकत्वान्न लिखितास्ते योग-
पटले द्रष्टव्या ।

श्रीकण्ठाद्या शम्भुभक्तो वैष्णव. केशवादिकाम् ।
गणेशाद्यां तु तत्सेवी शक्तिभाड् मातृका कला. ॥१५०१॥

इति पूजापटलोक्तत्वादत्र लिखाम ।

ता क्रमेणैव कथ्यन्ते ऋष्यादिन्यासपूर्वका' ।
मुनि स्याद् दक्षिणामूर्ति र्गायत्री छन्द ईरितम् ॥१५०२॥

अर्धाद्रिजा हरो देवो नियोग सर्वसिद्धये ।
हलो-बीजानि गुह्येषु स्वरा शक्ति पदोर्न्यसेत् ॥१५०३॥

हसाम्या दीर्घयुक्ताम्या कृत्वाङ्ग शङ्करं स्मरेत् ।
पाशाङ्कुशवराक्षस्रक्पाणि शीतांशुशेखरम् ॥१५०४॥

त्र्यक्षं रक्तसुवर्णाभमर्धनारीश्वरं भजे ।
एव ध्यात्वा शम्भुशक्ती चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वित ॥१५०५॥

हसौंबीजमातृकापूर्वो विन्यसेन्मातृकास्थले ।
श्रीकण्ठपूर्णोदर्यो चानन्तो विरजयान्वित ॥१५०६॥

सूक्ष्मेश शालिनीयुक्तो लोलाक्षीयुक् त्रिमूर्तिक ।
अमरेशो वर्तुलाक्ष्या चार्घीशो दीर्घघोणया ॥१५०७॥

भारभूति र्दीर्घमुखी तिथीशो गोमुखीयुत ।
स्थाण्वीशो दीर्घजिह्वायुक् हर कुण्डोदरीयुत. ॥१५०८॥

झिण्टीशश्चोर्ध्वकेशीयुग् भौतिको विकृतिमुख्यपि ।
सद्योजातो ज्वालामुख्यनुग्रह उल्कामुखीयुत ॥१५०९॥

अक्रूर श्रीमुखी महासेनो विद्यामुखीयुत. ।
क्रोधीशश्च महाकाल्या चण्डीशश्च सरस्वती ॥१५१०॥

पञ्चान्तक सर्वसिद्धिगौरीयुक्त प्रकीर्तित ।
शिवोत्तमोऽसौ विन्यस्यो युक्तस्त्रैलोक्यविद्यया ॥१५११॥

एकरुद्रो मन्त्रशक्ति कूर्मेशश्चात्मशक्तियुक् ।
एकनेत्रो भूतमाता युक्त स्याच्चतुरानन ॥१५१२॥

लम्बोदर्या युतः प्रोक्तो, ह्यजेशो द्राविणीयुतः ।
सर्वेशो नागरीयुक्तः सोमेशश्चापि खेचरी ॥१५१३॥
लाङ्गलीशश्च मञ्जर्या दारुकेशस्वरूपिणी ।
अर्धनारीशवीरिण्या उमाकान्तः पुनर्युतः ॥१५१४॥
काकोदर्या तथा खांढीपूतनायुक्त ईरितः ।
दण्डीशो भद्रकालीयुगत्रीशो योगिनीयुतः ॥१५१५॥
मीनेशः शङ्खिनीयुक्तो मेषेशस्तर्जनीयुतः ।
लोहितः कालरात्री च शिखीशः कुब्जिनीयुतः ॥१५१६॥
छागलण्डः कपर्दिन्या द्विरण्डेशश्च वज्रिणी ।
महाकालोऽजयायुक्तो वालीशश्च सुखीश्वरी ॥१५१७॥
भुजगो रेवतीयुक्तः पिनाकी माधवीयुतः ।
खड्गीशो वारुणीयुक्तोऽवकेशो वायवीयुतः ॥१५१८॥
श्वेतो रक्षो विदारिण्या भृगुः सहजया युतः ।
लकुलीशश्च लक्ष्मीयुक् शिवेशो व्याधिनीयुतः ॥१५१९॥
संवर्तको महामाया प्रोक्ता श्रीकण्ठमातृका ।
यत्र त्वीशपदं नोक्तं श्रीकण्ठादिषु धामसु ॥१५२०॥
तत्र सर्वत्र कर्तव्यं शक्तिभ्यां हृत् ततो वदेत् ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यसून् वदेत् ॥१५२१॥
शक्तिं क्रोधं तयात्मभ्यामन्तान्यादि दशस्वपि ।
केशवादिमातृकायाः साध्यनारायणो ऋषिः ॥१५२२॥
अमृताद्या तु गायत्रीछन्दो लक्ष्मीहरिः सुरः ।
द्विरुक्तं शक्तिश्रीकामैः षडङ्गानि समाचरेत् ॥१५२३॥
शङ्खचक्रगदापद्मकुम्भादर्शाब्जपुस्तकम् ।
बिभ्रतं मेघचपलावर्णं लक्ष्मीहरिं भजे ॥१५२४॥
एवं ध्यात्वा न्यसेत् शक्तिश्रीकामपुटिताक्षराम् ।
भ्यामन्तविष्णुशक्त्यन्ता नमोऽन्तां प्रणवादिकाम् ॥१५२५॥

केशव कीर्तिसंयुक्त॰ कान्तिर्नारायणान्विता ।
माधवस्तुष्टिसंयुक्तो गोविन्द॰ पुष्टिसयुत॰ ॥१५२६॥
विष्णुस्तु धृतिसंयुक्त॰ शान्तियुड् मधुसूदनः ।
त्रिविक्रमः क्रियायुक्तो वामनो दययान्वित ॥१५२७॥
श्रीधरो मेधया युक्तो हृषीकेशश्च हर्षया ।
पद्मनाभयुता श्रद्धा, लज्जा दामोदरान्विता ॥१५२८॥
वासुदेवश्च लक्ष्मीयुक् सङ्कर्षणसरस्वती ।
प्रद्युम्न प्रीतिसयुक्तोऽनिरुद्धो रतिसंयुत ॥१५२९॥
चक्री जया गदी दुर्गा शार्ङ्गी तु प्रभयान्वित॰ ।
खड्गी तु सत्यया युक्त शङ्खी चण्डीसमन्वित ॥१५३०॥
हली वाणीसमायुक्तो मुसली तु विलासिनी ।
शूली तु विजयायुक्तो पाशी विरजयान्वित॰ ॥१५३१॥
अकुशी विश्वया युक्तो मुकुन्दो विनयान्वित॰ ।
नन्दजश्च सुनन्दायुक् नन्दी स्मृत्या समन्वित ॥१५३२॥
नरो ऋद्धचा नरकजिद् समृद्धचा शुद्धियुक् हरि॰ ।
कृष्णबुद्धी सत्यभुक्ती सात्वतो मतिसयुत॰ ॥१५३३॥
शौरिक्षमे शूररमे जनार्दन उमान्वित ।
भूधर क्लेदिनीयुक्तो विश्वमूर्तिश्च क्लिन्नया ॥१५३४॥
वैकुण्ठो वसुधायुक्तो वसुदापुरुषोत्तमौ ।
बलस्तु परया युक्तो बलानुजपरायणा ॥१५३५॥
बाल सूक्ष्मा वृषघ्नस्तु सध्यायुक् प्रज्ञया वृष ।
हस प्रभासमायुक्तो वाराहो निशयान्वित॰ ॥१५३६॥
विमलो मोघया युक्तो नृसिंहो विद्यया युत ।
केशवाद्या मातृकोक्ता यादियोगश्च पूर्ववत् ॥१५३७॥
गणेशमातृकायास्तु मुनिर्गणक ईरित॰ ।
निचृद् गायत्रिका छन्दो देव शक्तिविनायक ॥१५३८॥

स्मृत्या दीर्घाढ्यया त्वङ्गं कृत्वा ध्यायेद् गजाननम् ।
गुणाङ्कुशवराभीतिपाणिं रक्ताब्जहस्तया ॥१५३९॥
प्रिययाऽऽलिङ्गितः रक्त त्रिनेत्र गणपं भजे ।
एवं ध्यात्वा न्यसेत् स्वीयबीजपूर्वाक्षरान्विताम् ॥१५४०॥
विघ्नेशो ह्रीसमायुक्तो विघ्नराज श्रिया युतः ।
विनायक पुष्टियुत शान्तियुक्त शिवोत्तम ॥१५४१॥
विघ्नकृत् स्वस्तिसंयुक्तो विघ्नहर्ता सरस्वती ।
गणस्तु स्वाहया युक्त एकदन्तस्तु मेधया ॥१५४२॥
द्विदन्त कान्तिसंयुक्त गजवक्त्रश्च कामिनी ।
निरञ्जनो मोहिनीयुक् कपर्दी तु नटीयुत ॥१५४३॥
दीर्घजिह्व पार्वतीयुक् शङ्कुकर्णश्च ज्वालिनी ।
वृषभध्वजनं देवसुरेशीगणनायको ॥१५४४॥
गजेन्द्र कामरूपिण्या शूर्पकर्णस्तथोमया ।
त्रिलोचनस्तेजोवत्या लम्बोदरस्तु सत्यया ॥१५४५॥
महानन्दश्च विघ्नेशो चतुर्मूर्तिस्वरूपिणी ।
सदाशिव कामदायुक्, आमोदो मदजिह्वया ॥१५४६॥
दुर्मुखो भूतिसयुक्त सुमुखो भौतिकान्वित ।
प्रमोद सितया युक्त, एकपादो रमायुत ॥१५४७॥
द्विजिह्वो महिषीयुक्त शूरश्चापि तु भञ्जिनी ।
वीरो विकर्णया युक्त षण्मुखो भ्रुकुटीयुत ॥१५४८॥
वरदो लज्जया वामदेवः स्याद् दीर्घघोणया ।
धनुर्धरावक्रतुण्डो द्विरण्डो यामिनीयुत ॥१५४९॥
सेनानी रात्रिसंयुक्त कामान्धो ग्रामणीयुत ।
मत्त शशिप्रभायुक्तो विमलो लोललोचना ॥१५५०॥
मत्तवाहनचचले च जटी दीप्तिसमन्वित ।
मुण्डी सुभगया युक्त खड्गी दुर्भगया तथा ॥१५५१॥

वरेण्यश्च शिवायुक्तो भर्गायुग् वृषकेतन ।
भक्षप्रियश्च भगिनी गणेशो भोगिनीयुतः ॥१५५२॥
मेघनादश्च सुभगा व्यापी स्यात् कालरात्रियुक् ।
गणेश्वर कालिकेति प्रोक्ता विघ्नेशमातृका ॥१५५३॥
त्वगादियोगो यादीनां पूर्ववत् परिकीर्तित ।
कलायुग् मातृकायास्तु प्रजापतिऋषि स्मृतः ॥१५५४॥
छन्द उक्तं तु गायत्री देवता शारदाभिधा ।
तारे षडङ्ग कुर्वीत ह्रस्वदीर्घान्तरस्थितै ॥१५५५॥
शखचक्राब्जपरशूकपालेणाक्षमालिका ।
पुस्तकामृतकुम्भौ च त्रिशूलं दधती करैः ॥१५५६॥
श्वेतपीतासितश्वेतरक्तवर्णैस्त्रिलोचनै ।
पञ्चास्यै सयुता चन्द्रमाकान्ति शारदा भजे ॥१५५७॥
ध्यात्वैव तारपूर्वां ता न्यसेन् ङेऽन्तकलान्विताम् ।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिरनन्तरम् ॥१५५८॥
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ।
सूक्ष्मासूक्ष्मामृताज्ञानामृता चाप्यायनी तत ॥१५५९॥
व्यापिनी व्योमरूपा चानन्ता सृष्टि स ऋद्धिका ।
स्मृति मेधा कान्तिर्लक्ष्मी द्युतिश्चैव स्थिरा तथा ॥१५६०॥
स्थिति सिद्धि जरा चैव पालिनी शान्तिरीश्वरी ।
रतिश्च कामिका चैव वरदाऽऽह्लादिनी तथा ॥१५६१॥
प्रीति दीर्घा तथा तीक्ष्णा रौद्री प्रोक्ता तथाऽभया ।
निद्रा तन्द्रा क्षुधा चैव क्रोधिनी च तथा क्रिया ॥१५६२॥
उत्कारी च तथा मृत्यु पीताश्वेतारुणासिता ।
अनन्ता च तथा ज्ञेया प्रोक्तेयं मातृकाकला ॥१५६३॥
तत्तद्भक्तो न्यसेदित्थं मातृकां विश्वमातृकाम् ।
विन्यसेच्च तत पीठमातृकां देवतामयीम् ॥१५६४॥

ऋषिः स्याद् दक्षिणामूर्ति. पङ्क्तिश्छन्दस्तथा स्मृतः।
मातृकापीठशक्तिश्च देवता परिकीर्तिता ॥१५६५॥
हलो बीजानि प्रोक्तानि स्वरा शक्तय ईरिताः ।
अव्यक्तं कीलकमिति नियोगो देहशोधने ॥१५६६॥
अङ्गक्लृप्ति मातृकावदथो ध्यायेत् समाहित ।
सिताऽसितारुणश्यामहरित्पीतान्यनुक्रमात् ॥१५६७॥
पुन पुन क्रमादेव पंचाशत्पीठसंचय ।
पीठानि संस्मरेद् विद्वान् सर्वकामार्थसिद्धये ॥१५६८॥
कामरूपस्तथा वाराणसी नेपाल इत्यथ ।
पौंड्रवर्धनपुरस्थितो कान्यकुब्जस्तत स्मृत ॥१५६९॥
पूर्णशैलोऽर्बुदाख्यश्च तथैवाम्रातकेश्वरः ।
एकाम्रत्रिस्रोतसौ च कामकोटस्तथापर ॥१५७०॥
कैलासो भृगुनगरकेदारौ चन्द्रश्रीपुरौ ।
ओंकारोऽपि तथा जालन्धरो मालवतस्तथा ॥१५७१॥
कुलान्तको देविकोटो गोकर्णो मारुतेश्वर ।
अट्टहासश्च विरजस्तथा राजगृह स्मृत ॥१५७२॥
महापथ कोलापुरमेलापुरमत परम् ।
कालेश्वरो जयन्ती च तथाचोज्जयिनी स्मृत ॥१५७३॥
चरित्रापुरपीठश्च तथा स्यात् क्षीरपीठक ।
हस्तिनापुरमुड्डीशप्रयागौ च तत परम् ॥१५७४॥
षष्टीशश्च तथा मायापुर चैव जलेश्वरम् ।
मलयाख्य गिरिं तद्वत् श्रीशैलं मेरुनामकम् ॥१५७५॥
गिरिं गिरिवरं पश्चान्महेन्द्रगिरिपीठत ।
स्याद् वामनपुर तद्वत् हिरण्यपुरसंज्ञकम् ॥१५७६॥
महालक्ष्मीपुरं तद्वदोड्याणं च ततः परम् ।
छायाछत्रपुरं ज्ञेयं पीठान्तं मातृकाविकम् ॥१५७७॥

ङेऽन्त न्यसेन्मातृकोक्तस्थानेषु क्रमत. सुधी ।
तत ऋष्यादिकं न्यासं कुर्यात् कल्पोक्तवर्त्मना ॥१५७८॥
महेश्वरमुखाद् ज्ञात्वा यः साक्षात् तपसा मनुम् ।
ससाधयति शुद्धात्मा स तस्य ऋषिरीरित ॥१५७९॥
गुरुत्वान्मस्तके चास्य न्यासस्तु परिकीर्तित ।
सर्वेषा मन्त्रतत्त्वाना छादनाच्छन्द उच्यते ॥१५८०॥
अक्षरत्वात् पदत्वाच्च मुखे छन्द समीरितम् ।
सर्वेषामेव जन्तूना भाषणात् प्रेरणात् तथा ॥१५८१॥
हृदयाम्भोजमध्यस्था देवता तत्र ता न्यसेत् ।
ऋषिच्छन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रे फलभाग् भवेत् ॥१५८२॥
दौर्बल्यं याति मन्त्राणा विनियोगमजानताम् ।
ऋषि न्यसेत् मूर्ध्नि देशे छन्दस्तु मुखपङ्कजे ॥१५८३॥
देवता हृदये चैव वीजं तु गुह्यदेशके ।
शक्ति तथा पादयोश्च सर्वाङ्गे कीलक न्यसेत् ॥१५८४॥ इति ।

ऋष्यादयस्तु स्वस्वकल्पोक्ता एव । येषु येषु मन्त्रेषु ऋष्यादीनामभावस्त-स्साङ्गत्वसिद्धये ऋष्यादिकल्पना कार्या ।

तथाचोक्त प्रयोगसारे–

चतुर्विधे बीजशक्ती सर्वमन्त्रेषु चिन्तयेत् ।
परमेष्ठी समस्तस्य ऋषिरुक्तो मनीषिभि ॥१५८५॥
तत् शक्तिरेव गायत्रीछन्द सर्वत्र निश्चितम् ।
ईश्वरो जगता बीजमाद्य ब्रह्म तदुच्यते ॥१५८६॥
तस्य माया समाख्याता शक्ति गुणमयी तु सा ।
स एव भगवान् देवो बुद्धिसाक्षी द्वितीयकम् ॥१५८७॥
बीजमत्र समाख्यात बुद्धि शक्तिरुदाहृता ।
उदानश्चित्समायुक्तस्तृतीय बीजमुच्यते ॥१५८८॥
शक्ति कुण्डलिनी तत्र सामान्य त्रितयं त्विदम् ।
ज्ञातव्य सर्वमन्त्रेषु बीजशक्ती ततो निजे ॥१५८९॥ इति ।

ऋषिच्छन्दो देवताना विन्यासेन विना यत.।
जप्यते साधकोऽप्येषस्तत्र तन्निष्फलं भवेत्।
एवमृष्यादिक न्यस्य कुर्यादङ्गानि देशिकः ॥१५९०॥ इति।
गौतमेऽपि षडङ्गकरणप्रयोजनमप्युक्तम्-
ईज्यमानो हृदात्माऽयं हृदये स्याच्चिदात्मक ।
क्रियते तत्परत्व तु हृन्मन्त्रेण नृदेशिकै ॥१५९१॥
सर्वज्ञादिगुणोत्तुङ्गे संविद्रूपे परात्मनि।
क्रियते विषयाहार शिरोमन्त्रेण धीमता।
हृत्शिरोरूपचिद्धाम्नि संयता भावना दृढा ॥१५९२॥
क्रियते निजदेहस्य शिखामन्त्रेण सादरम्।
मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन तेजसा ॥१५९३॥
सर्वतो वर्म्ममन्त्रेण क्रियते तनुसवृति.।
यद् ददाति पर ज्ञान सविद्रूपे परात्मनि ॥१५९४॥
हृदयादिमय तेज स्यादेतन्नेत्रसज्ञकम्।
आध्यात्मिकादिरूप यत् साधकस्य विनाशयेत् ॥
अविद्याजातमस्त्र तत् परधाम समीरितम् ॥१५९५॥ इति।
मन्त्रमहोदधौ-
अंगुष्ठादिस्वङ्गुलीषु करस्य तलपृष्ठयो ।
अङ्गुष्ठाभ्या तर्जनीभ्या नम इत्यादिकं वदन् ॥१५९६॥
हृदयादिष्वथाङ्गानि जातियुक्तानि विन्यसेत्।
स्वस्वमुद्राभिरधुना प्रोच्यन्ते जातयश्च ता ॥१५९७॥
हृदयाय नमश्चेति शिरसे स्वाहया युतम्।
शिखायै वषडन्तं स्यात् कवचाय हुमित्यपि ॥१५९८॥
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडितीरितम्।
जातिषट्क द्विनेत्रे तु नेत्राभ्या वौषडुच्चरेत् ॥१५९९॥
पञ्चाङ्गे नेत्रसत्यागो मुद्राऽङ्गानामथोच्यते।
प्रसारितमनङ्गुष्ठ तर्जन्यादिचतुष्टयम् ॥१६००॥

हृदि मूर्धनि चागुष्ठहीना मुष्टि· शिखातले ।
स्कन्धमारभ्य नाभ्यन्तं दशागुल्यस्तु वर्मणि ॥१६०१॥
तर्जन्यादित्रयं नेत्रत्रये नेत्रद्वये द्वयम् ।
प्रसारिताभ्या हस्ताभ्या कृत्वा तालत्रयं सुधीः ॥१६०२॥
तर्जन्यगुष्ठयोरग्रे स्फालयन् वधयेद् दिशः ।
एषा मुद्रा तु श्रीविष्णोरंगमुद्रा प्रकीर्तिता ॥१६०३॥
हृद्यगुलीत्रयं न्यस्येत् तर्जन्यादिद्वयं तु के ।
शिखाप्रदेशेऽयागुष्ठं दशागुल्यस्तु वर्मणि ॥१६०४॥
हृद्वन्नेत्रं पूर्वमस्त्रं शक्तेरगस्य मुद्रिका ।
मुष्टीविनिर्गतागुष्ठौ सयुक्तौ हृदि विन्यसेत् ॥१६०५॥
निस्तर्जनी तादृशौ तु शिरस्यथ शिखातले ।
निरंगुष्ठकनिष्ठौ तु निरंगुष्ठप्रदेशिनी ॥१६०६॥
मुष्टी पृथक्कृतौ स्कन्धाद् हृदन्तं वर्मणि स्मृतौ ।
तर्जन्यादित्रय नेत्रे तालास्फोटोऽस्त्र ईरित ॥१६०७॥
शैवे षडंगमुद्रोक्ता वर्णन्यासमथाचरेत् ।
स्वस्वमूलवर्णन्यासमिति ।
जप्तापि विफला मंत्रा गदिता न्यासमंतरा ।
विद्यान्यासमथो कुर्याद् ध्यायन् देवमनन्यधी· ॥१६०८॥

नवरत्नेश्वरे–

मूर्ध्नि मूले च हृदये नेत्राणा त्रय एव च ।
श्रोत्रयोश्च नसो देवि मुखे च भुजयो पुनः ॥१६०९॥
पृष्ठे जानुनि नाभौ च विद्यान्यासं समाचरेत् ।
एवं न्यासे कृते देवि साक्षात् पशुपति· स्वयम् ॥१६१०॥
प्रणवं संपुटीकृत्य मूलेन व्यापकं चरेत् ।
पंचधा नवधा वापि चाष्टधा सप्तधा तथा ॥१६११॥
शीर्षादिपादपर्यन्त पादादि च शिरोऽन्तकम् ।
हृदयादिमुखान्तं च व्यापकन्यासमाचरेत् ॥१६१२॥

प्राणायाम षडङ्ग च कृत्वा ध्यात्वा निजेश्वरम् ।
समाप्य मानसं यागं बहिर्यागमथाचरेत् ॥१६१३॥

यस्मिन् मन्त्रे षडङ्गाभावस्तत्रैव कार्यम् । तथा च भैरवतन्त्रे–

अङ्गन्यासकरन्यासौ मायया दीर्घया चरेत् ।
यद् बीजाद्याथवा विद्या तद्बीजेनागकल्पना ॥
कुर्यात् षड्दीर्घयुक्तेन सर्वसाधारणो विधि ॥१६१४॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे न्यासकथन नाम दशम पटल ॥१०॥

एकादशः पटलः ।

अथानन्तर मन्त्रमालायन्त्रादीना सस्कारावश्यकत्वादेतानि लिख्यन्ते ।

अथ मन्त्रसस्कारो यथा शारदायाम्–

छिन्नादिदुष्टा मंत्रा ये पालयन्ति न साधकम् । इति ।

अन्यत्रापि–

छिन्ना रुद्धा कीलिता स्तम्भिता ये सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्या ।
दग्धास्त्रस्ता शत्रुपक्षे स्थिता ये बाला वृद्धा गर्विता यौवनेन ॥१६१५॥
ये निर्वीया ये च सत्त्वेन हीना खण्डीभूताश्चाङ्गमन्त्रैर्विहीना ।
एते मुद्राबंधनेनैव योन्या मन्त्रा सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति ॥१६१६॥

योनिमुद्रालक्षण यथा योगशास्त्रे–

पार्ष्णिभागात् तु सपीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकर्षन्मूलबंधो निगद्यते ॥१६१७॥
गुदमेढ्रान्तर योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबधयेत् ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सतत मूलबंधनात् ॥१६१८॥

योनिस्थानमुद्रणाद् योनिमुद्रात्वमस्य ।

सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बधश्च देवैरपि दुर्लभोऽस्या ।
अनेन बंधेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत् साधकपुंगवस्य ॥१६१९॥
ये साधका योनिमुद्राऽनभिज्ञास्तद्वद् ये च प्राणरोधेऽप्यशक्ता ।
तेषामयं सस्कृति षड्क्तियुक्ता यस्मादेते वीर्यवन्तो भवन्ति ॥१६२०॥

ते सस्कारा पिङ्गलामते, शारदाया, गौतमीये च–

जननं जीवनं पश्चात् ताडन बोधनं तथा ।
अथाऽभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ॥१६२१॥
तर्पणं दीपनं गुप्ति दर्शता मन्त्रसस्क्रिया. ।
स्वर्णादिपत्रे सलिख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम् ॥१६२२॥
काश्मीरचन्दनेनाथ भस्मना वाथ सुव्रते ।
काश्मीरं शक्तिसंस्कारे चन्दनं वैष्णवे मनौ ॥१६२३॥
शैवे भस्म समाख्यातं मातृकायन्त्रलेखने ।
मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥१६२४॥

तच्च गान्धर्वतन्त्रे–

भूमौ गोमयलिप्ताया विलिख्याष्टदलान्वितम् ।
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं तार्त्तीय कर्णिकागतम् ॥१६२५॥

तार्त्तीय सौरिति ।

कादिमान्ता· पञ्चवर्गा पूर्वादिक्रमतो न्यसेत् ।
यादिवान्ता ,सादिहान्ता· लक्ष्मीशे प्रविन्यसेत् ॥१६२६॥
प्राणान् स्थाप्य प्रपूज्याथ ध्यायन् देवमथोद्धरेत् ।
एतज्जननमित्याहुरथो तज्जीवनं चरेत् ॥१६२७॥
पङ्क्तिक्रमेण विधिना मुनिभिस्तन्त्रनिश्चितम् ।
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधी· ॥१६२८॥
प्रत्येक शतवारं तु तज्जीवनमुदाहृतम् ।
मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा ॥३६२६॥
प्रत्येक वायुबीजेन पूर्ववत् ताडनं मतम् ।
पृथक् शतं वा दशधा बोधयेत् त मनु तत ॥१६३०॥
विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनै करवीरजै· ।
तन्मन्त्रवर्णसंख्याकं हन्याद् रेफेण बोधनम् ॥१६३१॥
तत्तन्मन्त्रोक्तविधिना अभिषेक· प्रकीर्तित ।
अश्वत्थपल्लवै सिञ्चेन्मन्त्री मन्त्राणसंख्यया ॥१६३२॥

शतधा वाष्टधा तद्वद् प्रत्येकमभिषेचनम् ।
शुद्धोदकेन दुग्धेन अभिषेकमुदाहृतम् ॥१६३३॥

पिङ्गलामते विशेष –

मालतीकलिकाभिस्तु न्यस्याणुं कर्णिकोपरि ।
अश्वत्थपल्लवै. शुद्धैस्तन्मन्त्राक्षरसम्मितै. ॥
अभिषेक प्रकुर्वीत स्वमन्त्रे विहित यथा ॥ १६३४॥ इति ।

स्वमन्त्रकल्पोक्तमार्गेणेत्यर्थ ।

विमलीकरणं कुर्यादथो देशिकसत्तम ।
सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं सुषुम्णामूलमध्यत ॥१६३५॥
ज्योतिर्मंत्रेण विधिवन्निर्दहेत् तन्मलत्रयम् ।
तार व्योमाग्निमनुयुक् दण्डी ज्योति र्मनुर्मत ॥१६३६॥

तार प्रणव, व्योम ह्, अग्नि र, मनुरौकार, दण्डी अनुस्वार, तेन ॐ ह्रौं इति।

एवं त विमलीकृत्य चरेदाप्यायन पुन ।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षण मनो ।
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायन मतम् ॥१६३७॥

तेन ज्योतिर्मंत्रेणेति केचन व्याचक्षते । तदयुक्तं ग्रन्थान्तरविरोधात् । तेन मूलेनेत्यर्थ ।

पिङ्गलामते–

अष्टोत्तरशता लब्धं विशुद्धं कुशवारिणा ।
आप्यायितो भवेन्मन्त्र प्रत्यर्णं प्रोक्षितो यदि ॥१६३८॥
एवमाप्यायन कृत्वा कुर्याच्च तर्पणं तत ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पण तर्पणं मतम् ॥१६३९॥
अमुकमन्त्र तर्पयामि नम इत्यम्भसा शतम् ।
मधुना शक्तिमन्त्रेषु वैष्णवे चेन्दुमज्जलै ॥१६४०॥
शैवे घृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम् ।
एव च तर्पणं कृत्वा मनोर्दीपनमाचरेत् ।
तारमायारमायोगाद् मनो दीपनमुच्यते ॥१६४१॥

अत्रैव विधि –

तार माया रमामादौ दत्वान्ते मूलमुच्चरेत् ।
शतमष्टोत्तरेणैव दीपयेत् साधकोत्तम. ॥१६४२॥
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपन त्वप्रकाशनम् ।
एते च दशसंस्कारा मन्त्रदोषविनाशका ॥१६४३॥ इति ।

अन्यत्र मन्त्रमहोदधिश्रीक्रमसहितादिष्वपर प्रकार –

छिन्नत्वादिकदोषा ये पञ्चाशन्मन्त्रसंस्थिता ।
तै र्दोषैः सकला व्याप्ता मनव सप्तकोटय ।
अतस्तद्दोषशान्त्यर्थं सस्कारदशक चरेत् ॥१६४४॥
भूर्जपत्रे लिखेत् सम्यक् त्रिकोण रोचनादिभि ।
वारुण कोणमारभ्य सप्तधा विभजेत् समम् ॥१६४५॥
एवमीशाग्निकोणाभ्या जायन्ते तत्र योनयः ।
नववेदमितास्तत्र विलिखेन्मातृका क्रमात् ॥१६४६॥
अकारादिहकारान्तानीशादिवरुणावधि ।
देव तत्र समावाह्य पूजयेच्चन्दनादिभि ॥१६४७॥
तत समुद्धरेन्मन्त्र जनन तदुदीरितम् ।
जपो हसपुटस्यास्य सहस्र दीपन स्मृतम् ॥१६४८॥
नभोवह्नीन्दुयुक्तार्घीसम्पुटस्य जपो मनोः ।
सहस्रपञ्चकमितो बोधन तत् स्मृतं बुधै ॥१६४९॥
सहस्र तं जपेदस्त्रपुटित ताडनं तु तत् ।
वाक्हसतारै र्जप्तेन सहस्र पायसा मनुम् ॥१६५०॥
अभिषिञ्चेत वागाद्यैरभिषेकोऽयमीरितः ।
हरिवह्न्यन्वितस्तारो वषडन्तो ध्रुवादिकं ॥१६५१॥
सहस्र तत्पुटं जप्त्वा विमलीकरणं मनो ।
स्वधावषट्पुट जप्त्वा सहस्र जीवन मनो ॥१६५२॥
क्षीराज्ययुतपाथोभिस्तर्पणैस्तर्पयेन्मनुम् ।
जपेन्मायापुटं मन्त्र सहस्र गोपनं हि तत् ।
बालातार्त्तीयबीजेन गगनाद्येन सम्पुटम् ॥१६५३॥

सहस्रं प्रजपेन्मन्त्रमेतदाप्यायनं मतम् ।
संस्कारदशकं प्रोक्तं मनूनां दोषनाशकम् ॥१६५४॥

इति मन्त्रसंस्कारः । उभयोरप्येकतमः सम्प्रदायप्राप्तः साध्यः ।

एवं मन्त्रं तु संस्कृत्य मालां वै शोधयेत् ततः ।
सा ज्ञेया त्रिविधा माला मातृकाद्या ततो परा ॥
करमालेति विख्याता मणिमाला ततः परम् ॥१६५५॥

तत्र परारहस्ये—

मातृकामालिकां देवि शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
माला शिवमयी प्रोक्ता सूत्रं शक्तिमयं च यत् ॥१६५६॥
वर्णाः शिवमयास्ते च स्वराः शक्तिमया यतः ।
पञ्चाशद्वर्णिका प्रोक्ता सूत्रं शक्तिशिवात्मकम् ।
कुण्डलीग्रथिता शक्तिः कलान्ते मेरुसंस्थितः ॥१६५७॥
अनुलोमविलोमेन मातृकाना शतं भवेत् ।
अकचटतपयशास्त्वष्टवर्णाः प्रकीर्तिताः ॥१६५८॥
अष्टवर्गं प्रकल्प्यान्ते अष्टोत्तरशती भवेत् ।
अष्टोत्तरशतीमाला सर्वकार्यार्थसिद्धिदा ॥१६५९॥
मन्त्रेणान्तरितान् वर्णान् वर्णेनान्तरितान् मनून् ।
कुर्याद् वर्णमयीं मालां सर्वमन्त्रप्रकाशिनीम् ॥१६६०॥
चरमार्णं मेरुरूपं लङ्घनं नैव कारयेत् ।
सबिन्दु वर्णमुच्चार्य पश्चान्मन्त्रं जपेत् सुधीः ॥१६६१॥
श्रीशिवाक्षरमालेयं वर्णिता स्नेहतो मया ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वभिः देवि योजयेत् सप्तभिग्रहैः ॥१६६२॥
तत्त्वमालेयमाख्याता श्रीविद्याप्रीतिकारिणी ।
पञ्चषष्ट्यक्षरैश्चत्वारिंशद्भिः भैरवैस्तथा ॥१६६३॥
अधिकं योजयेन्मालां भैरवीयमुदाहृता ।
सुप्तकीलितसंरुद्धा छिन्ना व्याकीर्णयोनयः ॥१६६४॥

धनी वैरी वीर्यहीन काणखञ्जादयोऽपि ये ।
तेऽपि सिद्धा भवन्त्येव मातृकामालया शिवे ॥१६६५॥

गुरौ पञ्च गणेशस्य त्रयं च परिकीर्तितम् ।
शेषमिष्टाय सदद्यात् तेन सिद्धीश्वरो भवेत् ॥१६६६॥

त्रयं गुरौ त्रयं देवि गणपे परिकीर्तितम् ।
न्यूनातिरिक्ते द्वितयं शेषमिष्टाय योजयेत् ॥१६६७॥

अष्टोत्तरशतोभेद कथित , कथ्यतेऽपर. ।
रुद्राणा तु शतं चैव भैरवाष्टकयोजितम् ॥१६६८॥

कृत्वा मेरुं महारुद्रं जपमाला च कारयेत् ।
न हन्याद् भैरवान् रुद्रं रुद्राश्च भैरवैस्तथा ॥१६६९॥

अन्यथा जपहानि. स्याद् रुद्रस्य वचन त्विदम् ।
एतद् गुह्यतम भद्रे तव स्नेहान्मयेरितम् ॥१६७०॥

मालारहस्यसर्वस्वं नाख्येय यस्य कस्यचित् ।
करमालामथो वक्ष्ये सर्वमत्रप्रबोधिनीम् ॥१६७१॥

नित्य जपं करे कुर्यान्न तु काम्यं कदाचन ।
काम्यमपि करे कुर्यान्मालाऽभावे प्रियवदे ॥१६७२॥

तन्नियमो यथा–

करमाला च सशोध्य त्रिधा तद्विद्यया पुन ।
जपेन्मत्र निर्विकल्पस्तद्विद्यामधुनोच्यते ॥१६७३॥

काली कामः कृपा कुती करमाले हरं वनम् ।
मत्रोऽय करमालाया शुद्धिद सर्वसिद्धिद ॥१६७४॥

हृदये हस्तमारोप्य तिर्यक् कृत्वा करागुलीः ।
आच्छाद्य वाससा हस्तौ दक्षिणेन सदा जपेत् ॥१६७५॥

अगुलीर्न वियुञ्जीत किंचिदाकुञ्चिते तले ।
अगुलीना वियोगाच्च छिद्रे च स्रवते जप. ॥१६७६॥

अंगुल्यग्रेण यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलंघने ।
पर्वसंधिषु यज्जप्तं तत् सर्वं निष्फलं भवेत् ॥१६७७॥

असंख्यातेन यज्जप्तमित्यपि पाठः ।

कनिष्ठामूलपर्वादि क्रमेण करगाः सुराः ।
तान् शृणुष्व महादेवि यथावद् वर्ण्यते मया ॥१६७८॥
ईशानोऽग्नि निर्ऋतिश्च वायुरिन्दुर्यमस्तथा ।
वरुणश्च कुवेरश्च सूर्यः सोमो बुधो गुरुः ॥१६७९॥
सितमंदारराह्वन्ता ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
जपसिद्धिकरा देवि सकला करदेवता ॥१६८०॥
दिक्पालाश्च ग्रहाश्चाष्टौ शक्ति षोडशपर्वसु ।
प्रलम्य पर्वत्रितये त्रयो देवा सदा स्थिता ॥१६८१॥
क्रूरग्रहौ च मदारी दिक्पालौ यमनिर्ऋती ।
कुलिकश्चेति विख्यातो जपहानिकरो मतः ॥१६८२॥
कुलिकांशं त्यजेद् देवि मंत्री करजपे सदा ।
कुलिको मुद्गरो ज्ञेयो मुद्गरे तु महद्भयम् ॥१६८३॥
मुद्गरोल्लंघने शक्ति महारुद्रस्य केवलम् ।
कुलिकं तु महाकेतुं मेरुरूपं न लंघयेत् ॥१६८४॥
दिक्पालांशे ग्रहांशे च कुलिकांशं परित्यजेत् ।
अनामिकाद्वयं पर्व कनिष्ठादिक्रमेण तु ॥१६८५॥
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद् दशसु पर्वसु ।
तर्जन्यग्रे च मध्ये च योजयेत् स तु पापकृत् ॥१६८६॥

अन्यत्रापि-

अनामायास्त्रयं पर्व कनिष्ठायास्त्रिपर्वकम् ।
मध्यमायाद्वयं पर्व तर्जनीमूलपर्वणि ॥१६८७॥
प्रादक्षिण्यक्रमेणैव जपेद् दशसु पर्वसु ।
शक्तिमाला समाख्याता सर्वमन्त्रप्रदीपिका ॥१६८८॥

पर्वद्वय तु तर्जन्या. मेरु तद् विद्धि पार्वति ।
तर्जन्यग्रे तथा मध्ये यो जपेत् स च पामरः ॥
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशोधनम् ॥१६८६॥

श्रीविद्याया विशेष –

अनामामध्ययोश्चैव मूलाग्रं च द्वयं द्वयम् ।
कनिष्ठायाश्च तर्जन्यास्त्रयं पर्व महेश्वरि ॥१६६०॥
अनामामध्यमायाश्च मेरु स्याद् द्वितय शुभे ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव जपेत् त्रिपुरसुन्दरीम् ॥१६६१
दशाश सञ्जपेद् देवि केवल करमालया ।
अनामिकाद्वय पर्व कनिष्ठादिक्रमेण तु ।
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद् द्वादशपर्वसु ॥१६६२॥

अथवा–

कनिष्ठा च चतु पर्वाऽनामापर्वत्रयं तथा ।
मध्यमापर्व देव्येक तर्जन्याश्च चतुष्टयम् ॥१६६३॥
संयोज्य प्रजपेद् विद्या मन्त्री द्वादशपर्वसु ।
शक्तिमालेयमाख्याता त्यक्त्वा पर्वचतुष्टयम् ॥१६६४॥
नवावृत्त्या जपेद् देवि सहस्राद्ययुतावधि ।
प्रोक्तेय करमाला त्व मणिमालामथो शृणु ॥१६६५॥
पद्मबीजादिभि र्माला वहिर्यागिष्वथो भवेत् ।
रुद्राक्षशखपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकै ॥१६६६॥
स्फाटिकै मंणिरत्नैश्च सौवर्णै र्वैद्रुमैस्तथा ।
राजतै कुशमूलैश्च गृहस्थस्याक्षमालिका ॥१६६७॥
पुत्रजीवै र्दशगुण तत शंखै सहस्रकम् ।
प्रवालै र्मणिरत्नैश्च दशसाहस्रक स्मृतम् ॥१६६८॥
तदेव स्फाटिकै प्रोक्त मौक्तिकै र्लक्षमुच्यते ।
पद्माक्षै र्दशलक्ष स्यात् सौवर्णै कोटिरुच्यते ॥१६६६॥

कुशग्रन्थ्या कोटिशतं रुद्राक्षैः स्यादनन्तकम् ।
सर्वं विरचिता माला नृणां मुक्तिफलप्रदा ॥१७००॥ इति ।

अन्यत्रापि-

वैष्णवे तुलसीमाला गणेशे गजदन्तजा ।
रुद्राक्षसम्भवा शम्भौ स्फाटिकी च तथा रवौ ॥१७०१॥
अथवा सर्वमन्त्रेषु शस्ता रुद्राक्षमालिका ।
पद्माक्षमालिका तद्वत् सर्वमन्त्रप्रबोधिनी ॥१७०२॥
सौवर्णी मौक्तिकी वाऽथ शङ्खजा वा प्रवालजा ।
रक्तचन्दनबीजोत्था शक्तिमाला प्रकीर्तिता ॥१७०३॥
सौवर्णेऽष्टगुणं विद्यात् स्फाटिके च दशाधिकम् ।
स्याच्छतं शङ्खमणिभिः प्रवालैश्च सहस्रकम् ।
अयुतं चन्दनैश्चैवानन्तं रुद्राक्षमालया ॥१७०४॥
कालिका छिन्नमस्ता च त्रिपुरा तारिणी तथा ।
एता रुद्राक्षमालाया जपे तोषं न यान्ति हि ॥१७०५॥
एतासां च जपं मन्त्री रुद्राक्षमालया चरन् ।
व्याधिमाप्नोति सततं निष्फलं तस्य तज्जपः ॥१७०६॥

विशेषोऽपि-

दिवा नैव प्रजप्तव्यं रुद्राक्षमालया क्वचित् ।
शक्तिमन्त्रं महेशानि कृते तन्निष्फलं भवेत् ॥१७०७॥

निष्फलत्वे हेतुमाह तन्त्रान्तरे-

शिवशक्तिसमायोगो रात्रावेव प्रकीर्तितः ।
रुद्राक्षे शिवरूपत्वं शक्तित्वं शक्तिमन्त्रके ॥१७०८॥ इति ।
द्वादश्यां वैष्णवी माला संस्कार्या सोपवासकं ।
मन्त्रज्ञैर्विष्णुमन्त्रेण दिवाभागे प्रशस्यते ॥१७०९॥
चतुर्थ्यां च गणेशस्य सूर्यस्य सप्तमीतिथौ ।
अष्टम्यां वा नवम्यां वा चतुर्दश्यां तथैव च ।
शक्तीनामपि कर्तव्या रात्रावेव समाहितः ॥१७१०॥

त्रयोदश्या तथा कुर्यात् शिवस्यापि सुरेश्वरि ।
अष्टोत्तरशतमणिभि र्निर्मिता या तु मालिका ॥१७११॥

राज्य वितनुते नूनं देहान्ते मोक्षदायिनी ।
पञ्चविंशतिभि र्मोक्षं त्रिंशद्भि र्धनसिद्धिदम् ॥१७१२॥

चतुर्दशमयी मोक्षदायिनी भोगवर्द्धिनी ।
सर्वथा सप्तविंशत्या पञ्चदश्यभिचारके ॥१७१३॥

पञ्चाशद्भि कार्यसिद्धिस्तथा च चतुरुत्तरे ।
यथालाभ साधकेन्द्रो ह्यक्षान्यादाय यत्नत ॥१७१४॥

अन्योन्यसमरूपाणि नातिस्थूलकृशानि च ।
कीटादिभिरदुष्टानि तथा जीर्णानि सुन्दरि ॥१७१५॥

द्विजस्त्रीनिर्मितं सूत्र कर्पासभवमुत्तमम् ।
शुक्लं रक्त तथा कृष्णं पट्टसूत्रमथापि वा ॥१७१६॥

शान्तिवश्याभिचारेषु मोक्षैश्वर्यजयेषु च ।
सर्वेषामेव वर्णाना रक्तं सर्वेप्सितप्रदम् ॥
आश्रमेषु तथा चैवं रक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥१७१७॥ इति ।

अन्यच्च हंसपारमेश्वरे–

उच्चाटने मार्कटमेव सूत्रं लोहस्य सूत्रं खलु मारणे च ।
पट्टस्य सूत्रं तु महद्वशीये कर्पाससूत्रं खलु सर्वसिद्ध्यै ॥१७१८॥

सनत्कुमारीये तु–

त्रिगुण त्रिगुणीकृत्य ग्रंथयेत् शिल्पशास्त्रत ।
एकैक मातृकावर्णं सतार प्रजपन् सुधी ॥
मणिमादाय सूत्रेण ग्रंथयेन्मध्यभागत ॥१७१९॥

ब्रह्मग्रथि विधायेत्थं मेरुं च ग्रथिसंयुतम् ।
ग्रथयित्वा पुरो माला तत सस्कारमाचरेत् ॥१७२०॥

अत्र कस्यचिन्मते मूलविद्यया ग्रन्थन विधेयम् ।

तथा च एकवीराकल्पे–

मातृकामन्त्रतो ग्रथिं विद्यया वा प्रकारयेत् ।
सुवर्णादिगुणे वापि ग्रथयेत् साधकोत्तम ॥१७२१॥

ब्रह्मग्रथिं ततो दद्यान्नागपाशमथापि वा ।
कवचेन च बध्नीयान्माला ध्यानपरायण ॥१७२२॥

सर्वशेषे ततो मेरु सूत्रद्वयसमन्वितम् ।
ग्रथयेत् तारयोगेन बध्नीयात् साधकोत्तम ।
सर्वस्माच्च स्थूलतरं मेरु कुर्यात् सजातिकम् ॥१७२३॥
मुखे मुखं तु संयोज्य पुच्छे पुच्छं च योजयेत् ।
गोपुच्छसदृशी माला यद्वा सर्पाकृति शुभा ॥१७२४॥
आद्यं स्थूलं ततस्तस्मान्न्यूनान्न्यूनतरं तथा ।
विन्यसेत् क्रमतस्तत्र सर्पाकारा हि सा यतः ॥१७२५॥

मुखपुच्छनियमस्तु स्वच्छन्दमाहेश्वरे–

रुद्राक्षस्योन्नतं प्रोक्तं मुखं पुच्छं तु निर्मलम् ।
कमलाक्षस्य सूक्ष्मांशं सबिन्दुद्वितयं मुखम् ॥१७२६॥
सबिन्दुकस्य स्थूलांशं पृष्ठं श्लक्ष्णमिति स्मृतम् ।
एवं ज्ञात्वा मुखं पुच्छं रुद्राक्षाम्भोरुहाक्षयोः ॥१७२७॥

तत् सजातीयमेकाक्षं मेरुत्वेनाग्रतो न्यसेत् ।
एकैकं मणिमादाय ब्रह्मग्रंथिं प्रकल्पयेत् ॥१७२८॥

एकैकं मातृकावर्णं ग्रथनादौ तु संजपेत् ।
त्रिवृत्तिग्रथनेकेन तथार्द्धेन विधीयते ॥१७२९॥

सार्धद्वयावर्तनेन ग्रथिं कुर्याद् यथा दृढम् ।
त्रिरावर्त्या मध्यमेन चार्धावर्त्या तु देशतः ॥
स्याद् ग्रथि दक्षिणावर्त्तस्तद् ग्रथि ब्रह्मसंज्ञकम् ॥१७३०॥
ग्रथिहीना न कर्तव्या सापि कुत्रापि युज्यते ।
कालिका त्वरितायाश्च वज्राख्या षट्कभेदके ॥१७३१॥

तथा च वनवासिन्या वाराह्याश्च तथेश्वरि ।
चण्डिकाया महेशानि ग्रथिहीनापि शस्यते ॥१७३२॥
एवं निर्माय माला वै प्रतिष्ठा च ततश्चरेत् ।
अप्रतिष्ठितमालाभि नित्यं जपति यो नरः ॥१७३३॥
सर्वं तन्निष्फलं विद्यात् क्रुद्धा भवति देवता ।
तस्मात् प्रतिष्ठा प्रोक्तेन कुर्यान्मार्गेण साधक ॥१७३४॥
नित्यकर्म समाप्याथ प्रणम्य गुरुदैवतम् ।
अश्वत्थपत्रनवकं पद्माकारं तु कल्पयेत् ॥१७३५॥
तन्मध्ये स्थापयेन्माला मातृका मूलमुच्चरन् ।
क्षालयेत् पंचगव्येन सद्योजातेन सज्जलैः ॥१७३६॥

पंचगव्यनिर्माणं तु तन्त्रान्तरे–

गोसकृद् द्विगुणं मूत्रं सर्पि दद्याच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरमष्टगुणं प्रोक्तं पंचगव्ये तथा दधि ॥१७३७॥
गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राम्णश्चचा दधि ॥१७३८॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
वरुणश्चैव गोमूत्रे गोमये हव्यवाहनः ।
दध्नि वायुः समुद्दिष्टः सोमः क्षीरे घृते रविः ॥१७३९॥ इति ।
चंदनागरुपुष्पाद्यैः वामदेवेन घर्षयेत् ।
धूपयेत् तामघोरेण लिपेद् तत्पुरुषेण तु ॥१७४०॥
मंत्रयेत् पंचमेनैव प्रत्येकं तु शतं शतम् ।
सकृद्वापि तथा मेरुं तेनैव च शतं पुनः ॥१७४१॥

तेन पंचमेन ईशानेनेति ।

तत्रावाह्य यजेद् देवं यथाविभवविस्तरैः ।
संस्कृत्यैव बुधो माला तत्प्राणास्तत्र स्थापयेत् ॥१७४२॥

तत्प्राणानाराध्यदेवताप्राणान् ।

ततो देव प्रपूज्याथ परिवारगणैः सह ।
अनुलोमविलोमेन मातृकार्णैन मंत्रयेत् ॥१७४३॥

तत प्रेतेन समन्व्य ता नयेद् देवतात्मिकाम् ।

प्रेतेन प्रेतबीजेनेत्यर्थ ।

मूलमंत्रेण ता माला पूजयेत् साधकोत्तम. ॥१७४४॥

मूलमत्रस्तु वाराहीतंत्रे–

ॐ माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि ।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥१७४५॥

प्रणवादिद्विठान्तोऽय सर्वमालाविशोधन. ।
वह्निं सम्पूज्य विधिवदष्टोत्तरशतं हुनेत् ॥१७४६॥
हुतशेषं प्रतिहुतौ प्रदद्याद् देवताधिया ।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुण जपमाचरेत् ॥१७४७॥

इत्थ सा संस्कृता माला जपकर्मणि सर्वदा ।
प्रयोक्तव्या साधकेन सर्वाभीष्टफलप्रदा ।
एव संस्कृत्य मालां च गोमुख्या स्थापयेद् बुध· ॥१७४८॥

गोमुखीलक्षण मायातंत्रे यथा–

चतुर्विंशाङ्गुलमितं पट्टवस्त्रादिसम्भवम् ।
निर्मायाष्टाङ्गुलमुख ग्रीवा तत् षड्दशाङ्गुलम् ॥१७४९॥

ज्ञेयं गोमुखयन्त्रं च सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
तन्मुखे स्थापयेन्माला ग्रीवामध्यगत कर ।
प्रजपेद् विधिना गुह्य वर्णमालाधिक प्रिये ॥१७५०॥ इति ।

मु ण्डमालातन्त्रे–

गोमुखे गोपयेन्माला एवं सिध्यति साधकः ।
जपादौ पूजयेन्मालां तोयैरभ्यर्च्य यत्नत ।
मालामूलेन देवेशि मूलमन्त्रेण साधक· ॥१७५१॥

मालामन्त्रा यामलेपूक्ता –

मालामन्त्रान् प्रवक्ष्येऽह शृणुष्वावहितं प्रिये ।
तार तारात्रय तार वधू तुलसि वैष्णवि ॥१७५२॥
वौषड् वनं महामन्त्रस्तुलसीशोधने मत ।
तारमब्धिरमामायासिन्धुं रुद्राक्षमालिनि ॥१७५३॥
शुद्धाभव वनं मन्त्रो देवि रुद्राक्षशोधन ।
तारमादौ समुच्चार्य सूर्याख्य बीजमुत्तमम् ॥१७५४॥
अर्कमाले हरं नीर मन्त्र स्फाटिकशुद्धिकृत् ।
तार च वायुपूज्या च तार पद्माक्षमालिनि ॥१७५५॥
हरितं ठद्वय मन्त्रो देवि पद्माक्षशोधन ।
वेदाद्य कमला कुन्तीं वाग्बीज कामशक्तिकम् ॥१७५६॥
सुवर्णमाले शक्त्याख्यो मन्त्रोऽयं स्वर्णशोधन ।
तार लज्जायुगं तार मुक्तामालिनि मायुगम् ।
ठद्वयं मन्त्रराजोऽयं मुक्तामालाविशोधन ॥१७५७॥
तारं रमा रमा तार शखिनीति पदं वदेत् ।
तार रमा तारमन्ते मन्त्रोऽयं शंखमालिक ॥१७५८॥
सम्पूज्य च ततो माला गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
हृत्समीपे समानीय न तु वामेन सस्पृशेत् ॥१७५९॥
मध्यमाया मध्यभागे स्थापयित्वा समाहित ।
अङ्गुष्ठमध्यभागेन चालयेन्न मणीन् क्रमात् ।
अक्षाणा चालनेऽङ्गुष्ठे नान्यमक्ष तु सस्पृशेत् ॥१७६०॥
जपकाले सदा विद्वान् मेरुं नैव विलङ्घयेत् ।
परिवर्तनकाले च सङ्घट्टं नैव कारयेत् ॥१७६१॥
एव सर्वं परिज्ञाय मालाया जपमाचरेत् ।
अङ्गुष्ठाग्रेण यज्जप्त निष्फलं तद्धि पार्वति ॥१७६२॥
अशुचि न स्पृशेन्माला करभ्रष्टा न कारयेत् ।
तर्जन्या न स्पृशेदेना गुरोरपि न दर्शयेत् ॥१७६३॥

भुक्तौ मुक्तौ तथा पुष्टौ मध्यमाया सदा जपेत् ।
अगुष्ठानामिकाभ्या तु यजेदुत्तमकर्मणि ॥१७६४॥
अंगुष्ठामध्यमाभ्या तु जपेदाकृष्टकर्मणि ।
तर्जन्यगुष्ठयोगेन विद्वेषोच्चाटने मत ॥१७६५॥
अंगुष्ठमध्यमायोगान्मन्त्रसिद्धिः सुनिश्चितम् ।
ज्येष्ठाकनिष्ठायोगेन शत्रूणा नाशनं मतम् ॥१७६६॥
एकैक च मणि देवि चालयन् प्रजपेदथ ।
जपन् देवमनुध्यायन् भावयेदखिलान्मणीन् ॥१७६७॥
प्रदक्षिण पुन.कृत्वा प्रारब्धदेवं समाचरेत् ।
कासे क्षुते च जृंभायामेकमावर्त्तकं त्यजेत् ॥१७६८॥
प्रमादात् तर्जनीस्पर्शो भवेदावर्त्तकं त्यजेत् ।
अदीक्षिताना स्पर्शे च पुन शोधनमाचरेत् ॥१७६९॥
न धारयेन् मूर्ध्नि कण्ठे कर्णे च जपमालिकाम् ।
ऊरुपादाधरस्पृष्टा वामहस्तप्रचालिता ॥१७७०॥
अगुप्ता च तथा भ्रस्या पुन संस्कारमर्हति ।
जीर्णे सूत्रे पुनश्छिन्ने ग्रंथयित्वा शतं जपेत् ॥१७७१॥
प्रतिष्ठिताया तस्यां तु मंत्रं जप्यादनन्यधी ।
एव प्रतिष्ठितायां तु अन्य नैव जपेन्मनुम् ॥१७७२॥
येन प्रतिष्ठिता माला तमेव तु मनुं जपेत् ।
अन्यमन्त्रजपाविद्धा न कार्या कर्हिचिद् बुधैं ॥१७७३॥
जपमाला मया देवि ! कथिता देवदुर्लभा ।
सदा गोप्या प्रयत्नेन यथा त्वं मम वल्लभा ॥१७७४॥
एवं कर्तुमशक्तश्चेदित्थं कुर्यादतन्द्रित ।
भूतशुद्धयादिपूजान्तं समाप्य तत्र पूजयेत् ॥१७७५॥
गणेशसूर्यविष्ण्वीशान् दुर्गामावाह्य मन्त्रवित् ।
पचगव्ये तत क्षिप्त्वा मूलमंत्रेण मन्त्रवित् ॥१७७६॥
मन्त्रेण मालामूलमन्त्रेण ।

तस्मादुत्तोल्य ता माला स्वर्णपात्रे निधाय च ।
पयो दधि घृत क्षौद्रं शर्कराद्यैरनुक्रमात् ॥१७७७॥

तोयधूपान्तरैः कृत्वा पंचामृतविधिं बुध ।
क्रमात् तत्रैव सस्याप्य स्थापयेत् शीतले जले ॥१७७८॥

तत चदनसौगधकस्तूरीकुकुमादिभि ।
तामालिप्य प्रेतमंत्रमष्टोत्तरशतं जपेत् ॥१७७९॥

प्रेतमन्त्र हकारदन्त्यसकारचतुर्दशस्वरविसर्गयोगेन ह्सौरिति ।

तस्या नवग्रहांश्चैव दिक्पालांश्च प्रपूजयेत् ।
तत संपूज्य च गुरुं गृह्णीयान्मालिका शुभाम् ॥१७८०॥

एवं माला च सस्कृत्य यंत्रसस्कारमाचरेत् ।
विना यन्त्रेण पूजाया देवता न प्रसीदति ॥१७८१॥

सर्वेषामपि देवाना यन्त्रे पूजा प्रशस्यते ।
देहात्मनो यथाऽभेदो मंत्रदेवतयोस्तथा ॥१७८२॥

तथा यंत्रं मंत्रमयं मंत्रात्मा देवतेति च ।
कामक्रोधादिदोषोत्त्थसर्वदु खनियंत्रणात् ।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देव· प्रीणाति पूजित. ॥१७८३॥

सहितायामपि–

यन्त्रं मंत्रमयं प्राहुर्देवता मंत्ररूपिणी ।
यन्त्रेणापूजितो देव सहसा न प्रसीदति ॥१७८४॥

सर्वेषामपि देवाना यंत्रे पूजा प्रशस्यते ।
सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके वैद्रुमे तथा ॥१७८५॥ इति ।

तन्त्रराजे–

रत्ने हेमनि रौप्ये वा ताम्रे दृषदि च क्रमात् ।
कृत्वा चक्रस्य निर्माणं स्थापयेत् पूजयेदपि ॥१७८६॥

दृषदि गडकीशिलायाम् ।

तथा च यामले-

गंडकीभवपाषाणे स्वर्णे रजतताम्रयो ।
विद्रुमे रचिते यन्त्रे पद्मरागेऽथवा प्रिये ॥
इन्द्रनीलेऽथ वैदूर्ये महामारकतेऽपि वा ॥१७८७॥ इति ।

अथ धातुविशेषे कालसंख्या लक्षसागरे-

यावज्जीवं सुवर्णे स्यात् रूप्ये द्वाविंशति. प्रिये ।
ताम्रे द्वादशकं वर्षं स्फाटिकादौ तु सर्वदा ॥१७८८॥ इति ।

अन्यच्च-

सौवर्णं राजत ताम्रं श्रेष्ठं मध्यं तथोत्तमम् ।
ताम्रे लक्षगुणं प्रोक्तं रौप्ये कोटिगुणं भवेत् ।
सौवर्णेऽनन्तफलदं स्फाटिके च तथा समम् ॥१७८९॥

फल च लक्षसागरे-

भूमौ सिन्दूररजसा रचितं सर्वकामदम् ।
सुवर्णरचितं यंत्रं सर्वराजवशंकरम् ॥१७९०॥
राजतेन कृत यत्रमायुरारोग्यकामदम् ।
ताम्रे तु रचित यत्र सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ॥१७९१॥
यंत्र हि स्फाटिकं देवि मनोऽभिलषितप्रदम् ।
माणिक्यरचितं यंत्र राज्यद भुक्तिद मतम् ॥१७९२॥
गोमेदरचित यत्र सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ।
क्लृप्त मरकते यंत्रं सर्वशत्रुविनाशनम् ॥
लोहत्रयोद्भव यंत्रं सर्वसिद्धिकर परम् ॥१७९३॥

लोहत्रयस्य लक्षण तत्रैव-

भागा दश सुवर्णस्य रजतस्य च षोडश ।
ताम्रस्य रविभागेन पीठ कुर्यान्मनोहरम् ॥१७९४॥
चक्रेऽस्मिन् पूजयेद् यो हि स सौभाग्यमवाप्नुयात् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनामधिपो जायतेऽचिरात् ॥१७९५॥

निपिद्धघातवस्तत्रैव–

वगेऽथ शीशके लोहे न कर्तव्यं कदाचन ।
फलकायां पटे भित्तौ स्थापयेन्न कदाचन ॥१७९६॥
कुलं वित्तमपत्य च निर्मूलयति सर्वथा ।

अथ प्रस्तारभेदेन त्रैविध्य चक्रस्य तत्रैव–

त्रैविध्यं शृणु चक्रस्य भूप्रस्तारोर्ध्वमेरुकम् ॥१७९७॥
पातालवासिना देवि प्रस्तारो निम्नरेखक. ।
ऊर्ध्वरेखं महेशानि मर्त्यलोकनिवासिनाम् ॥१७९८॥
स्वर्गलोकनिवासीना यंत्रराजमेरुसज्ञक. ।
भूपुरं तु समारभ्य बैन्दवान्तं महेश्वरि ॥१७९९॥
क्रमात् समुन्नत सर्वं मेरुरूप मयोदितम् ।
समोर्ध्वरेखं नवकमूर्ध्वरेखं प्रकीर्तितम् ॥१८००॥

नवकमिति केवल श्रीचक्रे न त्वन्यत्र ।

एतस्मिन् विपये भूतभैरवे–

योऽस्मिन् यत्रे महेशानि केशराणि प्रकल्पयेत् ।
योगिनीसहितास्तस्य हिंसा कुर्वन्ति भैरवा. ॥१८०१॥ इति ।

निम्नरेखा समायोगात् भूप्रस्तारो मयोदित. ।
एकतोलं द्वितोल वा त्रितोल पंचतोलकम् ॥१८०२॥
रसतोल चतुस्तोल सप्ततोलमथापि वा ।
पलप्रमाणं कर्तव्यमर्वाक्पीठ मनोहरम् ॥१८०३॥
अग्निरंगुलविस्तार प्राक् प्रत्यग् दक्षिणोत्तरम् ।
यवार्धोच्च प्रकुर्वीत चतुरस्रं समतत ॥१८०४॥

चत्वारिंशन्मापका पलम् । अगुल तिर्यक्स्थापितैरष्टभिर्यवै । ऋजुस्थापितै शालिभिर्वा ।

एतदुक्त कपिलपचरात्रे–

विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभि र्यवै र्मानान्तरांगुलम् ।
शालिभि र्वा ऋजुन्यस्तैस्त्रिभि र्मानान्तर भवेत् ॥१८०५॥ इति ।

सौत्रामणीये–

ऋजुरेखा भवेल्लक्ष्मी वंक्ररेखा दरिद्रकृत् ।
अग्निरगुलविस्तारो यवार्धेनोच्छ्रुति भवेत् ॥१८०६॥
हेम्नश्च रजतस्याथ मान ताम्रस्य कीर्तितम् ।
माणिक्यपुष्परागादौ नीलादौ च यथेच्छया ॥१८०७॥

लक्षसागरेऽपि–

यत्रराजस्वरूपं ते मया स्नेहात् प्रकाशितम् ।
गोपनीय त्वया भद्रे स्वगुह्यमिव सततम् ॥१८०८॥

अथ प्रतिष्ठाकालो ज्योतिषशास्त्रतो बोध्य ।

स्थापन तु प्रवक्ष्यामि सर्वकामप्रसाधनम् ।
सर्वकाले प्रकर्तव्यं कृष्णपक्षे विशेषत ॥१८०९॥
देव्या शिवस्य शुक्ले तु स्थिरराशे स्थिरलग्नके ।
सौम्यायने च देवाना तच्छक्तीना च दक्षिणे ॥१८१०॥

अत्र किञ्चिद् विशेषो देवीपुराणे–

मातृभैरववाराहनरसिंहत्रिविक्रमा ।
महिषासुरहन्त्री च स्थाप्या वै दक्षिणायने ॥१८११॥

प्रतिष्ठा तन्त्रराजे–

क्षौद्राज्यदुग्धै प्रथमं नारिकेलाम्भसा तत ।
अभिषिच्याथ तोयेन ववर्षितेनाक्षरौषधै ॥१८१२॥
आवाह्याभ्यर्च्य सल्लग्ने चक्रे संस्थाप्य पूजयेत् ।
नित्यातत्त्वाग्निकालोत्थविद्ययाऽभ्यर्च्य तत् क्रमात् ॥१८१३॥
स्पृशन् जपेत् कराग्रेण श्रीचक्रं पूजयेदपि ।
एवं दिनत्रय कृत्वा ततो नित्यक्रमं भजेत् ॥१८१४॥
गन्धै पुष्पै धूपदीपै नैवेद्यैस्तर्पणैस्तथा ।
त्रिरात्र पूजयेद् देवीं योगिनीयोगिभि समम् ॥
एव देवि ! प्रतिष्ठाया क्रम. सान्निध्यकारक ॥१८१५॥
देवीत्रिपुरसम्पूर्णम् । मत्तारोदयैरपि पञ्चाशद्वर्णोपधै ।

ता यथा कादिमते-

चन्दनागरुकर्पूरोशीररोगजलघु (?) कणाः ।
कक्कोलजातीमासीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्रा ॥१८१६॥
पिप्पलबिल्वगुहारुणतृणवल्कलवङ्कार्ककुम्भवन्दिन्य. ।
सौदुम्बरिकास्मरिकास्थिराब्जदरपुष्पिकामयूरशिखा. ॥१८१७॥
प्लक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिणटुटुकवृहतीपाटलिचित्रातुलस्यपामार्गा' ॥१८१८॥
शतमखलताद्विरेफाविष्णुक्रान्तामुशल्ययाञ्जलिनी ।
दूर्वाश्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मी सदा भद्रे ॥१८१६॥
आदीनामिति कथिता वर्णाना क्रमादयौषधय' ।

केचित्तु अक्षरौषधैरिति स्थाने सर्वौषधिजलैरिति पठन्ति ।

तन्मते सर्वौषधयस्तु-

लाजा कुष्ट वला चैव प्रियगुधनसर्षपा' ॥१८२०॥
हरिद्रादेवदारुश्च पुखा लोध्र तथा जलम् ।
सर्वविघ्नहरं चैव सर्वौषधमितीरितम् ॥१८२१॥

वर्णौषधयस्तु श्रीविद्यायामेव । अन्यत्र सर्वौषधय ।

अथ क्रम समोहनतंत्रे-

यथा मत्रस्य सस्कारस्तथा यंत्रस्य कल्पयेत् ।
असंस्कृतौ मत्रयत्रौ रोगशोकभयप्रदौ ॥१८२२॥
कथितो मत्रसंस्कारो दशधा सर्वतंत्रके ।
यत्रसस्कारमधुना शृणु देवि समाहिता ॥१८२३॥
चक्रराजं विनिर्माय तत्तत्संस्कारमाचरेत् ।
प्रतिष्ठा विधिना देवि ! तां शृणु त्वं समाहिता ॥१८२४॥
गुरोराज्ञा समादाय नित्यकृत्यं समाप्य च ।
प्रणव तत्सदद्येति मासपक्षतिथीरपि ॥१८२५॥
अमुकोऽमुकगोत्रोऽह पूजार्थं प्रीतये तथा ।
चक्रेऽस्मिन्नमुकीदेव्या' प्राणजीवेन्द्रियाणि च ॥१८२६॥

प्रतिष्ठाकर्मशब्दान्ते करिष्ये प्रागुदङ्मुख ।
ततो गुरुं च वृणुयात् वस्त्रालंकारचन्दनैः ॥१८२७॥
भूतशुद्ध्यादिन्यासान्तं मंत्रन्यासं समाप्य च ।
पञ्चगव्ये निजैः मन्त्रैः शिवमत्रेण मन्त्रितम् ॥१८२८॥
तस्मिन् चक्रं क्षिपेन्मंत्री प्रणवेन विलोडयेत् ।
ततश्चक्रं समुद्धृत्य स्थापयेत् तत्र भाजने ॥१८२९॥
शंखतोयेन देवेशि ! तथा पुण्योदकेन च ।
वारिणा चन्दनेनाऽपि स्नापयेत् परमेश्वरि ॥१८३०॥
नारिकेलोदकैश्चैव सर्वौषधिजलैरपि ।
पञ्चामृतैः पञ्चगव्यैः स्नापयेत् परमेश्वरि ॥१८३१॥
नातितप्तं नातिशीतं कवोष्णं स्नपने मतम् ।
अत्युष्णं वज्रतुल्यं स्यादनुष्णं जाड्यकृद् भवेत् ॥१८३२॥
घृतं क्षीरं तथा नीरं शर्करामधुसंयुतम् ।
पञ्चामृतमिदं ख्यातं प्रत्येकं तु पलं पलम् ॥१८३३॥
एवं स्नाप्य ततो मन्त्री स्थापयेत् स्वर्णपीठके ।
तत्रैव पीठं संपूज्य चार्घ्यपात्रादिकं चरेत् ॥१८३४॥
स्पृष्ट्वा यन्त्रं कुशाग्रेण गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं देवि देवताभावसिद्धये ॥१८३५॥
प्रणवं यन्त्रराजाय विद्महे तदनन्तरम् ।
महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात् ॥१८३६॥
आवाह्य पञ्चमुद्राभिः प्राणस्थापनमाचरेत् ।
वं बीजेनाऽमृतीकृत्य ततश्च धेनुमुद्रया ॥१८३७॥
प्राणानयो प्रतिष्ठाप्य प्राणमन्त्रेण देशिकः ।
स्वकल्पोक्तविधानेन पूजां कुर्यात् समाहितः ॥१८३८॥
उपचारैः षोडशभिः देवीं च पूजयेत् क्रमात् ।
देव्यङ्गे तत्परीवारान् पूजयेत् परमेश्वरि ॥१८३९॥

ततो जपेत् सहस्रं तु शतमष्टोत्तर प्रिये ।
बलिदानं ततो दत्वा प्रणमेत् चक्रराजकम् ॥१८४०॥
अष्टोत्तरशत होमं कुर्याच्च साधकोत्तम ।
मूलमन्त्रेण देवेशि जुहुयाच्चक्रसिद्धये ॥१८४१॥
आहुत्यन्ते चक्रराजे सम्पाताज्यं विनि क्षिपेत् ।
पूर्णाहुतिं ततो दत्वा तज्जलैरभिषेचयेत् ॥१८४२॥
मन्त्राभिषिक्तं चक्रन्तु सर्वेषां सिद्धिदायकम् ।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुणं जपमाचरेत् ॥१८४३॥
गुरवे दक्षिणा दद्याद् यथाविभवविस्तरैः ।
एवं दिनत्रये पूज्य षोडशैरुपचारकै ॥१८४४॥
संहारमुद्रया देव्या विसर्जनमत परम् ।
ब्राह्मणान् भोजयेत् सम्यक् प्रतिष्ठान्ते तु भक्तित ॥१८४५॥
प्रतिष्ठयेच्चक्रराजमनेन विधिना यदि ।
पुरश्चर्याफल तस्य भवेद् विधियुतस्य च ॥१८४६॥
गुरोराज्ञा समादाय यन्त्रशुद्धिमुपाचरेत् ।
एवं विशोध्य यन्त्र तु गोपयेन्न प्रकाशयेत् ॥१८४७॥
यन्त्रमन्त्रप्रकाशेन क्रुद्धा भवति देवता ।
निजमन्त्राभिषिक्तं तु गुरोरपि न दर्शयेत् ॥१८४८॥
प्रतिमापटयन्त्राणा नित्यं स्नानं न कारयेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे तयोर्मलनिवारणम् ॥१८४९॥
अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययो ।
ग्रहणं मन्त्रयन्त्राणां शुभदं तत् प्रकीर्तितम् ॥१८५०॥

ईशानशिवेनाप्युक्तम्–

शक्ति निजेच्छ न तथैव चक्रे चित्रे पटे वा यजनं न भूमौ ।
मोहादसौ स्थण्डिलगा यजेच्चेत् भ्रश्येत् त्रिवर्गादपि मन्त्रसिद्ध ॥१८५१
यन्त्राभावे तु प्रतिमा कृत्वा देवस्वरूपिणीम् ।
पूजयेत् त प्रतिष्ठाप्याथवाऽन्यत्र प्रपूजयेत् ॥१८५२॥

लिङ्गस्थां पूजयेद् देवीं पुस्तकस्था तथैव च ।
मण्डलस्था जलस्था च शिलास्था वा प्रपूजयेत् ॥१८५३॥

यत्राऽपराजितापुष्पं जवापुष्पं च विद्यते ।
करवीरं तथा रक्त शुक्लं वा द्रोणपुष्पकम् ।
तत्र देवी वसेन्नित्यमस्मात् तेषु प्रपूजयेत् ॥१८५४॥

श्रीविष्णुपूजाया विशेषो नारदीये गौतमीये च–

शालग्रामे मणौ यन्त्रप्रतिमामण्डलेषु वा ।
नित्यपूजा हरे कार्या न तु केवलभूतले ॥१८५५॥

शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माऽघनाशनम् ।
किं पुनरर्चनं तत्र हरिसान्निध्यकारकम् ॥१८५६॥

बहुभि र्जन्मभिः पुण्यै र्यदि कृष्णशिलां लभेत् ।
गोपदेन तु चिह्नेन तेन न प्राप्यते जनुः ॥१८५७॥

आपोऽग्निहृदय विष्णोश्चक्र क्षेत्रसमुद्भवम् ।
यन्त्रं च प्रतिमास्थानमाधारत्वेन वै विभो ॥१८५८॥ इति ।

इति श्रीमदागमरहस्ये मन्त्र माला-यन्त्रसंस्कारकथन नाम एकादशः पटलः ॥११॥

द्वादशः पटलः ।

इत्थं यन्त्रं तु संस्कृत्य पुरश्चर्यामथाचरेत् ।
पुरश्चरणसम्पन्नो मन्त्रो हि फलदायक ॥१८५९॥

किं होमै किं जपैश्चैव किं मन्त्रन्यासविस्तरैः ।
रहस्यानां हि मन्त्राणां यदि न स्यात् पुरस्क्रिया ॥१८६०॥

पुरस्क्रिया हि मन्त्राणां प्रधानं जीवमुच्यते ।
वीर्यहीनो यथा देही सर्वकर्मसु न क्षम ॥१८६१॥

पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रः प्रकीर्तित ।
आदौ पुरस्क्रियां कर्तुं स्थाननिर्णय उच्यते ॥१८६२॥

पुण्यक्षेत्र नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम् ।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गम पावनं वनम् ॥१८६३॥

उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तट गिरेः ।
तुलसीकाननं गोष्ठं वृषशून्यं शिवालयम् ॥१८६४॥
अश्वत्थामलकीमूलं गोशाला जलमध्यत. ।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥१८६५॥
गृहे शतगुणं प्रोक्त गोष्ठे लक्षगुण भवेत् ।
कोटि देवालये पुण्यमनन्तं शिवसन्निधौ ॥१८६६॥

वायवीयसहितायामपि-

सूर्यस्याग्ने गुरोरिन्दो दीपस्य ज्वलितस्य च ।
विप्राणा च गवा चैव सन्निधौ शस्यते जप ॥१८६७॥
अथवा निवसेद् तत्र यत्र चित्तं प्रसीदति ।

तथा-

म्लेच्छदुष्टमृगव्यालशङ्कातङ्कविवर्जिते ।
एकान्ते पावने निन्दारहिते भक्तसंयुते ॥१८६८॥
सुदेशे धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
रम्ये भक्तजनस्थाने निवसेन् न पराश्रये ॥१८६९॥
राजान सचिवा. राजपुरुषा प्रभवो जना ।
चरन्ति येन मार्गेण न वसेत्तत्र तत्त्ववित् ॥१८७०॥
जीर्णदेवालयोद्यानगृहवृक्षतलेषु च ।
नदीकूलाद्रिकुञ्जेषु भूच्छिद्रादिषु नो वसेत् ॥१८७१॥
एषामन्यतम स्थानमाश्रित्य जपमाचरेत् ।
यत्र ग्रामे वसेन्मन्त्री तत्र कूर्मं विचिन्तयेत् ॥१८७२॥
पर्वते सिन्धुतीरे वा पुण्यारण्ये नदीतटे ।
यदि कुर्यात् पुरश्चर्यां तत्र कूर्मं न चिन्तयेत् ॥१८७३॥

देवीयामलेऽपि-

कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
महाकाले च काश्या वा दीपस्थानं न चिन्तयेत् ॥१८७४॥

ग्रामे वा यदि वा वास्तौ गृहे वा त विचिन्तयेत् ।
कूर्मचक्रमविज्ञाय य कुर्याज्जपयज्ञकम् ॥१८७५॥
तस्य यज्ञफलं नास्ति तथाऽनर्थाय कल्प्यते ।
पीठे क्षेत्रे पुरे वापि ग्रामे च नगरे तथा ॥१८७६॥
कूर्मं विशोधयेन्मन्त्री दीपज्ञानपुरःसरम् ।
कादिनान्त भवेत् क्षेत्रं ग्राम स्याद् यादिमान्तक ॥१८७७॥
यादिषान्तं पुर सम्यक् प्रोक्तं देशिकसत्तमैं ।
सहान्त नगर प्रोक्तमेतत् क्षेत्रस्य लक्षणम् ॥१८७८॥
ककाराद्विक्षकारान्ता वर्णा स्यु दीपसंज्ञका ।
स्वरा षोडशपीठाख्या ज्ञातव्या मन्त्रिणां वरं ॥१८७९॥ इति ।

एतच्च ब्रह्मयामले—

पीठसंज्ञा स्वराणा च दीपा स्यु र्व्यञ्जनानि हि ।
स्थान दीपाक्षरं यस्मिन् कोष्ठे तिष्ठति तद् भवेत् ॥१८८०॥
दीपस्थान तदेतत् स्यात् कूर्मचक्रे न संशय ।
पूर्वापरायते रेखे द्वे रेखे दक्षिणोत्तरायते ।
नवकोष्ठानि जायन्ते तत्र वर्णान् समालिखेत् ॥१८८१॥

तथा च ज्ञानार्णवे—

वर्तुलं रचयेद् देवि कूर्माकारं सुलोचने ।
तन्मध्ये नवकोष्ठानि कृत्वा वर्णान् समालिखेत् ॥१८८२॥
पूर्वकोष्ठं समारभ्य स्वरयुग्मक्रमेण हि ।
अवर्गं कथितो देवि कवर्गादिकसप्तकम् ॥१८८३॥
पूर्वादिक्रमतो देवि कुबेरान्तं लिखेत्तत ।
लक्षवर्णौ शम्भुकोणे विलिखेत् कूर्मसंज्ञके ॥१८८४॥
क्षेत्रपाला नवैतेषु दीपेशा नवकोष्ठके ।
अमृतो वृषभ दौलराजो वासुकिरप्यैरावत् ॥१८८५॥
शक्तिपू पद्मयोनिश्च महाशंखश्च ते नव ।
छायाप्रकृतगणोपेतान् मध्यात् पूर्वादितो यजेत् ॥१८८६॥

यस्मिन् कोष्ठे क्षेत्रनाम मुखं तद् विद्धि पार्वति ।
तत पार्श्व द्वये हस्तौ तदध कुक्षिमीरितम् ॥१८८७॥
तत पादद्वयं विद्धि तदन्ते पुच्छमीश्वरि ।
मुखस्थो लभते सिद्धिं करस्थ. क्लेशसञ्चयम् ॥१८८८॥
उदासीन कुक्षिसंस्थ पादयो र्हानिमाप्नुयात् ।
पुच्छस्थ पीड्यते मन्त्री बन्धनोच्चाटनादिभिः ॥१८८९॥
तस्मान्मुख समाश्रित्य सर्वकर्म समारभेत् ।
तदभावे कर वापि कूर्मस्यान्यं न सश्रयेत् ॥१८९०॥
स्थानसाधकयो र्नाम्नोररित्वं यत्र विद्यते ।
तदक्षशास्त्रतो ज्ञात्वा तत्तत् स्थानं परित्यजेत् ॥१८९१॥
अरित्वमद्वयस्योक्त गकारेण परस्परम् ।
ऋद्वयस्य ठकारेण ठकारस्य च ऋद्वयम् ॥१८९२॥
लृद्वयस्य पकारेण पकारस्यापि लृद्वयम् ।
ओद्वयस्य पकारेण पकारस्यौयुगेन च ॥१८९३॥
जकारस्य टकारेण झकारस्य खकारत ।
डकारस्य तकारेण फकारस्य धकारत ॥१८९४॥
भकारस्य रकारेण यकारस्य सकारतः ।
अरित्वमेषा वर्णानामन्येषां मित्रभावना ।
कूर्मचक्रे रिपुस्थानं साधको यत्नतस्त्यजेत् ॥१८९५॥

अथोदाहरण तत्रैव-

यथा गर्गस्य वैरं स्यादट्टहासं महत्पुरम् ।
गयामरेश्वरस्यैवमाकाराद्येषु योजयेत् ।
ऋजुभद्रस्य ठक्कार लृतकस्यापि पद्मकम् ॥१८९६॥
ओड्डियाणं पणमुखस्य औड्र षड्गुणकस्य च ।
जयन्ती टंकणस्यारि खंधारं झंझणस्य च ॥१८९७॥
डाकदेवस्य ताराख्यं धर्माख्यं फफ्फकस्य च ।
भद्रस्य रम्यक सोमनगरं यज्ञशर्मण ॥१८९८॥

एव क्रमेण सशोध्य वैरिस्थान त्यजेद् बुध. ।
तेषामाद्यान्वितं वर्णं पूर्वमार्गेषु योजयेत् ॥१८९९॥
यदि तद् व्यजनारूढ तवाद्यं पीठवर्जितम् ।
नामाक्षराणि सर्वाणि पीठयुक्तानि वर्जयेत् ॥१९००॥
तदादिकानि मार्गेण तद् गृहीत्वा स्वरं त्यजेत् ।
ग्रामनामाक्षरेष्वादिमध्यान्तार्णान् विहाय च ॥१९०१॥
द्वितीयमक्षरं यत्र कोष्ठे तिष्ठति तन्मुखम् । इति ।

अन्यत्रापि-
तत्तन्नामद्वितीयार्णो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥१९०२॥ इति ।
इद तु स्वरादिनामविषयम् ।

नामादौ सयोगाक्षरे सति विशेषमाह-
अक्षरत्रितय यत्र ग्रामनामादिषु क्वचित् ।
स्वरो मध्याक्षरारूढो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥१९०३॥
भवतो यदि वर्णौ द्वौ ग्रामनामादिषु स्फुटम् ।
आद्यस्वरो यत्र तिष्ठत्यदो वदनमिष्यते ॥१९०४॥
क्षेत्रसाधकमंत्राणामेकमेवाद्यमक्षरम् ।
यदि स्यात् स ध्रुव मत्र' सर्वसिद्धिफलप्रद ॥१९०५॥
मोक्षार्थं वदने कुर्याद् दक्षिणे त्वभिचारकम् ।
श्रीकाम पश्चिमे भूत्वा उत्तरे शान्तिदो भवेत् ॥१९०६॥
ईशाने शत्रुनाश स्यादाग्नेय शत्रुदाहक ।
नैऋते शत्रुभीति स्याद् वायव्ये तु पलायनम् ॥१९०७॥
कूर्मचक्रमिद प्रोक्त साधकानामभीष्टदम् ।
कूर्ममेव परिज्ञाय दीपस्थानसमाश्रित. ॥१९०८॥
आसन कल्पयेन्मत्री यथायुक्त विधानत' ।
आसन सर्वथा कार्यमभावे मानसं चरेत् ॥१९०९॥

तदाह गौरीयामले-
सलिलस्थो यदा कुर्याज्जप पूजां च साधक ।
कल्पयित्वाऽऽसन सम्यगासीनो नोत्थितश्चरेत् ॥१९१०॥

रक्तासनोपविष्टस्तु लाक्षारुणगृहे स्थित ।
मन कल्पितरक्तो वा साधक. स्थिरमानस ॥१६११॥

तृणवल्कलवस्त्राणा सिंहव्याघ्रमृगाजिनम् ।
कल्पयेदासनं धीमान्न च कुर्यादनास्तृते ॥१६१२॥

कौशेय वाय चार्मं वा चैल तार्णमथापि वा ।
शणज पत्रजं वापि तूल कम्बलदारुजौ ॥
कृष्णाजिन भवेत् तद्वत् सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥१६१३॥

कृष्णाजिन गृहस्थातिरिक्तसाधकपरम् ।

तथा च ब्रह्मसहितायाम्–

नादीक्षितो विशेद् यस्तु कृष्णसाराजिने गृही ।
विशेद् यति र्वनस्थश्च ब्रह्मचारी तथा मुने ॥१६१४॥

वस्त्रासने व्याधिनाश कम्बले दु खमोचनम् ।

यत्तु-'वस्त्रासन जपध्यानतया हानिकर मतम् ।' तन्न केवल वस्त्रमात्रम् ।

सर्वसिद्धयै व्याघ्रचर्म ज्ञानसिद्धयै मृगाजिनम् ॥१६१५॥

वस्त्रासन रोगहर वेत्रजं श्रीविवर्धनम् ।
कौशेयं पौष्टिक प्रोक्तं काम्बलं दु खमोचनम् ॥१६१६॥

अभिचारे कृष्णवर्णमारक्त वश्यकर्मणि ।
शातिके धवलं प्रोक्त चित्रक सर्वकर्मसु ॥१६१७॥

स्तम्भने गजचर्म स्यान्मारणे माहिषं तथा ।
मेषीचर्म तथोच्चाटे खड्गजं वश्यकर्मणि ॥१६१८॥

विद्वेषे जाम्बुकं प्रोक्तं भवेद् गोचर्मशान्तिके ।
वशासने च दारिद्र्यं, दौर्भाग्य दारुकासने ॥१६१९॥

धरण्या दु खसभूति, पाषाणे व्याधिसभव ।
तृणासने यशोहानि, पल्लवे चित्तविभ्रम ।
इष्टिकायामथाधि स्यादेतत् साधारणे जपे ॥१६२०॥

अतश्च तन्त्रे–

वशाश्मधरणीदारुतृणवल्कलनिर्मितम् ।
वर्जयेदासन धीमान् दारिद्र्यव्याधिदु खदम् ॥१६२१॥

अन्यच्च-

आम्रनिम्बकदम्बानामासन सर्वनाशनम् ।
वकुलं किंशुकञ्चैव पनस च विभीतकम् ।
वर्जयेदासन मन्त्री दारिद्र्यव्याधिदु खदम् ॥१९२२॥
शस्त तिलकज दार्वं रक्तचन्दनजं तथा ।
गामरीनिर्मित शस्तमन्यद् दार्वं विवर्जयेत् ॥१९२३॥
चतुर्विंशागुल दीर्घमेव काष्ठासन भवेत् ।
षोडशागुलविस्तीर्णमुच्छ्राय चतुरंगुलम् ॥१९२४॥
काम्बल चार्मज शैल महामायाप्रपूजने ।
प्रशस्तमासन प्रोक्त कामाख्यायास्तथैव च ॥१९२५॥
त्रिपुराया रक्तवस्त्र विष्णोश्चैव कुशासनम् ।
शैवे व्याघ्राजिन शस्त रोमज सर्वतुष्टिकृत् ॥१९२६॥
कुशाजिनाम्बरेणाढ्य चतुरस्र समन्तत ।
एकहस्त द्विहस्त वा चतुरगुलमुच्छ्रितम् ॥१९२७॥
आसन च तथा कुर्यान्नातिनीच न चोच्छ्रितम् ।
तत्र स्थित्वा जपेन्मत्री बद्धपद्मासनादिक ॥१९२८॥
पद्मासन स्वस्तिकाख्यं भद्र वज्रासनं तथा ।
वीरासनमिति प्रोक्त क्रमादासनपञ्चकम् ॥१९२९॥
सव्यपादमुपादाय दक्षोपरि न्यसेत्तत ।
तथैव दक्षिण सव्यस्योपरिष्टाद् विधानवित् ॥१९३०॥
पद्मासनमिति प्रोक्त जपकर्मसु शस्यते ।
जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ॥१९३१॥
ऋजुकायो विशेन्मन्त्री स्वस्तिक तत् प्रचक्षते ।
गुल्फौ च वृषणस्याध सीवन्या पार्श्वयो क्षिपेत् ॥१९३२॥
पार्श्वं पादौ च पाणिभ्यां दृढ बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासन भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१९३३॥

मेढ़ादुपरि निक्षिप्य सव्यगुल्फं तयोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य वज्रासनमितीरितम् ॥१६३४॥
एकपादमध कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम् ।
ऋजुकायो विशेन्मन्त्री वीरासनमितीरितम् ॥१६३५॥
ऊर्ध्वपादस्थितो देवि ! शिरोऽध. परिकीर्तित ।
सर्वासनाना श्रेष्ठोऽयं देवैरपि सुदुष्करः ॥१६३६॥
न युक्तमन्यथा पाददर्शनं सुरपूजने ।
नित्य नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं पूजनं स्मृतम् ॥१६३७॥
नित्यार्चनरतो मन्त्री कुर्यान्नैमित्तिकार्चनम् ।
नैमित्तिकार्चने सिद्धे कुर्यात् काम्यमतन्द्रितः ॥१६३८॥
यत् कुर्यादनिश नित्य नैमित्तिकमत परम् ।
पर्वोत्सवादिकं चान्यत् काम्यं कामकृतं हि यत् ॥१६३९॥
शिवपूजा दिवा शस्ता शक्तिपूजा निशास्वपि ।
दिवारूपी शिवः साक्षान्निशा स्यात् शक्तिरूपिणी ॥१६४०॥

शिवेत्युपलक्षण पु देवतामात्रपरम् ।

शक्तिपूजाया विशेषो यामले–

रात्रौ पूजा सदा कुर्यात्तत्र सिद्धि र्न संशय ।
सकला रजनीपूजा दिवापूजा च निष्फला ॥१६४१॥
शक्तिमन्त्रं जपेद् रात्रौ दिवापि पूजनं शुचि ।
विशेषतो निशीथे तु तत्रातिफलदो जप. ॥१६४२॥

बृहत्तेतिलातन्त्रे–

निशायां योऽर्चयेत् कालीं तारां च भैरवीं तथा ।
आब्रह्मरुद्रक्षितीशाना श्रेष्ठो भवति साधकः ॥१६४३॥

अन्यत्रापि–

मातङ्गीं च तथा बालां चामुण्डां छिन्नमस्तकाम् ।
भद्रकालीं तथा दुर्गां जयदुर्गां तथैव च ॥१६४४॥

आसा जपश्च पूजा च रात्रौ चेत् क्रियते यदा ।
भुक्त्वा भोगानशेषांस्तु सोऽवश्यं याति रुद्रताम् ॥१६४५॥

समयातन्त्रे–

दिवा प्रपूजनं देवि यथोक्तफलदं भवेत् ।
पूजनं लक्षगुणित निशि नीरजलोचने ! ॥१६४६॥

अर्धरात्रात् परं यच्च मुहूर्त्तद्वयमेव हि ।
सा महारात्रिरुद्दिष्टा कृत्वा तत्राक्षयो भवेत् ॥१६४७॥

गते तु प्रथमे यामे तृतीयप्रहरावधि ।
निशाया च प्रजप्तव्यं रात्रिशेषे जपेन्न हि ।
प्रकटे शक्तिमन्त्रे तु हानि स्यादुत्तरोत्तरम् ॥१६४८॥

शिवधर्मोत्तरे–

सर्वेषामेव यज्ञानां जपयज्ञो विशिष्यते ।
जपेन देवता शीघ्रं प्रत्यक्षमुपयाति हि ॥१६४९॥

प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीम् ।
यक्षरक्ष पिशाचाश्च ग्रहा सर्पाश्च भीषणा ।
जापिन नोपसर्पन्ति भयभीता समन्तत ॥१६५०॥

अन्यत्रापि–

यावन्त कर्मयज्ञा स्यु प्रदिष्टानि तपांसि च ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१६५१॥

जप स्यादक्षरावृत्ति र्मानसोपांशुवाचिकै ।
धिया यदक्षरश्रेणीं वर्णस्वरपदात्मिकाम् ॥१६५२॥

उच्चरेदर्थमुद्दिश्य मानस स जप. स्मृत ।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किंचित् देवतागतमानस ।
किंचित् श्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जप स्मृत ॥१६५३॥

विशुद्धेश्वरे–

निजकर्णागोचरस्तु मानसः कथितो बुधै ।
उपांशु निजकर्णस्य गोचर परिकीर्तित ॥१६५४॥

निगदस्तु जनै र्वेद्यस्त्रिविधो जप ईरित ।
वाचा समुच्चरेन्मन्त्र वाचिक स जप स्मृतः ॥१६५५॥
माहात्म्य वाचिकस्यैव जपयज्ञस्य कीर्तितम् ।
तस्मात् शतगुणोपांशु सहस्रो मानस स्मृत ॥१६५६॥
मानस. सिद्धिकामाना पुष्टिकामैरुपांशुक ।
वाचिको मारणे चैव प्रशस्तो जप ईरित ॥१६५७॥
जिह्वाजप स विज्ञेय केवलं जिह्वया बुधै ।
मन सहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानस ॥१६५८॥
मन्त्रमुच्चारयेन्मन्त्री ईषदोष्ठं प्रचालयेत् ।
सध्यायन्नक्षरश्रेणीं वर्णात् वर्णं पदात् पदम् ॥१६५९॥
ध्यानमन्त्रसमायुक्त शीघ्रं सिद्धयति साधक ।
अतिह्रस्वो व्याधिहेतुरतिदीर्घो वसुक्षयः ॥१६६०॥
अक्षराक्षरसंयुक्तं जपेन्मौक्तिकहारवत् ।
शनै शनैरविस्पष्ट न द्रुत न विलम्बितम् ।
क्रमेणोच्चारयेद् वर्णानाद्यन्तक्रमयोगत ॥१६६१॥
मनसा य पठेत् स्तोत्र वचसा यो मनुं जपेत् ।
उभय विफल देवि भिन्नभाण्डोदकं यथा ॥१६६२॥
यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता ।
चिन्तयित्वा तदाकार मनसा जपमाचरेत्
भावनादक्षरश्रेण्या ब्रह्म साक्षान्न सशय ॥१६६३॥
अक्षरे दूषणं नास्ति शापादि कमलानने ।
दूषण यत् कृत देवि हृदये भावय प्रिये ॥१६६४॥
गोपनार्थं हि देवाना शिव शापादिकं व्यधात् ।
पामरा क्लेशयिष्यन्ति देवानर्थपरा प्रिये ॥१६६५॥
शप्तं न हि शिवे ! विद्धि कीलित न हि सुन्दरि ।
सन्देह त्यज देवेशि मन्त्रमात्रे ममाज्ञया ॥
जपात् सिद्धि जंपात् सिद्धि जंपात् सिद्धि विधानत ॥१६६६॥

कुलार्णवे-

तन्निष्ठस्तद्गतप्राणस्तच्चित्तस्तत्परायण ।
तत्पदार्थानुसन्धानं कुर्वन्मन्त्रं जपेत् प्रिये ॥१९६७॥

रुद्रयामले-

कथ मन्त्राश्च सिद्धयन्ति मन्त्रार्थज्ञानिनां प्रिये
मन्त्रार्थं मन्त्रदेवतयोरभेदज्ञानम् ।

तन्त्र यामले-

मन्त्रार्थं देवतारूप चिन्तनं परमेश्वरि ।
मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन देवता ॥१९६८॥
वाच्यवाचकभावेन अभेद मन्त्रदेवयो ।
देवता वाच्य इत्युक्तो मन्त्रो हि वाचक स्मृत ॥१९६९॥
वाचके विधिना ज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ।
ध्यानेन परमेशानि यद्रूप समुपस्थितम् ॥१९७०॥
तदेव विद्धि मन्त्रार्थं येन सिद्धयति वै मनु ।
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्य योनिमुद्रा न वेत्ति य ॥१९७१॥
शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धि र्न जायते ।
मन्त्राश्चैतन्यसहिता सर्वसिद्धिकरा स्मृता ॥१९७२॥
चैतन्यरहिता मन्त्रा केवल वर्णरूपिण ।
फल नैव प्रयच्छन्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥१९७३॥
सुप्तबीजा भवन्मन्त्रा न दास्यन्ति फलं प्रिये ।
स्थानस्था वरदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च वरप्रदा. ॥१९७४॥
ध्यानस्थानविनिर्मुक्ता सुसिद्धा अपि वैरिण ।
मन्त्रस्थान प्रवक्ष्यामि सावधानाऽवधारय ॥१९७५॥
सकल निष्कल सूक्ष्म तथा सकलनिष्कलम् ।
कलाभिन्न कलातीत षोढा मन्त्र शिवोऽब्रवीत् १९७६॥
सकल ब्रह्मरन्ध्रस्थं तदधो विद्धि निष्कलम् ।
मानस सुषुम्नामानं हृत्स्थ सकलनिष्कलम् ॥१९७७॥

विन्दुस्थितं कलाभिन्न कलातीतं तदूर्ध्वत. ।
पद्स्थानसस्थिता मन्त्रा स्थानस्था. परिकीर्तिता. ॥१९७८॥

एव स्थान निगदितं चैतन्यस्य क्रमं शृणु ।
चैतन्यरहित मन्त्र यो जपेत् स तु पापकृत् ॥१९७९॥

चैतन्यं सर्वमन्त्राणा शृणुष्व कमलानने ।
सौपुम्णाध्वन्युच्चरिता प्रभुत्व प्राप्नुवन्ति ते ॥१९८०॥

मन्त्राक्षराणि चिच्छक्तौ प्रोतानि परिभावयेत् ।
सा चैव परमव्योम्नि परमानन्दवृ हिते ॥१९८१॥

दर्शयत्यात्मसद्भावं पूजाहोमादिभि विना ।
इत्येतत् कथित देवि मन्त्रचैतन्यमुत्तमम् ॥१९८२॥

सौरे गाणपते शैवे शक्तिमन्त्रेऽथ वैष्णवे ।
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्य योनिमुद्रामुपाचरेत् ॥१९८३॥

उपविश्यासने मन्त्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुख ।
षट्चक्र चिन्तयेद् देवि प्राणायामपुर सर ॥१९८४॥

पार्ष्णिभागात् सुसम्पीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूलमाकृष्य मूलवन्ध विधाय च ॥१९८५॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम् ।
मणिपूर दशदल द्वादशारमनाहतम् ॥१९८६॥

विशुद्ध षोडशदलं भ्रूमध्य द्विदलं तथा ।
सहस्रारं ब्रह्मरन्ध्र सदाशिवपुरं स्मृतम् ॥१९८७॥

शिवशब्देन स्वोपास्यदेवस्थानम् ।

आधारकन्दमध्यस्थ त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
त्रिकोणमध्ये देवेशि कामराजं सुलक्षणम् ॥१९८८॥

कामबीजोद्भवं तत्र स्वयम्भूलिङ्गमुत्तमम् ।
तस्योपरि पुन ध्यायेत् चित्कलां हसमाश्रिताम् ॥१९८९॥

ध्यायेत् कुण्डलिनी देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम् ।
चित्कला कुण्डलिनीं च तेजोरूपां जगन्मयीम् ॥१९९०॥
मन्त्रस्वरूपिणीं सर्वदेवरूपप्रकाशिनीम् ।
हंसेन मनुनोत्थाप्य भित्त्वा चक्राणि देशिक ॥१९९१॥
ब्रह्मरन्ध्र नयेद् योगी सुषुम्णावर्त्मना ततः ।
सदाशिवेन संयोज्य सामरस्य विभावयेत् ॥१९९२॥
ततस्तु परमेशानि अक्षमाला विचिन्तयेत् ।
विचित्रबिसतन्त्वाभा ब्रह्मनाडीगतान्तरा ॥१९९३॥
तया सग्रथिता ध्यायेत् साक्षाज्जाग्रत्स्वरूपिणीम् ।
अनुलोमविलोमेन मन्त्रवर्णविभेदत ॥१९९४॥
मन्त्रेणान्तरितान् वर्णान् वर्णेनान्तरितान् मनून् ।
जपेल्लयपरो धीमान् यावत् चित्त समासते ॥१९९५॥
सामरस्यामृत तत्र जायते जतुसन्निभम् ।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम् ॥१९९६॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ।
आनयेत् तेन मार्गेण मूलाधारं पुन सुधी ॥१९९७॥
योनिप्रबन्धनाद् देवि योनिमुद्रेयमीरिता ।
तव स्नेहान्महेशानि कथिता देवदुर्लभा ॥१९९८॥
शृणु मन्त्रशिखां देवि मन्त्रचैतन्यरूपिणीम् ।
येन विज्ञानमात्रेण क्षिप्र सिद्धयति मन्त्रराट् ॥१९९९॥
मूलकन्दे तु या देवी भुजगाकाररूपिणी ।
तद्भ्रमावर्त्तवातो य प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥२०००॥
झिल्ली चाव्यक्तमधुरा कूजन्ती सततोत्थिता ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्रं सा प्रविशन्ती स्वकेतनम् ॥२००१॥
यातायातक्रमेणैव कुर्यात्तत्र मनोलयम् ।
तेन मन्त्रशिखायाता सर्वमन्त्रप्रदीपिका ॥२००२॥

तम पूर्णगृहे यद्वन्न किञ्चित् प्रतिभासते ।
शिखाहीनस्तथा मन्त्रो न सिद्धयति कदाचन ॥२००३॥
शिखोपदेश सर्वत्र गोपित. परमेश्वरि ।
तस्मात् त्वयापि गिरिजे गोपनीय प्रयत्नत. ॥२००४॥
अथो सकेतदशक जपयज्ञविधौ शृणु ।
यमकृत्वा नरो देवि सिद्धिं प्राप्नोति वै जपात् ॥२००५॥
मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुत ।
न सिद्धयति वरारोहे कल्पकोटिजपादपि ॥२००६॥
सकेतदशक विद्धि सूतकद्वयमोचनम् ।
ततश्च कुल्लुका सेतु महासेतु वरानने ॥२००७॥
निर्वाण मन्त्रचैतन्य मन्त्राणा च नवाकदाम् ।
वासनाश्च मनूना हि मन्त्रतत्त्वविमर्शनम् ॥२००८॥
सामरस्य च मन्त्राणा सकेतदशकं त्विदम् ।
मुखशुद्धिस्तथैवात्र कीर्तितैकादशोऽपर ॥२००९॥
एतज्ज्ञान विना भद्रे जपयज्ञ करोति य ।
वृथा श्रमेण किं तस्य सिद्धि नैव च नैव च ॥२०१०॥
शाक्ते सौरे तथा शैवे वैष्णवेऽन्ये तथा मनौ ।
सकेतदश सयुक्तो जपन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२०११॥
तत्क्रमेणेह गिरिजे कथयामि समासतः ।
मन्त्रोच्चारणवेलाया सम्भवेज्जातसूतकम् ॥२०१२॥
समाप्तौ च तथा देवि सम्भवेन्मृतसूतकम् ।
सूतकद्वयसयुक्तो यो मन्त्र स न सिद्धयति ॥२०१३॥
तस्मात्तु परमेशानि सूतकद्वयमोचनम् ।
कृत्वा जपेद् वरारोहे मन्त्रं स्वाभीष्टसिद्धये ॥२०१४॥
प्रणवान्तरितं कृत्वा सप्तवारं जपेन्मनुम् ।
आदावन्ते भवेद् देवि सूतकद्वयवर्जित ॥२०१५॥

सूतकद्वयसत्यक्तो मन्त्रः सर्वसमृद्धिदः ।
चतुर्दशस्वर पुण्यं दीर्घप्रणवमुच्यते ॥२०१६॥

तस्मात् सर्वत्र शूद्रस्तु दीर्घप्रणवयुग् जपेत् ।
कुल्लुका शृणु देवेशि मन्त्रसिद्धिप्रदायिनीम् ॥२०१७॥

एना जपेन्मूर्ध्नि देशे दशधा साधकोत्तम. ।
वाग्भव पूर्वमुद्धृत्य मन्मथं तदनन्तरम् ॥२०१८॥

भृगुबीजं समुद्धृत्य भृगुबीजयुतं कुरु ।
बालात्रिपुरसुन्दर्या कुल्लुकेयं महेश्वरि ॥२०१९॥

कामधेनु समुद्धृत्य लोकवन्द्या तत परम् ।
वामनीयकबीजं तु पुनरुद्धृत्य सुन्दरि ॥२०२०॥

इद बीजत्रय भद्रे भैरवीकुल्लुका मता ।
तारायाः कुल्लुका देवि महानीलसरस्वती ॥२०२१॥

पञ्चाक्षरी कालिकायास्तदुद्धारं शृणु प्रिये ।
काली कूर्चं वधूमायाफडन्ता परमेश्वरि ॥२०२२॥

छिन्नायाश्च महेशानि कुल्लुकाष्टाक्षरी मता ।
वज्रवैरोचनीये च ततो वर्म प्रकीर्तितम् ॥२०२३॥

सम्पत्प्रदायाः प्रथम भैरव्या कुल्लुका मता ।
श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्या कुल्लुका द्वादशाक्षरी ॥२०२४॥

वाग्भव प्रथम बीज कामराजमनन्तरम् ।
लज्जाबीजमथोच्चार्य त्रिपुरेति प्रकीर्तयेत् ॥२०२५॥

तत स्याद् भगवतिपदमन्ते ठद्वयमुद्धरेत् ।
मायाबीज च भुवना कुल्लुका परिकीर्तिता ॥२०२६॥

सरस्वत्या वाग्भव तु आनन्दाया अनङ्गकम् ।
आद्यन्ते परमेशानि कूर्चबीजद्वय कुरु ।
महिषघ्न्यास्तदा देवि ! कुल्लुका भवति प्रिये ॥२०२७॥

तथान्यासा तु विद्याना सर्वासा च महेश्वरि ।
मायाबीज च देवेशि कुल्लुका परिकीर्तिता ॥२०२८॥
श्रीकृष्णस्य च सम्प्रोक्ता कुल्लुका कामबीजकम् ।
श्रीरामे हनुमन्मन्त्रो द्वादशार्णश्च कुल्लुका ॥२०२९॥
वायुसूनोश्च रामस्य मन्त्रराज षडक्षर· ।
नमो नारायणायेति प्रणवाद्या च कुल्लुका ॥२०३०॥
विष्णुमन्त्रे द्वादशार्णो स स्यादष्टाक्षरे मनौ ।
शिवे प्रासादबीजं तु मञ्जुघोषे षडक्षरम् ॥२०३१॥
शरभे तु नृसिंहस्य नृसिंहे शरभस्य च ।
गणेशे कुल्लुका प्रोक्ता बीज तस्यैव भामिनि ॥२०३२॥
सावित्री सूर्यमन्त्रे तु कुल्लुका परिकीर्तिता ।
अपराणा च देवाना मन्त्रमात्र प्रकीर्तितम् ॥२०३३॥
आदावन्ते जपस्याथ कुल्लुकामनिश शिवे ।
मूर्ध्नि हस्त समाधाय जपेदेनामतन्द्रित ॥२०३४॥
अज्ञात्वा कुल्लुका देवि महामन्त्रं जपेत्तु य· ।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्या यशो धनम् ॥२०३५॥
अथात सम्प्रवक्ष्यामि तच्छृणुस्व प्रियंवदे ।
यस्याज्ञानेन विफल जपस्तोत्रादिक भवेत् ॥२०३६॥
जपादौ च जपान्ते च दशकृत्व सदा जपेत् ।
विप्राणा प्रणव· सेतु क्षत्रियाणा तथैव च ।
वैश्याना तु फडर्ण स्यान्माया शूद्रस्य कथ्यते ॥२०३७॥
स्रवत्यरुद्ध पूर्वं हि परस्ताच्च विशीर्यते ।
नि सेतु सलिल यद्वत् क्षणान्निम्नं प्रसर्पति ॥२०३८॥
मन्त्रस्तथैव नि सेतु क्षणात् क्षरति जापिनम् ।
अजप्त्वा हृदि देवेशि यो वै मन्त्रं समुच्चरेत् ॥२०३९॥
न तस्य जायते सिद्धि कालेनापि महेश्वरि ।

महासेतुश्च देवेशि सुन्दर्या भुवनेश्वरी ।
कालिकाया स्वबीज तु ताराया कूर्चमुच्यते ॥२०४१॥
अन्यासा च वधूबीज गोपालेऽनङ्गबीजकम् ।
ग्लौं बीज गजवक्त्रे स्यान्नारसिंहे नृसिंहकम् ॥२०४२॥
श्रीरामे रामबीज च शिवे प्रासादमम्बिके ।
सूर्यादौ भुवनेशीति महासेतु वरानने ॥२०४३॥
महासेतु विना देवि न जप्तव्य कदाचन ।
सेतुविद्या महेशानि साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपिणी ॥२०४४॥
पार्श्वयो सेतुमादाय जपकर्म समाचरेत् ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सुन्दर्या. सेतुमुत्तमम् ॥२०४५॥
मायाबीज समुद्धृत्य सौभाग्यं च तत परम् ।
पुनर्माया समुद्धृत्य विद्येयं त्र्यक्षरी परा ॥२०४६॥
सुन्दरीविषये सेतु कथित परमेश्वरि ।
अथ वक्ष्ये महेशानि भैरव्या सेतुमुत्तमम् ॥२०४७॥
आकाशबीजमुद्धृत्य सकार च तत परम् ।
ओवर्णसयुत कृत्वा बिन्द्वर्ध संयुतं कुरु ॥२०४८॥
इय विद्या वरारोहे भैरव्या सेतुरूपिणी ।
प्रणव पूर्वमुच्चार्य हृल्लेखा तदनन्तरम् ॥२०४९॥
एषा च द्व्यक्षरी विद्या ताराया सेतुरुच्यते ।
ऐश्वर्यं बीजमुद्धृत्य बिन्द्वर्धसयुत कुरु ॥२०५०॥
कूर्चबीजं ततो देवि पुनरैश्वर्यमुद्धरेत् ।
सेतुरेषो महेशानि श्यामाया परिकीर्तित ॥२०५१॥
भुवनाद्यार्धे प्रणव हृल्लेखां तदनन्तरम् ।
ततश्च परमेशानि प्रणवद्वयमुद्धरेत् ।
भुवनेशीं वह्निजायां सर्वसेतौ नियोजयेत् ॥२०५२॥
अथवा देवदेवीषु प्रणव सेतुरूपिणम् ।
सर्वेषां शूद्रजातीनामोंकार सेतुरुच्यते ॥२०५३॥

यत्र यत्र विनिर्दिष्टं सेतुमन्त्र शुचिस्मिते ।
तन्मन्त्र त्रिगुणं कृत्वा सेतुमन्त्र कुरु प्रिये ॥२०५४॥
सेतु स्यात् कवचादीना मन्त्रत्वेन महेश्वरि ।
सेतु विना महेशानि कवचादीन् पठेच्च यः ॥२०५५॥
स भक्ष्यो जायते देवि योगिनीना शुचिस्मिते ।
वैष्णवे गाणपत्ये च शैवे शाक्ते महेश्वरि ।
आदावन्ते महासेतु दत्त्वा स्वकवच पठेत् ॥२०५६॥
अथ वक्ष्यामि निर्वाणं महासिद्धिकरं शिवे ।
प्रणव पूर्वमुच्चार्य मातृकार्णान् समुच्चरेत् ॥२०५७॥
ततो मूल महेशानि ततो वाग्भवमुच्चरेत् ।
मातृकार्णान् समुच्चार्य पुन प्रणवमुच्चरेत् । ॥२०५८॥ इति श्रीकुले

कालीकुले तु–

प्रणव मातृका कूर्चं माया लक्ष्मी ततो मनुम् ।
प्रणव मातृका कूर्चं माया लक्ष्मीं च सप्तधा ।
एव पुटितमन्त्र तु प्रजपेन्मणिपूरके ॥२०५९॥
अथ निर्वाण उदित साक्षान्निर्वाणदायक ।
चैतन्य सप्रवक्ष्यामि मन्त्राणा परमेश्वरि ॥२०६०॥
हृदयेऽष्टदलं चिन्त्य तन्मध्ये मूलदेवताम् ।
ध्यानोक्तरूपा सञ्चिन्त्य मानसै पूज्य ता नमेत् ॥२०६१॥
आज्ञामादाय देवेशि मूलाधार ततो यजेत् ।
तत्रस्था परमा देवीं कुण्डलीं मन्त्रमातरम् ॥२०६२॥
गत्वोत्थाप्य स्वयं गच्छेद् ब्रह्मरन्ध्रे तया सह ।
कुण्डलिन्या समाश्लिष्टं पूज्यपादं प्रणम्य च ॥२०६३॥
ब्रह्मरन्ध्र समासाद्य सविशेत् साधकोत्तम ।
ब्रह्मरन्ध्रगतान् तांस्तान् मत्वा साधकसत्तम ॥२०६४॥
ब्रह्मनिस्पन्दनिर्धूतान्यक्षराणि मनो प्रिये ।
प्रक्षालितानि मत्वा तु चिच्छक्तौ ग्रथितानि वै ॥२०६५॥

सहस्रदलतो मूल मूलादाब्रह्मरन्ध्रकम् ।
सुषुम्णामध्यगान्येव ध्यात्वा सप्तावृतीर्नर २०६६॥
जपेत् स्वस्थमना बुद्धया गुरुमण्डलग. सुधी' ।
अनेन क्रमयोगेन मन्त्रश्चैतन्यगो भवेत् ॥२०६७॥
नवाङ्कन तु मन्त्राणा सकेतगहनं शिवे ।
ज्ञेयं पूज्यमुखाम्भोजात् लिखितु नैव शक्यते ॥२०६८॥
देवताभेदतो नानामन्त्रास्तेषा तु वासना ।
अर्था श्रीनाथतो बोध्या सर्वसाधारणं शृणु ॥२०६९॥
उच्यते देवदेवेशि मन्त्रतत्त्वविवेचनम् ।
यद् ज्ञात्वा साधकश्रेष्ठो मन्त्रतत्त्वमवाप्नुयात् ॥२०७०॥
यतोऽक्षराद् यदुत्पन्न तत्त्व तत्त्वनिभाक्षरम् ।
भूतशुद्धिविधौ प्रोक्त तादृक् ध्येय मनोरमे ॥२०७१॥
तेजोरूपास्ततो वर्णा विभाव्यास्तदनु प्रिये ।
तत्तेजोभि समुद्भूत स्वेष्टदेवाकृति स्मरेत् ॥२०७२॥
एव मन्त्र दशावृत्त्या जपादौ भावयेत् प्रिये ।
इति ते कथित देवि मन्त्रतत्त्वविवेचनम् ।
यत् कृत्वा मन्त्रविद् देवि लभते मन्त्ररूपताम् ॥॥२०७३॥
अथोच्यते महेशानि सामरस्य मनो शिवे ।
यद् विधाय नरा यान्ति कैवल्यपदमुत्तमम् ॥२०७४॥
उपास्य देवताकार प्रथम वर्णमम्बिके ॥२०७५॥
ध्यात्वा तेजोमयो भूत्वा विचिन्तेदग्रिमाक्षरम् ।
द्वितीयमपि चार्वङ्गि ! स्वेष्टरूप विभावयेत् ॥२०७६॥
तेजो भूत्वा ततो देवि प्रविशेदग्रिमाक्षरम् ।
एवमन्त्यान्त्यमबले भाव्य साधकसत्तमैः ॥२०७७॥
तेजो भूत्वा समग्राणां वर्णानां वरवर्णिनि ! ।
प्रविष्ट निजदेवे तदिति मत्वा चिदात्मधी ॥२०७८॥

चिन्तयेद् देवताबीजाकारं देवि कलेवरम् ।
तदनन्तरतो भद्रे स्वकीयं विग्रह पुन ॥२०७९॥
स्वेष्टरूपसमानाभ ध्यात्वा साधकसत्तम ।
अनुकूल जपेन्मंत्र तत्रेद शृणु पार्वति ॥२०८०॥
अनेकमिहिराभासमुच्चारानुपद शिवे ।
नि सरेत् प्रथम कान्तेऽक्षरं स्वीयमुखाम्बुजात् ॥२०८१॥
एवमेव द्वितीय च तृतीयं च चतुर्थकम् ।
अन्त्यावधि वरारोहे दासभावेन भामिनि ॥२०८२॥
भाव्य जप्त्वा विशेषेण मन्त्रार्थगतचेतसा ।
मन्त्रास्ते स्वामिभावत्व सामरस्यमिद स्मृतम् ॥१०८३॥
कवचाभ्या पुटीकृत्य मन्त्रार्थगतमानस ।
मन्त्रमावर्तयेन्नित्यमचिराद् देवतामियात् ॥२०८४॥
इति ते कथित देवि रहस्यातिरहस्यकम् ।
जननीजारवद् भद्रे ! नो वक्तव्य कदाचन ॥२०८५॥
लोभान्मोहात् कामतश्च नाशिष्येषु विनिर्दिशेत् ।
देवताशापमाप्नोति दत्ते त्वनधिकारिणे ॥२०८६॥
लीन स्यादुदके यद्वल्लवण हि तथा गुरौ ।
शिष्यो लीन भवेत् देवि सोऽधिकारी न चापर ॥२०८७॥
मुखशोधनक देवि वक्ष्ये शृणु समाहिता ।
यदकृत्वा महेशानि जपयागादिक वृथा ॥२०८८॥
शाक्तो वा वैष्णवो वापि गाणप सौर एव वा ।
शैवो वा त्वन्यभक्तो वा मुखशोधनमाचरेत् ।
मुखशोधनमात्रेण जिह्वाऽमृतमयी भवेत् ॥२०८९॥
अन्यथादूषिता जिह्वा मिथ्यासम्भाषणादिभि ।
भक्ष्याभक्ष्यैश्च कलहैरत सशोधन चरेत् ॥२०९०॥
दशवारजपेनास्य जिह्वाऽमृतमयी भवेत् ।
लक्ष्मीं च प्रणव चैव त्रिधोच्चार्य महेश्वरि ॥२०९१॥

इदं षडक्षरं मन्त्रं सुन्दरीविषये स्मृतम् ।
वाग्भवं च तथा माया वाग्भवं त्र्यक्षरीविधौ ॥२०९२॥
प्रणवं प्रेतबीजं च पुन प्रणवमुद्धरेत् ।
त्र्यक्षरोऽय समुद्दिष्टो भैरवीमुखशोधने ॥२०९३॥
कुन्तीत्रय तथा तारत्रय कुन्तीत्रयं तथा ।
एषा नवाक्षरी विद्या श्यामामुखविशोधने ॥२०९४॥
मायात्रयं महेशानि विद्धि तारास्यशोधने ।
वाग्भवत्रयमीशानि भुवनामुखशोधने ॥२०९५॥
अकुशं च तथा वाणीमकुशं त्र्यक्षरो मनु ।
मातङ्गीप्रीतिजनक. कथितो मुखशोधन ॥२०९६॥
वाग्भव च तथा मायां वाग्भवं ङेयुतं तथा ।
दुर्गापद वन माया वाग्भवद्वयमुच्चरेत् ॥२०९७॥
इय दशाक्षरी विद्या दुर्गामुखविशोधिनी ।
प्रणवं च तथा लक्ष्मी धनदामुखशोधन ॥२०९८॥
प्रणवद्वयग घू च प्रोक्तो धूमावतीविधौ ।
अन्यदेवेषु सर्वेषु देवीषु च वरानने ॥२०९९॥
दशधा प्रणवं चोक्त्वा मुखशोधनमाचरेत् ।
देवो यदि जपेन्मन्त्रमकृत्वा मुखशोधनम् ॥२१००॥
सर्वं तस्य वृथा देवि मन्त्रसिद्धि न जायते ।
अथान्यदपि किञ्चित् ते रहस्यं कथयामि ह ॥२१०१॥
जपकाले यदा मन्त्रो निद्रितो भवति प्रिये ।
तदा तद्बोधन कर्म कृत्वा जपमथारभेत् ॥२१०२॥
शक्तिमन्त्र सदा शेते वसन्ताख्यां निशासु च ।
पुंदेवमन्त्रो दिवसे शेते चन्द्रसमाश्रित ॥२१०३॥
एषा ते कथिता देवि निद्राया लक्षण प्रिये ।
प्रजपेद् यदि निद्रायां वृथा तस्य परिश्रम ॥२१०४॥

अरण्यरोदनमिव तज्जपं हि भवेत् सति ! ।
तस्मात् कामकलाबीजपुट मन्त्र तदा जपेत् ॥२१०५॥

विनिद्रश्च भवेन्मन्त्रस्तत्क्षणादेव पार्वति ।
इय कामकलायोनि र्नात्र कार्या विचारणा ॥२१०६॥

योनिमन्त्र मनो दत्त्वा आद्यन्ते परमेश्वरि ।
सप्तवार जपेन्मन्त्र दीपिनीयमुदाहृता ॥२१०७॥

तुर्यस्वरं बिन्दुयुतं नादेन परिपूरितम् ।
एतत् कामकलामन्त्र गुह्याद् गुह्यतर शिवे ॥२१०८॥

एव तु मन्त्रसकेतमज्ञात्वा य समाचरेत् ।
जपयज्ञं वृथा तस्य श्रमोऽनर्थाय कल्प्यते ॥२१०९॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सतसग्रहे पुरश्चरणविधावासनजपसवेतत्रयन नाम द्वादश पटल ॥१२॥

त्रयोदशः पटलः ।

अथ पुरश्चरणम् ।

अगस्त्यसहितायाम्—

अथ वक्ष्ये महादेवि पौरश्चरणिकं विधिम् ।
विना येन न सिद्ध स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि ॥२११०॥

तत् पुरश्चरण नाम मन्त्रसिध्यर्थमात्मन ।
यथोक्तनियम कृत्वा स्वकल्पोक्तजपस्य हि ।
करण द्विजयागान्त प्रोक्तं देशिकसत्तमै ॥२१११॥ इति ।

तत्रादौ भक्ष्यादिनियम गौतमीये—

पुरश्चरणकृन्मन्त्री भक्ष्याभक्ष्य विवर्जयेत् ।
अन्यथा भोजनाद् दोषात् सिद्धिहानि प्रजायते ॥२११२॥

शस्तान्न च समश्नीयान्मन्त्रसिद्धिसमीहया ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शस्तान्नाशी भवेन्नर ॥२११३॥

अगस्त्यसंहितायाम्-

दधि क्षीरं घृतं गव्यमैक्षवं गुडवर्जितम् ।
तिलाश्चैव सितामुद्गाः कन्द केमुकवर्जित ॥२११४॥
नारिकेलफलं चैव कदली लवली तथा ।
आम्रमामलकं चैव पनस च हरीतकी ॥२११५॥
तितिणी जीरकं चैव नागरङ्गकमेव च ।
अतैलपक्व मुनयो हविष्यान्न प्रचक्षते ॥२११६॥
व्रतान्तरप्रशस्त च हविष्य मन्यते बुध ।
भुञ्जानो वा हविष्यान्न शाकं यावकमेव वा ॥२११७॥
पयोमूल फल वापि यत्र यच्चोपलभ्यते ।
नेन्द्रियाणा यथा वृद्धिस्तथा भुञ्जीत साधकः ॥२११८॥

अन्यत्र विहितशाकान्ने यथा-

कलायक गुनीवारा वास्तुकं हिलमोचिका ।
हैमन्तिक सितास्विन्न धान्य मुद्गयवास्तिला ।
मूल केमुककिद्रूना वर्जयन् विहित परम् ॥२११९॥

यत्तु योगिनीतन्त्रे-

चिञ्चा च नालिकाशाक कलाय लकुच तथा ।
कदम्ब नारिकेलं च व्रते कूष्माण्डक त्यजेत् ॥२१२०॥

इति तूपवासरूपव्रतान्तरे बोध्यम् ।

अवैष्णवमसन्य च यत् प्रशस्तं व्रतान्तरे ।
त्याज्यमेवात्र तत् सर्वं यदीच्छेत् सिद्धिमात्मन ॥२१२१॥ इति ।

अथ वर्ज्याणि-

वर्जयेन्मधुक क्षारलवण तैलमेव च ।
ताम्बूल कांस्यपात्र च दिवा भोजनमेव च ॥२१२२॥
मांस च गृञ्जनं चापि वर्जयेन् नियमस्थित ।

गृञ्जनमित्र लशुन इति प्रसिद्ध । यद् राजनिघण्टौ-'गृञ्जन स्यात् रसोनक' इति ।

माषाढकीमसूरांश्च कोद्रवांश्चणकानपि ॥२१२३॥

ताम्बूलं च द्विभुक्त च दु:सवास प्रमत्तताम् ।
श्रुतिस्मृतिविरुद्ध च जपं रात्रौ च वर्जयेत् ॥२१२४॥
कौटिल्यं क्षौरमभ्यंगमनिवेदितभोजनम् ।
असङ्कल्पितकृत्य च वर्जयेन्मर्दनादिकम् ॥२१२५॥
स्नायाच्च पञ्चगव्येन केवलाऽऽमलकेन वा ।
मन्त्रजप्तान्नपानीयं स्नानाचमनभोजनम् ॥२१२६॥
कुर्याद् यथोक्तविधिना त्रिसन्ध्यं देवतार्चनम् ।
अपवित्रकरो नग्न शिरसि प्रावृतोऽपि वा ।
प्रलपन् प्रजपेद् यावत् तावन्निष्फलमुच्यते ॥२१२७॥

कुलार्णवे–

यस्यान्नपानपुष्टाङ्ग कुरुते धर्मसञ्चयम् ।
अन्नदातु फलस्यार्धं कर्तुरर्धं न सशय ॥२१२८॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन परान्न वर्जयेत् सुधी ।
पुरश्चरणकाले तु सर्वकर्मसु शाम्भवि ! ॥२१२९॥
जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनो दग्ध परस्त्रीभि कथ सिद्धि र्वरानने ॥२१३०॥

परान्न भिक्षेतरपरम् ।

वैदिकाचारयुक्ताना शुचीनां श्रीमता सताम् ।
सत्कुलस्थानजाताना भिक्षाशीलाग्रजन्मनाम् । ॥२१३१॥

इत्युक्ते भिक्षाया न निषेध ।

विहाय वह्नि न हि वस्तु किञ्चिद् ग्राह्यं परेभ्य सति संभवेऽपि ।
असभवे तीर्थवहिर्विशुद्धाद् याचेत यावाङ्गुनमात्रभक्षात् ।
गृह्णाति रागादधिकं न सिद्धि प्रजायते कल्पशतैरमुष्य ॥२१३२॥
सकृदुच्चरिते शब्दे प्रणव समुदीरयेत् ।
प्रोक्ते पामरशब्देऽपि प्राणायाम सकृच्चरेत् ॥२१३३॥
बहुप्रलापे चावश्य न्यस्याङ्गानि ततो जपेत् ।
क्षुतेऽप्येव तथास्पृश्यस्थानाना स्पर्शने तथा ॥२१३४॥

एवमादींश्च नियमान् पुरश्चरणकृच्चरेत् ।
विण्मूत्रोत्सर्गशङ्कादियुक्त' कर्म करोति य ॥२१३५॥
जपार्चनादिकं सर्वमपवित्रं भवेत् प्रिये ।
मलिनाम्बरकेशादि मुखदौर्गन्ध्यसयुत.॥२१३६॥
यो जपेत् त दहत्याशु देवता गुप्तसस्थिता ।
मार्जार कुक्कुट क्रौञ्च श्वान शूद्र कपि खरम् ॥२१३७॥
दृष्ट्वाऽऽचम्य जपेत् शेष स्पृष्ट्वा स्नान विधीयते ।
आलस्यं जृम्भण निद्रा क्षुत निष्ठीवन भयम् ॥२१३८॥
नीचाङ्गस्पर्शन कोपमधोवायु विवर्जयेत् ।
जपकाले भवेद् देवादाचम्य प्राणसयमम् ॥२१३९॥
षडङ्ग प्रविधायाशु पुनर्जपमुपारभेत् ।
एवमुक्तविधानेन विलम्ब त्वरित विना ॥२१४०॥
उक्तसख्य जप कुर्यात् पुरश्चरणसिद्धये ।
देवतागुरुमन्त्राणामैक्य समावयन् धिया ॥२१४१॥
जपेदेकमना प्रात कालान्मध्य दिनावधि ।
यत्सख्यया समारब्ध तत् कर्तव्यं दिने दिने ॥२१४२॥
यदि न्यूनाधिक कुर्याद् व्रतभ्रष्टो भवेन्नर ।
न्यूनाधिक न कर्तव्यमासमाप्ति सदा जपेत् ॥२१४३॥
न्यूनातिरिक्तकर्माणि न फलन्ति कदाचन ।
यथाविधि कृतान्येव तत्कर्माणि फलन्ति हि ॥२१४४॥
कृते जपस्तु कल्पोक्तस्त्रेतायां द्विगुणो जप. ।
द्वापरे त्रिगुण प्रोक्तश्चतुर्गुणजप कलौ ॥२१४५॥
मन्त्र साधयमानस्तु त्रिसन्ध्य देवमर्चयेत् ।
द्विकालमेककाल वा न मन्त्र केवल जपेत् ॥२१४६॥
भूशय्या ब्रह्मचारित्व मौनचर्यानसूयता ।
नित्य त्रिषवणस्नान क्षुद्रकर्मविवर्जनम् ॥२१३७

नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः ।
नित्यपूजा नित्यदानं देवतास्तुतिकीर्तनम् ॥२१४८॥
सत्येनापि न भाषेत जपहोमार्चनादिषु ।
असद्भाषणमत्यर्थं वर्जयेदन्यपूजनम् ।
वाङ्मन.कर्मभि नित्य निस्पृहो वनितादिषु ॥२१४९॥
मैथुन तत् कथालापस्तद्गोष्ठी परिवर्जयेत् ।
अन्यथानुष्ठितं सर्वं भवत्येव निरर्थकम् ॥२१५०॥
पुरश्चरणकाले तु यदि स्यान्मृतसूतकम् ।
तथापि कृतसंकल्पो जपं नैव परित्यजेत् ॥२१५१॥

योगिनीहृदयेऽपि–

शयीत कुशशय्याया शुचिव्रतधर सदा ।
प्रत्यह क्षालयेत् शय्यामेकाकी निर्भय स्वपेत् ॥२१५२॥
असत्यभाषणं वाच कुटिलाना विवर्जयेत् ।
वर्जयेत् गीतवाद्यादिश्रवण नृत्यदर्शनम् ॥२१५३॥
अभ्यग गन्धलेपं च पुष्पधारणमेव च ।
त्यजेदुष्णोदकस्नान सुगन्धाऽऽमलकादिकम् ॥२१५४॥
शिरोङ्ग पञ्चगव्येन पावयेद् बहिरन्तरम् ।
नैकवासा जपेन्मत्र बहुवस्त्राकुलोऽपि वा ॥२१५५॥
उपर्यधोविपर्यासे वस्त्रे विघ्ना भवन्ति हि ।
मन संहरण शौच मौन मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥२१५६॥
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतव ।
प्रारम्भो विहिते कालेऽविहितं परिवर्जयन् ॥२१५७॥
चन्द्रतारानुकूले च शुक्लपक्षे शुभेऽहनि ।
आरभेन्मकरादौ च हरौ सुप्ते न चाचरेत् ॥२१५८॥
कार्तिकाश्विनवैशाखमाघेषु मार्गशीर्षके ।
फाल्गुने श्रावणे चैव पुरश्चर्या प्रशस्यते ॥२१५९॥

ग्रहणे च महातीर्थे न कालमवधारयेत् ।
ज्येष्ठाषाढौ भाद्रपदं पौषं तु मलमासकम् ॥२१६०॥
अङ्गारं शनिवारं च व्यतीपातं च वैधृतिम् ।
अष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं च त्रयोदशीम् ॥२१६१॥
चतुर्दशीममावास्यां प्रदोषं च तथा निशि ।
यमाग्निरुद्रसर्पेन्द्रवसुश्रवणजन्मभम् ॥२१६२॥
मेषकर्कतुलाकुम्भान् मकरालिकलग्नकम् ।
सर्वाण्येतानि वर्ज्याणि पुरश्चरणकर्मणि ॥२१६३॥
शस्तान्यन्यानि सततं जपयज्ञे निरन्तरम् ।
आरम्भात् प्राक् चतुर्थेऽह्नि कृत्वा क्षौरादिकं सुधीः ॥२१६४॥
निरामिषमेकवारं भुक्त्वा रात्रौ यथाविधि ।
हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्याचम्य प्राणसंयमम् ॥२१६५॥
कृत्वा शयीत शय्यायां कुशमय्यां जपन्मनुम् ।
ॐ भगवन् देव देवेश शूलभृद् वृषवाहन ।
इष्टानिष्टे समाचक्ष्व मम सुप्तस्य शाश्वत ॥२१६६॥
तारो हृल्लिद्वयं शूलपाणये द्विठ ईरितः ।
स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं शम्भुना परिकीर्तितः ॥२१६७॥
नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिंगलाय महात्मने ।
वामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥२१६८॥
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः ।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर ! ॥२१६९॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

ॐ हृतसकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥
स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं कथितो नारदादिभिः ॥२१७०॥

नारदीये—

परब्रह्मस्वरूपस्त्वमन्तर्धरसि विश्वधृक् ।
शुभाशुभगतिं देव ! स्वप्ने मे विनिवेदय ॥२१७१॥

अन्यत्रापि—

देवि दुर्गे नमस्तुभ्य सर्वकार्यप्रदर्शिनि ।
सिद्धिं कार्यस्य वासिद्धिं सत्य स्वप्ने प्रदर्शय ॥
मायाद्य स्वप्नमन्त्रोऽयमभीष्टस्य प्रकाशक ॥२१७२॥

योगिनीतन्त्रे—

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैव ऋचं जपेद् य प्रयतो निशायाम् ।
लब्ध्वैकभुग् दक्षिणपार्श्वशायी स्वप्न परीक्षेत तथा निशान्ते ॥२१७३॥

एषु कश्चिन्मन्त्रो यथोपदेशेन साध्य ।
मत्र जप्त्वा नमस्कुर्याज्जानुभ्यामवनीं गत ।
प्रसन्नो वाग्यतस्तस्मिन् शयीतेष्ट विचिन्तयन् ॥२१७४॥
त्रिविधं दर्शन तस्य यथार्थमयथार्थकम् ।
अपाकज यत् स्वस्थाना सयताना हि दर्शनम् ॥२१७५॥
यथार्थमयथार्थं तदस्वस्थाना विकारजम् ।
अपाकज मानस च यथार्थफलमुच्यते ॥२१७६॥

फलमागमसिद्धान्ते--

आद्ये वर्षात् वत्सरार्धाद् द्वितीये यामे पाको यो हि दृष्टस्तृतीये ।
मासै रामैश्चैकतस्तुर्ययामे सद्य पाको यो विसर्गेषु दृष्ट ॥२१७७॥
स्वप्न दृष्ट निशि प्रात र्गुरवे तन्निवेदयेत् ।
तमन्तरेण मत्रज्ञ स्वय स्वप्न विचारयेत् ॥२१७८॥
स्वप्ने पश्यति देवेश निजेष्ट सर्वतोमुखम् ।
गुरु प्रसादसुमुख निर्मल चन्द्रमण्डलम् ॥२१७९॥
गङ्गा भागीरथीं भानु लिंगिन लिंगमैश्वरम् ।
प्राप्ता तत्र विजानीयात् सिद्धि स्वप्ननिदर्शने ॥२१८०॥
क्षितिलाभ च क्षतजाब्धितरण चाग्निपूजन ।
होमश्च ज्वलिते वह्नौ सग्रामविजयस्तथा ॥
हसकाकमयूराणा रथारोहणमेहने ॥२१८१॥

नारदपचरात्रेऽपि—

कन्या क्षत्र रथ दीपं प्रासादं कमलं नवीम् ।
कुजर वृषभ माल्य समुद्रं फलिनं द्रुमम् ॥२१८२॥
पर्वतं च हय सेध्यमाममासं सुरासवम् ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२१८३॥
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥२१८४॥
नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयन चैव प्रज्वलन्त हुताशनम् ॥२१८५॥
ग्रहनक्षत्रताराणा चन्द्रमण्डलदर्शनम् ।
हर्म्यस्यारोहण चैव प्रासादशिरसोऽपि वा ॥२१८६॥
नागाश्ववृषभेन्द्राणां तरुशैलाग्ररोहणम् ।
विमानगमनं चैव सिद्धमन्त्रस्य दर्शनम् ॥२१८७॥
स्वप्ने तु मदिरापानमाममासस्य भोजनम् ।
कृमिविष्ठानुलेप च रुधिरेणाभिषेचनम् ॥२१८८॥
भोजन दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ।
सिंहासनं रथ यानं ध्वजं राज्याभिषेचनम् ।
रत्नान्याभरणादीनि दृष्ट्वा स्वप्ने प्रसीदति ॥२१८९॥

नारदपचरात्रे—

गुरु देवो द्विज कन्या गोगजाश्वाश्च केसरी ।
दर्पण शखभेर्यो च तन्त्रीवाद्य च रोचनाम् ॥२१९०॥
ताम्बूलभक्षण चैव तथा वध्यभिवन्दनम् ।
सिद्धान्नमाममासञ्च मद्यक्षौमविरारसा ।
छत्रं यान सित वस्त्र तथान्यत् श्वेतचन्दनम् ॥ २१९१ ॥
माल्यं मुक्ताफलं हार पूर्णं समुदित शशी ।
प्रचण्डकिरण सूर्यो निम्नगाऽथ महोदधि ॥ २१९२ ॥

प्रफुल्लपादप शालिरोचनाकु कुम मधु ।
लाजा सिद्धार्थकाबीजं नवभाण्डं च पायसम् ॥ २१६३ ॥
उपसन्नोऽथवाचार्यो गायत्रीवरसयुता ।
सर्वे स्वप्नाः शुभा प्रोक्ता. सिद्धिमोक्षफलप्रदा ॥ २१६४ ॥

नारदीये —

गहन तु पुरध्रीणामगम्यागमनं तथा ।
दशन श्वेतनागेन बन्धन शृ खलादिभि ॥ २१६५ ॥
रोदन ताडनं चैव धावनं चागघातनम् ।
मृल्लोहत्रपुकांस्यस्य सीसकस्याप्यकुत्सितात् ॥ २१६६ ॥
घातो लाभस्तथा पुष्पफलरत्नभुवामपि ।
व्यजन स्वयमन्येन धमन च विभावसो ॥ २१६७ ॥
एवमादीनि चान्यानि शुभान्याहु र्मनीषिण ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २१६८ ॥

अथाशुभा –

अतोऽन्ये विपरीता ये मनस खेदकारका ।
गर्हिता लोकविद्विष्टा स्वप्नास्ते ह्यशुभा मता ॥ २१६६ ॥
चाण्डाल करभ काक गर्त्तं शून्यममङ्गलम् ।
तैलाभ्यग नरं नग्न शुष्कवृक्ष सकण्टकम् ॥ २२०० ॥
प्रासादमतुल दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात् ।
भक्षण मधुमासस्य कर्णनासादिकर्त्तनम् ॥ २२०१ ॥
वेष्टन कृष्णसर्पेण रक्तमाल्येन वेष्टनम् ।
आलिगन च कुस्त्रीणा हसन नर्तन तथा ।
खरोष्ट्रमहिषाणा च दर्शनाऽऽरोहण तथा ॥ २२०२ ॥
यातनावेशनाभ्यङ्ग दक्षिणाशागम तथा ।
वमनं रुधिरादीना लाभस्तेषा तथैव च ॥ २२०३ ॥
अगभगोऽथ निद्रा च यमकिंकरदर्शनम् ।
दिव्यभौमान्तरिक्षाणामुत्पाताना च दर्शनम् ॥ २२०४ ॥

नृपगोगुरुविप्राणां भर्त्सनं विषभक्षणम् ।
दर्शनं भीमसर्पाणां पुंसि मैथुनमेव च ॥ २२०५ ॥

एवमादीनि स्वप्नानि गर्हितानि विदुर्बुधा ।
दृष्ट्वा तु स्वप्नकं चैव होमात् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२०६ ॥

पिंगलामते—

शुभे शुभं भवेत् तस्य हुतात् स्यादशुभे शुभम् ।
एवं समाचरेद् होमं दतकाष्ठोदिते मुने ।
केवलेनाथवाऽऽज्येन सिंहमन्त्रेण शान्तये ॥ २२०७ ॥

सिंहमन्त्रस्तु निबन्धे—

वेदादि वंज्रनखत पदं दंष्ट्रायुधाय च ।
सिंहाय वर्म चास्त्रान्ते हृदयं समुदीरयेत् ॥ २२०८ ॥

सिंहमन्त्रोऽयमाख्यातो होममेतेन कारयेत् ।
शतं सहस्रं जुहुयादष्टोत्तरमनन्यधीः ॥ २२०९ ॥

गुरुस्तत्प्रतिकाराय सहस्रं प्रजपेन्मनुम् ।
तिलैः सहस्रं जुहुयादत शान्तिर्भवेद् ध्रुवम् ॥२२१०॥

तदग्रिमदिने स्नात्वा संध्याकर्म विधाय च ।
भूमेः परिग्रहं कुर्यात् परिमाणं विधाय च ॥ २२११ ॥

ग्रामे क्रोशमितं स्थानं नद्यादौ स्वेच्छया मितम् ।
नगरादावपि क्रोशं क्रोशयुग्ममथापि वा ॥ २२१२ ॥

आहारादिविहारार्थं तावतीं भूमिमाक्रमेत् ।
आदावमुकमन्त्रस्य पुरश्चरणसिद्धये ॥ २२१३ ॥

मयेयं गृह्यते भूमिर्मन्त्रो मे सिद्ध्यतामिति ।
भूमेः परिग्रहं कृत्वा परिमाणं च सर्वतः ॥ २२१४ ॥

दीपस्थानं समाश्रित्य वातातपसहां कुटीम् ।
निर्माय विधिवत् तत्र जपयज्ञं समाचरेत् ॥ २२१५ ॥

कुटीलक्षण हठयोगे—

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्त्तपिठर नात्युच्चनीचायितं
सम्यग् गोमयसान्द्रलिप्तविमल निःशेषजन्तूज्झितम् ।
वाह्ये मडपवप्रकूपसहितं प्राकारसवेष्टित
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिद सिद्धैर्हठाभ्यासिभि ॥ २२१६ ॥

प्रात स्नानादिकं कृत्वा कीलानादाय साधक ।
कुटीनिकटमागत्य कुर्यात् तत्रोदिता क्रियाम् ॥ २२१७ ॥

क्षीरवृक्षोद्भवान् कीलानस्त्रमन्त्राभिमन्त्रितान् ।
निखनेद् दशदिग्भागे तेष्वस्त्रं च प्रपूजयेत् ॥ २२१८ ॥

अस्त्रम न्त्रस्तु तत्तदङ्गभूत , न केवलफट्काररूप इति सम्प्रदायविद ।

क्षेत्रे तु कीलिते मन्त्री न विघ्नै परिभूयते ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटाश्च क्षीरशाखिन ॥
क्षेत्रपाल पूजयित्वा वलि दद्याद् विधानत ॥२२१९॥

अत्र विशेपस्तु प्रयोगसारे—

भेदा एकोनपचाशत् क्षेत्रपालस्य कीर्तिता ।
मातृकाबीजभेदेन सभिन्ना नामभेदत ॥ २२२० ॥

अजरश्चापकुम्भश्च इन्द्रसूतिस्ततोऽपर ।
ईडाचारश्चोक्तसज्ञ ऊष्माद ऋषिसूदन ।
ऋमुक्तो लृप्तकेशश्च लृपकश्चैकदष्ट्रक ॥ २२२१ ॥

ऐरावतश्चौष्वबन्धुरौषधिघ्नस्तथैव च ।
अ जनश्चास्त्रवाहुश्च कवल खरखानलः ॥ २२२२ ॥

गोमुखश्चैव घण्टादो डणानश्चडचारण ।
छटाटोपी जटालाख्यो झकारोऽथ ञाठश्चर ॥ २२२३ ॥

टंकपाणिस्तथा चान्यष्ठाणबन्धुश्च डामर ।
ढकारवोणकर्णश्च तडिद्दाह स्थिरस्तथा ॥ २२२४ ॥

दन्तुरो धनदश्चाथ नतिक्रान्त प्रचडक ।
फट्कारो वीरसन्धश्च भृङ्गाख्यो मेघमासुर ॥ २२२५ ॥

युगान्तो रौरवश्चाथ लंबोष्ठो वसवस्तथा ।
शुकनद षडालाख्य सुनामा हंध्रकस्तथा ॥ २२२६ ॥
एते भेदा॰ समाख्याता मातृकाक्षरयोनिजाः ।
नामपद्यस्य वर्णाना यो वर्णो मातृकान्तरे ॥ २२२७ ॥
दृश्यते प्रथमं यत्र तत्रायं क्षेत्रपालक ।
यत्र तत्र विशिष्टाश्च भेदैरेतै र्व्यवस्थिताः ॥ २२२८ ॥
ततो विशिष्टो यष्टव्य क्षेत्रपालस्तु सर्वत ।
क्षेत्रपालमसम्पूज्य य कर्म कुरुते क्वचित् ॥ २२२९ ॥
तस्य कर्मफल हन्ति क्षेत्रपालो न संशय ।
वर्णान्त्यमौ विदुयुक्त क्षेत्रपालाय हृन्मनु ॥ २२३० ॥
ताराद्यो वसुवर्णोऽय क्षेत्रपालस्य कीर्तित. ।
ऋषि र्ब्रह्मा भवेदस्य गायत्रं छंद ईरितम् ॥ २२३१ ॥
क्षेत्रपालो देवता स्यात् क्षौं बीज लायशक्तिकम् ।
सर्वविघ्नविनाशार्थे रक्षार्थे विनियोगक ॥ २२३२ ॥
ऋष्यादींश्च यथास्थाने न्यस्यागान्यस्य विन्यसेत् ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन देवं ध्यायेत् समाहित ॥ २२३३ ॥
नीलाजनाद्रिनिभमूर्ध्वपिसगकेश वृत्तोग्रलोचनमुपात्तगवाकपालम् ।
आशाम्बरं भुजगभूषणमुग्रदंष्ट्रं क्षेत्रेशमद्भुततनुं प्रणमामि देवम् ॥२२३४॥
एव ध्यात्वा जपेन्मंत्र भक्त्या सपूज्य मानसे ।
ततो जप समर्प्यास्मै बाह्यपूजामथारभेत् ॥२२३५॥
भूमावष्टदलं पद्म भूपुरंक लिखेदथ ।
मंडूकादीन् यजेत् तत्र परतत्त्वान्तमीरितान् ॥२२३६॥
शैवे पीठे यजेद् देव क्षेत्रपालं समाहित ।
वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली कलपवादिका ॥२२३७॥
विकिरिण्याह्वया प्रोक्ता बलाद्या विकिरिण्यपि ।
बलप्रमथनी पश्चात् सर्वभूतदमन्यप ॥२२३८ ॥

मनोन्मनीति सप्रोक्ता शैवपीठस्य शक्तय ।
नमो भगवते पश्चात् सकलादि वदेत् पुन' ॥२२३९॥
गुणात्मशक्तियुक्ताय ततोऽनन्ताय तत्परम् ।
योगपीठात्मने भूयो नमस्तारादिको मनु' ॥२२४०॥
अनेन मनुना दद्यादासन क्षेत्रस्वामिन. ।
मूर्त्ति सकल्प्य मूलेन यजेद् रक्तोपचारकै ॥२२४१॥
अङ्गानि परितोऽभ्यर्च्य तत पत्रे क्रमाद् यजेत् ।
अनलाख्यमग्निकेश कराल तदनन्तरम् ॥२२४२॥
घटारव महाकोप पिशिताशनसज्ञकम् ।
पिंगलाक्षमूर्ध्वकेश पत्रेषु परितो यजेत् ॥२२४३॥
प्रधानमूर्त्तिप्रतिमान् नानालकारबन्धुरान् ।
लोकपालान् तदस्त्राणि यथापूर्वं च भूपुरे ॥२२४४॥
एव पूज्य बलि तत्र मापभक्त दिशेत् तत ।
तस्मै सपरिवाराय मनुनानेन साधकः ॥२२४५॥
पूर्वमेहिद्वय पश्चाद् विदुषि स्यात् पुरुद्वयम् ।
भजयद्वितय भूयो नर्तयद्वितय पुन ॥२२४६॥
ततो विघ्नपदद्वन्द्व महाभैरवतत्परम् ।
क्षेत्रपालबलि गृह्णद्वय पावकसुन्दरी ॥२२४७॥
बलिमन्त्रोऽयमाख्यात सर्वकामफलप्रद ।
सोपदंश बृहत्पिण्ड कृत्वा रात्रिषु साधक ॥२२४८॥
स्मृत्वा यथोक्त क्षेत्रेशं तत् करस्थे कपालके ।
दद्यादनेन सन्तुष्ट क्षेत्रपाल प्रयच्छति ॥२२४९॥
कान्तिमेधाबलारोग्यतेज पुष्टियश श्रिय ।
बलि दत्वा प्रार्थयेत् त बद्धाञ्जलिरुदारधी ॥२२५०॥
तीक्ष्णदंष्ट्र महाकाय कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञा दातुमर्हसि ॥२२५१॥

इत्यनुज्ञामुपादाय ,दिक्पतीन् कीलकस्थले ।
माषभक्तबलिं दद्यात् पूज्य लब्धोपचारकैं ॥२२५२॥
वास्त्वीशं पूर्ववन्मध्ये पूज्य तस्मै समर्प्य च ।
बलि सम्प्रार्थयेन्मन्त्रैस्तत्रस्थान् देवतागणान् ॥२२५३॥
ये रौद्रा रौद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिन ।
मातरोऽप्युग्ररूपाश्च गणानामधिपाश्च ये ॥२२५४॥
विघ्नभूतास्तथा चान्ये दिग्विदिक्षु समाश्रिता. ।
सर्वे ते प्रीतिमनस॰ प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम्, ॥२२५५॥
भूतानि यानीह वसन्ति भूमौ बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।
अन्यत्र वास परिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्य ॥२२५६॥
प्रणवाद्या इमे मन्त्रा कीर्तिता बलिप्रार्थने ।
ततोच्चरेदिम मन्त्र दशदिक्षु स्फुटाक्षरं ॥२२५७॥
ये चात्र विघ्नकर्तारो दिवि भुव्यन्तरिक्षगा ।
विघ्नभूतास्तथा चान्ये मम मन्त्रस्य सिद्धिषु ॥२२५८॥
मयैतत् कीलित क्षेत्र परित्यज्य विदूरत ।
अपसर्पन्तु ते सर्वे निर्विघ्ना सिद्धिरस्तु मे ॥२२५९॥
एव प्रार्थ्य शुभे स्थाने निशाया शयन चरेत् ।
ततो निशान्ते सम्बुद्धय प्रात कृत्यादिक तथा ॥२२६०॥
स्नानसन्ध्यादिक कर्म कृत्वा वेदोक्तवर्त्मना ।
ज्ञाताज्ञातस्य पापस्य क्षयार्थं प्रथम तत ॥२२६१॥
सावित्रीं प्रजपेद् विद्वानयुत वा तदर्धकम् ।
त्रिसहस्र सहस्र वा जपेदष्टोत्तरं सुधी ॥२२६२॥
तद्दशांश प्रजुहुयात् तिलै र्गोघृतसंप्लुतै ।
विप्रान् सभोजयेत् पश्चात् परमान्नैश्च दक्षिणाम् ॥२२६३॥
दत्त्वा विसर्जयेत् तांस्तु गुरु सप्रीणयेत् तत ।
स्वयं हविष्य भुञ्जीत ध्यायन् देवमनाकुल ॥२२६४॥

निशा व्यतीय मतिमान् प्रातर्बुद्ध्वा समाप्य तत् ।
क्रिया च कृतशौचादि स्नात्वा तीर्थे विधानत ॥२२६५॥
सन्ध्यादिकं समाप्याय गृहीत्वा जलकुम्भकम् ।
यागभूमिमयागत्य धौतपादादिक सुधी ॥२२६६॥
दिक्पालांश्च प्रणम्यादौ सामान्यार्घं विधाय च ।
गणेश पूजयेदादौ सर्वविघ्नविनाशनम् ॥२२६७॥
ततो यजेद् द्वारपाश्च जपस्थान प्रविश्य तु ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥२२६८॥
तेनैव ताडनं दर्भे वर्मणाम्युक्षणं तत ।
कुर्यात् प्रतिज्ञा मतिमान् यथावदभिधीयते ॥२२६९॥
तत कुशाक्षतजलान्यादाय प्रागुदङ्मुख ।
प्रणवं तत्सदद्येति मासपक्षतियोरपि ।
अमुकोऽमुकगोत्रोऽहं मूलमुच्चार्य तत्परम् ॥२२७०॥
सिद्धिकामोऽस्य मन्त्रस्य ह्यत्संख्याजपस्तत. ।
दशांश हवन होमात् दशांशं तर्पण तत ।
दशांश मार्जनं तस्मात् दशांशं विप्रभोजनम् ॥२२७१॥
पुरश्चरणमेवं हि करिष्ये प्रागुदङ्मुख ।
गुरून् गणेशं नत्वादौ स्वकल्पोक्तविधानत ॥२२७२॥
भूतशुद्धिं विधायाथ प्राणायाम समाचरेत् ।
ऋष्यादिक तत कृत्वा कल्पोक्तन्यासमाचरेत् ॥२२७३॥
तत सक्षेपविधिना सम्पूज्य निजदेवतम् ।
मुखशुद्धि विधायाथ चिन्त्य सेतुं च कुल्लुकाम् ॥२२७४॥
महासेतु च निर्वाणं कामबीजं ततो मनुम् ।
जपेन्माला च सम्पूज्य ध्यानस्योऽनन्यभावन ॥२२७५॥
शनै शनैरविस्पष्ट न द्रुत न विलम्बितम् ।
क्रमेणोच्चारयेद् वर्णानाद्यन्तक्रमयोगत ॥२२७६॥
देवता चित्तगा कृत्वा तथा च हृदयं स्थिरम् ।
आमध्याह्नं जपं कुर्यादुपांशुर्वाथ मानसम् ॥२२७७॥

यामले—

गणनाविधिमुल्लङ्घ्य यो जपेत्तु जपं यतः ।
गृह्णन्ति राक्षसास्तेन गणयेत् सर्वथा बुधः ॥२२७८॥
नाक्षतं हस्तपर्वं वा न धान्यं नच पुष्पकं ।
न चंदनं मृत्तिकया जपसंख्यां तु कारयेत् ॥२२७९॥
लाक्षा कुशीतं सिन्दूरं गोमयं च करीषकम् ।
एभिः विलोड्य गुटिका कृत्वा सख्या तु कारयेत् ॥२२८०॥

कुशीत रक्तचन्दनम् ।

आसनं प्रोक्षयेन्नित्यं जपादुत्थाय साधकः ।

यच्च तन्त्रान्तरे—

अप्रोक्षिते जपस्थाने शुक्रो हरति तज्जपम् ।
व्याहृत्या च विलोमेन तिलकं प्रोक्ष्य कारयेत् ॥२२८१॥
हविष्य निशि भुंजीत त्रि स्नाय्यभ्यंगवर्जितः ।
व्यग्रताऽऽलस्यनिष्ठीवक्रोधपादप्रसारणम् ॥२२८२॥
अन्यभाषा त्यजेत् क्षुद्र जपकाले सदा सुधी ।
स्त्रीशूद्रभाषणं निन्दा ताम्बूलं शयनं दिवा ॥२२८३॥
प्रतिग्रहं नृत्यगीते कौटिल्यं वर्जयेत् सदा ।
भूशय्या ब्रह्मचर्यं च त्रिकाल देवतार्चनम् ॥२२८४॥
नैमित्तिकार्चनं देवस्तुति विश्वासमाश्रयेत् ।
प्रत्यहं प्रत्यहं तावन्नैव न्यूनाधिकं चरेत् ।
एवं जपं समाप्यान्ते दशांश हवनं चरेत् ॥२२८५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सारसंग्रहे पुरश्चर्याविधि नाम त्रयोदश पटल ॥ १३ ॥

चतुर्दशः पटलः ।

अथो होमविधि वक्ष्ये सर्वतन्त्रानुसारतः ।

दक्षरणे व्यगनोक्ता निगमामते—

नाध्यातो नार्चितो मन्त्र सुसिद्धोऽपि प्रसीदति ॥२२८६॥

नाजप्त सिद्धिदानेच्छुर्नाहुत फलदो भवेत् ।
पूजा ध्यान-जप होमं तस्मात् कर्मचतुष्टयम् ।
प्रत्यहं साधक कुर्यात् स्वयं चेत् सिद्धिमिच्छति ॥२२८७ इति ।

तन्त्र चिदंबरे-
कुडे वा स्थंडिले वापि यथोक्तविधिना चरेत् ।
तत्तत्कल्पोदितै द्रव्यैस्तद्विधानमुदीर्यते ॥२२८८॥

प्राणायामं षडग च कृत्वा मूलेन मन्त्रवित् ।
कुडे वा स्थडिले कुर्यात् सस्काराणा चतुष्टयम् ॥२२८९॥
मूलेनेक्षणमस्त्रेण प्रोक्षणं ताडनं कुशै ।
वर्मणा मुष्टिनासिच्य लिखेद् यन्त्रं तदन्तरे ॥२२९०॥
वह्निकोणषडस्राष्टदलभूमन्दिरात्मकम् ।
मध्ये तारपुटा माया लिखित्वा पीठमर्चयेत् ।
मडूकश्चायकालाग्निरुद्र आधारशक्तियुक् ॥२२९१॥
कूर्मो धरा सुधासिन्धुश्च तद्वीपसुराङ्घ्रिपा ।
मणिहर्म्यं हेमपीठ धर्मो ज्ञान विरागता ॥२२९२॥
ऐश्वर्यं धर्मपूर्वास्तु चत्वारस्ते नञादिका ।
धर्मादय स्मृता पादा पीठगात्राणि चेतरे ॥२२९३॥
मध्येऽनन्त तत्त्वपद्ममानन्दमयकन्दकम् ।
सम्विन्नालं तत प्रोक्ता विकारमयकेसरा ॥२२९४॥
प्रकृत्यात्मकपत्राणि पञ्चाशद्वर्णकर्णिका ।
सूर्यस्येन्दो पावकस्य मडलत्रितयं तत ॥२२९५॥
सत्त्व रजस्तम पश्चादात्मायुक्तोऽन्तरात्मना ।
परमात्माऽथ ज्ञानात्मा तत्त्वे मायाकलादिके ॥२२९६॥
विद्यातत्त्व पर तत्त्व पीठशक्ती जयादिका ।
जयाख्या विजया पश्चादजिता चापराजिता ।
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मगलान्तिमा ॥२२९७॥

वागीशीवागीश्वरयो र्योगपीठात्मने नमः ।
मायादिक पीठमन्त्रस्तयोस्तेनासन विशेत् ॥२२९८॥
यजेत् तौ तारमायाभ्यां गन्धाद्यैरुपचारकैः ।
लक्ष्मीनारायणावर्चेद् वैष्णवे होमकर्मणि ॥२२९९॥
सूर्यकान्तादरणित श्रोत्रियागारतोऽपि वा ।
पात्रेण पिहित पात्रे वह्निमावापयेत् तत ॥२३००॥
अस्त्रेणादाय तत्पात्र वर्मणोद्घाटयेच्च तम् ।
अस्त्रमन्त्रेण नैर्ऋत्ये क्रव्यादांश ततस्त्यजेत् ॥२३०१॥
मूलेन पुरतो धृत्वा संस्कारान् चतुरश्चरेत् ।
वीक्षणाद्यान् पुरा प्रोक्तानल्पं प्रोक्षणमाचरेत् ॥२३०२॥
परमात्मनाऽनलेनाथ जाठरेणापि वह्निना ।
स्मरन्नैक्य वह्निजीवाख्यं तन्य योजयेत् तत ॥२३०३॥
तारेण चाभिमन्त्र्याग्नि सुधया धेनुमुद्रया ।
अमृतीकृत्य सरक्षेदस्त्रमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥२३०४॥
मुद्रया त्ववगुण्ठिन्या कवचेनावगुठयेत् ।
कुण्डोपरि ततो वह्निं भ्रामयेत् त्रिर्ध्रुवं पठन् ॥२३०५॥
शय्यागतां ऋतुस्नातां नीलेन्दीवरधारिणीम् ।
देवेन भुज्यमाना तां स्मृत्वा तद्योनिमण्डले ॥२३०६॥
ईशरेतोधिया वह्निं स्थापयेदात्मसम्मुखम् ।
मूल नवार्णं च पठन् जानुस्पृष्टधरातल ॥२३०७॥
रेफार्धीशेन्दुसयुक्तं गगन वह्निचैतन्य ।
सन्याय हृदयान्तोऽय नवार्णोऽग्निनिधापने ॥२३०८॥
विधायाचमन देवीदेवयोर्ज्वालयेद् वसुम् ।
चतुर्विंशतिवर्णेन घृतेन धमणादिभि ।
चित् पिंगल हनद्वन्द्वं दहयुग्म पचद्वयम् ॥२३०९॥
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा मंत्रो वेदभुजाक्षरः ।
प्रदर्श्य ज्वालिनीं मुद्रामुत्थाय विहिताञ्जलि ॥२३१०॥

श्लोकरूपेण मन्त्रेण उपतिष्ठेद् हुताशनम् ।
अग्नि प्रज्वलित वदे जातवेद हुताशनम् ॥२३११॥
सुवर्णवर्णममल समिद्ध विश्वतोमुखम् ।
अथाग्निमन्त्र विन्यस्येत् तद्विधानमुदीयते ॥२३१२॥
वैश्वानरान्ते जातेति वेदाते स्यादिहावह ।
लोहिताक्षपदात् सर्वकर्माण्यन्ते तु साधय ॥२३१३॥
वह्निप्रियान्तो मन्त्रोऽस्य पड्विंशत्यक्षरान्वित ।
ऋषिश्छन्दो देवतास्य भृगुगायत्रिपावका ॥२३१४॥
र वीज ठद्वय शक्ति र्हवने विनियोजनम् ।
लिगे पायौ मूर्ध्नि वक्त्रे नसिनेत्रेऽखिलागके ।
वह्नेर्जिव्हा स्ववीजाद्या न्यसेत् ङेन्ता नमोऽन्विता ॥२३१५॥
दीपिकानलवायुस्था साद्या वर्णा विलोमत ।
सेन्दव सप्तजिव्हाना क्रमाद् वै वीजता गता ॥२३१६॥
जिव्हास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु ।
हिरण्या गगना रक्ता कृष्णान्या सुप्रभा मता ।
वहुरूपातिरक्ता च सात्विक्यो यागकर्मसु ॥२३१७॥
पद्मरागा सुवर्णान्या तृतीया भद्रलोहिता ॥२३१८॥
लोहिता च तथा श्वेता धूमिनी च करालिका ।
राजस्यो रसना वह्ने विहिता काम्यकर्मसु ॥२३१९॥
विश्वमूर्तिस्फुलिगिन्यौ धूम्रवर्णा मनोजवा ॥
लोहितान्या करालाख्या कालीतामस्य ईरिता ॥२३२०॥
एता सप्त नियुज्यन्ते क्रूरकर्मसु देशिकै ।
स्वस्वनामसमाना स्युर्जिव्हा कल्याणरेतस ॥२३२१॥
गीर्वाणपितृगधर्वयक्षनागपिशाचका ।
राक्षसश्चेति जिव्हाना देवतास्तत्स्यले न्यसेत् ॥२३२२॥
न्यासेऽर्चने व्युत्क्रम स्यात् वहुरूपातिरक्तयो ।
नेत्रेऽतिरक्ता न्यस्तव्या सर्वाङ्गे वहुरूपिका ॥२३२३॥

वह्नेरगमनून् न्यस्येत् तनावुक्तेन वर्त्मना ।
सप्तार्चिषेति हृदय स्वस्तिपूर्णाय मस्तकम् ॥२३२४॥
उत्तिष्ठ पुरुषायेति शिखामन्त्रोऽयमीरित ।
धूमान्ते व्यापिने वर्म सप्तजिह्वाय नेत्रकम् ॥२३२५॥
अस्त्र धनुर्धरायेति जात्याङ्गानि समाचरेत् ।
मूर्ध्नि वामासके पार्श्वे कटौ लिंगे कटौ पुन ॥२३२६॥
वक्षपार्श्वासके न्यस्येन् मूर्तीरष्टौ विभावसो· ।
ताराग्नये पदाद्यास्तु चतुर्थी हृदयान्तिका ॥२३२७॥
जातवेदा सप्तजिह्वो हव्यवाहन इत्यपि ।
अश्वोदरजसञ्ज्ञोऽन्यस्तथा वैश्वानराह्वयः ॥२३२८॥
कौमारतेजा स्याद् विश्वमुखदेवमुखावपि ।
ततो न्यसेन्निजे देहे पीठ हाटकरेतस· ॥२३२९॥
वह्निमण्डलपर्यन्त मण्डूकादि यथोदितम् ।
पीता श्वेतारुणा कृष्णा धूम्रा तीव्रा स्फुलिंगिनी ॥२३३०॥
रुचिरा ज्वालिनी चेति कृशानो पीठशक्तय ।
र वह्न्यासनायेति हृदन्त पीठमन्त्रक ।
एव विन्यस्य पीठान्त पावक चिन्तयेत् तनौ ॥२३३१॥
त्रिनेत्रमारक्ततनु सुशुभ्रवस्त्र सुवर्णस्रजमग्निमीडे ।
वराभय स्वस्तिकशक्तिहस्त पद्मस्थमाकल्पसमूहयुक्तम् ॥२३३२॥
एव ध्यात्वार्चन कुर्यात् मानस विधिवद् वसो ।
परिषिंचेत् ततस्तोयै· कुण्ड स्थण्डिलमेव वा ॥२३३३॥
दर्भै परिस्तरेदग्नि प्रागग्रै रुदगग्रकै ।
प्रत्यग्दक्षिणसौम्यासु न्यसेत् त्रीन् परिधीन् क्रमात् ॥२३३४॥
पालाशबिल्वखदिरांस्तेषु ब्रह्मविष्णुशिवान् यजेत् ।
वह्नौ तत् पीठमभ्यर्च्याऽऽवाहयेत् स्वहृदोऽनलम् ॥२३३५॥
गन्धादिभि समभ्यर्च्य पूजयेत् पावकाकृती ।
षट्सु कोणेषु मध्ये च जिह्वास्तद्देवता यजेत् ॥२३३६॥

ईशानादिषु वाय्वन्तकोणेषु षट् समर्चयेत् ।
हिरण्याद्यतिरिक्ता ता मध्ये तु बहुरूपिणीम् ॥२३३७॥
केसरेष्वङ्गपूजा स्याद् दलेष्वष्टसु मूर्तय. ।
मातरोऽष्टौ दलान्तेषु भैरवा स्युस्तदग्रत ॥२३३८॥
धरापुरे तु शक्राद्या वज्राद्यायुधसयुता ।
एवमावरणं युक्तं सप्तभि पावक यजेत् ॥२३३९॥
असिताङ्गो रुरुश्चण्ड क्रोध उन्मत्तसंज्ञक ।
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्टभैरवा ॥२३४०॥
वामे कुशानथास्तीर्य तत्र वस्तूनि नि क्षिपेत् ।
प्रणीताप्रोक्षणीपात्रे आज्यस्थालीं स्रु चं स्रु वम् ॥२३४१॥
अधोमुखानि चैतानि होमद्रव्य घृत कुशान् ।
समिध पञ्चपालाशीरन्यदप्युपयोगि यत् ॥२३४२॥
कृत्वा पवित्रे मूलेन प्रोक्षेत् तानि शुभाम्भसा ।
उत्तानानि विधायाथ प्रणीता पूरयेज्जलै ॥२३४३॥
तीर्थमन्त्रेण तीर्थानि भृण्या तत्राह्वयेत् सुधी ।
पवित्रेष्वक्षतांस्तत्र नि क्षिप्योत्पवन चरेत् ॥२३४४॥
अथोदीच्या निधायैता प्रोक्षिण्या तज्जल क्षिपेत् ।
हवनीय द्रव्यजातमुक्षेत् तोयै पवित्रगै ॥२३४५॥
मूलेन मूलगायत्र्या यद्वा हृदयमन्त्रत ।
दक्षिणे पीठमासाद्य तत्र ब्रह्माणमाह्वयेत् ॥२३४६॥
अणिमाद्या सिद्धयोऽष्टौ ब्रह्मण पीठदेवता ।
तारहृत्पूर्वको ङेन्तो ब्रह्ममन्त्रोऽस्य पूजने ।
हस्ताभ्या स्रुक्स्रुवौ धृत्वा तापयेत् त्रिरधोमुखौ ॥२३४७॥
वामहस्तेन तौ धृत्वा दर्भै दक्षेण मार्जयेत् ।
सप्रोक्ष्य प्रोक्षणीतोयै प्रताप्य पूर्ववत् पुन ॥२३४८॥
न्यस्याग्नौ मार्जनात् दर्भांस्तयो शक्तित्रय न्यसेत् ।
इच्छाज्ञानक्रियासंज्ञ चतुर्थी नमसान्वितम् ॥२३४९॥

दीर्घत्रयेन्दुयुग्व्योमपूर्वकं स्थानकत्रये ।
हृदा स्रुचि न्यसेत् शक्तिं स्रुवे शम्भुं ततस्तु तौ ॥२३५०॥
सूत्रत्रयेण संवेष्ट्य सम्पूज्य कुसुमादिभिः ।
कुशोपरि न्यसेद् दक्षे तयोः संस्कार ईरितः ॥२३५१॥
अस्त्रोक्षितायामाज्यस्य स्थाल्यामाज्यं विनिक्षिपेत् ।
वीक्षणादिकसंस्कारसंस्कृतं मूलमन्त्रतः ॥२३५२॥
गोमुद्रयामृतीकृत्य षट्संस्कारांस्ततश्चरेत् ।
कुण्डोद्धृते वायुकोणस्थितेऽङ्गारे विनिक्षिपेत् ॥२३५३॥
हृदेति तापनं प्रोक्तं दर्भयुग्मं प्रदीपितम् ।
आज्यं क्षिप्त्वा हृदा वह्नौ पवित्रीकरणं त्विदम् ॥२३५४॥
आज्यं नीराजयेद् दीप्तदर्भयुग्मेन वर्मणा ।
अभिद्योतनमुक्तं तद्दीप्तं दर्भत्रयं घृते ॥२३५५॥
दर्शयेदस्त्रेणोद्योतो गृहीत्वा घृतपात्रकम् ।
संयोज्याग्नौ तदङ्गारं सलिलं संस्पृशेत् सुधीः ॥२३५६॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु दर्भानादाय निक्षिपेत् ।
त्रिरग्निसम्मुखं त्वाज्यमस्त्रेणोत्प्लवनं चरेत् ॥२३५७॥
हृदात्मसम्मुखं तद्वदाज्याक्षेपस्तु सप्लवम् ।
नीराजनादिसंस्कारेष्वग्नौ दर्भान् विनिक्षिपेत् ॥२३५८॥
दर्भद्वयं ग्रन्थियुतं घृतमध्ये विनिक्षिपेत् ।
वामदक्षिणयोः पक्षौ स्मृत्वा नाडीत्रयं स्मरेत् ।
दक्षिणाद् वामतो मध्याद् हृदादाय घृतं सुधीः ॥२३५९॥
अग्नयेऽग्निप्रिया सोमाय स्वाहेत्यग्निनेत्रयोः ।
जुहुयादग्निसोमाभ्यां स्वाहेत्यक्षिण तृतीयके ॥२३६०॥
पातयेदाहुतेः शेषमाहुतिग्रहणस्थले ।
भूयो हृदा दक्षभागादादायाज्यं मुखे यजेत् ॥२३६१॥
अग्नये स्विष्टकृते तदास्यस्योद्घाटनं मतम् ।
नरसिंह विना विष्णुमन्त्रे नेत्रद्वयं यजेत् ॥२३६२॥

नरसिंहादिदेवेषु वह्नेर्नेत्रत्रयं स्मृतम् ।
महाव्याहृतिभि र्व्यस्तसमस्ताभिश्चतुष्टयम् ॥२३६३॥
आहुतीना त्रय वह्निमन्त्रेण च ततश्चरेत् ।
घृताहुतिमिरष्टाभिरेकैका संस्कृतिं चरेत् ॥२३६४॥
ओमस्याग्ने अमु सस्कारं करोम्यनलवल्लभा ।
इत्य मनुं जपेद् गर्भाधानं पुसवनं तत ॥२३६५॥
सीमन्तोन्नयने जातकर्म कृत्वा ततश्चरेत् ।
वह्नौ पंचसमिद् होमान्नालापनयन वसोः ॥२३६६॥
कुर्याद् देवाभिधानेन पूर्ववन्नामशुष्मरण ।
नामानन्तरमेतस्य पितरौ स्वेऽर्पयेद् हृदि ।
अन्नप्राश तथा चौलोपनयौ दारयोजनम् ॥२३६७॥
सस्कारा स्यु विवाहान्ता मृत्यन्ता क्रूरकर्मणि ।
एकैकामाहुतिं कुर्याद् वह्नेर्जिह्वागमूर्त्तिभि ॥२३६८॥
इन्द्रादिभिश्च वज्राद्यैर्द्विठान्तैं र्जुहुयात् तत ।
स्रुवेणाज्य चतुर्वार निधाय स्रुचितं सुधी ॥२३६९॥
अपिधाय स्रुवेणैव गृह्णीयात् करयुग्मत ।
तिष्ठन् मूल तयोर्नाभौ कृत्वाग्नौ नि क्षिपेत् समम् ॥२३७०॥
वामस्तनान्तं तन्मूलं कृत्वाग्निमनुना सुधी ।
जुहुयाद् वौषडन्तेन संपत्त्यर्थमतन्द्रित ॥२३७१॥
महागणेशमन्त्रेण व्यस्तेन दशधा तत ।
जुहुयाच्च समस्तेन चतुर्वारं घृताहुती ॥२३७२॥
पूर्वपूर्वयुतं बीजषट्कं बाणाश्च सायका ।
मुनयो मार्गणाश्चेति विभागस्तन्मनो स्मृत ॥२३७३॥
तारो लक्ष्मी गिरिसुता कामो भू गणनायक ।
चतुर्थ्यन्तो गणपति र्वरान्ते वरदेति च ॥२३७४॥
सर्वान्ते जनमित्युक्त्वा मेवशान्ते तु मानय ।
स्वाहान्तो वसुयुग्मार्णो महागणपते र्मनु ॥२३७५॥

एव कृत्वाग्निसस्कार पीठं देवस्य योजयेत् ।
तत्रेष्टदेवमावाह्य मुद्रा आवाहनादिका ॥२३७६॥
प्रदर्श्य वह्निरूपस्य देवस्य वदने पुन ।
मूलेन जुहुयात् पंचनेत्रसख्या घृताहुती ॥२३७७॥
इष्टदेवस्यावृतोनामेकैकाहुतिमाचरेत् ।
ततस्तु मूलमन्त्रेण दशधा जुहुयाद् घृतम् ॥२३७८॥
तत कल्पोक्तद्रव्येण दशाशं जुहुयाज्जपात् ।
होम समाप्य विधिवत् कुर्यात् पूर्णाहुति सुधी ॥२३७९॥
होमावशिष्टेनाज्येन पूरयित्वा स्रुवं सुधी ।
फल पुष्प निधायाग्रे स्रुवेणाच्छाद्य त पुन ॥२३८०॥
उत्थितो वौषडन्तेन मूलेन जुहुयाद् वसौ ।
तद्द्रव्येणावृतीना च जुहुयादाहुति पृथक् ॥२३८१॥
देव विसृज्य स्वहृदि वह्नि जिह्वागमूर्त्तिभि ॥
जुहुयाद् व्याहृती हुत्वा प्रोक्षेत् त प्रोक्षणीजले ॥२३८२॥
संप्रार्थ्यनेन मनुना नत्वा त विसृजेद् हृदि ।
भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ॥२३८३॥
कर्मान्तरेऽपि सप्राप्ते सान्निध्य कुरु सादरम् ।
वह्नौ पवित्रं नि क्षिप्य प्रणीताम्बु भुवि क्षिपेत् ॥२३८४॥
विधि विसृज्य सकुशान् परिधीन् विन्यसेद् वसौ ।
एव होम समाप्यान्ते तर्पयेद् देवतां जल ॥२३८५॥
अथवा हेमपात्रादौ यन्त्र कृत्वा तत परम् ।
पूजयित्वा स्वेष्टदेव परिवारगणान्वितम् ॥२३८६॥
तर्पयेत् त पर देव तत्प्रकारमिहोच्यते ।
तर्पयित्वा गुर्वादौ मूलदेव च तर्पयेत् ॥२३८७॥
मूलान्ते नाम चोच्चार्य तर्पयामि तत परम् ।
स्वाहान्त तर्पयेन्मन्त्री होमसख्यादशांशत ॥२३८८॥

योगिनीहृदये–

तर्पणं च प्रकुर्वीत द्वितीयान्तमथोच्चरन् ।
एकैकमञ्जलिं कृत्वा सतर्प्य रश्मिवृन्दकम् ॥२३८९॥

तर्पणद्रव्य विशुद्धेश्वरे, कुलार्णवे च–

जले देवं समावाह्य पाद्याद्यैरुदकात्मकैः ।
सम्पूज्य विधिवद् भक्त्या परिवारसमन्वितम् ॥२३९०॥
एकैकमञ्जलिं तोयं परिवारान् प्रतर्पयेत् ।
ततो होमदशांशेन तर्पयेत् परदेवताम् ॥२३९१॥
तर्पणं चेन्दुमत् तोयैस्तीर्थतोयैस्तथा पुनः ।
गुरूपदिष्टविधिना मधुना वाऽथ तर्पयेत् ॥२३९२॥

तन्त्रान्तरे–

तीर्थतोयेन दुग्धेन सर्पिषा मधुनापि वा ।
गन्धोदकेन वा कुर्यात् सर्वत्र साधकोत्तमः ॥२३९३॥
कालागरुद्रवोपेतं वंशयेज्जगदादिकम् ।
सचन्दनेन तोयेन सौभाग्यं लभते नरः ॥२३९४॥
तोयैः कुंकुममिश्रैश्च स्तम्भयेदखिलं जगत् ।
सितामिश्रिततोयेन बृहस्पतिसमो भवेत् ॥२३९५॥
कर्पूरात्तजलेनैव सर्वानाकर्षयेद् ध्रुवम् ।
रोचनायुक्ततोयेन मुच्यते सर्वदुर्ग्रहात् ॥२३९६॥
ध्यात्वा देवं मुखे तस्य तर्पणं च समाचरेत् ।
सर्वशास्त्रेषु कथितं तर्पणं शुभदायकम् ॥२३९७॥
एवं तु तर्पणं कृत्वाभिषेकं तद्दशांशतः ।
आत्मानं देवतां बुद्ध्या सम्पूज्य तन्मयः सुधीः ॥२३९८॥
नमोऽन्तं मूलमुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम् ।
द्वितीयान्तमहं पश्चादभिषिञ्चाम्यनेन तु ।
अभिषिञ्चेत् स्वमूर्धानं तोयैः कुम्भाख्यमुद्रया ॥२३९९॥

शक्तिविषये—

मूलविद्या समुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम् ।
तदन्ते चाभिषिंचामि नमोऽन्तमभिषेचनम् ॥२४००॥

'तर्पणे मार्जनेऽपि स्यात् नमसोऽन्ते पुन र्नमः ।

इति शक्तिसङ्गमवचनात् नमोऽन्तेषु मन्त्रेषु पुनर्नम इति योजनीयम् ।

स्वमूर्ध्नीत्थं चिन्तयित्वा यन्त्रमध्यगता पराम् ॥२४०१॥
तर्पणस्य दशांशेनाभिषिंचेच्च जगन्मयीम् ।
ततो नानाविधैरन्नैस्तर्पयेद् द्विजसत्तमान् ॥२४०२॥
इष्टरूपान् समाराध्य तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् ।
न्यून सम्पूर्णतामेतिब्राह्मणाराधनात् नृणाम् ।
देवताश्च प्रसीदन्ति सम्पद्यन्ते मनोरथा ॥२४०३॥

यामले-

ब्राह्मणान् भोजयेद् देवि तथा चैव कुमारिका ।
साधक पशुतामेति कुमारीभोजनादृते ॥२४०४॥
तत्तन्मन्त्रयुतान् विप्रान् भोजयेद् देवताधिया ।
तत. सम्पूजयेद् भक्त्या सद्‌भावै विविधै र्गुरुम् ॥२४०५॥
दक्षिणा गुरवे दद्याद् यथाविभवविस्तरं ।
सिद्धमन्त्रो भवेन्मन्त्री नात्र कार्या विचारणा ॥२४०६॥
विभवे सति यो मोहात् न कुर्याद् विधिविस्तरम् ।
नैतत् फलमवाप्नोति देवद्रोही स उच्यते ॥२४०७॥

मुण्डमालायाम्-

यद्यङ्ग विहीयेत तद् तस्य द्विगुणो जपः ।
कर्तव्य साङ्गसिद्धयर्थं तदशक्तेन भक्तित ॥२४०८॥
होमकर्मण्यशक्तानां विप्राणां द्विगुणो जप ।
इतरेषां तु वर्णानां त्रिगुणादि समीरित ॥२४०९॥

होमाभावविषये गौतमीये-

होमाभावे जप कार्यो होमसंख्या चतुर्गुणा ।
विप्राणां क्षत्रियाणां च रससंख्याभिधीयते ॥२४१०॥

वैश्याना वसुसख्याक्रमेषा स्त्रीणामय विधि. ।
तावत्सख्या जपेनैव ब्राह्मणाराधनेन च ।
अव्याहता भवेत् सिद्धि र्नात्र कार्या विचारणा ॥२४११॥

अन्यच्च सहितायाम् शिववाक्यम्–

न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम् ।
प्राप्नोति चन्द्रवदने दानहोमादिभि विना ॥२४१२॥
गृहस्थो यदि दानादि दद्यान् न जुहुयादपि ।
पूजयेद् विधिना नैव क कुर्यादेतदन्वहम् ॥२४१३॥
न ब्रह्मचारिणो दातुमधिकारोऽस्ति भामिनि ।
गुरुभ्योऽपि च सर्वेभ्य को वा दास्यत्यपेक्षितम् ॥२४१४॥
नारण्यवासिना शक्ति र्न ते सन्ति कलौ युगे ।
परिव्राट् ज्ञानमात्रेण दानहोमादिभि र्विना ॥२४१५॥
सवदु खपिशाचेभ्यो मुक्तो भवति नान्यथा ।
परिव्राडविरक्तश्च विरक्तश्च गृही तथा ॥२४१६॥
कुम्भीपाकेषु सज्जेते द्वावुभौ कमलानने ।
पुरा याः स्त्रियो गृहस्थाश्च मङ्गलै र्मङ्गलार्थिन ॥२४१७॥
पूजोपकरणै कुर्यु र्दद्यु र्दानानि चार्हणाम् ।
वानप्रस्थाश्च यतयो यद्येव कुर्युरन्वहम् ॥२४१८॥
ससारान्न निवर्तन्ते विध्यन्ति क्रमदोषत ।
आरूढपतिता ह्येते भवेयु र्दु.खभाजनम् ॥ २४१९॥ इति ।
अथ वक्ष्ये महादेवि होमकर्मसु सिद्धिदम् ।
अग्निचक्र वरारोहे सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ॥२४२०॥
नित्ये नैमित्तिके दुर्गाहोमादौ न विचारयेत् ।
नवग्रहमयो वह्निस्ते च वह्निमया ग्रहा ॥२४२१॥
अतस्तेषा स्थितिं ज्ञात्वा वह्नौ होम समाचरेत् ।
शान्तिके पौष्टिके वृद्धौ क्रूरेष्वपि च कर्मसु ॥२४२२॥

तेषां स्थितिक्रम वक्ष्ये नक्षत्रेषु यथाविधि ।
सूर्यो बुधो भृगुश्चैव शनिश्चन्द्रो महीसुत. ॥२४२३॥
जीवो राहुश्च केतुश्च नवैते देवि खेचराः ।
त्रीणि त्रीणि च ऋक्षाणि क्रमात् तेषु निधापयेत् ॥२४२४॥
सूर्यभाच्चन्द्रभ यावद् गणयेच्च महेश्वरि ।
आदित्ये च भवेत् शोको बुधे चैव धनागम ॥२४२५॥
शुक्रे लाभं विजानीयात् शनौ पीडा न सशय ।
चन्द्रे लाभ कुजे बन्धो गुरौ धनसमागम ।
राहौ हानिस्तथा केतौ मृत्युरेव फल भवेत् ॥२४२६॥
सौम्यग्रहमुखे सौम्य होम क्रूरेऽथ क्रूरकम् ।
कुर्यादेवं महेशानि काम्यहोम समाहित ॥२४२७॥
अन्यथा क्रियमाणे तु नैष्फल्य चात्मनाशनम् ।

अथापर' प्रकारो गणेशविमर्शिन्याम्-

नवकोष्ठ समालिख्य क्रमादीशानरक्षसो ।
वारुणैन्द्रयो र्वायुवन्ह्योर्दक्षिणोत्तरयो र्न्यसेत् ॥२४२८॥
सूर्यादीन् मध्यकोष्ठे तु केतु' न्यस्य फलं दिशेत् ।
आदित्ये च भवेत् शोको बुधे धनसमागम ॥२४२९॥
शुक्रस्यानेऽर्थलाभ स्यात् शनि र्हानिकरो भवेत् ।
चन्द्रे लाभ विजानीयाद् भौमे च वधबन्धनम् ॥२४३०॥
गुरावर्थस्य लाभ स्याद् राहु र्हानिकरो मत ।
केतुना मृत्युमाप्नोति वह्निचक्रेप्वय क्रम ॥२४३१॥
त्रय त्रय च गणयेत् सूर्यर्क्षाद् दिनभावधि ।

सू	बु	शु	श	च	भौ	गु	रा	के
अ	रो	पुन	म	ह	वि	मू	श्र	पू
भ	मृ	पु	पू	चि	अ	पू	ध	उ
कृ	आ	श्ले	उ	स्वा	ज्ये	उ	श	रे

पू०

ई०			अ०
रवि अ० भ० कृ०	बुध म० पू० उ०	शुक्र वि० अनु० ज्ये०	
उ० राहु अ० घ० श०	केतु पू० उ० रे०	शनि मू० पू० उ०	द०
गुरु ह० चि० स्वा०	भौम पुन० पु० श्ले०	चद्र रो० मृ० आ०	
वा०			नै०

प०

अथ वह्निस्थितिं वक्ष्ये काम्यहोमसु सिद्धये ॥२४३२॥
स्वर्गलोके च पाताले भूमौ तिष्ठति हव्यवाट् ।
तत्प्रकारमहं वक्ष्ये साधकाना शुभावहम् ॥२४३३॥
सघृतिस्तिथिवाराश्च तथाष्टाविशति र्भवेत् ।
सपिण्ड्य त्रिहंरेद् भागमेकशेषे च स्वर्गके ॥२४३४॥
द्विके पातालगो वह्नि शून्ये भूमध्यगो भवेत् ।
उत्पात स्वर्गलोकस्थे पातालस्थे धनक्षति ॥२४३५॥
मर्त्यलोकस्थितो वह्नि र्होमेऽभीष्टफलप्रद ।
इत्थं विज्ञाय मत्रज्ञो होमकर्म समाचरेत् ॥२४३६॥
वह्ने जिह्वासु देवाना तत् तत् कार्यसमाप्तये ।
जुहुयाद् वाञ्छिता सिद्धि दद्युस्ता देवता मता ॥२४३७॥
रुद्रेन्द्रवह्निमासादवरुणानिलमध्यके ।
हिरण्याद्या स्थिता वह्ने रसनाः सप्त कीर्तिता ॥२४३८॥
त्रिशिखा मध्यमा जिह्वा बहुरूपा समाह्वया ।
फल तु कामनाभेदे क्रमादासामुदीर्यते ॥२४३९॥
वश्याकर्षणयोराद्या गगना स्तभने मता ।
विद्वेषमोहयो रक्ता कृष्णा मारणकर्मणि ॥२४४०॥
सुप्रभा शातिके पुष्टौ सुरक्तोच्चाटने मता ।
एकैव बहुरूपा तु सर्वकामफलप्रदा ॥२४४१॥

एधासि च हिरण्याया गगनाया चरुं घृतम् ।
सिद्धार्थं बहुरूपाया रक्तायां तु यवास्तथा ॥२४४२॥

कृष्णाया तु हुनेल्लाजा सुप्रभाया तु सक्तुभि ।
तिलाश्चैवातिरक्ताया कनकाया तु सर्वदा ।
सर्वद्रव्याणि जुहुयात् साधक सर्वकर्मसु ॥२४४३॥

अग्निज्वालने विशेष, मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

जुहूपुश्च हुताग्निश्च पाणिशूर्पस्त्रु वादिभिः ।
न कुर्यादग्निधमन न कुर्याद् व्यजनादिना ॥२४४४॥

मुखेनैव धमेद् वह्नि मुखादेषो ह्यजायत ।
नाग्नि मुखेनेति तु यत् लौकिके योजयेत्तु तत् ॥२४४५॥

अथ द्रव्याणि फेत्कारिणीतन्त्रे–

अथ द्रव्याणि वक्ष्यामि तत्तत्कर्मानुरूपत ।
शान्तिके तु पय सर्पिस्तिला क्षीरद्रुमेधिका ॥२४४६॥

अमृताख्या लता चैव पायसं तत्र कीर्तितम् ।
पौष्टिके विल्वपत्रैश्च जातिपुष्पं नृ पो भवेत् ॥२४४७॥

कन्यार्थी जुहुयाल्लाजै श्रीकाम कमलैस्तथा ।
दध्ना च श्रियमाप्नोति अन्नैरन्न घृतप्लुतै ॥२४४८॥

क्षीरेण सर्पिषा वापि कमलै मधुरप्लुतै ।
समृद्धौ जुहुयात् मन्त्री महानैर्धन्यशान्तये ॥२४४९॥

लक्षहोमाल्लभेत् शान्ति घृतै विल्वदलै र्निधिम् ।
आकर्षणे तु लवण प्रियगुं विल्वज फलम् ॥२४५०॥

जातीपलाशकुसुमै सर्वैरेकैकमेव वा ।
राजीलवणकै र्वश्य पौष्टिकं मत्स्यकोविदैः ॥२४५१॥

वश्यार्थी जातिकुसुमैराकृष्टौ करवीरजै ।
कार्पासबीजैस्तत्राक्तै नंरकेशैरथापि वा ॥२४५२॥

एणीकृत्य हुनेन्मन्त्री शत्रुमारणकाङ्क्षया ।
जुहुयात् सार्षपैस्तैलैरथवा शत्रुमारणे ॥२४५३॥

रोहीबीजैस्तिलोपेतैरुत्सादे जुहुयान् नर ।
मुखकण्टकसयुक्तै र्बीजै कार्पासिकैरपि ॥२४५४॥
सर्पपैस्तिलसमिश्रै हुनेत् सर्वाभिचारके ।
काकोलूकच्छदै क्रूरै कारस्करविभीतकै ॥२४५५॥
मरिचै सर्पपै शुद्धैरर्कक्षीरै कटुत्रयै ।
कटुतैलै स्नुहीक्षीरै कुर्यान्मारणकर्मणि ॥२४५६॥

वनदुर्गाकल्पे–

आयुष्कामो घृततिलै र्दूर्वाभिश्चाम्रपल्लवै ।
पयोक्तैराम्रपत्रैश्च ज्वर सद्यो विनाशयेत् ॥२४५७॥
गुडूची मृत्युञ्जयने तथा शान्तौ गजाश्वयो ।
गौरैस्तु सर्पपै हुत्वा सद्यो रोग हरेज्ज्वरी ॥२४५८॥
पुष्टिकामो वेतसीसमिद्भि पत्रकैस्तथा ।
हुत्वा पुष्टिमवाप्नोति पुत्रजीवैस्तु पुत्रकम् ॥२४५६॥
घृतगुग्गुलुहोमेन वाक्पतित्व प्रजायते ।
मल्लिकाजातिकुसुमै र्नागपुंनागसम्भवै. ॥२४६०॥
पुष्पै सरस्वतोसिद्धिस्तथा सर्वार्थसाधनम् ।
पयसा लवणै र्वापि हुनेद् वृष्टिनिवारणे ॥२४६१॥
रक्तपुष्पैरपामार्गैरङ्कोलैश्च सुभद्रकै ।
त्रिभि र्मधुरसंयुक्तै र्मन्त्री कुर्याच्च वश्यकम् ॥२४६२॥
वातोद्धूतै शुष्कपत्रै काष्ठैरशनिपातितै ।
उष्ट्रास्थ्ना च वचाङ्गारै शत्रोरुच्चाटनं भवेत् ॥२४६३॥
दूर्वागुडूचीद्रव्येण सर्पिषा तिलतण्डुलै ।
अन्नै समिद्भि पालाशै शान्ति कुर्याद् विचक्षण ॥२४६४॥

गणेशविमर्शिण्याम्–

घृतहोमे धनावाप्ति सिद्धार्थै कीर्तिरुत्तमा ।
किंशुकै सर्वकामाप्ति फलहोमे सुख भवेत् ।

गुडेन प्रियता प्रोक्ता चम्पकं पाटलं रमा ।
पुत्रजीवे सुतावाप्ति करवीरे स्त्रियो वशा ॥२४६५॥

आयुष्करी भवेद् दूर्वा गुडूची रोगशान्तिदा ।
तिला अपि तथा प्रोक्ता सौभाग्यं गंधहोमत ॥२४६६॥

श्रीफलं विल्वपत्रैश्च तथा जलरुहैरपि ।
भ्रष्टराज्यस्य राज्याप्ति मल्लिका कीर्तिदा मता ॥२४६७॥

कर्णिकारं किंशुकैश्च भवेयु विबुधा वशा ।
काशमर्दे नृपा वश्या कृतमाले विशो वशा ॥२४६८॥

शूद्रा स्यु पाटले वश्या नीलपद्मे भवेद् रमा ।
जातिपुष्पे भवेद् वाणी मधुरैरिष्टसम्पद ॥२४६९॥

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षसमिद्भि वाञ्छिताप्तय ।
विशीर्णा द्विदला ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशास्तथा ॥२४७०॥

कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च वित्वचो दु खकारका ।
सक्षीरा नाधिका न्यूना समिध सर्वकामदा ॥२४७१॥

आर्द्रत्वच समच्छेदा तर्जन्यगुलिवर्त्तुलाम् ।
ईदृशीं होमयेत् प्राज्ञ प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ॥२४७२॥

श्रौते स्मार्ते च तन्त्रोक्ते समिध परिकीर्तिता ।
श्लेष्मान्तकपिशाचोत्थ त्यक्त्वान्येभ्य समाहरेत् ॥२४७३॥

इष्टद्रव्यं भवेदिष्ट यवैश्च व्रीहिभिस्तथा ।
मार्यैररीणां भूकरवं कोद्रवै र्व्याधिसम्भव ॥२४७४॥

कलायहोमतोऽरीणां भीति स्यान्महती ध्रुवम् ।
विभीतकसमिद्भि स्यादुन्मत्त द्विषतो कुलम् ।
शाल्मलीसमिधा शत्रुपरनाशो भवेद् ध्रुवम् ॥ २४७५॥

अथात्र होमद्रव्याणां प्रमाणमभिधीयते ।
कर्षमात्र घृतं होमे शुक्तिमात्र पय स्मृतम् ॥२४७६॥

उक्तानि पञ्चगव्यानि तत्समानि मनीषिभि. ।
तत् सम मधुदुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम् ॥२४७७॥

दधिप्रसृतिमात्र स्याल्लाजा स्यु मुंष्टिसम्मिताः ।
पृथुकास्तत्प्रमाणा स्यु सक्तवोऽपि तथा मता' ॥२४७८॥

गुडं पलार्धमान स्यात् शर्करापि तथा मता ।
ग्रासार्धं चरुमानं स्यादिक्षु पर्वावधि मंत ॥२४७९॥

एकैकं पत्रपुष्पाणि तथापूपानि कल्पयेत् ।
कदलीफलनारङ्गफलान्येकैकशो विदुः ॥२४८०॥

मातुलुङ्ग चतु खण्डं पनसं दशधा कृतम् ।
अष्टधा नारिकेलानि द्विधा ताल विदु र्बुधा ॥२४८१॥

त्रिधाकृत फल बैल्व कपित्थं खण्डितं त्रिधा ।
उर्वारुकफलं होमे चोदित खण्डित त्रिधा ॥२४८२॥

फलान्यन्यान्यखण्डानि समिध स्यु र्दशांगुला ।
दूर्वात्रयं समुद्दिष्ट गुडूची चतुरङ्गुला ॥२४८३॥

खण्डत्रयं तु मूलाना सूक्ष्माणि पंच होमयेत् ।
कन्दानामष्टम भाग लतानामंगुलद्वयम् ॥२४८४॥

व्रीहयो मुष्टिमात्रा स्यु मुंद्गा माषा यवा अपि ।
तण्डुला स्युस्तदर्द्धांशा कोद्रवा मुष्टिसम्मिता' ॥२४८५॥

गोधूमा रक्तकलमा विहिता मुष्टिमानत ।
तिलाश्चुलकमात्रा स्यु सर्षपास्तत्प्रमाणका ॥२४८६॥

शुक्तिप्रमाण लवण मरिचान्येकविंशति ।
पुर बदरमान स्यात् रामठ तत्सम स्मृतम् ॥२४८७॥

चदनागरुकर्पूरकस्तूरीकुकुमानि च ।
तिंतिणी बीजमानानि समुद्दिष्टानि देशिकं ॥२४८८॥

मानलक्षण तत्रान्तरे—

गुंजाभि दंशभि माष शाणो माषचतुष्टयम् ।
द्वौ शाणौ धटक कोलो वदर द्रक्षणश्च य ॥२४८६॥
तौ द्वौ पाणितलं कर्षं सुवर्णं कवलग्रह ।
पिचु विडालपदक तिंदुकोऽक्षश्च तद् द्वयम् ॥२४९०॥
शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पलं विल्व चतुर्थिका ।
मुष्टिमात्र प्रकुचोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथा ॥२४९१॥
वैश्वानरं स्थित ध्यायेत् समिद्होमेषु देशिक ।
शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेषवस्तुषु ॥२४९२॥
आस्यान्तर्जुहुयावग्ने विपश्चित् सर्वकर्मसु ।
यत्र काष्ठं तत्र श्रोत्रे यत्र धूमस्तु नासिके ॥२४९३॥
यत्राल्पज्वलन नेत्र यत्र भस्म तु तत् शिर ।
यत्रैव ज्वलितो वह्निस्तत्र जिह्वा प्रकीर्तिता ॥२४९४॥
सर्वकार्यप्रसिध्यर्थं जिह्वाया तत्र होमयेत् ।
कर्णहोमे भवेद् व्याधि नेत्रेऽन्धत्वमुदीरितम् ॥२४९५॥
नासिकायां मन पीडा मस्तके धनसक्षय ।
शत्रुनाशकहोमे तु यवंगे जुहुयान् नर ॥२४९६॥
तदङ्ग नाशयेत् क्षिप्रमिति शास्त्रस्य निश्चय ।
स्वर्णसिन्दूरबालार्ककुंकुमक्षौद्रसन्निभ ॥२४९७॥
सुवर्णरेतसो वर्ण शोभन: परिकीर्तित ।
भेरीवारिवहस्तोन्द्रध्वनि वह्ने शुभावह ॥२४९८॥
नागचपकपुनागपाटलायूथिकानिभ ।
पद्मेन्दीवरकह्लारसर्पि र्गुग्गुलुसन्निभ ॥२४९९॥
पावकस्य शुभो गंध इत्युक्तस्तत्रवेदिभि ।
प्रदक्षिणारत्यक्तकम्पा छत्राभा निश्चिन शिखा ।
शुभदा यजमानस्य राज्यस्यापि विशेषत ॥२५००॥
शुक्ले शुभयसो धूमो वह्ने: प्रोक्त शुभावह ।
कृष्ण कृष्णगते वर्णो यजमान विनाशयेत् ॥२५०१॥

श्वेतो राष्ट्रं निहन्त्याशु वायसस्वरसंनिभः ।
खरश्वरसमो वह्ने र्ध्वनिः सर्वविनाशकृत् ॥२५०२॥
पूतिगधो हुतभुजो होतुं र्दुःखप्रदो भवेत् ।
छिन्नावर्ता शिखा कुर्यान् मृत्यु धनपरिक्षयम् ॥२५०३॥
शुकपक्षनिभो धूम पारावतसमप्रभ ।
हानि तुरगजातीना गवा च कुरुतेऽचिरात् ॥२५०४॥
एवविधेषु दोषेषु प्रायश्चित्ताय देशिक ।
मूलेनाज्येन जुहुयात् पंचविंशतिमाहुती ॥२५०५॥

अत्र स्रुवधारणनियमस्तन्त्रान्तरे-

अग्नि सोमस्तया सूर्यो रुद्रश्चैव प्रजापतिः ।
पशुश्चैव यमो देव स्रुवे तिष्ठति सर्वदा ॥२५०६॥
स्रुवाग्रे वसते वह्नि विभागश्चतुरंगुले ।
अग्निस्थानेऽग्निसन्ताप सोमे क्लेश उदाहृत ॥२५०७॥
सूर्ये पशुविनाश स्याद् रौद्रे भयमवाप्नुयात् ।
प्रजापतौ प्रजावृद्धि र्यमे मृत्यु र्भवेद् ध्रुवम् ॥२५०८॥
यमभाग त्यजेन् मूल षोडशागुलमग्रत ।
प्रजाभागे स्रुवं धार्यं सर्वकर्मसमृद्धये ॥२५०९॥ इति ।

होमे मुद्रात्रय प्रोक्त मृगी हसी च शूकरी ।
शूकरी हस्तसकोची मृगी मुक्तकनिष्ठिका ॥२५१०॥
हसी स्यात् तर्जनीमुक्ता त्रिधा मुद्रा प्रकीर्तिता ।
शान्तिके च मृगी ज्ञेया हसी पौष्टिककर्मणि ।
अभिचारे शूकरी स्याद् विद्वेषोच्चाटनादिषु ॥२५११॥
आकर्षण वश्यवत् स्यात् शुभ शान्तिवदीरितम् ।
उग्र मारणवद् ज्ञेय कर्म सर्वत्र साधकै ॥२५१२॥
नमोऽन्ते च नमो दद्यात् स्वाहान्ते द्विठमेव च ।
पूजायामाहुतौ चापि सर्वत्रायं विधि स्मृत ॥२५१३॥

एतदेव शक्तिसगमे-

मन्त्रान्ते वह्निजाया या सा तु मन्त्रस्वरूपिणी ।
तदन्तेऽन्या प्रयुञ्जीत सा होमागतया मता ॥२५१४॥ इति ।

स्वाहान्तमन्त्रे स्वाहान्तरयोजन नास्तीति प्राचीनाना लेखो निर्मूलत्वादनादेय । स्रुक् स्रुवौ वायवीयसहितायाम्-

स्रुक्स्रुवौ तैजसौ ग्राह्यौ न कास्यायससीसकौ ।
यज्ञदारुमयौ वापि तान्त्रिकैं शिल्पिसम्मतौ ॥२५१५॥

पर्णं वा ब्रह्मवृक्षादेरच्छिद्र मध्य उच्छ्रितम् ।
पलाशपर्णाभावेऽपि पर्णं वा पिप्पलोद्भवं. ॥२५१६॥

अन्यत्रापि-

पलाशपत्रे निश्छिद्रे रुचिरे स्रुक्स्रुवौ मुने ।
विदध्याद् वाश्वत्थपत्रे सक्षिप्ते होमकर्मणि ॥२५१७॥

तल्लक्षण शारदायाम्-

प्रकल्पयेत् स्रुच यागे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
श्रीपर्णी शिशपाक्षीरशाखिष्वेकतमं गुरु ॥२५१८॥
गृहीत्वा विभजेद् हस्तमात्र षट्त्रिंशता पुन ।
विंशत्यशै र्भवेद् दण्डो वेदिस्तैरष्टभि र्भवेत् ॥२५१९॥
एकाशेन मित कण्ठ सप्तभागमित मुखम् ।
वेदी त्र्यशेन विस्तार कण्ठस्य परिकीर्तित ॥२५२०॥
अग्र कण्ठस्य मान स्यात् मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् ।
कनिष्ठांगुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च ॥२५२१॥
वेदीमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका ।
विदधीत बहिस्तस्या एकांशेनाङ्कितो वटम् २५२२॥
तस्य मान त्रिभि र्भागं र्बृंहत्समर्धांशतो बहि ।
च दोन केन परितो वसानि परिकल्पयेत् ॥२५२३॥
मेखला मुखवेदो स्यात् परितोऽर्धांशमानत ।
दण्डमूलाग्रयो कुम्भो गुणवेदांगुलं क्रमात् ॥२५२४॥

गडीयुग यमाशं स्याद् दण्डस्यानाह ईरित ।
षड्भिरशै पृष्ठभागे वेद्या कूर्माकृति र्भवेत् ॥२५२५॥

हसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुख खनेत् ।
मुखस्य पृष्ठभागस्य सप्रोक्त लक्षण स्रुच' ॥२५२६॥

स्रुचश्चतुर्विशतिभि र्भागैरारचयेत् स्रुवम् ।
द्वाविशतया दण्डमानमशैरेतस्य कीर्तितम् ॥२५२७॥

चतुर्भिरशैरानाह कर्पाङ्ग्यग्राहि तत् शिर ।
अ शद्वयेन निखनेत् पके मृगपदाकृति ॥२५२८॥

दण्डमूलाग्रयो र्गण्डी भवेत् ककणभूषिता ।
स्रुवस्य विधिराख्यात सर्वागमसुसमत ॥२५२९॥ इति ।

आज्यस्थाली, प्रणीताप्रोक्षण्यो यथा लिङ्गपुराणे-

आज्यस्थाली प्रोक्षणी च प्रणीता तिस्र एव च ।
सौवर्णी राजती वापि ताम्री वा मृण्मयी तु वा ॥२५३०॥

अन्यथा नैव कर्त्तव्य शान्तिके पौष्टिके शुभे ।
आयसी त्वभिचारे तु शान्तिके मृण्मयी तु वा ॥२५३१॥

षडगुल सुविस्तीर्णं पात्राणा मुखमुच्यते ।
प्रोक्षणी द्वच गुलोत्सेधा प्रणीता द्वच गुलाधिका ।
आज्यस्थाली ततस्तस्या उत्सेधा द्वच गुलाधिका ॥२५३२॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे होमादिविधान कथन
नाम चतुर्दश पटल ॥१४॥

पंचदश· पटल· ।

वक्ष्येऽथ सर्वदेवाना पवित्रदमनार्पणे ।
पवित्रे श्रावणे पूजा चैत्रे दमनकैरपि ॥२५३३॥

प्रत्यब्द विधिवत् कुर्याद् वर्षार्चा फलसिद्धये ।
चैत्रो दमनपूजाया मुख्यकाल प्रकीर्तित ॥२५३४॥

मध्यमो माधवो ज्येष्ठ शुचिस्त्वधम उच्यते ।
चातुर्मास्ये प्रविष्टे तु य कुर्याद् दामनं विधिम् ॥२५३५॥
न तस्य दुर्मते सिद्धि विपरीत च जायते ।
प्रतिसम्वत्सरे चैव यो न कुर्वीत साधक ॥२५३६॥
तस्य वर्षकृता पूजा व्यर्थीभवति मानिनि ।
कृतामपि विलुम्पन्ति भूतप्रेतादयो गणा ॥२५३७॥
चैत्रशुक्लचतुर्दश्या दमनै. पूजयेद् हरम् ।
नारायण तु द्वादश्यामष्टम्या गिरिनन्दिनीम् ॥२५३८॥
सप्तम्या भास्कर देवं चतुर्थ्यां गणनायकम् ।
एवं तत् तत्तिथौ त त पवित्रं श्रावणेऽर्चयेत् ॥२५३९॥
पूर्वाह्णे वमनार्चाहात् कृत्वा नित्यार्चन विभो ।
गत्वा दमनकाराम गृह्णीयात् त क्रयार्पणात् ॥२५४०॥
उपविश्य शुचौ देशे मनुनानेन चार्थयेत् ।
अशोकाय नमस्तुभ्यं कामस्त्रीशोकनाशन ।
शोकार्त्तिहर मे नित्यं आनन्द जनयस्व मे ॥२५४१॥
इति सप्रार्थ्य तथाचर्चेद्रतिकामौ स्वमन्त्रत ।
कामदेवाय कामादिहृदन्तोऽष्टाक्षरो मनु ॥२५४२॥
कामस्य माया रत्यह्ल् पचार्णस्तु रते मनु ।
इष्टदेवस्य पूजार्थं नेष्यामि त्वामिम ब्रुवन् ॥२५४३॥
उत्पाट्य पचगव्येनाभिषिच्य क्षालयेज्जले ।
गथाविधि हृंशाम्यर्च्य छादयेत् सितवाससा ॥२५४४॥
निधाय यज्ञपात्रे त गीतवादित्रनिस्वनं ।
गृहमानीय सद्देशे स्थापयेद्दैवतां स्मरन् ॥२५४५॥
ततो देवस्य पुरत कृत्वाष्टदलमम्बुजम् ।
सितकृष्णरक्तपीतवर्णं सम्पूरयेत् तत ॥२५४६॥
भूपुर तद्बहि कृत्वा पीतवर्णेन पूरयेत् ।
सितरक्तपीतवर्णं तद्बहि वर्तुलत्रयम् ॥२५४७॥

रक्तवर्णेन तद्वाह्ये विदध्यात् चतुरस्रकम् ।
एवं विरचिते रम्ये मण्डले सर्वकामिके ॥२५४८॥
यदि वा सर्वतोभद्रे मुचेद् दमनभाजनम् ।
सायकालीनपूजान्ते कुर्यात् तस्याधिवासनम् ॥२५४९॥
ताराद्याभ्या कामरतिमन्त्राभ्या तत्र तौ यजेत् ।
दलेष्वष्टसु रत्याद्यानष्टौ कामान् पृथग्दले ॥२५५०॥
कामो भस्मशरीरश्च ततोऽनङ्गश्च मन्मथ ।
वसन्तसखसंज्ञश्च स्मर इक्षुधनुर्धर ॥२५५१॥
पुष्पवाण इमे कामास्तान् यजेन्नामभि र्निजं ।
प्रणवानङ्गवीजाद्यैश्चतुर्थीहृदयान्वितै ॥२५५२॥
कर्पूररोचनान्यकुनाभिजागरुकुकुमैः ।
धात्रीफलैश्चन्दनेन पुष्पै कामान् यजेत् क्रमात् ॥२५५३॥
दमन गन्धपुष्पाद्यैरभिपूज्याभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशत कामगायत्र्या मन्त्रवित्तमः ॥२५५४॥
कामदेवाय वर्णान्ते विद्महे पदमुच्चरेत् ।
पुष्पवाणाय च पद धीमहीति ततो वदेत् ॥२५५५॥
तन्नोऽनङ्ग प्रचोवर्णा दयादिति मनोभुव ।
गायत्र्येषा बुधैरुक्ता जप्ता जनविमोहिनी ॥२५५६॥
हृदा पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा मनुनाऽनेन त नमेत् ।
ॐ नमोऽस्तु पुष्पबाणाय जगदानन्दकारिणे ॥२५५७॥
मन्मथाय जगन्नेत्रे रतिप्रीतिप्रदायिने ।
ततो निमन्त्रयेद् देवमनेन मनुना सुधी ॥२५५८॥
आमन्त्रितोऽसि देवेश प्रात काले मया विभो ! ।
कर्त्तव्य तु यथालाभ पूर्ण पर्व तवाज्ञया ॥२५५९॥
देवे पुष्पाञ्जलिं दत्वा दण्डवत् प्रणिपत्य च ।
दमने वर्मणास्त्रेण विदध्यादवगुठनम् ॥२५६०॥

रक्षण च क्रमादेतदधिवासनमीरितम् ।
ततो जागरण कुर्याद् देव गायन् स्तुवन् जपन् ॥२५६१॥
सद्योऽधिवासने वापि कुर्यात् तत्र न जागरम् ।
प्रात स्नानादि निर्वर्त्य कृत्वा नित्यार्चन विभो ॥२५६२॥
सकल्प दमनार्चाया विदध्याद् देवताज्ञया ।
गृहीत्वा दमनस्याऽस्य हस्ताभ्या मञ्जरीं शुभाम् ॥२५६३॥
हृदाभिमन्त्रयेन्मन्त्री तत श्लोकमिद पठेत् ।
सर्वरत्नमयीं दिव्या सर्वगन्धमयीं शुभाम् ॥२५६४॥
गृहाण मञ्जरीं देव नमस्तेऽस्तु कृपानिधे ! ।
मूलमन्त्रेण घण्टादिघोषं देवस्य मस्तके ॥२५६५॥
समर्प्य ता तत कुर्यान्माला दमननिर्मिताम् ।
हृदाभिमन्त्र्य चानेन श्लोकेनाप्यभिमन्त्रयेत् ॥२५६६॥
सर्वरत्नमयी नाथ दामनीं वनमालिकाम् ।
गृहाण देवपूजार्थं सर्वगन्धमयीं विभो ! ॥२५६७॥
मूलमन्त्र जपन् देवमुकुटे ता समर्पयेत् ।
दमनेनेष्टदेवस्य परिवारान् समर्चयेत् ॥२५६८॥
ततो नैवेद्यताम्बूले दत्वा नत्वा च दण्डवत् ।
दमनार्चा कृता तस्मै श्लोकेन विनिवेदयेत् ॥२५६९॥
देवदेव ! जगन्नाथ ! वाञ्छितार्थप्रदायक ।
कृत्स्नान् पूरय मे नाथ कामान् कामेश्वरीप्रिय ॥२५७०॥
जप्त्वा मूलमनु वह्नि हुत्वा देव विसृज्य च ।
गुरु गत्वा दमनकै यजेत् त तोषयेद् धनै ॥२५७१॥
विप्रान् सम्भोज्य भुञ्जीत स्वदेवाय निवेदितम् ।
एव कृते कृतार्थ स्याद् वर्षार्चाफलभाङ् नर ॥२५७२॥
कथिता दमनार्च्चेया पवित्रयजन ब्रुवे ।
आषाढ उत्तमो मास श्रावणो मध्यम स्मृत ॥२५७३॥

हीनो भाद्रपदो मास पक्षौ सितसितेतरौ ।
प्रशस्त शुक्लपक्षस्तु तदभावे सितेतर ॥२५७४॥

स्वेषु स्वेष्वेव तिथिषु पवित्रार्पणमुत्तमम् ।
पवित्र यजनाहात्तु पूर्वस्मिन् वासरे सुधी ॥२५७५॥

विदध्यान्नित्यपूजान्ते पवित्राणि यथाविधि ।
हेमदुर्वर्णताम्रोत्थतन्तुभि पट्टसूत्रत ॥२५७६॥

यद्वा कार्पाससूत्रैस्तु निर्मितै विप्रभार्यया ।
अन्यया वा सधवया सदाचारप्रसक्तया ॥२५७७॥

कर्तितैस्तानि कुर्वीत न पुश्चल्यादिनिर्मितै ।
त्रिगुण त्रिगुणीकृत्य निर्माय नवसूत्रकम् ॥२५७८॥

सम्प्रोक्ष्य पञ्चगव्येन क्षालयेदुष्णवारिणा ।
प्रणवेनाभिषिञ्चेत मूलेनाष्टोत्तर शतम् ।
मन्त्रयेन्मूलगायत्र्या तावदेव तत सुधी ॥२५७९॥

रचयेन्नवसूत्रीभिरष्टोत्तरशतेन च ।
तदर्धेन तदर्धेन जानूरूनाभिमानत ॥२५८०॥

देवेशस्य पवित्राणि शुचौ देशे प्रसन्नधी ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तेषु ग्रथीन् ददीत च ॥२५८१॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वमार्तण्डमिता ज्येष्ठादिषु क्रमात् ।
अष्टोत्तरसहस्रेण नवसूत्रविनिर्मितम् ॥२५८२॥

अष्टोत्तरशतग्रन्थि वनमालापवित्रकम् ।
कृत्वा तान् रजयेद् ग्रन्थीन् रोचनाकुकुमादिभि ॥२५८३॥

वैणवे पटले तानि सछाद्य सितवाससा ।
स्थापयित्वा विनिर्मायादन्यान्यावरणार्चने ॥२५८४॥

सप्तविंशत्यष्टरविनवसूत्रीमितानि च ।
अद्रिनेत्रमिताभिस्तु कुर्याद् गुरुपवित्रकम् ॥२५८५॥

तावतीभि कृशानोस्तत् षड्विंशत्या तदात्मनः ।
तत्र ग्रन्थि यथाशोभ दत्वा सरजयेदपि ।
तानि पात्रान्तरे न्यस्य कुर्याद् गन्धपवित्रकम् ॥२५८६॥
द्वादशग्रन्थि तिग्माशो र्नवसूत्रीविनिर्मितम् ।
निर्मायैवं पवित्राणि कुर्यात् पूजार्थमण्डलम् ॥२५८७॥
पङ्कज षोडशदल पूरयेदष्टवर्णकै ।
नीलहारिद्रशोणाभमाजिष्ठश्वेतसञ्ज्ञकैः ॥२५८८॥
सिन्दूरधूम्रकृष्णाख्यैस्तद्बहि र्मण्डलत्रयम् ।
सूर्यसोमाग्निसञ्ज तु सितपीतारुण क्रमात् ॥२५८९॥
तद्बाह्ये ऽष्टदल कुर्यादरुण यदि वा सितम् ।
एव मण्डलमारच्य पूजयेत् कुसुमादिभि ।
तस्योपरि निबध्नीयाद् वितान समलङ्कृतम् ॥२५९०॥
मण्डले स्थापयेद् देव प्रतिमा यदि वा घटम् ।
तत्रेष्टदेव सम्पूज्य पायस विनिवेदयेत् ॥२५९१॥
देवताग्रे पवित्राणा पात्र न्यस्याधिवासयेत् ।
उक्तलक्षस्य सूत्रस्यालाभे तानि यथारुचि ॥२५९२॥
ज्येष्ठादीनि पवित्राणि विदध्यात् सर्वदा सुधी ।
तत्र द्वाविंशतीदेवानाहूय प्रतिपूजयेत् ॥२५९३॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानास्त्रिसूत्र्या देवता स्मृता ।
ओंकारचन्द्रमावह्निब्रह्मनागशिखिध्वजा ॥२५९४॥
सूर्य सदाशिवो विश्वे नवसूत्राधिदेवता ।
क्रिया च पौरुषी वीरा चतुर्थी त्वपराजिता ॥२५९५॥
विजया जयया युक्ता मुक्तिदा च सदाशिवा ।
मनोन्मनी तु नवमी दशमी सर्वतोमुखी ॥२५९६॥
एता पवित्रग्रन्थीना देवता परिकीर्तिता ।
आवाहन्यादिनवभि र्मुद्राभि साधकोत्तम ॥२५९७॥

तदाह्वानादिक तत्र कृत्वाऽर्चेच्चन्दनादिभि ।
एवं पवित्राण्यभ्यर्च्य दद्याद् गन्धपवित्रकम् ॥२५९८॥

तद् धूपयित्वा तारेण हृदयेनाभिमन्त्रयेत् ।
प्रणम्य प्रार्थयेद्देव श्लोकयुग्ममिम पठन् ॥२५९९॥

आमन्त्रितोऽसि देवेश ! सार्धं देव्या गणेश्वरै ।
मन्त्रेशै र्लोकपालैश्च सहित परिचारकै ॥२६००॥

आगच्छ भगवन्नीश विधिसंपूर्तिकारक ! ।
प्रातस्त्वा पूजयिष्यामि सान्निध्य कुरु केशव ! ॥२६०१॥

ततो गन्धपवित्रं तत् पादयो विन्यसेत् प्रभो ।
केशवेतिपदस्थाने कार्य ऊहोऽन्यदैवते ॥२६०२॥

भगवत्या पदेष्वत्र लिङ्गोहो मन्त्रवित्तमै ।
अधिवासं विधायैव निशि जागरण चरेत् ॥२६०३॥

देवस्य स्तुतिनामानि वदेद् गायश्च तद्गुणान् ।
प्रात नित्यार्चन कृत्वा मूलेनाष्टोत्तर शतम् ॥२६०४॥

कनिष्ठाख्यं पवित्र तद् गृहीत्वा चाभिमन्त्रयेत् ।
घण्टावादित्रवेदाना कारयेद् घोषमुत्तमम् ॥२६०५॥

जयशब्दश्च देवस्य कण्ठे मूलेन चार्पयेत् ।
एवमेवार्पयेदन्ये पवित्रे मध्यमोत्तमे ॥२६०६॥

श्वेतं रक्त क्रमात् पीत ध्यायेद्देवं तदर्पणे ।
वनमालापवित्र तु तावन्मूलेन मन्त्रितम् ॥२६०७॥

अर्पयेदिष्टदेवस्य मुकुटे मूलमुच्चरन् ।
तत सुवर्णकुसुमं पुष्पं शतमितं सह ॥२६०८॥

मूलाभिमन्त्रित देवमूर्ध्नि मूलेन चार्पयेत् ।
हृदान्यपटलस्थानि पवित्राण्यभिमन्त्र्य च ॥२६०९॥

तत्तन्नाम्ना नमोऽन्तेन परिवारसुरान् यजेत् ।
एव पवित्रै सम्पूज्य धूपादीनि प्रकल्पयेत् ॥२६१०॥

पावके देवमावाह्य नित्यहोम विधाय च ।
मूलेनाग्निपवित्र तदर्पयेद् देवता स्मरन् ॥२६११॥
मूर्तौ देवं समुद्वास्य वह्नि सयोज्य चात्मनि ।
पुष्पाञ्जलि विधायेशे कर्मानेन निवेदयेत् ॥२६१२॥
मन्त्रहीन क्रियाहीन भक्तिहीनं कृपानिधे ।
पूजन पूर्णतामेतु पवित्रेणार्पितेन मे ॥२६१३॥
इति सप्रार्थ्य देवेश योजयेद् हृदये निजे ।
गुर्वन्तिक ततो गत्वा दत्वा पुष्पाञ्जलि गुरौ ॥२६१४॥
स्वांगे षडङ्ग विन्यस्य गुरुदेहेऽपि विन्यसेत् ।
पाद्य दत्वा तथैवार्घं वस्त्रालकारचन्दनम् ॥२६१५॥
पुष्पै सम्पूज्य मूलेन पवित्र तद्गलेऽर्पयेत् ।
स्वशक्त्या दक्षिणा दत्वा दण्डवत् प्रणमेद् गुरुम् ॥२६१६॥
अन्येभ्य· शिष्टवृद्धेभ्य पवित्राणि ददीत च ।
सर्वथैव गुरौ पूजा कर्त्तव्या मन्त्रिणा सदा ॥२६१७॥
अपूजिते गुरौ सर्वा पूजा भवति निष्फला ।
गुरोरभावे तत्पुत्र तदभावे तदात्मजम् ॥२६१८॥
दौहित्र तदभावेऽन्य पूजयेद् गुरुगोत्रजम् ।
ततो धृत्वा पवित्र स्व भोजयित्वा द्विजोत्तमान् ॥२६१९॥
भुञ्जीत तदनुज्ञातो बन्धुभिस्तनयै सह ।
यथाकथचित् कुर्वीत पवित्राणि सुरार्चने ॥२६२०॥
विधेरुक्तस्य चाशक्त्या पूजासम्पूर्त्तिहेतवे ।
यस्या कस्या तिथौ कुर्यात् तिथावुक्ते कृत न चेत् ॥२६२१॥
सर्वथा श्रावणे चैकमपि तन्तु निवेदयेत् ।
प्रत्यब्द साधको यस्तु पूजा कुर्वीत देवते ॥२६२२॥
ऐश्वर्यारोग्यसयुक्तोऽनेकवर्षाणि जीवति ।
सम्पूर्णं हायने पूजा देवताना कृता तु या ॥२६२३॥

सर्वा सम्पूर्णतामेति पवित्रदमनार्पणात् ।
अन्येष्वप्युपरागार्धोदयसौम्यायनादिषु ॥२६२४॥

कुर्यादलभ्ययोगेषु विशेषाद् देवतार्चनम् ।
यथायथेष्टदेवेषु नृणां भक्ति समेधते ॥२६२५॥

प्राप्यते तदयत्नेन मनोऽभीष्टं तथा तथा ।

शुचौ तत्तत् तिथौ कुर्याद्देवप्रस्वापनोत्सवम् ।
ऊर्जे तथैव देवानामुत्थापनविधिं सुधी ॥२६२६॥

माघकृष्णचतुर्दश्यां विशेषात् शिवपूजनम् ।
आश्विनोत्थनवाहेषु दुर्गा पूज्या यथाविधि ॥२६२७॥

गोपाल पूजयेद् विद्वान् नभ कृष्णाष्टमीदिने ।
रामं चैत्रे सिते पक्षे नवम्यामर्चयेत् सुधी ॥२६२८॥

वैशाखादिचतुर्दश्या नरसिंह प्रपूजयेत् ।
यजेत् शुक्लचतुर्थ्यां तु गणेशं भाद्रमाघयो ॥२६२९॥

महालक्ष्मीं यजेद् विद्वान् भाद्रकृष्णाष्टमीदिने ।
माघस्य शुक्लसप्तम्या विशेषाद्दिननायकम् ॥२६३०॥

या काचित् सप्तमी शुक्ला रविवारयुता यदि ।
तस्या दिनेश सम्पूज्य दद्यादर्घं यथोदितम् ॥२६३१॥

तत्तत्कल्पोदितानन्यान् देवताप्रीतिवर्धनान् ।
विशेषनियमान् ज्ञात्वा भजेद्देवमनन्यधीः ॥२६३२॥

आषाढी कार्तिकी मध्ये किंचिन्नियममाचरेत् ।
देवसम्प्रीतये विद्वान् जपपूजापरायण' ॥२६३३॥

यो विना नियम मर्त्यो व्रत वा जपमेव वा ।
चातुर्मास्य नयेन्मूढो जीवन्नपि मृतो हि स ॥२६३४॥

एव यो भजते विष्णु रुद्र दुर्गां गणाधिपम् ।
भास्करं श्रद्धया नित्य स कदाचिन्न सीदति ॥२६३५॥

स्वधर्ममाचरन् नित्यं देवपूजापरायण ।
जितेन्द्रियोऽखिलान् भोगान् प्राप्येहानन्ततां व्रजेत् ॥२६३६॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे दमनपवित्रार्चाकथन
नाम पञ्चदश पटल ॥१५॥

षोडशः पटलः ।

अथो कुमारीयजन वक्ष्येऽभीष्टप्रद नृणाम् ।
सर्वे देवा न तुष्यन्ति कुमारीभोजनादृते ॥२६३७॥

यामलेऽपि–

कुमारी योगिनी साक्षात् कुमारी परदेवता ।
असुराश्च तथा नागा ये ये दुष्टग्रहा अपि ॥२६३८॥
भूलवेतालगन्धर्वा डाकिनी यक्षराक्षसा ।
याश्चान्या देवता सर्वा भूर्भुव स्वश्च भैरवा ॥२६३९॥
पृथिव्यादीनि सर्वाणि ब्रह्माण्ड सचराचरम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव ॥२६४०॥
ते तुष्टा सर्वतुष्टाश्च कुमारीपूजनात् शिव ! ।
कुमारिका ह्यह नाथ सदा त्व च कुमारिका ॥२६४१॥
अष्टोत्तरशतं वापि एका वापि प्रपूजयेत् ।
पूजिता प्रतिपूज्यन्ते निर्दहत्यवमानिता ॥२६४२॥
न तथा तुष्यते देवो बलिहोमस्तुतीरणै ।
कुमारीपूजनेनात्र यथा सद्य प्रसीदति ॥२६४३॥
न केवल पूजयेच्च भोजयेच्चापि यत्नत ।
व्यंगता चाप्यकरणात् पूजाया परिकीर्तिता ॥२६४४॥
करणात् सागतापि स्यादन्यस्मिन् न कृतेऽपि हि ।
स्मार्त्ताना निशि पूजोक्ता श्रौतानामपराह्णिकी ॥२६४५॥
नित्या तु शारदार्चाया काम्या नैमित्तिकी परा ।
महापर्वसु सर्वेषु विशेषाच्च पवित्रके ॥२६४६॥

पूजयेद् भक्तिभावेन यदीच्छेत् सिद्धिमात्मन ।
द्विवर्षाद्या दशाब्दान्ता कुमारी परिपूजयेत् ॥२६४७॥
अभावे षोडशाब्दान्ता विना पुष्प कुमारिका ।
नाधिकाङ्गीं न हीनाङ्गीं कुष्ठिनीं च व्रणाङ्किताम् ॥२६४८॥
अन्धा काणा केकरा च कुरूपां रोमयुक्तनुम् ।
दासीजा दन्तुरा रुग्णा दुष्टा कन्या न पूजयेत् ।
पितृमातृमतीं दिव्या मनोनयननन्दिनीम् ॥२६४९॥
विप्रा सर्वेष्टससिध्द्यर्थं यशसे क्षत्रियोद्भवाम् ।
वैश्यजा धनलाभाय पुत्राप्त्यै शूद्रजा यजेत् ॥२६५०॥
सन्ध्यैकवर्षा सम्प्रोक्ता द्विवर्षा च सरस्वती ।
त्रिधा मूर्तिस्त्रिवर्षा च चतुरब्दा तु कालिका ॥२६५१॥
सुभगा पचवर्षा तु षड्वर्षा च उमा स्मृता ।
मालिनी सप्तवर्षा च अष्टवर्षा कुब्जिका ॥२६५२॥
नवाब्दा कालसकर्षा दशवर्षाऽपराजिता ।
एकादशाब्दा रुद्राणी द्वादशाब्दा तु भैरवी ॥२६५३॥
तत्परा स्यान्महालक्ष्मीस्तत्परा पीठनायिका ।
क्षेत्रज्ञा तत्परा प्रोक्ता षोडशाब्दा च चण्डिका ॥२६५४॥
एव पूज्या क्रमेणैव पूजाक्रममिहोच्यते ।
गीतवादित्रनिर्घोषैरानन्दादरपूर्वकम् ॥२६५५॥
पूजागृहद्वारि नीत्वा कुमारीं हृष्टमानस ।
नित्यकृत्य समाप्याथ कल्पितार्चनसम्भृति ॥२६५६॥
प्राणायाम विधायाथ गुरु वामे गणेश्वरम् ।
दक्षे मध्ये कुमारीं च नत्वा दिग्बन्धन चरेत् ॥२६५७॥
तालत्रयैश्छोटिकाभिस्ततस्ता स्वेष्टरूपिणीम् ।
ध्यायन् पादौ च प्रक्षाल्य तज्जलं शिरसि क्षिपेत् ॥२६५८॥
स्वोत्तरीयांशुकेनास्याः पादौ सशोध्य हृष्टधी ।
भूतापसारण कुर्यात् ततस्तालत्रयेण च ॥२६५९॥

प्रणव च तथा पाशं माया कूर्च तथास्त्रकम् ।
भूतानि प्रववेत् तद्वदपसारय शब्दत ॥२६६०॥
विघ्नान् नाशय हृत्स्वाहा मन्त्रमेन समुच्चरन् ।
अक्षतान् प्रक्षिपेत् पश्चात् कुमारी दक्षिणं करम् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन दक्षपादपुरस्सरम् ॥२६६१॥
शनै शनै नमन्मौलि. पूजागृहमथानयेत् ।
ध्यायन् देव पठन् मन्त्र स्वपृष्ठेन प्रवेशयन् ॥२६६२॥
त्वमम्ब जगतामाद्ये जगदाधाररूपिणि ।
कुमारीरूपमास्थाय प्रविशेद गृह मम ॥२६६३॥
भवत्या कीदृश रूप जाने मातरह नहि ।
कुमारीरूपमेवेद पश्यामि नरचक्षुषा ॥२६६४॥
भक्ति मदीया विज्ञाय त्वत्पादाम्बुजयो शिवे ।
त्वया प्रकटितं रूपमीदृशं सर्वसिद्धये ॥२६६५॥
दृष्टि कार्या न मे पापेऽसच्चारे नासत पथि ।
दृढाया केवलं भक्तौ दातव्या सुरवन्दिते ॥२६६६॥
शिवाद्यास्तव रूपं हि कीदृश नेति जानते ।
ज्ञास्यामि कों वराकोऽह पाचभौतिकविग्रह ॥२६६७॥
एव पठन् पञ्चमन्त्रानासने सूपवेश्य च ।
कुमारी दक्षिणे भागे बलि दद्यान्मनु पठन् ॥२६६८॥
प्रणव देवयोनिभ्यो नम अष्टाक्षरो मनु ।
त्रिकोणमण्डले भूमौ दत्वान्नेन बलि तत ॥२६६९॥
न्यास कुर्यात् कुमार्यङ्गेष्वक्षतै भावयन् धिया ।
चण्डयोगेश्वरी के च महापूर्वा प्रविन्यसेत् ॥२६७०॥
मुखे सिद्धिकरालीं च नेत्रयोर्विकरालिकाम् ।
महापूर्वां कर्णयोश्च महामारीं प्रविन्यसेत् ॥२६७१॥
नसो न्यसेत् साधकेन्द्रस्तथा वज्रकपालिनीम् ।
कपोलयों मुण्डमालामोष्ठयोश्चाट्टहासिनीम् ॥२६७२॥

दन्तपङ्क्त्योश्चण्डकालीं कालचक्रेश्वरीं तत ।
स्कन्धयो र्हृदये गुह्यकालीं कात्यायनीं तथा ।
बाह्वोस्तथा च कामाक्षीं जठरे पृष्ठदेशके ॥२६७३॥

चामुण्डा सिद्धिलक्ष्मीं च न्यसेदूर्वोश्च कुब्जिकाम् ।
जान्वोश्च जङ्घयोस्तद्वन्मातङ्गीं पादयोस्तथा २६७४॥

चण्डेश्वरीं च सर्वाङ्गे कुमारीं विन्यसेद् बुध ।
ङेऽन्तां नमोऽन्ता विन्यस्य पश्चाङ्गानि न्यसेत् तत ॥२६७५॥

मुद्रया भावयन् देवीं कुमार्यङ्गे विचक्षण ।
सम्बुध्यन्ता जातियुक्ता तथा कुलकुमारिका ॥२६७६॥

हृदये शिरसि प्रोक्ता तथैव कुलनायिका ।
शिखाया कुलशब्दाद्या भैरवी परिकीर्तिता ॥२६७७॥

कुलवागीश्वरी तद्वद् वर्मणि प्रथिता सदा ।
कुलपालिकास्त्रे सम्प्रोक्ता ततो वक्त्राणि विन्यसेत् ॥२६७८॥

वामावर्त्तेन पूर्वादि दक्षिणान्तं तदीयके ।
बीजपूर्वाणि शिरसि बीजानि तु क्रमाद् ब्रुवे ।
वाग्भव भुवनेशानीं श्रिय त्रींकूर्चशक्तिकं ॥२६७९॥

बीजाना फल भैरवतन्त्रे–

वाग्भवे तु परक्षोभ मायाबीजे गुणाष्टकम् ।
श्रीबीजेन श्रियो लाभ त्रींबीजेनाधिसक्षय ॥२६८०॥

कूर्चेनैव तु बीजेन खगत्वमुपजायते ।
शक्तिबीजेन शक्तित्व सर्वशक्तिप्रदायकम् ॥२६८१॥

बीजषट्क सिद्धिजये पूर्ववक्त्राय हृत् तत ।
जये चोत्तरवक्त्राय हृदय कुब्जिके तत ॥२६८२॥

वदेत् पश्चिमवक्त्राय नम स्यादथ कालिके ।
दक्षवक्त्राय हृदय प्रत्येक बीजपूर्वकम् ॥२६८३॥

इत्य विन्यस्य तद्देहे कल्पोक्त न्यासजालकम् ।
स्वीये शरीरे विन्यस्य तथार्घं स्थाप्य शोध्य च ।
पूजोपकरण सर्वं कुमारीपश्चिमे तत २६८४॥
पूजयेदक्षतै पुष्पै रक्तचन्दनमिश्रितै ।
विशुद्धा बालिका चैव ललिता मालिनीं तत ॥२६८५॥
वसुन्धरा पञ्चमीं च षष्ठीं चैव सरस्वतीम् ।
रमा गौरीं तथा दुर्गां नवशक्ती क्रमादिमा ॥२६८६॥
वाङ्मायाश्रीत्रिबीजाद्या ङेऽन्ताश्चैव नमोऽन्तिका ।
तद्दक्षे च गणेशान नववर्षमित वटुम् ॥२६८७॥
यजेच्च वटुक तद्वत् पञ्चवर्षमित शिशुम् ।
एव पूज्य वरारोहे कुमारीं पूजयेत् ततः ॥२६८८॥
तत्तद्वर्षविभेदेन तत्तन्नाम्ना यथाविधि ।
चतुर्थ्यन्त नमोऽन्त च नाममन्त्रमुदीरितम् ॥२६८९॥
आसन वाग्भवाद्येन पाद्यं मायादिकेन च ।
श्रीबीजाद्येन चार्घं स्यात् श्रीमाद्य गन्धदानके ॥२६९०॥
कूर्चाद्येन तथा पुष्पमाला तस्यै निवेदयेत् ।
धूप दीपं च नैवेद्य वस्त्राण्याभरणानि च ॥२६९१॥
वस्तूनि सुमनोज्ञानि यावच्छक्यानि प्रीतये ।
शक्तिबीजेन वै दद्यात् सुप्रसन्ना विभाव्य च ॥२६९२॥
पूजयेदथ पञ्चाशच्छक्ती तस्या कलेवरे ।
पुष्पाक्षतै गन्धयुतैश्चतुर्थीनमसान्वितै ॥२६९३॥
प्रणवाद्यै नाममन्त्रै क्रमात् साधकसत्तम ।
तास्त्वाद्या च जया चैव विजया ऋद्धिदा तथा ।
माया कला सिद्धिदा च सूक्ष्मा चैव प्रभा तथा ॥२६९४॥
सुप्रभा विद्युता तद्वद् विशुद्धा नन्दिनी पुन ।
ज्ञेया विभूतिरपराजिता च ललिता तथा ।
लक्ष्मी गौरी तथा मेधा गायत्री च तत परम् ॥२६९५॥

सावित्री च स्वधा स्वाहा तयेच्छा च क्रिया स्मृता ।
विद्या प्रज्ञा तथा दीप्ता चेतना भद्रिणी तत ॥२६६६॥
ज्येष्ठाऽथोमा शिवा तद्वन्मुदिता च क्षमा तत ।
शुद्धाख्या विमला चैव कौमुदी विशदा तत ॥२६६७॥
अशोका ज्ञानदा चैव वलदा राज्यदा तत ।
मैत्री तथा च रुद्राणी भवानी च मृडान्यपि ॥२६६८॥
सर्वज्ञा चण्डिका चैव कुमार्यन्ता प्रकीर्तिता ।
प्रपूज्य चैतास्तद्देहे तथैवान्या क्रमाद् यजेत् ॥२६६९॥
भैरवाष्टसमाख्याता भैरव्यश्चाष्ट तत्समा ।
पूज्या पुष्पाक्षतै र्देहे तस्या विघ्नविनाशका ॥२७००॥
वटुक क्षेत्रपालश्च योगिन्यो भूतनायका ।
प्रेता यक्षाश्च डाकिन्य पूज्यास्तद्वच्च शक्तय ॥२७०१॥
महामाया कालरात्रिस्ततश्च सर्वमङ्गला ।
पूज्या डमरुका तद्वद् राजराजेश्वरी तथा ॥२७०२॥
सपत्प्रदा भगवती कुमारी स्यादत परम् ।
तत्त्रिकोणे तथा पूज्या वामावर्त्तेन शक्तय ॥२७०३॥
कामेशी चैव वज्रेशी तथा च भगमालिनी ।
द्वन्द्वशश्च पुन पूज्यास्तत्रैव शक्तयश्च षट् ॥२७०४॥
अनङ्गाद्यास्तथा सर्वा कुसुमा मन्मथा तथा ।
मदना कुसुमाद्या स्यात् तुरा च मदनातुरा ॥२७०५॥
शिशिरेति च विज्ञेया प्रणवाद्या नमोऽन्तिका ।
एव पूजा विधायाथ कुमारी पुरतो बुध ॥२७०६॥
वर्तुल मण्डल कृत्वा मध्ये कामकला लिखेत् ।
ध्रुवादि शुभदायै हृन्मन्त्रेण कुसुमाक्षतै ॥२७०७॥
पूज्य तत्र यथालाभ पात्रस्थान्न चतुर्विधम् ।
निधाप्य च ततो मन्त्री कुमारीदक्षिण करम् ॥२७०८॥

गृहीत्वोत्तानक तत्र स्थापयेच्छक्तिमुच्चरन् ।
निवेदयेत् त नैवेद्य भावयन् हृदि देवताम् ॥२७०६॥
इदमन्नं तथा नाम चतुर्थ्यन्तं नम पदम् ।
उच्चार्य भुङ्क्ष्व देवीति ब्रूयादर्घजल क्षिपन् ॥२७१०॥
भक्षयन्त्या च तत्सूक्तैःस्तुवीत च कृताञ्जलि ।
जयकालि महाभीमे भीमरावे भयापहे ॥२७११॥
संसारदावाग्निशिखे वृजिनार्णवतारिणि ।
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रभूतेशप्रभृत्यमरवन्दिते ॥२७१२॥
सर्गपालनसहारकारिण्यहितमारिणि ।
गुह्यकालि परानन्दरसपूरितविग्रहे ॥२७१३॥
परब्रह्मरसास्वादकैवल्यानन्ददायिनि ।
गुणातीतेऽपि सगुणे महाकल्पान्तनर्तकि ॥२७१४॥
कुमारीरूपमास्थाय विज्ञाप्याज्ञास्वरूपिणि ।
आगतासि ममागार शारद्यर्चासमाप्तये ॥२७१५॥
सावत्सरिककल्याणसूचनाय तथैव च ।
धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि सफल जीवित मम ॥२७१६॥
यस्मात् त्वमीदृश कृत्वा कौमार रूपमुत्तमम् ।
कालि समायाताब्दिकपूजाजिघृक्षया ॥२७१७॥
त्वमेवैतेन रूपेण देवेभ्य प्रार्थिता पुरा ।
दत्तवत्यसि साम्राज्य वरानपि समीहितान् ॥२७१८॥
मह्यमप्यद्य देवेशि वरं देहि सुपूजिता ।
ब्रह्मणे सृष्टिसामर्थ्यं त्व पुरा दत्तवत्यसि ॥२७१९॥
विष्णवे च त्वमेवादौ तथा पालनशक्तिताम् ।
महारुद्राय सहारकर्तृत्वमदद शिवे ॥२७२०॥
देवेभ्यश्चापि दैत्याना नाशन दक्षतामपि ।
अन्तर्यामिन्यसीशानि त्रिलोकीवासिनामपि ॥२७२१॥

निवेदयामि किं तेऽहं सर्वकर्मैकसाक्षिणि ।
शत्रुनाश राज्यलाभ शरीरारोग्यमेव च ॥२७२२॥
त्वत्पादाम्बुजयो र्भक्ति याचेऽह चतुरो वरान् ।
नमस्ते भगवत्यम्ब नमस्ते भक्तवत्सले ॥२७२३॥
नमस्ते जगदाधाररूपिणि त्राहि मा सदा ।
मात नं वेद्मि रूप ते न शरीर न वा गुणम् ॥२७२४॥
भक्त्या हृत्स्थितया पूजा तव जानाम्यनन्यधी ।
त्व माता त्व पिता बन्धुस्त्वमेव जगदीश्वरि ॥२७२५॥
त्व गति शरणं त्व च स्वर्गस्त्व मोक्ष एव च ।
विहाय त्वा जगन्मातर्नान्या पश्यामि देवताम् ॥२७२६॥
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमो नम ।
एव स्तुत्वा भोजनान्ते दद्यादाचमनीयकम् ॥२७२७॥
ताम्बूल विनिवेद्याथ कृत्वा चैव प्रदक्षिणाम् ।
वारत्रय ददेत् तस्यै दक्षिणा भक्तिनिर्भर ॥२७२८॥
स्वर्णं वा रजत वापि यथाशक्त्या प्रणम्य ताम् ।
विसृज्य सफला पूजा भावयेत् साधकोत्तम ॥२७२९॥
विवाहयेत् स्वय कन्या स्वेष्टदेवस्य प्रीतये ।
कन्यादानेन यत्पुण्य तद्वक्तु नैव शक्यते ॥२७३०॥
यथेष्टं लोकमाप्नोति कन्यादानानुभावत ।
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्य सर्वयज्ञेषु यत्फलम् ।
तत्फल समवाप्नोति कन्यादानेन शंकर ॥२७३१॥

अथ शिवाबलि, तत्र कुलचूडामणौ–
राजादिभयमापन्ने देशान्तरभयादिके ।
शुभाशुभानि कर्माणि विचिन्त्य बलिमाहरेत् ॥२७३२॥
कार्याकार्यविचारे च स्वेष्टतुष्ट्यै शिवाबलिम् ।
पर्वण्यभीष्टवारे वा दद्यात् साधकसत्तम ॥२७३३॥

यामले–

अवश्यमन्नदानेन नियतं तोषयेत् शिवाम् ।
नित्यश्राद्ध यथा सन्ध्यावन्दन पितृतर्पणम् ॥२७३४॥
तथैव देवदेवीना प्रीतये नित्यता स्मृता ।
पशुरूपा शिवा देवी यो नार्चयति निर्जने ॥२७३५॥
शिवारावेण तस्याशु सर्वं नश्यति निश्चितम् ।
जपपूजाविधानानि यत् किञ्चित् सुकृतानि च ॥२७३६॥
गृहीत्वा च तथा शाप दत्त्वा रोदति निर्जने ।
नरशक्ति पशुशक्ति पक्षिशक्तिस्तथैव च ॥२७३७॥
आसा प्रपूजनाद्देवि शक्तिमान् साधको भवेत् ।
बिल्वमूले नदीतीरे श्मशाने वापि साधक ॥२७३८॥
मासप्रधान नैवेद्य गृहीत्वा च निशामुखे ।
गत्वोत्तरमुखो भूत्वा प्राणायाम षडङ्गकम् ॥२७३९॥
विधायार्घं च सस्थाप्य मुक्तकेश समुत्थित ।
कालि कालीति सरावैराह्वयेदुच्चमुच्चरन् ॥२७४०॥
परिवारै सहायाति तत्रोमा पशुरूपिणी ।
बलि पात्रे च सस्थाप्य मनुनानेन निर्दिशेत् ॥२७४१॥
ओ गृह्ण देवि महाभागे शिवे कालाग्निरूपिणि ।
शुभाशुभफलव्यक्ति ब्रूहि गृह्ण बलि तव ॥२७४२॥
अर्घोदकेन चोत्सृज्य कियद्दूर ततो बुध ।
अपसृत्य च वै दद्याद् नत्यष्टकमुदारधी ॥२७४३॥
प्रणवादिनमोऽन्तेभ्यो देवेभ्यो हृष्टमानस ।
सहारभैरवश्चैव बटुकोऽथ विनायक ॥२७४४॥
मातर -क्षेत्रपालाश्च योगिन्यो डाकिनीगणा ।
शिवदूत्यश्च विज्ञेया शिवानुबलिभागिन ॥२७४५॥
एभ्यो दत्त्वा मुक्तकेशो मीलिताक्षो दिगम्बर ।
गन्धपुष्पाञ्जलिर्धीर स्तवेनोत्थाय तोषयेत् ॥२७४६॥

ॐ शिवारूपधरे देवि गुह्यकालि नमोऽस्तु ते ।
उल्कामुखि ललज्जिह्वे घोररावे शृगालिनि ॥२७४७॥
श्मशानवासिनि प्रेते शवमासप्रियेऽनघे ।
अरण्यचारिण्यनघे शिवे जम्बुकरूपिणि ॥२७४८॥
नमोऽस्तु ते महामाये जगत्तारिणि कालिके ।
मातङ्गि कुक्कुटे रौद्रि महाकालि नमोऽस्तु ते ॥२७४९॥
सर्वसिद्धिप्रदे भीमे भयकरि भयापहे ।
प्रसन्ना भव देवेशि मम भक्तस्य चण्डिके ॥२७५०॥
ससारतारणतरि जय सर्वशुभकरि ।
विध्वस्तचिकुरे चण्ड चामुण्डे मुण्डमालिनि ॥२७५१॥
सहारकारिणि क्रुद्धे सर्वसिद्धि प्रयच्छ मे ।
दुर्गे किरातशवरि प्रेतासनगतेऽभये ॥२७५२॥
अनुग्रह कुरु सदा कृपया मा विलोकय ।
राज्य प्रयच्छ विकटे वित्तमायु सुतान् स्त्रियम् ॥२७५३॥
शिवाबलिप्रदानेन त्व प्रसन्ना भवेश्वरि ।
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥२७५४॥
एव स्तुत्वा ततो देवि शेषमन्न सभाजनम् ।
भूमौ निखन्येष्टदेव स्थानमागत्य पूजयेत् ॥२७५५॥
एकापि भुज्यते तत्र साधकार्थप्रकाशिनी ।
तदैव सर्वशक्तीना प्रीति परमदुर्लभा ।
भुक्त्वा रौति यदैशान्या मुखमुत्तोल्य सुस्वरम् ॥२७५६॥
तदैव मगल तस्य नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
यदि नो गृह्यते नून तदा नैव शुभ भवेत् ॥२७५७॥
शुभ यदि भवेत्तत्र भुज्यते तदशेषत ।
यदश भुज्यतेऽन्न च तदश कार्यनिश्चय ।
एव ज्ञात्वा महेशानि शान्ति स्वस्त्ययन चरेत् ॥२७५८॥

इति शिवाबलि ।

अथो बलिविधिं वक्ष्ये कर्मसाङ्गत्वसिद्धये ।
यज्ञकर्म विना येन न पूर्त्तिमुपयाति हि ॥२७५९॥

तत्र प्रकृतिखण्डे—

त्रिविधो बलिराख्यातः सात्त्विको राजसस्ततः ।
तामसश्चैव विज्ञेयस्तेषां भेदमथो शृणु ॥२७६०॥
सात्त्विकः फलपुष्पादिः प्राणी तु राजसः स्मृतः ।
स्वीयदेहोद्भवो यश्च तामसः परिकीर्तितः ।
निवृत्तिमार्गनिष्ठाना सात्त्विको बलिरीरितः ॥२७६१॥

तथा च महाकालसंहितायाम्—

सात्त्विको जीवहत्या हि कदाचिदपि नो चरेत् ।
इक्षुदण्डं तु कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम् ॥२७६२॥
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद् बलिम् ।
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत्पशुमुपानयेत् ॥२७६३॥
कूष्माण्डं महिषत्वेन छागलत्वेन कर्कटीम् ।
वृन्ताकं कुक्कुटत्वेन मेषत्वेन च तुम्बिकाम् ॥२७६४॥
रम्भापुष्पं बीजपूरं पिण्डवाजिबलौ भवेत् ।
मानुष्यत्वेन पनसं मत्स्यत्वेनेक्षुदण्डकम् ॥२७६५॥
शूरणत्वेन शलकं तथा कोशातकीं मृगे ।
पटोलं शूकरत्वेन शर्करा वालुषा तथा ॥२७६६॥
माषाः सर्वबलित्वेन सर्वेषां कृशरान्नतः ।
दद्याद् यथोक्तमार्गेण यथेष्टफलसिद्धये ॥२७६७॥
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठाना राजसो बलिरीरितः ।
कृष्णसारं तथा छागं मृगान्नानाविधानपि ॥२७६८॥
मेषं च महिषं घृष्टिं तथा पञ्चनखानपि ।
कपोतं टिट्टिभं हंसं चक्रवाकं च लावकम् ॥२७६९॥

शरालि तित्तिर मत्स्यान् कलविंक चकोरकम् ।
अनुक्त नैव दातव्यं द्विजवर्गान् कदाचन ॥२७७०॥

सिंह व्याघ्रं नर तद्वत् क्षत्रिय. परिकल्पयेत् ।
विहाय कृष्णसारं च क्षत्रियादे र्भवेद् बलि ॥२७७१॥

सिंह व्याघ्र नर हत्वा ब्राह्मणो ब्रह्महा भवेत् ।
मूष मार्जारक चाप शूद्रो दत्वा पतत्यध ॥२७७२॥

चन्द्रहासेन खड्गेन हन्यादेकप्रहारत ।
उत्थाय हनन कुर्यान्नोपविश्य कदाचन ॥२७७३॥

स्वहस्तेन पशु हत्वा पशुयोनिमवाप्नुयात् ।
किंच त्रिपक्षतो न्यून महिषादीन् त्रिवर्षत ॥२७७४॥

अन्यत् त्रिमासतो न्यून वर्षोनावविमेषकौ ।
न दद्यात् फलमेतेषा लक्षणानि ब्रवीम्यहम् ॥२७७५॥

वृद्ध वा विकृताङ्गं वा न कुर्याद् बलिकर्मणि ।
हीनाङ्गमधिकाङ्गं वा शिशु चापि विवर्जयेत् २७७६॥

स्वगात्ररुधिर चैव स्वोत्तमाङ्गार्पण तथा ।
तापसं कथित सद्भि र्देवप्रीतिकर नहि ।
विधिवद् बलिदानेन चतुर्वर्गफल लभेत् ॥२७७७॥

अविधाने दोपमाह कुलार्णवे-

अविधानेन यो हन्यादात्मार्थं प्राणिन प्रिये ।
निवसेन्नरके घोरे दिनानि पशुरोमभि ॥२७७८॥

स्वरक्तबिन्दुपाती च तिर्यग् योनिषु जायते ।
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ॥२७७९॥

संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका ।
धनेन क्रयिको हन्ति खादिता चोपभोगत ।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येव त्रिविधो वध ॥२७८०॥

अथो बलिविधिं वक्ष्ये कर्मसाङ्गत्वसिद्धये ।
यज्ञकर्म विना येन न पूर्त्तिमुपयाति हि ॥२७५९॥

तत्र प्रकृतिखण्डे–

त्रिविधो बलिराख्यात सात्विको राजसस्तत ।
तामसश्चैव विज्ञेयस्तेषां भेदमथो शृणु ॥२७६०॥
सात्विक फलपुष्पादि प्राणी तु राजस स्मृत ।
स्वीयदेहोद्भवो यश्च तामस' परिकीर्तित' ।
निवृत्तिमार्गनिष्ठाना सात्विको बलिरीरित ॥२७६१॥

तथा च महाकालसहितायाम्–

सात्त्विको जीवहत्या हि कदाचिदपि नो चरेत् ।
इक्षुदण्ड तु कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम् ॥२७६२॥
क्षीरपिण्डं शालिचूर्णै' पशु कृत्वा चरेद् बलिम् ।
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत्पशुमुपानयेत् ॥२७६३॥
कूष्माण्डं महिषत्वेन छागलत्वेन कर्कटीम् ।
वृन्ताकं कुक्कुटत्वेन मेषत्वेन च तुम्बिकाम् ॥२७६४॥
रम्भापुष्प बीजपूर पिण्डवाजिबलौ भवेत् ।
मानुष्यत्वेन पनस मत्स्यत्वेनेक्षुदण्डकम् ॥२७६५॥
शूरणत्वेन शलक तथा कोशातकीं मृगे ।
पटोल शूकरत्वेन शर्करा वालुषा तथा ॥२७६६॥
माषा सर्वबलित्वेन सर्वेषा कृशरान्नत ।
दद्याद् यथोक्तमार्गेण यथेष्टफलसिद्धये ॥२७६७॥
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठाना राजसो बलिरीरित ।
कृष्णसार तथा छाग मृगान्नानाविधानपि ॥२७६८॥
मेष च महिष घृष्टि तथा पंचनखानपि ।
कपोत टिट्टिभ हस चक्रवाक च लावकम् ॥२७६९॥

शरालि तित्तिरं मत्स्यान् कलविंकं चकोरकम् ।
अनुक्त नैव दातव्यं द्विजवर्गान् कदाचन ॥२७७०॥

सिंह व्याघ्रं नर तद्वत् क्षत्रिय परिकल्पयेत् ।
विहाय कृष्णसार च क्षत्रियादे र्भवेद् वलि ॥२७७१॥

सिंह व्याघ्रं नर हत्वा ब्राह्मणो ब्रह्महा भवेत् ।
मूष मार्जारकं चापं शूद्रो दत्वा पतत्यध ॥२७७२॥

चन्द्रहासेन खड्गेन हन्यादेकप्रहारत ।
उत्थाय हनन कुर्यान्नोपविश्य कदाचन ॥२७७३॥

स्वहस्तेन पशु हत्वा पशुयोनिमवाप्नुयात् ।
किंच त्रिपक्षतो न्यून महिपादीन् त्रिवर्षत ॥२७७४॥

अन्यत् त्रिमासतो न्यून वर्णोनावविमेषकौ ।
न दद्यात् फलमेतेषा लक्षणानि ब्रवीम्यहम् ॥२७७५॥

वृद्ध वा विकृताङ्गं वा न कुर्याद् बलिकर्मणि ।
हीनाङ्गमधिकाङ्गं वा शिशु चापि विवर्जयेत् २७७६॥
स्वगात्ररुधिर चैव स्वोत्तमागार्पण तथा ।
तापसं कथित सद्भि र्देवप्रीतिकर नहि ।
विधिवद् वलिदानेन चतुर्वर्गफलं लभेत् ॥२७७७॥

अविधाने दोषमाह कुलार्णवे-

अविधानेन यो हन्यादात्मार्थं प्राणिन प्रिये ।
निवसेन्नरके घोरे दिनानि पशुरोमभि ॥२७७८॥
स्वरक्तबिन्दुपाती च तिर्यग् योनिषु जायते ।
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ॥२७७९॥

संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका ।
धनेन क्रयिको हन्ति खादिता चोपभोगत ।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येव त्रिविधो वध ॥२७८०॥

यामले–

पितृदैवतयज्ञेषु वेदे हिंसा विधीयते ।
अहिंसा परमो धर्मो नास्त्यहिंसा पर सुखम् ॥२७८१॥
विधिना या भवेद् हिंसा सा त्वहिंसा प्रकीर्तिता ।
वृथा न हिंसा कर्तव्या क्वापि देवि ! मनीषिभि ॥२७८२॥
बलिदान बिना हिंसा वर्जनीया सदा शिवे ।
चेत् पापजनिका हिंसा तत् कथ स्वर्गसाधनम् ।
अश्वमेधादियज्ञेषु वाजिहत्या कथ चरेत् ॥२७८३॥

दृष्टान्तस्तत्रैव–

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तव ।
तेनैव विषखण्डेन भेषजो नाशयेद् विषम् ॥२७८४॥
यथाविधि मतो दद्याद् बलिं स्वोपास्यप्रीतये ।
सर्वावयवसम्पन्न बलिं तत्र सुशोभनम् ॥२७८५॥
तरुण सुन्दर कृष्ण क्षतादिदोषवर्जितम् ।
स्नापयित्वा बलिं तत्र भूषयेत् पुष्पचन्दनै ॥२७८६॥
भूषयेद् रक्तमाल्येन सिंदूरेण विशेषत ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा बलिं पूर्वमुख तथा ॥२७८७॥
समानीय स्ववामे च मूलेन प्रोक्षण चरेत् ।
अर्घोदकेन च फडिति सरक्ष्यावगुण्ठयेत् ।
कवचेन तु मूलेनामृतीकृत्य च मुद्रया ॥२७८८॥
धेन्वा तद् दक्षिणे कर्णे गायत्रीं तस्य त्रि पठेत् ।
प्रणव पशुपाशाय विद्महे विश्वशब्दत ॥२७८९॥
कर्मणो धीमहीत्युक्त्वा तन्नो जीव प्रचोदयात् ।
एव श्राव्यविधानेन बलिं सम्पूजयेत् तत. ॥२७९०॥
ब्रह्मरध्रे च ब्रह्माण तत्त्वमाया च मेदिनीम् ।
कर्णयोश्च तथाकाश जिह्वाया सर्वतोमुखम् ॥२७९१॥

ज्योतिषी नेत्रयो विष्णु वदने परिपूजयेत् ।
ललाटे पूजयेच्चक्र चक्र दक्षिणगण्डके ।।२७६२।।
वामगण्डे तथा वह्नि ग्रीवाया समवर्तनम् ।
रोमकूपे धृति चैव भ्रुवो मध्ये प्रचेतसम् ।।२७६३।।
नासामूले च श्वसन स्कन्धमध्ये महेश्वरम् ।
हृदये सर्पराजान्त पूजयित्वा पठेदिदम् ।।२७६४।।
ओ महातपोभि र्दानैश्च यज्ञै र्यत् साध्यते नरै ।
तन्मे देहि महाभाग ! सत्वर चाप्नुहि श्रियम् ।।२७६५।।
शिवबुद्धया सुसम्पूज्य उत्सृज्य च तत परम् ।
ततो देव समुद्दिश्य काममुद्दिश्य चात्मन ।।२७६६।।
सकल्प्य च बलि पश्चात् करवाल प्रपूजयेत् ।
ध्रुव माया कालियुग्म वज्रेश्वरि तत परम् ।।२७६७।।
लोहान्ते च तथा दण्डायै नमोऽष्टादशाक्षर ।
मन्त्रोऽनेन च सम्पूज्य खड्ग सम्पूजयेत् पुन ।।२७६८।।
अग्रभागे च सम्पूज्यौ ब्रह्मा वागीश्वरी तत ।
मध्ये तथैव सम्पूज्यौ लक्ष्मीनारायणावपि ।।२७६९।।
मूले च पूजयेन्मन्त्री उमया सह शकरम् ।
एव पूजा विधायाथ खड्ग ध्यायेत् समाहित ।।२८००।।
कृष्ण पिनाकपाणि च कालरात्रिस्वरूपिणम् ।
रक्ताक्ष रक्तवस्त्र च सपाश पीतशोणितम् ।।२८०१।।
कृताञ्जलि र्नमस्कुर्यादेन मन्त्र समुच्चरन् ।
ओ असि विशसन खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासद ।।२८०२।।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपाल नमोऽस्तु ते ।
एव प्रणम्य तत् खड्गमुत्तोल्य साधकोत्तम ।।२८०३।।
छेत्ता पूर्वमुखो भूत्वा बलिमुत्तरवक्त्रकम् ।
ओ यज्ञार्थे पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।।२८०४।।

अतस्त्वा घातयिष्यामि तस्माद् यज्ञे वधोऽवध ।
शिवायत्तमिद पिण्डमतस्त्व शिवता गत ॥२८०५॥
उद्बुद्ध्यस्व पशो त्व हि नाशिवस्त्वं शिवोऽसि हि ।
पाश कूर्चं समुच्चार्य हन्यादेकप्रहारत ॥२८०६॥
ततो बलीना रुधिर तोयसैन्धवसत्फलै ।
मधुभि र्गन्धपुष्पैश्च स्वधिवास्य प्रयत्नत ॥२८०७॥
गन्धपुष्पान्वित कृत्वा चोत्सृजेन्मन्त्रमुच्चरन् ।
प्रणव वाग्भवं लक्ष्मीं तत कौशिकि शब्दत ॥२८०८॥
रुधिरेण तत पश्चादाप्यायता समुच्चरेत् ।
निवेद्य रुधिरं देवि दद्यात् शिरसि दीपकम् ॥२८०९॥
ततो निवेदयेन्मन्त्री ताम्बूलं सुमनोहरम् ।
नापसव्ये शिरोरक्त दद्याद् देवस्य सम्मुखे ॥२८१०॥
छाग तु वामतो दद्यान्महिष वितरेत् पुर ।
पक्षिण वामतो दद्यादग्रतो देहशोणितम् ॥२८११॥
यदा कटकटाशब्दो दन्ताना श्रावयेत् क्वचित् ।
तदा तु मरण विद्याद् हानि वा तस्य निर्दिशेत् ॥२८१२॥
यदाश्रु कृष्यते नेत्रे तदा हानिं विनिर्दिशेत् ।
पूर्वे चोत्तरदिग्भागे पतते यदि मस्तकम् ॥२८१३॥
तत स्वल्पेन कालेन सर्वसिद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।
ईशाग्नेयमध्यभागे पतते यदि मस्तकम् ॥२८१४॥
सर्वसम्पत्करं विद्याद् राज्ञो राज्यं विनिर्दिशेत् ।
यदि वायव्यदिग्भागे नैर्ऋत्या दक्षिणेऽपि वा ॥२८१५॥
मस्तकं पतते यत्तु तदा हानिं विनिर्दिशेत् ।
तद्दोषस्याशु शान्त्यर्थं तन्मासेन यथाविधि ॥२८१६॥
जुहुयाद् घृतयुक्तेन तदा पचदशाहुतिम् ।
ब्राह्मणा कच्छपाना च गोधायाश्च विशेषत ॥२८१७॥

मत्स्याना पक्षिरणा चैव दीप नो शिरसि न्यसेत् ।
शिरसि प्रज्वलद्दीप यावत्काल प्रवर्तते ॥२८१८॥
तावत्काल वसेत् स्वर्गे तस्माद् यत्नेन दापयेत् ।
घ्रात्वा लोमोद्भव गन्ध शीघ्र देवो प्रसीदति ।
तस्मात् प्रवर्धयेद्दीप पात्र तत्र विसर्जयेत् ॥२८१६॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे कुमारीपूजनादि-
कथन नाम षाडश पटल ॥१६॥

सप्तदशः पटलः ।

अथ मन्त्रसिद्धे रुपाया गौतमीये–

सम्यगनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धि र्न जायते ।
पुनस्तेनैव कर्तव्य तत सिद्धो भवेद् ध्रुवम् ॥२८२०॥
एव पुन पुनश्चैव कृते सिद्धि र्न चेद् भवेत् ।
उपायास्तत्र कर्तव्या सप्त शकरभाषिता ॥२८२१॥
भ्रामरण बोधन वश्य पीडन पोषशोषणे ।
दहनान्त क्रमात् कुर्यात् तत सिद्धो भवेद् ध्रुवम् ॥२८२२॥
भ्रामरण वायुबीजेन प्रथमक्रमयोगत ।
तन्मन्त्रयन्त्रमालिख्य सिल्हकर्पूरकुकुमै ॥२८२३॥
उशीरचन्दनाभ्या तु मन्त्र संग्रथितं लिखेत् ।
पूजनाज्जपनाद् होमाद् भ्रामित सिद्धिदो भवेत् ॥२८२४॥
भ्रामितो यदि नो सिद्धयेद् बोधन तस्य कारयेत् ।
सारस्वतेन बीजेन सम्पुटीकृत्य त जपेत् ॥२८२५॥
एव रुद्धो भवेत् सिद्धो न चेदेतद् वशीकुरु ।
अलक्त चन्दनं कुष्ट हरिद्रामलक शिलाम् ।
एतैस्तु मन्त्रमालिख्य भूर्जपत्रे सुशोभने ॥२८२६॥

धार्यं कण्ठेन चेत् सिद्ध पीडन तस्य कारयेत् ।
अधरोत्तरयोगेन पदानि परिजप्य वै ॥२८२७॥

ध्यायेच्च देवता तत्र अधरोत्तररूपिणीम् ।
विद्यामादित्यदुग्धेन लिखित्वाकस्य चाग्निना ॥२८२८॥

तथाभूतेन मन्त्रेण होम कार्यो दिने दिने ।
पीडितो लज्जयाविष्ट सिद्धि स्याशो च पोथयेत् ॥२८२९॥

बालायास्त्रितय बीजमाद्यन्ते तस्य योजयेत् ।
गोक्षीरमधुनालिख्य विद्या पाणौ विधारयेत् ॥२८३०॥

पोथितोऽयं भवेत् सिद्धो न चेत् कुर्वीत शोषणम् ।
द्वाभ्या च वायुबीजाभ्या मन्त्रं कुर्याद् विदर्भितम् ।
एषा विद्या गले धार्या लिखित्वा वरभस्मना ॥२८३१॥

शोषितोऽपि न सिद्धयेच्च दहनीयोऽग्निबीजत ।
आग्नेयेन तु बीजेन मन्त्रस्यैकैकमक्षरम् ॥२८३२॥

आद्यन्तमध ऊर्ध्वं च योजयेद्दाहकर्मणि ।
ब्रह्मवृक्षस्य तैलेन मन्त्रमालिख्य धारयेत् ॥२८३३॥

कण्ठदेशे ततो मन्त्रसिद्धि स्यात् शकरोदितम् ।
इत्येतत् कथित सम्यक् केवल तव भक्तित ॥२८३४॥

एकेनैव कृतार्थं स्याद् बहुभि किमु सुव्रते ।
अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि मन्त्रसिद्धेस्तु कारणम् ॥२८३५॥

मातृकापुटित कृत्वा स्वस्वमन्त्र जपेत् सुधी ।
क्रमोत्क्रमात् शतावृत्त्या तदन्ते च मनु जपेत् ॥२८३६॥

एव तु प्रत्यहं कृत्वा यावल्लक्ष समाप्यते ।
निश्चित मन्त्रसिद्धि स्यादित्युक्त तन्त्रवेदिभि ॥२८३७॥

अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
अष्टम्या वा चतुर्दश्या पक्षयोरुभयोरपि ॥२८३८॥

सूर्योदयात् समारभ्य यावत् सूर्योदयान्तरम् ।
तावज्जप्तो निरातक सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥२८३९॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत् कृष्णाष्टमी भवेत् ।
सहस्रसख्या जप्ते तु पुरश्चरणमिष्यते ॥२८४०॥
चतुर्दशीं समारभ्य यावदन्या चतुर्दशी ।
तावज्जप्ते महेशानि पुरश्चरणमिष्यते ॥२८४१॥
चन्द्रसूर्यग्रह दृष्ट्वा कालातीतभयात्तथा ।
सर्वं विधिं च संत्यज्याचम्याभीष्टदिङ्मुख ॥२८४२॥
सकल्प मानस कृत्वा ऋष्यादीन् न्यस्य वै जपेत् ।
ग्रासावधि विमुक्त्यन्त तद्दशाश च होमयेत् ।
तस्मिन् काले च यत् कुर्यान्मन्त्र वा स्तोत्रमेव वा ॥२८४३॥
एकोच्चारेण देवेशि असख्य तज्जप भवेत् ।
शाक्त वा विष्णुमन्त्रं वा शैव गाणपत तथा ।
चन्द्रसूर्यग्रहे जप्त्वा सिद्धो भवति नान्यथा ॥२८४४॥

यद्वा–

ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य शुचि पूर्वमुपोषित ।
नद्या समुद्रगामिन्या नाभिमात्रे जले स्थित ॥२८४५॥
यद्वा शुद्धोदके स्नात्वा शुचौ देशे समाहित ।
स्पर्शाद् विमुक्तिपर्यन्त जप कुर्यादनन्यधी ॥२८४६॥
अनन्तर दशाशेन क्रमाद् होमादिक चरेत् ।
तदन्ते महतीं पूजा कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् ॥२८४७॥
ततो मन्त्रस्य सिद्ध्यर्थं गुरु सम्पूज्य तोषयेत् ।
तत प्रयोगान् कुर्वीत मन्त्रवित् कल्पतोदितान् ॥२८४८॥
अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
शरत्काले चतुर्थ्यादि नवम्यन्त विशेषत ॥२८४९॥
भक्तित पूजयित्वा तु रात्रौ तावत्[1] सहस्रकम् ।
जपेदेकस्तु विजने केवल तिमिरालये ॥२८५०॥

१–तावत् षट्सहस्र जपदष्टमीनवम्योरुपवास कुर्यादित्यर्थ ।

अष्टम्यादिनवम्यन्तमुपवासपरो भवेत् ।
स भवेत् सर्वसिद्धीशो नात्र कार्या विचारणा ॥२८५१॥

यद्-

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी ।
तस्मिन् पक्षे विशेषेण पुरश्चरणतत्पर ॥२८५२॥
अष्टम्यादि नवम्यन्तमुपवासपरो भवेत् ।
पूजयेद् भक्तितो रात्रौ षट्सहस्र जप चरेत् ॥२८५३॥
अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते ।
यत् क्षणे कम्पते भूमिस्तत्क्षण सिद्धिदायकम् ॥२८५४॥
प्रहराभ्यन्तरे यद् यत् कृतमक्षयमाप्नुयात् ।
ज्ञात्वा सक्षेपत कृत्य समाप्य प्रजपेन्मनुम् ॥२८५५॥
तदन्ते' हवन कृत्वा सिद्धिमाप्नोति निश्चितम् ।
महामन्त्र जपेन्नित्य स्मरेद् वापि समाहित ॥२८५६॥
तस्य गेहे वसेल्लक्ष्मी जिह्वाया च सरस्वती ।
हृदये च वसेद्देवो नारायण इति श्रुति ॥२८५७॥
ब्रह्मा स्यात् कण्ठदेशे च अह तिष्ठामि सम्मुखे ।
मन्त्रदेव सहैतैश्च सदा रक्षति साधकम् ॥२८५८॥
दहेत् तृण यथा वह्निस्तथा शत्रून् जयेत् सदा ।
स्वय ब्रह्मा स्वय विष्णु स्वय रुद्रो न सशय ॥२८५९॥
अन्ते निरामय ब्रह्म मन्त्री भवति नान्यथा ।
लक्षमेक जपेद्देवि महापापै प्रमुच्यते ॥२८६०॥
लक्षद्वयेन पापानि सप्तजन्मकृतान्यपि ।
लक्षत्रयेण पापानि हन्ति जन्मसहस्रकम् ॥२८६१॥
चतुर्लक्षजपान् मन्त्री वागीश्वरसमो भवेत् ।
पञ्चलक्षाद्दरिद्रोऽपि साक्षाद् वैश्रवणो भवेत् ॥२८६२॥

१ अत्र सर्वत्र हवनादि ब्राह्मणभोजनान्त तद् तद् दशांशेन कार्यमिति सम्प्रदाय ।

लक्षषट्कजपात् देवि महाविद्याधरो भवेत् ।
जप्त्वैव सप्तलक्षाणि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ॥२८६३॥

अष्टलक्षप्रमाण तु महामन्त्र जपेत् तु य ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीशो जायते नात्र संशय ॥२८६४॥

नवलक्षजपाद्देवि रुद्रमूर्तिरिवापर ।
कर्ता हर्ता महादेवि लोकेऽप्रतिहत प्रभु ॥२८६५॥

दशलक्षफलं देवि वर्णितु नैव शक्यते ।
साक्षान्मन्त्रमयी मूर्ति र्भवेत् साधकसत्तम ॥२८६६॥ इति ।

अथ सिद्धिचिह्नानि नारदपञ्चरात्रे, तन्त्रशेखरे च-

मन्त्राराधनशक्तस्य प्रथम वत्सरत्रये ।
जायन्ते वहवो विघ्ना जपतस्तस्य नारद ॥२८६७॥

नोद्वेग साधको याति कर्मणा मनसा यदि ।
सेत्स्यतीति च विश्वासस्तुरीयेऽब्दे स सिद्धिभाक् ॥२८६८॥

सिद्धे मनौ च राजान प्रभवोऽन्ये महीश्वरा ।
प्रार्थयन्तेऽनुरोधेन गर्विता अपि मानिन ॥२८६९॥

प्रसाद क्रियता नाथ ममोद्धारणकारण ।
प्रज्वलन्त च पश्यन्ति तेजसा विभवेन च ॥२८७०॥

अतस्ते मुनिशार्दूल निष्ठुर वक्तुमक्षमा ।
नवमाद् वत्सरादूर्ध्वं स्वय सिद्धयति मन्त्रराट् ॥२८७१॥

नानाश्चर्याणि हृदये मन्त्रसिद्धिमयानि वै ।
अत्यानन्दप्रदान्याशु प्रत्यक्षेण बहिस्तया ॥२८७२॥

जडधीस्तु क्षण विप्र क्षणमस्ति प्रहर्षित ।
क्षण दुन्दुभिनिर्घोष शृणोत्यप्यन्तरिक्षत ॥२८७३॥

क्षण च मधुर वाद्य नानागीतसमन्वितम् ।
आजिघ्रति क्षण गन्धान् कर्पूरमृगनाभिजान् ॥२८७४॥

इत्यनन्तं क्षणं वापि पश्यत्यात्मानमात्मन. ।
चन्द्रार्ककिरणाकीर्णं क्षणमालोकयेन्नभ· ॥२८७५॥
गजगोवृषनादांश्च शृणुयान्न क्षणं द्विज ।
निर्भराम्बुदसंक्षोभं क्षणमाकर्णयत्यपि ॥२८७६॥
तारकाणि विचित्राणि योगिनो नभसि स्थितान् ।
पश्यत्युद्ग्राहयन्तं च क्षणं मन्त्रव्रती सदा ॥२८७७॥
क्षणं किलिकिलारावं हसं च वर्हिणं तथा ।
क्षणं मेघोदयं पश्येत् क्षणं रात्रिं दिने सति ॥२८७८॥
रात्रौ च दिवसालोकं ससूर्यक्षणमीक्षते ।
बलेन परिपूर्णश्च तेजसा भास्करोपम ॥२८७९॥
पूर्णेन्दुसदृश कान्त्या गमने विहगोपम· ।
शमेन युक्त प्रौढेन गाम्भीर्येण सुखेन च ॥२८८०॥
स्वल्पाशनेन कृशता बहुनापि न खिद्यते ।
विण्मूत्रयो स्यादल्पत्वं भवेन्निद्रा जयस्तथा ॥२८८१॥
जपध्यानपरो मन्त्री न खेदमधिगच्छति ।
विना भोजनपानाभ्यां पक्षमासादिकं मुने ॥२८८२॥
इत्येवमादिभिश्चिह्नै र्महाविस्मयकारिभि ।
प्रवृत्तं सम्प्रबोद्धव्यं प्रसन्नो मन्त्रराडिति ॥२८८३॥
ततोऽस्य प्रत्ययास्त्वेवं जायन्ते जपतो मनुम् ।
अधिष्ठितं निश्यदीपं निस्तमिस्रं गृहं भवेत् ॥२८८४॥
अर्काभस्तेजसाऽसौ भवति नलिनजा सततं किंकरी स्याद्
रोगा नश्यन्ति दृष्ट्या द्रुतमथ धनधान्याकुलं तत्समीपम् ॥
देवा नित्यं नमोऽस्मै विदधति फणिनो नैव दशन्ति पुत्रान्
पौत्रा मित्राणि वृद्धा न तु विपदिपरा धाम विष्णो प्रयाति ॥२८८५॥

तथा च गौतमीये—

सिद्धयस्त्रिविधा प्रोक्ता उत्तमामध्यमाधमा ।
तासां क्रमाल्लक्षणानि यथावदवधारय ॥२८८६॥

मृत्युना हरण तद्वद् देवतादर्शनं तथा ।
ऊर्ध्वक्रामणमेव हि चराचरपुरे गति ॥२८८७॥
खेचरी मेलक चैव तत्कथाश्रवणादिकम् ।
भूच्छिद्राणि प्रपश्येत चैतदुत्तमलक्षणम् ॥२८८८॥
ख्यातिर्भूपणवाहादिलाभ सुचिरजीवनम् ।
नृपाणा तद्गणाना च वशीकरणमुत्तमम् ॥२८८९॥
सर्वत्र सर्वलोकेषु चमत्कारकर सुधो ।
रोगापहरण दृष्टचा विषापहरण तथा ॥२८९०॥
पाण्डित्य लभते मन्त्री चतुर्विधमयत्नत ।
वैराग्य च मुमुक्षुत्वं त्यागिता सर्ववश्यता ॥२८९१॥
अष्टाङ्गयोगाभ्यसन भोगेच्छापरिवर्जनम् ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वज्ञादिगुणोदय ॥२८९२॥
इत्यादि गुणसम्पत्ति मध्यसिद्धेस्तु लक्षणम् ।
ख्याति भूपणवाहादिलाम सुचिरजीवनम् ॥२८९३॥
नृपाणा तद् गणाना च वात्सल्य लोकवश्यता ।
महैश्वर्यं धनित्व च पुत्रदारादिसम्पदः ॥२८९४॥
अधमा सिद्धय प्रोक्ता मन्त्राणामथ भूमिका ।
सिद्धमन्त्रस्तु य साक्षात् स शिवो नात्र संशयः ॥२८९५॥

तत्वसागरसहिताया पूजाभेदा –

पुनस्त्रिधा मता पूजा उत्तमाधममध्यमा ।
अधिकारिनिमित्ताभ्या शतधा भिद्यते पुन ॥२८९६॥
यागोपकरणैं कृत्स्नै क्रियमाणोत्तमा मता ।
यथालब्धै विनिष्पाद्या दृष्टै पूजा तु मध्यमा ॥२८९७॥
पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसञ्ज्ञिता ।
विदिताखिलवेदार्थै ब्र ह्मविभिरकल्मषैं ।
क्रियमाणा तु या पूजा सात्त्विकी सा विमुक्तिदा ॥२८९८॥

राजर्षिभिस्तपोनिष्ठैर्भगवत्तत्त्ववेदिभिः ।
या पूजा क्रियते सम्यग् राजसी सा सुखप्रदा ॥२८९९॥
स्त्रीबालवृद्धमूर्खाद्यैर्भक्तैरक्षुद्रमानसैः ।
या पूजा क्रियते नित्यं तामसी सा प्रकीर्तिता ॥२९००॥
अथोपचारं वक्ष्यामि शृणु पार्वति सादरम् ।
विनोपचारैर्या पूजा सा न सिद्ध्यति कुत्रचित् ॥२९०१॥

तथा च गौतमीये—

परिभाषामथो वक्ष्ये उपचारविधौ हरे ।
द्रव्याणां यावती सङ्ख्या पात्राणां द्रव्यसंहृते ॥२९०२॥
हाटकं राजतं ताम्रमारकूटं मृदादिना ।
उपचारविधावेतद् द्रव्यमाहुर्मनीषिणः ॥२९०३॥
आसने पञ्चपुष्पाणि स्वागते षट्चतुः फलम् ।
जलं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्तानि पञ्चशः ॥२९०४॥
पाद्ये चार्घ्ये जलं तावद् गन्धपुष्पाक्षतं जपा ।
दूर्वास्तिलाश्च चत्वारः कुशाग्रश्वेतसर्षपाः ॥२९०५॥
जातीलवङ्गकक्कोलतोयं च षट्पलं मतम् ।
प्रोक्तमाचमनं कांस्ये मधुपर्कं घृतं मधु ॥२९०६॥
दध्ना सह जलैः कर्तुं शुद्धं वारि तथाचमे ।
परिमाणं तु पञ्चाशत् पलं स्नानार्थमम्भसः ॥२९०७॥
निर्मलेनोदकेनाथ सर्वत्र परिपूर्णता ।
मलिनं पतितं सर्वं त्यजेत् पूजाविधौ हरे ॥२९०८॥
वितस्तिमात्रादधिकं वासो युग्मं तु नूतनम् ।
स्वर्णाद्याभरणान्येव रत्नेन संयुतानि च ॥२९०९॥
चन्दनागरुकर्पूरपङ्कगन्धं पलावधि ।
नानाविधानि पुष्पाणि पञ्चाशदधिकानि च ॥२९१०॥
कांस्यादिनिर्मिते पात्रे धूपो गुग्गुलुकर्षभाक् ।
सप्तवर्त्या च संयुक्तो दीपः स्याच्चतुरङ्गुलः ॥२९११॥

यावद् भक्ष्य भवेत् पुसस्तावद्- दद्याज्जनार्दने ।
नैवेद्यं विविधं वस्तु भक्ष्यादिकचतुर्विधम् ॥२६१२॥
कर्पूरादियुतावर्त्ति नवकर्पासनिर्मिता ।
शालिपिष्टावन्दनाया सप्तधावर्तयेन्नर ॥२६१३॥
कार्या ताम्रादिपात्रे तत्प्रीतये हरिमेधस ।
दूर्वाक्षतप्रमाणं तु विज्ञेय च शताधिकम् ।
उत्तमोऽय विधि प्रोक्तो विभवे सति सर्वदा ॥२६१४॥
एपामभावे सर्वेषा यथाशक्त्या तु पूजयेत् ।
अनुकल्पं विवर्जेत द्रव्याणा विभवे सति ॥२६१५॥
अनेन विधिना यस्तु पूजयेदुपचारत ।
सवभोगान्वितो भूत्वा व्रजेदन्ते हरे पुरम् ॥२६१६॥
हरिरित्युपलक्षणम । स्वोपास्यदेवपुरमित्यर्थ ।

अथ कालकथन योगिनीतन्त्रे–

मणिमुक्तासुवर्णानि देवे दत्तानि यानि वै ।
तन्निर्माल्य द्वादशाब्दात् ताम्रपात्र तथैव च ॥२६१७॥
पटी शाटी च षण्मास नैवेद्य दत्तमात्रत ।
मोदक कृसर चैव यामार्धेन महेश्वरि ॥२६१८॥
पट्टसूत्र त्रिमासाच्च यज्ञसूत्र त्र्यहात् स्मृतम् ।
यावदन्न भवेदुष्ण परमान्नं तथैव च ॥२६१९॥
मस्तक रुधिर चैव अहोरात्रेण पार्वति ।
मुहूर्त्त दधि दुग्ध च आज्य यामेन सुन्दरि ॥२६२०॥
करवीरमहोरात्र विल्वपत्र तथैव च ।
जवापुष्प च माघ्य च निर्माल्य सार्धयामके ॥२६२१॥
मान वै करवीरस्य पद्मस्य बिल्वकस्य च ।
यामान्तेन महेशानि ताम्बूल दत्तमात्रत ॥२६२२॥

यामले—

सर्वं पर्युषित वर्ज्यं पत्र पुष्प फल जलम् ।

अवर्ज्यं जाह्नवीतोयमवज्य तुलसीदलम् ॥२६२३॥
अवर्ज्यं विल्वपत्र स्यादवर्ज्यं जलज तथा ।
पुष्पैः पर्युंषितै देवि नार्चयेत् स्वर्णजैरपि ॥२६२४॥
बिल्वपत्र च माघ्य च तमालामलकीदलम् ।
कह्लार तुलसीपत्रं पद्मं च मुनिपुष्पकम् ॥२६२५॥
एतत् पर्युंषित न स्यादन्यच्च कलिकात्मकम् ।
तिष्ठेद् दिनत्रय शुद्धपद्ममामलक तथा ॥२६२६॥
दिनैक करवीराणि योग्यानि भवति प्रिये ।
पद्मानि सितरक्तानि कुमुदान्युत्पलानि च ॥२६२७॥
एषा पर्युंषिताना च त्याग पचदिनोर्ध्वत ।
अन्येषा कुसुमाना च यावद् गन्धविपर्यय ॥२६२८॥
पुष्प च पचगव्य च उपचारास्तथा परान् ।
घ्रात्वा निवेद्य देवेशि नरो नरकमाप्नुयात् ॥२६२९॥
अगसस्पृष्टमाघ्रात त्यजेत् पर्युंषित बुध ।
केशकीटोपविद्धानि छिन्नभिन्नानि पार्वति ॥२६३०॥
स्वय पतितपुष्पाणि त्यजेदुपहृतानि च ।
शेफाली वकुलं चैव स्वयं शीर्णं च दुष्यति ॥२६३१॥
सर्वं भूमिगत त्याज्य शेफालीं वकुल विना ।
कृमिभक्ष्याणि भग्नानि वर्ज्याणि पतितानि च ॥२६३२॥
तमाल च तथा पद्म छिन्न भिन्न न दुष्यति ।
विष्णुक्रान्ता जवा नागकेशरं नागवल्लभम् ।
वन्धूक चैव कह्लार सवृन्तेन समर्चयेत् ।॥२६३३॥

अन्यच्च—

पंचाहात् तुलसी त्याज्या त्र्यहाद् विल्वदल तथा ।
गगाम्बु च सहस्राहाद् दशाहात् पकज तथा ॥२६३४॥
न निर्माल्य दाडिम च तथा विल्वफल प्रिये ।

सौगधिक च कदलीं प्रयत्नेन नियोजयेत् ।
कदलीं बीजपूर च दुग्ध पक्व निवेदयेत् ॥२६३५॥

अथोपचारा , नवरत्नेश्वरे–

चतु पष्ट्युपचाराणामभावेऽष्टादश स्मृता ।
अष्टादशोपचाराश्च सर्वेषामुत्तमा प्रिये ॥२६३६॥

षोडशात प्रधानाश्च दशधा तदनु स्मृता ।
पचधा तदनु प्रोक्ता कर्तव्या भूतिमिच्छता ॥२६३७॥

अथाष्टादशोपचारा–

आसन स्वागत पाद्य चार्घ्यमाचमन तथा ।
स्नान वासोपवीत च भूषणानि च सर्वश ॥२६३८॥

गध पुष्प तथा धूप दीपमन्न च तर्पणम् ।
माल्यानुलेपन चैव नमस्कारविसर्जने ।
अष्टादशोपचारैस्तु मत्री पूजा समाचरेत् ॥२६३९॥

अथ षोडशोपचारा–

पाद्यार्घ्याचमनीयक स्नान वसनभूषणे ।
गध पुष्प धूपदीपौ नैवेद्याचमने तथा ॥२६४०॥

ताम्बूल च तथा स्तोत्रं तर्पण च नमस्क्रिया ।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारास्तु षोडश ॥२६४१॥

अथ दशोपचारा–

पाद्यार्घ्याचमनमधुपर्काण्याचमन तत ।
गन्धादयो निवेद्यान्ता उपचारा दश स्मृता ॥२६४२॥

अथ पचोपचारा–

गध पुष्प च धूप च दीप नैवेद्यमेव च ।
प्रदद्यात् परमेशानि पूजा पचोपचारिका ॥२६४३॥

पाद्यार्थमुदक पाद्य चन्दनागरुसयुतम् ।
एतत् श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥२६४४॥
पाद्य पाद्ये च दातव्यमर्घ्यं चैवार्घ्यपात्रके ।

गधपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपाः ॥२६४५॥
दूर्वा च सर्वदेवानामष्टाङ्गोऽर्घ्यं समीरित ।
अन्त शून्या त्रिपत्रा च दूर्वामर्घ्ये विनि क्षिपेत् ॥२६४६॥
जातीलवगकक्कोलै र्दद्यादाचमनीयकम् ।
तत्तै जसेन पात्रेण शखेनैवाथवा दिशेत् ॥२६४७॥
उदक दीयते यद्यत् सुगन्ध फेनवर्जितम् ।
नारिकेलोदक स्वल्प सिताघृतसमन्वितम् ।
सर्वेषामधिक क्षौद्र मधुपर्के प्रयोजयेत् ॥२६४८॥

तथान्यच्च–
आज्य दधि मधून्मिश्र मधुपर्कं विदु र्बुधा ।
त दद्यात् कास्यपात्रेण शोभनेन विशेषत ॥२६४९॥
वस्वगुलविहीन तु न पात्र कारयेद् बुध ।
दद्यात् तु विमल गध मूलमन्त्रेण देशिक ॥२६५०॥
गधश्चदनकर्पूरकालागरुभिरीरित ।

गधपदेन गधाष्टकमिति केचिद् वदन्ति । तन्मते तु, विष्णु शिवशक्ति गणेश भेदेन चतुर्विधम् ।

तद्यथा शारदायाम्–
चदनागरुह्रीवेरकुष्ठकुंकुमसेव्यका ।
जटामासीमरुमिति विष्णो गंधाष्टक स्मृतम् ॥२६५१॥
चदनागरुकर्पूरतमालजलकुकुमम् ।
कुशीतकुष्ठसयुक्त शैव गंधाष्टक स्मृतम् ॥२६५२॥
चदनागरुकर्पूरचोरकुकुमरोचना ।
जटामासी कपियुता शक्ते गंधाष्टक स्मृतम् ॥२६५३॥

गणपतिसहितायाम्–
स्वरूपं चदन चोर रोचनागरुमेव च ।
मद मृगद्वयोद्भूत कस्तूरीचन्द्रसयुतम्
अष्टगध विनिर्दिष्ट गणेशस्य महाविभो ॥२६५४॥ इति ।

अगुष्ठतर्जनीभ्यां तु देवे पुष्पं निवेदयेत्।
पुष्पैररण्यसंभूतैः पत्रैः गिरिसमुद्भवैः ॥२६५५॥
अपर्युषिताविच्छिन्नैः प्रोक्षितैः जलवर्जितैः।
आत्मारामोद्भवैः पुष्पैः देवं संपूजयेत् सदा ॥२६५६॥
परारोपितवृक्षेभ्य पुष्पाण्यानीय योऽर्चयेत्।
तमविज्ञाप्य सा पूजा विफला भवति ध्रुवम् ॥२६५७॥

ानमालायाम्-

उग्रगंधमगंध च कृमिकेशादिदूषितम्।
अशुद्धपात्रपाण्यंगवासोभिः कुत्सितादिभिः ॥२६५८॥
आनीतं नार्पयेद् देवं प्रमादादपि दोषकृत्।
कलिकाभिस्तथा नेज्य विना चंपकपंकजैः ॥२६५९॥
शुष्कैः न पूजयेद् देवं याचितैः कृष्णवर्णकैः।
अन्यार्थमाहृतं दुष्टं तथैवान्योपभुक्तकम् ॥२६६०॥
मल्लिकामुत्पलं रम्यं नागपुन्नागचंपकम्।
अशोकं कर्णिकारं च द्रोणपुष्पं विशेषतः ॥२६६१॥
करवीरं शमीपुष्पं कुंकुमं नागकेशरम्।
यः प्रयच्छति देवेभ्यः स गच्छेत् परमं पदम् ॥२६६२॥
स्वयं विकसितैः पुष्पैस्तथा च मासपुष्पकैः।
माघादिसर्वमासेषु पूज्यपुष्पाणि द्वादश ॥२६६३॥
कुंदं कुरवकं केतकं वकं डिण्डीनकं तथा।
नीलं च विकटं शीर्षं क्षुद्रं च भृंगराजकम् ॥
वकुलं रंगणं चैव नान्यमासे यजेत् क्वचित् ॥२६६४॥

अथान्यत्रापि-

मालती मल्लिका जाती यूथिका माधवी तथा।
तगरं कर्णिकारश्च द्रोणश्चोत्पलचंपकौ ॥२६६५॥

अशोक कुमुदश्चैव शेफालिककदम्बकौ ।
केतकी नवमाला च कुसुम्भकिंशुकौ तथा ॥२६६६॥
कह्लार वकुल चैव लवगनागकेशरौ ॥
एतान्यपि प्रियाणि स्यु र्देवस्य सतत शिवे ॥२६६७॥
नाक्षतैरर्चयेद् विष्णु तुलस्या न गणेश्वरम् ॥
न दूर्वया यजेद् दुर्गा सूर्यं तगरविल्वजं ॥२६६८॥
दूर्वानिषेधे यदुक्त तत् श्वेतदूर्वापरम् ।

यत्त यामले-

रक्तमाघ्य श्वेतदूर्वां नीलकठ कुरटकम् ।
न दद्याच्च महादेव्यै यदीच्छेत् शुभमात्मन. ॥२६६९॥
पुष्पाभावे यजेत् पत्रै पत्राभावे तु तत्फलैः ।
फलेऽप्यामलक श्रेष्ठ बादर तिंतिणीभवम् ॥२६७०॥
दाडिम मातुलुग च जबीर पनसोद्भवम् ।
कदलीचूतसभूत श्रेष्ठ जबूफल तथा ॥२६७१॥
यजेदेतै सदा देव पत्रपुष्पफलैरपि ।
अक्षतै र्वा जलै र्वापि न पूजा व्यतिलघयेत् ॥२६७२॥
जलाभावे तु गधाढ्य दूर्वां वा श्रीफलच्छदम् ।
विना वै दूर्वया देवि पूजा नास्तीह कर्हिचित् ।
तस्माद् दूर्वा गृहीतव्या सर्वपुष्पमयी हि सा ॥२६७३॥

अन्यच्च-

शिवे केतकमुन्मत्तकुन्दार्काणि हरेस्तथा ।
देवीनामर्कमन्दारौ सूर्ये च तगर तथा ॥२६७४॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे-

पत्रेषु तुलसी श्रेष्ठा विल्व दमनक तथा ।
मरुको देवकह्लारी विष्णुक्रान्ता तथैव च ॥२६७५॥
अपामार्गोऽथ गान्धारी पत्री सुरभिसज्ञका ।

नागवल्लीदलं दूर्वा कुशपत्र तथा मतम् ॥२९७६॥
पत्र चागस्त्यवृक्षस्य पुण्य धात्रीदल तथा ।
देवेभ्य सर्वगन्धानामभावे तुलसीदलम् ॥२९७७॥
तुलस्या पूजयेद् देवीं देवान् गणपति विना ।
विना तुलस्या स्नानादि श्राद्धं यज्ञार्चन प्रिये ॥२९७८॥
न सपूर्णफलं प्राहु सर्व एव विपश्चित ।
दूर्वा वा तुलसी तस्माद् गृहीतव्या च साधकै ॥२९७९॥
सुन्दरी भैरवी काली ब्रह्मविष्णुविवस्वत ।
विना तुलस्या या पूजा सा पूजा विफला भवेत् ॥२९८०॥

शक्तियामले-

सावित्रीं च भवानीं च दुर्गा देवीं सरस्वतीम् ।
योऽर्चयेत्तुलसीपत्रै देवै स्वर्गे स मोदते ॥२९८१॥

यामले-

रात्रौ रहस्यपूजाया तुलसीं वर्जयेत् सदा ।
तुलसी घ्राणमात्रेण रुष्टा भवति चण्डिका ॥२९८२॥
तुलसी ब्रह्मरूपा च सर्वदेवमयी शुभा ।
सर्वतीर्थमयी सा तु गणेशस्य प्रिया न हि ।
लक्ष्म्यास्तथा च ताराया न प्रिया तुलसी मता ॥२९८३॥
सवदेवमय पुष्प देवेभ्य सर्वथार्पयेत् ।
सर्वदेवमय पुष्प करवीरमपराजिताम् ॥२९८४॥
तद्वज्जवा महेशानि विद्धि पुष्पगणेष्विह ।
एषा मूले वसेद् ब्रह्मा एषा मध्ये जनार्दन ॥२९८५॥
एषामग्रे वसेद् रुद्र सर्वे देवा दले स्थिता ।
पचदेवमय पुष्प करवीर मनोहरम् ॥२९८६॥
विष्णु र्लम्बोदर सूर्यो ब्रह्मा च कालिका तथा ।
पचदेवा पचदले सदा तिष्ठन्ति नान्यथा ॥२९८७॥

तथैव विष्णुक्रान्ता च तथैव च जवा प्रिये ।
विष्णुस्तु पश्चिमदले उत्तरे गणनायकः ॥२९८८॥
ऐशान्यां सूर्यदेवश्च पूर्वे ब्रह्मा प्रकीर्तितः ।
दक्षिणे कालिका देवी या परा शक्तिरिष्यते ॥२९८९॥
यथा रक्तं तथा शुक्लं हरितं कृष्णमेव वा ।
गंगादिसर्वतीर्थानि तिष्ठन्ति बिन्दुगह्वरे ॥२९९०॥
तन्मध्ये शिवलिंगं च महाकुण्डलिनीयुतम् ।
शिवशक्तिमयं पुष्पं करवीरं जवा तथा ॥२९९१॥
विष्णुक्रान्तापि देवेशि देवतीर्थमयी सदा ।
एषां मूलं च यः सिंचेत् पूजिता तेन देवता ॥२९९२॥
पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं वाधोमुखं च यत् ।
समर्पितं दुःखदं तद् यथोत्पन्नं तथार्पणम् ॥२९९३॥
स्नानं कृत्वा तु मोहेन पुष्पं चिन्वन्ति ये द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मनीव यथा हुतम् ॥२९९४॥

एतत्तु मध्याह्नस्नानपरम् ।

यत्तु तन्त्रे-

स्नात्वा मध्याह्नसमये न छिद्यात्कुसुमं बुधः ।
तत्पुष्पार्चनतो देवि नरके परिपच्यते ॥२९९५॥
न पुष्पच्छेदनं कुर्याद् देवार्थं वामहस्ततः ।
न दद्यात् तेन देवेभ्यः सस्थाप्य वामहस्तके ॥२९९६॥
अगरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचंदनैः ।
सामान्यः सर्वदेवानां धूपोऽयं परिकीर्तितः ॥२९९७॥

विशेषस्तन्त्रान्तरे-

सिताज्यमधुसंमिश्रं गुग्गुल्वगरुचंदनम् ।
षडंगधूपमेतत्तु सर्वदेवप्रियं सदा ॥२९९८॥
गुग्गुलुः सरलं दारुपत्रं मलयसंभवम् ।
ह्रीवेरमगरुं कुष्ठं गुडं सर्ज्जरसं घनम् ॥२९९९॥

हरीतकी नखी लाक्षा जटामासी च शैलजम् ।
षोडशाङ्गं विदु धूंप दैवे पैत्र्ये च कर्मणि ॥३०००॥

मधु मुस्ता घृत गधो गुग्गुल्वगरुशैलजात् ।
सरल सिल्हसिद्धार्थो दशाङ्गो धूप इष्यते ॥३००१॥

सर्वेपामेव धूपाना दुर्गाया गुग्गुलु प्रिय ।
घृतयुक्तो विशेषेण सतत प्रीतिवर्धन. ॥३००२॥

न भूमौ वितरेद् धूपं नासनेन घटे तथा ।
यथायथाधारगत कृत्वा त विनिवेदयेत् ॥३००३॥
राशीकृतेन चैकत्र एतं धूँपं विधूपयेत् ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु-

न दहेद्दूषित धूप कर्पासास्थिशिरोरुहे ।
तुषाग्निवत् तथा कृत्वा न तत्फलमवाप्नुयात् ॥३००४॥
वर्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ।
आरोप्य दर्शयेद् दीपानुच्चै सौरभशालिनः ॥३००५॥
न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु दीप स्नेहान् घृतादिकान् ।
दत्वा मिश्रीकृत स्नेह तामिस्र नरक व्रजेत् ॥३००६॥

यामले-

वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ।
कुरुते पृथिवीताप दीपमुत्सृज्य यो नर ॥३००७॥
तामिस्रं नरक घोर प्राप्नोत्येव न सशय ।
सर्वंसहा वसुमती सहते न त्विद द्वयम् ॥३००८॥
अकार्यपादघात च दीपताप तथैव च ।
तस्माद् यथा न पृथिवी तापमाप्नोति वै तथा ॥३००९॥
नैव निर्वापयेद् दीप देवार्थमुपकल्पितम् ।
दीपहन्ता भवेदन्ध काणो निर्वापको भवेत् ॥३०१०॥

दीप घृतयुतं दक्षे तैलयुक्त तु वामत. ।
दक्षिणे च सितावर्त्ति र्वामतो रक्तवर्त्तिकम् ॥३०११॥
पक्वापक्वविभेदेन नैवेद्येष्वेव तत् स्थिति ।
पुरतो नियमो नास्ति दीपनैवेद्ययो क्वचित् ॥३०१२॥
कंदुपक्व स्नेहपक्व घृतसंयुक्तपायसम् ।
मन प्रिय च नैवेद्य दद्याद् देवाय साधकं ॥३०१३॥
यद् यद् वाञ्छितवस्तूनि तद् दद्याद् देवपूजने ।
बालप्रिय च नैवेद्य दत्वा देव प्रपूजयेत् ॥३०१४॥
स्त्रीणा प्रीतिकर यत् तद् देव्यै दद्याद् विचक्षण ।
ताम्बूलस्य प्रदानेन देवी प्रीतिमतो भवेत् ॥३०१५॥
शखहस्तेन सर्वत्र प्रदक्षिण प्रकीर्तितम् ।
सकृद् द्विस्त्रिश्चरेद् देवि देवताया प्रदक्षिणम् ॥३०१६॥
एकं चण्ड्या रवौ सप्त त्रीणि दद्याद् विनायके ।
चत्वारि केशवे दद्यात् शिवे चार्द्धं प्रदक्षिणम् ॥३०१७॥
दक्षिणाद् वायवीं गत्वा दिश तस्माञ्च शाभवीम् ।
ततो वै दक्षिणा गच्छेन्नमस्कारस्त्रिकोणत ॥३०१८॥
त्रिकोणोऽय नमस्कारस्त्रिपुराप्रीतिवर्धन ।
नतिस्त्रिकोणिकाकारा तारादेव्या समीरिता ॥३०१९॥
दर्शयन् दक्षिण पार्श्व नमसा च प्रदक्षिणम् ।
स च प्रदक्षिणो ज्ञेय सवदेवोपतुष्टये ॥३०२०॥
पश्चात् कृत्वा तु यो देव भ्रमित्वा प्रणमेन्नर ।
तस्य चैवैहिकं नास्ति न परत्र दुरात्मन ॥३०२१॥
नमन मानसं प्रोक्त कायिकं वाचिक तथा ।
त्रिविधे च नमस्कारे कायिकश्चोत्तम स्मृत ॥३०२२॥
कायिकैस्तु नमस्कारै देवास्तुष्यन्ति नित्यश ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा शिरसास्पृश्य मेदिनीम् ॥३०२३॥

क्रियते यो नमस्कार उत्तम कायिक स्मृत ।
पद्भ्या कराभ्या जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ॥३०२४॥
मनसा वचसा चैव प्रणामोऽष्टाग उच्यते ।
पद्भ्या कराभ्या शिरसा पंचागा प्रणति स्मृता ॥३०२५॥
पुटीकृत्य करे शीर्षे दीयते तद्यथा तथा ।
अस्पृष्ट्वा शीर्षजानुभ्या क्षिति मध्यम उच्यते ॥३०२६॥
कायिकस्त्रिविध प्रोक्तो अष्टागादिविभेदत ।
अष्टाग उत्तम प्रोक्त पचागो मध्यम स्मृत ॥३०२७॥
अधम करशीर्षाभ्या नमस्कार विवर्जयेत् ।
अयमेव नमस्कारो दण्डादिप्रतिनामभि ॥३०२८॥
प्रणाम इति विज्ञेय स पूर्वं प्रतिपादित ।
यै स्वयं गद्यपद्याभ्या घटिताभ्या नमस्कृति ।
क्रियते भक्तियुक्तेन वाचिकस्तु नमस्तु स ॥३०२९॥
पौराणिकं वैदिकै र्वा मत्रै र्या क्रियते नति ।
स मध्यमो नमस्कारो भवेद् वै वाचिक सदा ॥३०३०॥
यत्तु मानुषवाक्येन नमन क्रियते तथा ।
स वाचिकोऽधमो ज्ञेयो नमस्कारेषु पार्वति ॥३०३१॥

अथ देवाना प्रीतिकथनम्—

स्तुतिप्रियो महाविष्णु गंणेशस्तर्पणप्रिय ।
दुर्गाऽर्चनप्रिया नूनमभिषेकप्रिय शिव ॥
दीपप्रिय कार्तवीर्यो मार्तण्डो नतिवल्लभ ॥३०३२॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सतसग्रहे सपर्याकथन नाम
सप्तदश पटल ॥१७॥

अष्टादशः पटलः ।

अथ प्रायश्चित्तम्, यामले—

निषिद्धाचरणे पुंसा विहिताकरणे तथा ।
प्रायश्चित्तोपपातः स्यादिति सत्यं न संशयः ॥३०३३॥

निषिद्धाचरणं तु गौतमीये तन्त्रान्तरे च-

याने र्वा पादुकाभि र्वा यानं भगवतो गृहे ।
देवोत्सवे स्वसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः ॥३०३४॥
उच्छिष्टे च तथाशौचे देवस्य वन्दनादिकम् ।
एकहस्तप्रणामं च पुरस्तात् तत्प्रदक्षिणम् ॥३०३५॥
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यंकबन्धनम् ।
शयनं भक्षणं चापि मिथ्याभाषणमेव च ॥३०३६॥
उच्चैर्हासो मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः ।
निग्रहानुग्रहौ चैव स्त्रीषु च क्रूरभाषणम् ॥३०३७॥
कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः ।
अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम् ॥३०३८॥
शक्तौ गौणोपचारस्तु अनिवेदितभक्षणम् ।
तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामनर्पणम् ।
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यजनस्य च ॥३०३९॥
स्पष्टीकृत्यासनं चैव परनिन्दा परस्तुतिः ।
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा ॥३०४०॥
अपराधास्तथा विष्णो द्वात्रिंशत् परिकीर्तिताः ।

विष्णोरित्युपलक्षणम्, तेनेदं देवमात्रपरम् ।

यद् यत् कर्मणि वैगुण्यं नित्ये नैमित्तिके तथा ॥३०४१॥
सहस्रं प्रजपेन्मूलमन्त्रं चायुतमेव वा ।
नित्ये सहस्रं प्रजपेन्नैमित्तिके तथायुतम् ॥३०४२॥

विष्णुविषयक एवायं विधिः ।

अन्यत्र तन्त्रराजे-

नित्यादिकर्मदोषाणां शान्त्यै विद्यां शतं जपेत् ।
नैमित्तिकातिक्रमणे सहस्रं प्रजपेन्मनुम् ॥३०४३॥

पापसकरे तु-

सर्वषामेव पापाना सकरे समुपस्थिते ।
प्रायश्चित्त तु तंत्रोक्तमयुतं सजपेन्मनुम् ॥३०४४॥

अन्यच्च यामले-

देवनिन्दापराणा च सकराणा सह प्रिये ।
शाक्त शैवो वैष्णवो वा ससगं यत्नतस्त्यजेत् ॥३०४५॥

चेत् ससर्गो भवेद् देवि विद्यामेना तदा जपेत् ।
कामसपुटिता मायामष्टोत्तरसहस्रकम् ॥३०४६॥

जप्त्वा पापात् प्रमुच्येत संगदोषभवात् शिवे ।
जाम्बूनदस्य मालिन्य परिशुद्धेद् यथाग्निना ॥३०४७॥

अनाचारस्य कलुष प्रायश्चित्ताग्निना दहेत् ।
प्रायश्चित्ते तु पापाना मूलमष्टसहस्रकम् ।
गायत्रीं वा जपेद् देवि सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥३०४८॥

अथ धृतकवचनाशप्रायश्चित्त यामले—

विधृत कवच देवि यदि नश्यति कर्हिचित् ।
तत्रोपाय प्रवक्ष्यामि शृणुष्व कमलानने ॥३०४९॥

उपविश्य तथाचम्य भूतशुद्धि विधाय च ।
षट्चक्राणि विचिन्त्याथ गुरु शिरसि चिन्तयेत् ॥३०५०॥

अनुलोमविलोमाभ्या मातृकाभ्या च सपुटम् ।
कवच प्रपठेद् देवि अर्कावृत्तिमनुक्रमात् ॥३०५१॥

ततो जपेन्महाविद्या सहस्र वा शत क्रमात् ।
विलिख्य कवच देवि नूतन साधयेत् तत ॥३०५२॥

तत्र प्राणान् प्रतिष्ठाप्य रक्तसूत्रेण वेष्टयेत् ।
वेष्टयित्वा महेशानि स्वर्णादौ स्थापयेद् बुध ॥३०५३॥

पचामृते पचगव्ये स्नापयित्वा शुभेऽहनि ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण प्राणास्तत्र नियोजयेत् ॥३०५४ ॥

सपूज्य देवतारूप कवच धारयेत् तत· ।

अथ यन्त्रनाशप्रायश्चित्त नवरत्नेश्वरे—

यदि प्रतिष्ठित यंत्र दैवाद् देवि विनश्यति ।
उपोषणमहोरात्रमादरेण समाचरेत् ॥३०५५॥
येन स्वर्णादिना यत्र द्रव्येण परिनिर्मितम् ।
विलिख्य यत्र तत्पत्रे देवता तत्र पूजयेत् ॥३०५६॥
यथालब्धोपचारैश्च अयुत प्रजपेन्मनुम् ।
तत प्रक्षाल्य तद् यत्र पीत्वान्ते भोजन चरेत् ॥३०५७॥
तावत्काल ब्रह्मचर्यं यावद् यंत्रं न लभ्यते ।
पुनर्नवं प्रतिष्ठाप्य यत्रे पूज्य यथा सुखम् ॥
व्रत समापयेद् धीमानतो देव प्रसीदति ॥३०५८॥

अथ पूजाकाले यन्त्रपतनप्रायश्चित्तम्—

यत्र यदि पतेद् देवि पूजाकाले कदाचन ।
लिंग वापि शिला वापि तत् फलं शृणु पार्वति ॥३०५९॥
आयुर्बन्धु धनानां च हानि स्यादुत्तरोत्तरम् ।
अतस्तत् पापशुद्ध्यर्थमेकरात्र त्रिरात्रकम् ॥३०६०॥
उपवासपरो मूल जपेत् साष्टसहस्रकम् ।
जवापुष्प च जुहुयात् तद्दशाश ततश्चरेत् ॥३०६१॥
तर्पणं मार्जन विप्रभोजनं शक्तिपूर्वकम् ।
एव कृते सुतुष्ट सन् देवोऽभीष्टं प्रदास्यति ॥३०६२॥

अथ मालानाशे पतने च प्रायश्चित्तम्—

माला यदि पतेद् हस्तादथ चैव विनश्यति ।
सहस्र चैव सजप्य ब्राह्मणान् भोजयेत् तत ॥३०६३॥
भोजन ब्राह्मणाना तु सर्वारिष्टविनाशनम् ।
गायत्रीं वा जपेत् साष्टशत भक्त्या समाहित ॥३०६४॥

महापातकयुक्तोऽपि गायत्रीं प्रजपेद् यदि ।
सत्य सत्य-महेशानि मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥३०६५॥
गायत्री स्वोपास्यगायत्रीम् ।
ततोऽपरा नवा माला तज्जातीया वरानने ।
गृह्णीयात् तत्कृते चैव न विघ्नैरभिभूयते ॥३०६६॥

अथवा–

छिन्ना भवति चेन्माला हस्ताद् वा पतिता तथा ।
प्रतिष्ठा पूर्ववत् कृत्वा पुनर्मन्त्र जपेत् सुधी ॥३०६७॥

अथ श्रीगुरुक्रोधे प्रायश्चित्तम्—

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
उपवास गुरुक्रोधे कृत्वा तं तु प्रसादयेत् ॥३०६८॥
यावत् प्रसत्ति नायाति न तावद् भोजन चरेत् ।
गुरौ प्रसन्ने भुजीत एव दोषो न विद्यते ॥३०६९॥

अथ अनिवेदितभोजन-प्रायश्चित्त मत्स्यसूक्ते—

अनिवेद्य न भुजीत यदाहाराय कल्प्यते ।

यामले–

अनिवेद्य महेशानि भुजान पातकी भवेत् ।
यत् यदा भक्ष्यते भक्ष्य तत्तदैव प्रदापयेत् ॥३०७०॥
अनिवेद्य तु भुजीत प्रायश्चित्तीभवेन्नर ।
फल पुष्प तु ताम्बूलमन्नपानादिक च यत् ॥३०७१॥
अनिवेद्य न भोक्तव्यमापत्कालेऽपि पार्वति ।
भुक्त्वाष्टशतमूल तु जप्त्वा पूतो भवेन्नर ॥३०७२॥
यो यद् देवार्चनरतः स तन्नैवेद्यभक्षक ।
शिवदत्त विष्णुदत्त गिरिजादत्तमेव वा ॥
ग्रासमात्रेण भोक्तव्यमन्यथा पातकी भवेत् ॥३०७३॥

अग्निपुराणेऽपि–

शिवदत्त विष्णुदत्त गिरिजादत्तमेव वा ।
नैवेद्यमुदरे कृत्वा नर सायुज्यमाप्नुयात् ॥३०७४॥

स्कदपुराणे-

वाणलिंगे स्वयभूते स्फाटिके हृदि सस्थिते ।
अत्र शतक्रतो पुण्य शभो नैवेद्यभक्षणात् ॥३०७५॥

आदित्यपुराणे-

निर्माल्य धारयेद् यस्तु शिरसा पार्वतीपते ।
स राजसूययज्ञस्य फलमाप्नोत्यनुत्तमम् ॥३०७६॥ इति ।

अथ वैष्णवविषये गौतमीये-

शालग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके ।
प्रक्षेपण प्रकुर्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥३०७७॥
विष्णोः पादोदक पीत्वा कोटिजन्माघनाशनम् ।
तदेवाष्टगुण पाप भूमौ बिन्दुनिपातनात् ॥३०७८॥
विष्णुपादोदकात् पूर्व विप्रपादोदक पिबेत् ।
विरुद्धमाचरन् मोहादात्महा स निगद्यते ॥३०७९॥
पृथिव्या यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
स सागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥३०८०॥

वासिष्ठे-

केशवाग्रे नृत्यगीत न करोति हरे दिने ।
वह्निना किं न दग्धोऽसौ गत किं न रसातलम् ॥३०८१॥

अगस्त्यसहितायाम्-

हत्या हन्ति यदङ्घ्रिजापि तुलसी स्तेय च तोय पदे
नैवेद्य वहुमद्यपानजनित गुर्वंगनासगजम् ।
श्रीशाधीनमतिस्थितिर्हरिजनैस्तत्सगज किल्विष
शालग्रामशिलानृसिहमहिमा कोप्येष लोकोत्तर ॥३०८२॥

शालग्रामचिह्नकथन तत्रैव विष्णुधर्मोत्तरेऽपि-

शिव वाक्यम्-

कुत्र वासश्च ते विष्णो किमाधार किमाश्रय ।
कुत्र सपूजितोऽभीष्ट भक्ताना त्व प्रदास्यसि ॥३०८३॥

विष्णोरुत्तरम्–

निवसामि सदा शंभो शालग्रामशिलान्तरे ।
तत्रैव मे सुचिह्नानि तन्नामानि च सम्शृणु ॥३०८४॥
द्वारदेशे समे चक्रे दृश्यते नान्तर यदि ।
वासुदेव स विज्ञेय शुक्लश्चैवातिशोभन ॥३०८५॥
सुपिर छिद्रबाहुल्य दीर्घाकार तु तद् भवेत् ।
अनिरुद्धस्तु पीताभो वर्तुलश्चातिशोभन ॥३०८६॥
रेखात्रयांकितो द्वारि पद्मेनापि विचिह्नित. ।
श्यामो नारायणो देवो नाभिचक्रे तयोत्तमे ॥३०८७॥
दीर्घरेखासमीपे तु दक्षिणे सुपिरान्वित ।
ऊर्ध्वं मुख विजानीयात् सुपिरं हरिरूपिणम् ॥ ३०८८॥
कामद मोक्षद चैव अर्थद च विशेपत ।
परमेष्ठी च शुक्लाभ पद्मचक्रसमन्वित ॥३०८९॥
कि वाऽऽकृतिस्तथा पृष्ठे सुचिर चातिपुष्कलम् ।
कृष्णवर्णस्तथा विष्णु मूले चक्रे च शोभने ॥३०९०॥
द्वारोपरि तथा रेखा दृश्यते मध्यदेशत ।
कपिलो नरसिंहस्तु पृथक् चक्रेण शोभित ॥३०९१॥
ब्रह्मचर्येण पूज्योऽसावन्येपा विघ्नदो भवेत् ।
वराहशक्तिलिंगस्तु चक्र च विपम स्मृतम् ॥३०९२॥
इन्द्रनीलनिभ स्थूल त्रिरेखान्वितमुत्तमम् ।
दीर्घकाचनवर्णाभा बिन्दुत्रयविभूपिता ॥३०९३॥
मत्स्यनाम्नी शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
कूर्मस्तथोन्नत पृष्ठे वर्त्तुलावर्तभूपित ॥३०९४॥
हरित वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन तु चिह्नित ।
हयग्रीवो हयाकारो रेखात्रयविभूपित ॥३०९५॥
बहुबिन्दुसमाकीर्ण पृष्ठे नीलाभभूपित ।
तद् वैकुण्ठाधिपो नाम चक्रमेक तथा ध्वजम् ॥३०९६॥

द्वारोपरि तथा रेखा गुंजाकारा सुशोभना ।
श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया ॥३०९७॥
कदम्बकुसुमाकारो रेखापचविभूषित ।
वर्तुलश्चातिह्रस्वश्च वामन परिकीर्तित ॥३०९८॥
अतसीकुसुमप्रख्यो विन्दुना परिशोभित ।
सुदर्शनस्ततो देवः श्यामवर्णो महाद्युति ।
वामपार्श्वे गदाचक्रे रेखैका दक्षिणे तथा ॥३०९९॥
दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रविभूषित ।
दूर्वाभ द्वारि सम्पूर्णं पीतरेखं तथा स्मृतम् ॥३१००॥
नानावर्णो ह्यनन्त स्यान्नानाचिह्नेन चिह्नित ।
अनेकमूर्तिसभिन्न सर्वकामफलप्रद ॥३१०१॥
दृश्यते शिखरे लिंगं शालग्रामशिलाभवम् ।
स स्याद् योगेश्वरो देवो ब्रह्महत्या व्यपोहति ॥३१०२॥
अतिरक्त पद्मनाभ पद्मचक्रसमन्वित ।
आपद्गतमपि कुर्यादीश्वर दु खवर्जितम् ॥३१०३॥
वक्राकृति हिरण्याक स्वर्णगर्भं विनिर्दिशेत् ।
सुवर्णरेखा बहुलं स्फटिकद्युतिभूषितम् ॥३१०४॥
अतिस्निग्धा सिद्धिकरी शिला कीर्ति ददाति च ।
पांडुरा पापहरिणी पीता पुत्रफलप्रदा ॥३१०५॥
नीला प्रयच्छती लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिनी ।
रूक्षोद्वेगकरी नित्यं वक्रा दारिद्र्यकारिणी ॥३१०६॥
सुदर्शनमेकचक्र लक्ष्मीनारायणद्वयम् ।
त्रितय त्वाच्युत ज्ञेय चतुश्चक्र जनार्दनम् ॥३१०७॥
पचचक्र वासुदेव षट्क प्रद्युम्नसज्ञकम् ।
सकर्षण सप्तचक्र अष्टयुक् पुरुषोत्तमम् ॥३१०८॥
अक्रूर नवसयुक्त दशयुक्त दशात्मकम् ।
एकादश चानिरुद्ध द्वादश द्वादशात्मकम् ।

चक्रसंख्याविभेदेन भिन्न द्वादशरूपकम् ।।३१०६।। इति ।

अथ द्वादशशुद्धिस्तु वैष्णवानामिहोच्यते ।
गृहोपसर्पण चैव तयानुगमन हरे ।।३११०।।

भक्त्या प्रदक्षिण चैव पादयो शोधन पुन ।
पूजार्थं पत्रपुष्पाणा भक्तेन त्रोटन हरे ।।३१११।।

करयो सर्वशुद्धीनामिय शुद्धि विशिष्यते ।
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामथ कीर्तनम् ।।३११२।।

भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचस शुद्धिरिष्यते ।
तत्कथाश्रवण चैव तस्योत्सवनिरूपणम् ।।३११३।।

श्रोत्रयो र्नेत्रयोश्चैव शुद्धि सम्यगिहोच्यते ।
पादोदक च निर्माल्य मालानामपि धारणम् ।।३११४।।

उच्यते शिरस शुद्धि पुसस्तस्य हरे पुन ।
आघ्राण गधपुष्पादे र्निर्माल्यस्य तपोधन ।।३११५।।

विशुद्धि स्यादनन्तस्य घ्राणस्यापि विधीयते ।
पत्रपुष्पादिक यच्च कृष्णपादयुगार्पितम् ।।
तदेक पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत् ।।३११६।।

तुलसीग्रहणे विशेष –

वैधृतौ च व्यतीपाते भौमभार्गवभानुषु ।
पर्वद्वये च सक्रान्तौ द्वादश्या सूतकद्वये ।।३११७।।
तुलसीं ये विचिन्विन्ति ते छिन्दन्ति हरे शिर ।
नैव छिद्याद् रवौ दूर्वा तुलसीं निशि सध्ययो ।।३११८।।
धात्रीपत्र कार्तिके च पुण्यार्थी मतिमान्नर ।
द्वादश्या तु दिवास्वापस्तुलस्यावचयस्तथा ।
विष्णोश्चैव दिवास्नान वर्जनीय सदा बुधै ।।३११९।।

अथ वैष्णवतिलके विशेष ब्रह्माण्डपुराणे, गौतमीये च–

ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजु सौम्य ललाटे यस्य दृश्यते ।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशय ।।३१२०।।

अशुचिश्चाप्यनाचारो मानस पापमाचरेत् ।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्राकितो नर ॥३१२१॥
मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थं चतुरानन ।
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रमतन्द्रित ॥३१२२॥
ललाटे च गदा कार्या मूर्ध्नि चाप शरास्तथा ।
नदक चैव हृन्मध्ये शख चक्र भुजद्वये ॥३१२३॥
शखचक्राकितो विप्र श्मशाने म्रियते यदि ।
प्रयागे या गति प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद ॥३१२४॥ इति ।

तदकन तु गोपीचदनादिना न तु तप्ताकन, तत्कृते महद्विरोधापत्ति ।

अथ शैवविषये, भविष्ये—

बाणलिगानि राजेन्द्र रम्याणि भुवनत्रये ।
तेनैव च कृतार्थः स्याद् बहुभि किमु सुव्रत ॥३१२५॥
न प्रतिष्ठा न संस्कारस्तेषामावाहन तथा ।
बाणलिगेषु चण्डाशो न हि निर्माल्यकल्पना ॥३१२६॥
सर्व बाणार्पित ग्राह्यं भक्त्या भवतरनन्यया ।
बाणलिगे स्वयभूते चन्द्रकाते हृदि स्थिते ।
चान्द्रायणशत ज्ञेय शभो नैवेद्यभक्षणात् ॥३१२७॥

तथा च हेमाद्रौ कालोत्तरे—

नर्मदाया देविकाया गगाया मुनिसेवित ।
सन्त्यसख्यानि पुण्यानि लिगानि च षडानन ॥३१२८॥
इन्द्रादिदेवपूज्यानि तच्चिह्नै श्चिह्नितानि च ।
सदा सनिहितस्तत्र शिव सर्वार्थसाधक ॥३१२९॥
पक्वजबूफलाकार कुक्कुटाण्डसमाकृतिम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रद चैव बाणलिगमुदाहृतम् ॥३१३०॥
कर्पके बाणलिगे तु पुत्रदाराक्षयो भवेत् ।

चर्पटे पूजिते वाणे गृहभगो भवेद् ध्रुवम् ।
लिंगे कलिकया युक्ते व्याधिमान् पूजको भवेत् ॥३१३१॥
अर्च्यं स्यात्कापिल लिंग मुनिभि र्मोक्षकाङ्क्षिभि ।
लघु वा कपिल स्थूल गृहस्थो नार्चयेत् क्वचित् ॥३१३२॥
तीक्ष्णाग्र वक्रशीर्षं च वाणलिंग विवर्जयेत् ।
अतिस्थूल चातिकृश स्वल्प वा भूषणान्वितम् ॥३१३३॥
गृही विवर्जयेद् यत्नाद् भुक्तिमुक्त्यर्थकामुक ।
पूजितव्य गृहस्थेन वाण च भ्रमरोपमम् ॥३१३४॥
तत्रापि शिवपीठ स्यान्मन्त्रसस्कारवर्जितम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रद बाण सर्ववर्णोत्तमोत्तमम् ॥३१३५॥

लिंगपरीक्षा सूतसहितायाम्–

सप्तकृत्त्वस्तुलारूढो वृद्धिमेति न हीयते ।
वाणलिंग तदाख्यात शेष नार्मदमुच्यते ॥३१३६॥
त्रिपचवार यस्यैव तुलासाम्य न विद्यते ।
तदा बाण समाख्यात शेष पाषाणसभवम् ॥३१३७॥
नद्या वा प्रक्षिपेद् भूयो यदा तदुपलभ्यते ।
वाणलिंगं तदा विद्धि चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥३१३८॥

केदारखण्डे–

रत्नलिंग तत स्थाप्य वाणात् कोटिगुण च यत् ।
सिद्धयो रत्नलिंगेषु अणिमाद्या सुसस्थिता ॥३१३९॥
रत्नधातुमयान्येव लिंगानि कथितान्यपि ।
प्रशस्तान्येव पूज्यानि सर्वकामप्रदानि च ।
एतेषामपि सर्वेषा काश्मीरश्च विशिष्यते ॥३१४०॥
काश्मीरादिषु लिंगेषु वाणलिंग विशिष्यते ।
वाणलिंगात् पर नान्यत् पवित्रमिह विद्यते ।
ऐहिकामुष्मिक सर्वं पूजाकर्तु प्रयच्छति ॥३१४१॥

लिंगमस्तक पुष्पादि शू य न कुर्यात्, तच्चोक्त लिंगपुराणे-

यस्य राष्ट्रे तु लिंगस्य मस्तक शून्यलक्षणम् ।
तस्यालक्ष्मी महारोगो दुर्भिक्ष वाहनक्षय ॥३१४२॥

तस्मात्परिहरेद् राजा धर्मकामार्थमुक्तये ।
शून्ये लिंगे स्वय राजा राष्ट्र चैव प्रणश्यति ॥३१४३॥इति ।

चिह्नानि यथा वायवीयसहितायाम्-

मधुपिंगलवर्णाभ कृष्णकुण्डलसयुतम् ।
स्वयभूलिंगमाख्यातं सर्वसिद्धनिषेवितम् ॥३१४४॥

नानावर्णसमाकीर्णं जटाशूलसमन्वितम् ।
नीलकण्ठ समाख्यात लिंग पूज्य सुरासुरै ॥३१४५॥

शुक्लाभ शुक्लकेश च नेत्रत्रयसमन्वितम् ।
त्रिलोचन च तल्लिंग सर्वपापनिषूदनम् ॥३१४६॥

ज्वलत्पिंगजटाजूट कृष्णाभ स्थूलविग्रहम् ।
कालाग्निरूद्रसज्ञ तल्लिंग तत्त्वनिषेवितम् ॥३१४७॥

मधुपिंगलवर्णाभं श्वेतयज्ञोपवीतकम् ।
त्रिपुरारीति विख्यात प्रलयाब्धिसमन्वितम् ॥३१४८॥

शुभ्राभ पिंगलजटमिन्दुमालाधर परम् ।
त्रिशूलधरमीशान लिंग सर्वार्थसाधकम् ॥३१४९॥

त्रिशूल डमरु चैव शुभ्रमर्धाङ्गभागकम् ।
अर्धनारीश्वराख्यात सर्वदेवैरभिष्टुतम् ॥३१५०॥

ईषद्रक्तमय काय शूलदीर्घसमुज्ज्वलम् ।
महाकाल समाख्यात धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
इति ते कथित गुह्य लिंगचिह्न महेशितु ॥३१५१॥ इति ।

विना भस्म त्रिपुण्ड्रेण विना रुद्राक्षमालया ।
पूजितोऽपि महादेवो न स्यात्तस्य फलप्रद ॥३१५२॥

व्रते पाशुपते नित्य भस्मना यस्त्रिपुण्ड्रकम् ।

धारयेत् सतत मर्त्य' शिव एव न चापर ।।।।३१५३।।
त्रिपुण्ड्रेन विना कुर्याद् यत्किंचिद् वैदिकीं क्रियाम् ।
सा निष्फला भवत्येव ब्रह्मणा च कृता यदि ।।३१५४।।
शैवो वा वैष्णवो वापि शाक्तो वा सौर एव वा ।
त्रिपुण्ड्रेण विना पूजा कुर्वाणो यात्यधोगतिम् ।
सर्वे त्रिपुण्ड्रक कुर्यु र्भस्मनापि च सर्वदा' ।।३१५५।। इति ।

ईशानसहितायाम्, वायवीये च–

पचभूतमय भस्म तानि ब्रह्ममयानि च ।
तैरेव धारयन् मर्त्यस्तस्मिन् लीयेत वै ध्रुवम् ।।३१५६।।
सद्योजाताद् भवेत् पृथ्वी वामदेवाद् भवेज्जलम् ।
अघोराच्च भवेदग्निस्तत्पुरुषाद् वायुरुच्यते ।।३१५७।।
ईशानाद् गगनाकार पंचब्रह्ममयं जगत् ।
शिवाग्ने र्भस्म सग्राह्यमग्निहोत्रोद्भव तु वा ।। ३१५८।।
वैवाह्याग्न्युद्भव वापि पक्व शुचि सुगन्धि च ।
कपिलाया शकृत् शस्त गृहीत गगने पतत् ।।३१५९।।
न क्लिन्न नातिकठिन न दुर्गन्धि न चोषितम् ।
उपर्यध परित्यज्य गृह्णीयात् पतित यदि ।।३१६०।।
यद्वा धरामसस्पृष्ट सद्येनानीय गोमयम् ।
वामेन पिण्ड्य सशोष्य ततोऽघोरेण निर्दहेत् ।।३१६१।।
तत्पुरुषेण समुद्धृत्य चेशानेन विशोधयेत् ।
इत्थ तु सस्कृत भस्म मानस्तोकेन गृह्य च ।।३१६२।।
पचभि र्मन्त्रयेत् तच्च अग्निरित्यादि मत्रत ।
विमृज्यागानि सस्पृश्य पुनरादाय मत्रत ।।३१६३।।
तस्माद् ब्रह्मेति यजुषा मन्त्रयेद् रुद्रसख्यया ।
प्रणवाद्यै चतुर्थ्यन्तै र्हुं दन्तै र्नाममंत्रकै ।।३१६४।।

(१) इद भविष्ये, शिवधर्मे धमपुराणे च ।

तथा पचाक्षराद्यैश्च ललाटादिषु धामसु ।
ललाटे ब्रह्म विज्ञेयो हृदये हव्यवाहन ।
नाभौ स्कन्दो गले पूषा रुद्रो दक्षिणबाहुके ॥३१६५॥
आदित्यो बाहुमध्ये च शशी च मणिबन्धके ।
वामदेवो वामबाहौ बाहुमध्ये प्रभजन ॥३१६६॥
मणिबधे च वसव पृष्ठदेशे हर स्मृत ।
शभु ककुदि संप्रोक्त परमात्मा शिर स्मृत ॥३१६७॥
मध्यमानामिकागुष्ठैरेतत्स्थानेषु धारयेत् ।
त्र्यबक च पठेदन्ते शिवस्मरणपूर्वकम् ॥३१६८॥
वर्तुलेन भवेद् व्याधि दीर्घेण च तपक्षय ।
ललाटयुगमानेन त्रिपुण्ड्र कारयेद् बुध ॥३१६९॥
आमध्याह्न जलेनैव तदूर्ध्वं तु जल विना ।
अपक्वमतिपक्व च सत्याज्य भसित सितम् ॥३१७०॥
देवेऽनुद्वासिते यज्ञभस्मनो ग्रहण मतम् ।
उद्वासने कृते यस्माच्चण्डभस्म प्रजायते ॥३१७१॥ इति ।

अथ रुद्राक्षधारण यामले—

अरुद्राक्षधरो भूत्वा यद् यत् कर्म च वैदिकम् ।
करोति जपहोमादि तत्सर्व निष्फल भवेत् ॥३१७२॥
निश्छिद्राश्च सुपक्वाश्च रुद्राक्षा धारणे स्मृताः ।
विना मत्र न बिभृयाद् रुद्राक्षान् भुवि मानव ॥३१७३॥
पचामृते पचगव्ये स्नापयित्वा तु धारयेत् ।
रुद्राक्षस्य प्रतिष्ठाया मत्र पचाक्षरः स्मृत ॥३१७४॥
त्र्यबकादिस्तथा मत्र प्रतिष्ठाया प्रयोजयेत् ।
प्रणव च समुच्चार्य मायान्ते मातृका तथा ॥३१७५॥
पचाक्षर त्र्यबक च समुच्चार्य कुशोदके ।
पचगव्ये च प्रक्षिप्य सद्योजात पठेत्तत ॥३१७६॥

शुद्धोदकेन प्रक्षाल्य वामेनालिप्य चदनं ।
धूपयेत्तामघोरेण अन्य तत्पुरुषेण च ॥३१७७॥
ईशान प्रजपेद् विद्वान् दशधा च मणि प्रति ।
अघोरेण तथा मेरु शतधा मत्रयेत्सुधी ॥३१७८॥
पूज्य पचोपचारैस्ता धारयेद् देवताधिया ।
तुलसीकाष्ठजा चैव धारयेद् वैष्णवोत्तम ॥३१७९॥
विष्णुमत्रमनुस्मृत्य वर्जयेदन्यकाष्ठजाम् ।
अष्टोत्तरशत कुर्याच्चतु पचाशदेव वा ॥३१८०॥
सप्तविंशतिमाना वा हीना माला न युज्यते ।
सप्तविंशतिरुद्राक्षमालया देहसस्थया ॥३१८१॥
य करोति नर पुण्य सर्व कोटिगुण भवेत् ।
शिखाया हस्तयो कण्ठे कर्णयोश्चापि यो नर ॥३१८२॥
रुद्राक्षं धारयेद् भक्त्या शैव लोकमवाप्नुयात् ।
नववक्त्रन्तु रुद्राक्ष धारयेद् वामके भुजे ॥३१८३॥
चतुर्दशमुख चैव शिखाया धारयेद् बुध ।
एकवक्त्र शिव साक्षाद् ब्रह्महत्या व्यपोहति ॥३१८४॥
द्विवक्त्रो हरगौरी स्याद् गोवधाद्यघनाशकृत् ।
त्रिवक्त्रोऽग्निस्त्रिजन्मोत्थपापराशिं प्रणाशयेत् ॥३१८५॥
चतुर्वक्त्रः स्वय ब्रह्मा ब्रह्महत्या व्यपोहति ।
पचवक्त्रस्तु कालाग्निरगम्याभक्ष्यपापनुत् ।
षड्वक्त्रस्तु ग्रह प्रोक्तो गर्भहत्या व्यपोहति ॥३१८६॥
सप्तवक्त्रस्त्वनत स्यात् स्वर्णस्तेयादिपापनुद् ।
विनायकोऽष्टवक्त्र स्यात् सर्वाऽनृतविनाशक ॥३१८७॥
भैरवो नववक्त्रस्तु शिवसायुज्यकारक ।
दशवक्त्र स्मृतो विष्णु र्भूतप्रेतपिशाचहा ॥३१८८॥

एकादशमुखो रुद्रो नानायज्ञफलप्रदः ।
द्वादशास्यो भवेदर्क सर्वक्रतुफलप्रद ॥३१८९॥
त्रयोदशमुख काम सर्वकामफलप्रद. ।
चतुर्दशास्य श्रीकण्ठो वंशोद्धारकर पर ॥३१९०॥
रुद्राक्षे देहसस्थे तु कुक्कुरो म्रियते यदि ।
सोऽपि रुद्रपद याति किं पुन र्मानवा गुह ! ॥३१९१॥
यो ददाति द्विजातिभ्यो रुद्राक्ष भुवि षण्मुख ! ।
तस्य प्रीतो भवेद् रुद्र प्रयच्छति निज पदम् ॥३१९२॥

अन्यच्च–

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशति द्वे
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगता द्वादश द्वादशैव ।
बाह्वोरिन्दो कलाभि र्नयनयुगकृते चैकमेक शिखायां
वक्षस्यष्टाधिक य कलयति शतक स स्वय नीलकण्ठ ॥३१९३

सोमवारे त्रयोदश्यां चतुर्दश्या निशामुखे ।
सक्रान्तौ बिल्वपत्र च नो छिद्यान्मतिमान्नर ॥३१९४॥

इति स्मृतिपुराणतन्त्रेभ्य सगृहीतम् ।

अथारिमन्त्रप्रायश्चित्तम्–

यद्यज्ञानादरिर्मन्त्रो गृहीत साधकेन च ।
त्यागस्तस्य प्रकर्तव्य शास्त्रप्रोक्तेन वर्त्मना ॥३१९५॥

यथा मालिनीविजये–

अथारिमन्त्रत्यागस्य विधि सम्यक् प्रकाश्यते ।
शुचि समाहितो भूत्वा प्रारभेत् प्रवरे दिने ॥३१९६॥
अशेषदु खनाशाय देशिक प्रवर विधिम् ।
तत्रादौ रम्यभवने कुम्भ दीक्षाविधिक्रमात् ॥३१९७॥
मण्डले स्थापयेद् विद्वान् पूरयेत् त जलै शुभै ।
विलोममंत्रपाठेन तत्राऽऽवाह्य तु देवताम् ॥३१९८॥
सकलीकृत्य सपूज्यावरणानि प्रपूजयेत् ।
एव सावरणामिष्ट्वा मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ॥३१९९॥

हुत्वा विलोममन्त्रेण सर्पिषा गोरपि द्विज ।
अष्टोत्तरसहस्र वा अष्टोर्ध्वं वा शत सुधी ॥३२००॥
ब्रह्मार्पणेन मनुना तथान्ते तर्पयेत् प्रभुम् ।
ततो यथावद् दुग्धान्नै र्देवताभ्यो बलि हरेत् ॥३२०१॥
विदिक्षु दिक्षु च तथा वक्ष्यमाणै मंन्त्तमै. ।
आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते ॥३२०२॥
नमस्तुभ्य गृहाणेम पुष्पधूपादिक बलिम् ।
आयाहि तेजसा नाथ हव्यवाह वरप्रद ॥३२०३॥
गृहाण पुष्पधूपादिबलिमेन सुपूजितम् ।
प्रेतराज समायाहि भिन्नाजनसमप्रभ ॥३२०४॥
बलि दत्त गृहीत्वेम सुप्रीतो वरदो भव ।
नमस्ते रक्षसा नाथ निर्ऋते त्वमिहागत ॥३२०५॥
गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् ।
एहि पश्चिमदिक्पाल जलनाथ नमोऽस्तु ते ॥३२०६॥
भक्त्या निवेदिता पूजा गृहीत्वा प्रीतिमावह ।
प्रभजन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छद ॥३२०७॥
मया प्रयुक्त विधिवद् गृहाण बलिमादरात् ।
कुवेरतारकाधीशावागच्छेता सुरोत्तमौ ॥३२०८॥
पुष्पधूपादिभि प्रीतौ भवेता वरदौ मम ।
ईशत्वमेव भगवन् सर्वविद्याश्रय प्रभो ॥३२०९॥
पूजित पुष्पधूपाद्यै प्रीतो भव विभूतये ।
आयाहि सर्वलोकाना नाथ ब्रह्मन् समर्चनम् ॥३२१०॥
गृहाण सर्वान् विघ्नान् मे निवर्तय नमोऽस्तु ते ।
आगच्छ वरदाव्यक्त विष्णो विश्वस्य नायक ।
पूजित परया भक्त्या भव त्व सुखदो मम ॥३२११॥
तत सपरिवारा च पूजयेन्मन्त्रदेवताम् ।
मंत्रेण विपरीतेन पुष्पदीपोपचारकै ॥३२१२॥

ततस्तु प्रार्थयेद् विद्वान् पूजिता मन्त्रदेवताम् ।
आनुकूल्यमनालोच्य मया तरलबुद्धिना ॥३२१३॥
यदुपात्त पूजित च प्रभो मन्त्रस्वरूपकम् ।
तेन मे मनस क्षोभमशेष विनिवर्तय ॥३२१४॥
पाप प्रतिहत चास्तु भूयात् श्रेय सनातनम् ।
तनोतु मम कल्याण भाविनी भक्तिरेव ते ॥३२१५॥
इति सप्रार्थ्य मन्त्रेश मन्त्र पत्रे विलोमत ।
लिखित्वाऽमलकर्पूरचदनेन समर्चयेत् ॥३२१६॥
कलशोपरि सस्थाप्य भक्त्या परमया युत ।
तत्पत्र मतिमान् पश्चाद् बद्ध्वा निजशिरस्यथ ॥३२१७॥
स्नायात् पूजितकुम्भस्य तोयै मंन्त्रमयै शुभै ।
पुनश्चान्येन तोयेन कुभमापूर्य सयत ॥३२१८॥
तन्मध्ये मन्त्रपत्र च नि क्षिप्याथ प्रपूजयेत् ।
तं कुभ निम्नगातीरे शुद्धे वाथ जलाशये ॥३२१९॥
नि क्षिपेदथ विप्राश्च यथाशक्त्या प्रभोजयेत् ।
इत्थ कृतविधानस्य रिपुमंत्रोद्भवा रुज ॥३२२०॥
नश्यन्त्येव न सदेह क्रमाच्चित्तप्रसन्नता ।
जायतेऽतीव सपन्नो वर्धते तत्कुल क्रमात् ॥३२२१॥

इति श्रीमदागमरहस्य सत्सग्रह प्रायश्चित्तादिकथन नाम
अष्टादश पटल ॥१८॥

एकोनविंशः पटलः ।

अथ मन्त्रशुद्धि ।
तद्यथा–
कुलाकुल राशितारा कथहाकडमौ तथा ।
धनर्णं चेति षट्चक्र प्रोक्त वै मन्त्रशोधने ॥३२२२॥

वाराहीतन्त्रे-

ताराशुद्धि वैष्णवाना कोष्ठशुद्धि शिवस्य च ।
ताराशुद्धिस्त्रैपुरेऽपि गोपालेऽकडम स्मृत ॥३२२३॥

तन्त्रान्तरे-

पिण्डे तारे स्वप्नलब्धे पञ्चर्णे प्रासादार्कत्रैपुरे नारसिंहे ।
मालामायामातृवाराहकामास्त्रे नो दोष स्त्र्याप्तवेदेषु रत्ने॥३२२४॥

अन्यच्च-

गारुडादिषु सौरेषु वैष्णवे बौद्धजैनयो ।
महाकूटेषु मन्त्रेषु नैव सिद्धादिशोधनम् ॥३२२५॥

अन्यच्च-

आज्ञासिद्धास्तु ये मन्त्रा योगिनीना प्रसादत ।
लब्धा ये केऽपि ते मन्त्रा सर्वकामफलप्रदा ॥३२२६॥

एतद् व्यतिरिक्तेष्वावश्यक शोधनम् ।

यदुक्त कादिमते-

मन्त्रो वा यदि वा विद्या स्तवो वा सूक्तमेव वा ।
अर्थवधुशरीराण्यशुद्धो नाशयति ध्रुवम् ॥३२२७॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दुष्ट सर्वत्र वर्जयेत् ।
साधकस्य तु नामादि वर्णमारभ्य शोधयेत् ॥३२२८॥
मन्त्राद्यक्षरपर्यन्त सर्वत्रैव विनिश्चय ।
जन्मोत्थ वा प्रसिद्ध वा नाम ग्राह्य विचक्षणै ॥३२२९॥

यच्च पिंगलामते-

प्रसिद्ध यद् भवेन्नाम किं वास्य जन्मनाम च ।
यतीना पुष्पपातेन गुरुणा यत् कृत भवेत् ।
नाम्नस्तस्यैव वर्णानि विभक्तानि च कारयेत् ॥३२३०॥

अन्यत्रापि-

सुप्तो जागर्त्ति येनाऽसौ दूरस्थश्च प्रभाषते ।
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमत्र तु ॥३२३१॥
राश्यर्णादिकमन्त्राणा स राशि र्जन्मराशित ।
विचार्यमनुराश्यन्त रिपुहीन मनु जपेत् ॥३२३२॥

यदि राशिप्रकरणपठित न भवति, तदा पूर्वसमनमिति रहस्यम् ।

तच्च सनत्कुमारीये-

मातृपितृकृत नाम त्यक्त्वा शर्मादिसेवकान् ।
श्रीवर्णं च ततो विद्वान् चक्रेषु योजयेत् क्रमात् ॥३२३३॥

तत्र-

कुलाकुलस्य भेद हि वक्ष्यामि मन्त्रिणामिह ।
वाय्वग्निभूजलाकाशा पचाशल्लिपय क्रमात् ॥३२३४॥

पच ह्रस्वा पच दीर्घा बिन्द्वन्ता सन्धिसभवा ।
कादय पचश षक्षलसहान्ता समीरिता ॥३२३५॥

तद्यथा-

१. अ आ ए क च ट त प य षा मारुता ।
२. इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षा आग्नेया ।
३ उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळा पार्थिवा ।
४ ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व शा वारुणा ।
५. लृ ॡ अ ङ ञ ण न म स हा नाभसा ।

साधकस्याक्षर पूर्वं मन्त्रस्यापि तदक्षरम् ।
यद्येकभूतदैवत्य जानीयात् स्वकुल हि तत् ॥३२३६॥

भौमस्य वारुण मित्रमाग्नेयस्यापि मारुतम् ।
मारुत पार्थिवाना च शत्रुमाग्नेयमभसाम् ॥३२३७॥

चकारात् आग्नेय पार्थिवाना शत्रु ।

तच्च रुद्रयामले-

पार्थिवे वारुण मित्र तैजस शत्रुरीरितम् ।
नाभस सर्वमित्र स्याद् विरुद्ध नैव शीलयेत् ॥३२३८॥

अथ राशिचक्र मन्त्रकल्पद्रुमे-

रेखाद्वय पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुबेरभेदात् ।
एकैकमीशाननिशाचरे तु हुताशवाय्वो विलिखेत् ततोऽर्णान् ॥३२३९॥

वेदाग्निवह्नियुगलश्रवणाक्षिसख्यान्
पचेषुबाणशरपचचतुष्टयार्णान् ।
मेषादित प्रविलिखेत् सकलास्तु वर्णान्
कन्यागतान्प्रविलिखेदथ शादिवर्णान् ॥३२४०॥

यथा–

१. अ आ इ ई मेष । २ उ ऊ ऋ वृष· ।

३. ॠ ऌ ॡ मिथुनम् । ४. ए ऐ कर्कट· ।

५. ओ औ सिंह· । ६. अं अ श ष स ह ल क्ष कन्यका ।

७. कवर्ग, तुला । ८. चवर्गो वृश्चिक ।

६ टवर्गो धनु । १०. तवर्गो मकर ।

११. पवर्ग कुभ । १२. यवर्गो मीन ।

तन्त्रान्तरे राशीना सज्ञा–

लग्न धन भ्रातृबधुपुत्रशत्रुकलत्रका ।

मरण धर्मकर्मायव्यया द्वादश राशय· ॥३२४१॥

नामानुरूपमेतेषा शुभाशुभफल दिशेत् ।

वैष्णवे तु शत्रुस्थाने बधु, बधुस्थाने शत्रुरिति पाठ· ।

स्वराशे र्मन्त्रराश्यन्त गणनीयं विचक्षणै ।

राशीना शुद्धता ज्ञेया त्यजेत् शत्रु मृति व्ययम् ।

साध्यारूयाक्षरराश्यन्तं गणयेत् साधकाक्षरात् ॥३२४२॥ इति ।

नारायणीये–

अज्ञाते राशिनक्षत्रे नामाद्यक्षरराशित ।

वैष्णवे तु रामार्चनचद्रिकायाम्–

एकपचनवबाधवा स्मृता द्वौ च षट् च दशमाश्च सेवका ।

वह्निरुद्रमुनयस्तु पोषका द्वादशाष्टचतुरस्तु घातका ॥३२४३॥

शाक्ते तु तन्त्रराजे–

तेन मंत्रादिवर्णेन नाम्नश्चाद्याक्षरेण च ।

गणयेद् यदि षष्ठं वाप्यष्टम द्वादशं तु वा ॥३३४४॥

रिपु र्मन्त्राद्यवर्णं स्यात् तेन तस्याहित भवेत् ।

षष्ठाष्टमद्वादशानि तस्माद् वर्ज्यानि यत्नत ॥३२४५॥

इति राशिचक्रम्।

अथ ताराचक्र, पिंगलातन्त्रे–

उत्तराद् दक्षिणाग्रा तु रेखा कुर्याच्चतुष्टयीम् ।

दश रेखा पश्चिमाग्रा कर्तव्या वरवर्णिनि ॥३२४६॥

अश्विन्यादिक्रमेणैव विलिखेत्तारका पुन. ।
वक्ष्यमाणविधानेन तन्मध्ये वर्णकान् न्यसेत् ॥३२४७॥
पक्षैकत्र्यब्धिरूपावनिभुजशशियुग्युग्मभूयुग्मपक्षा ।
युग्मैकद्वित्रिरूपानलशशिशशिभू द्वयेकपक्षाग्निचन्द्रा
वर्णा क्रमात्स्वरान्त्यौ तु रेवत्यशगताबुभौ ।
जन्म-सपद्-विपत्-क्षेम-प्रत्यरि साधको वध ॥३२४८॥
मित्र परममित्र च गणनीय स्वनामभात् ।
रसाष्टनवभद्राणि युगयुग्मगतान्यपि ।
इतराणि न भद्राणि परित्याज्या मनीषिभि ॥३२४९॥

अथ नक्षत्रात्मकत्वाद् गणयोनिमैत्र्योरावश्यकत्वम् ।

तथा च निबधे–

पूर्वोत्तरात्रय चैव भरण्यार्द्रा च रोहिणी ।
इमानि मानुषाण्याहु र्नक्षत्राणि मनीषिण ॥३२५०॥
ज्येष्ठा शतभिषक् मूला धनिष्ठा कृत्तिका तथा ।
चित्रा मघा विशाखा स्युस्तारा राक्षसदेवता ॥३२५१॥
अश्विनी रेवती पुष्य स्वाती हस्त पुनर्वसु
अनुराधा मृगशिर श्रवणा देवतारका ॥३२५२॥
स्वजातौ परमा प्रीतिर्मध्यमा भिन्नजातिषु ।
देवराक्षसयोर्वैरं नाश मानुषरक्षसो ॥३२५३॥

अथ योनिमैत्री–

[1]अश्वेभाजि फणिद्वय श्ववृषभुक् मेषौतवौ मूषकस्
चाखुर्गा क्रमशस्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुन सैरभी ।
व्याघ्रेणौ मृगमडलौ कपिरथो बभ्रुद्वय वानर
सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करटी योनिश्च भानामियम् ॥३२५४॥

---

१ अत्र साभिजिताष्टाविंशति २८। इभ =हस्ती वृषभुक्=मार्जार, ओतु=बिडाल । सैरभी=महिषी । मडल =श्वा । पशु =गौ । करटी=हस्ती । सर्पमूषकौ द्वौ द्वौ । मृगात्मज । नकुलौ द्वौ । अन्ये स्वैकैका ।

विरोधस्तु–

गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैण च बभ्रूरगम् ।
वैर वानरमेषक च सुमहत् तद्वद् विडालोन्दुरम् ॥ इति ।

यामले–

जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणानि यथातयम् ।
कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरि ॥३२५५॥

इति नक्षत्रचक्रम् ।

अथ अकथहचक्रम्–

ऊर्ध्वगा पचरेखा स्यु पचतिर्यग्गता पुन ।
कोष्ठानि तत्र जायन्ते षोडशैवात्र सलिखेत् ॥३२५६॥

इन्द्वग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्कदिक्षु
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु ।
पातालपचदशविश्वमिते च कोष्ठे
वर्णान् लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥३२५७॥

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मत्रादिमाक्षरम् ।
कोष्ठैश्चतुर्भिरेकैकमिति कोष्ठचतुष्टयम् ॥३२५८॥

यस्मिन् चतुष्के नामार्णस्तत्स्यात् सिद्धिचतुष्टयम् ।
प्रादक्षिण्यात् द्वितीय तत् साध्याख्य तत् तृतीयकम् ॥३२५९॥

सुसिद्धाख्य चतुर्थं तु सपत्नाख्य स्मृत बुधै ।
सिद्ध सिद्धयति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः ॥३२६०॥

सुसिद्धो ग्रहणादेव रिपुर्मूल निकृन्तति ।
सिद्धार्णा बाधवा प्रोक्ता साध्यास्ते सेवका स्मृता ॥३२६१॥

सुसिद्धा पोषका ज्ञेया शत्रवो घातका स्मृता ।
जपेन वधुसिद्धि स्यात् सेवकोऽधिकसेवया ॥३२६२॥

पुष्णाति पोषकोऽभीष्टघातको नाशयेद् ध्रुवम् ।
एककोष्ठे द्वयोर्वर्णे सिद्धसिद्धमुदाहृत ॥३२६३॥

तद् द्वितीये मन्त्रवर्णे सिद्धसाध्य उदाहृत ।
तृतीये सिद्धसुसिद्ध सिद्धारि स्याच्चतुर्थके ॥३२६४॥
नामार्णयुक् चतु कोष्ठात् मन्त्रवर्णश्चेद् द्वितीयके ।
चतुष्के तत्र पूर्णे तु यत्र नामाक्षरं स्थितम् ॥३२६५॥
तच्च कोष्ठं समारभ्य गणयेद् दक्षमार्गत ।
साध्यसिद्ध' साध्यसाध्यस्तत्सुसिद्धश्च तदरिपु ॥३२६६॥
एवं ज्ञेयस्तृतीये चेच्चतुष्के मन्त्रवर्णक ।
तदा पूर्वोक्तया रीत्या क्रमो ज्ञेयो विचक्षणै ॥३२६७॥
सुसिद्धसिद्धस्तत्साध्य' तत्सुसिद्धश्च तद्रिपु ।
चतुर्थे तु चतुष्के स्यादरिसिद्धोऽरिसाधक ।
तत्सुसिद्धोऽप्यंरिः पश्चादेवं मन्त्रं विचारयेत् ॥३२६८॥
सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाधक ।
सिद्ध. सुसिद्धोऽर्धजपात् सिद्धारि हन्ति बान्धवान् ॥३२६९॥
साध्यसिद्धो द्विगुणत साध्यसाध्यो निरर्थक ।
द्विगुणजपाव् तत्सुसिद्ध साध्यारि हन्ति गोत्रजान् ॥३२७०॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्धजपाव् तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारि कुटुम्बहा ॥३२७१॥
अरिसिद्ध सुत हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाम् ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरि हन्ति साधकम् ॥३२७२॥
पिंगलामते प्रत्यक्षर सिद्धादि गणयेत् ।
तद्यथा–
मातृपितृकृतं नाम यच्चाप्यभिजनै कृतम् ।
विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरवर्णविभेदत ॥३२७३॥
तथैव मन्त्रबीजानि तत शोधनमाचरेत् ।
नम प्रणवसंयोगावपभ्र शाक्षराणि च ।
वर्जयित्वैव गणन कर्तव्य च सुरेश्वरि ॥३२७४॥

१ मन्त्र श्रेपामपि वर्णानां शोधनाभाव ।

अन्यथापि-

विन्दुद्विविन्दुकोपध्मानीयजिह्वाग्रिसंभवान् ।
सहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च ॥३२७५॥

अपभ्रंशाक्षर लक्षौ त्यक्त्वा पढचतुष्टयम् ।
मत्राक्षरै सहैकत्र नामवर्णान् विशोधयेत् ॥३२७६॥

व्यंजनै र्व्यंजनान्येव स्वरै सार्धं स्वरास्तथा ।
आद्यमाद्येन सशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम् ॥३२७७॥

मत्रे वाप्यथवा नाम्नि वर्णा स्यु र्विषमा यदा ।
तदा मत्र समारभ्य सम यावत् प्रयोजयेत् ॥३२७८॥

आद्यन्तयो सिद्धवर्णौ मत्रे यस्मिन् वरानने ।
अचिरेणैव कालेन स तावत् सर्वसिद्धिद ॥३२७९॥

साध्यन्तादियुतो यस्तु सोऽतिकृच्छ्रेण सिध्यति ।
आदावन्ते सुसिद्धस्तु सर्वकामविभूतिद ॥३२८०॥

आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत् त्याज्य स मत्रक ।
आदौ सिद्धोऽन्त्यसाध्यो यो द्विगुणेन स सिध्यति ॥३२८१॥

आदौ सिद्ध सुसिद्धान्तो यथोक्तात् सिध्यते जपात् ।
आदौ सिद्धोऽन्त्यशत्रु र्य स त्याज्यो मन्त्रवित्तमै ॥३२८२॥

साध्यादिश्चैव सिद्धान्तस्त्रिगुणात् सिध्यते जपात् ।
आदौ साध्य सुसिद्धान्त प्रोक्तमार्गेण सिध्यति ॥३२८३॥

आदौ साध्यस्त्वन्तशत्रु र्यत्नात् त परिवर्जयेत् ।
सुसिद्धादिस्तु सिद्धान्तो यथोक्तादेव सिध्यति ॥३२८४॥

सुसिद्धादिस्तु साध्यान्तश्चतुर्गुणमपेक्षते ।
सुसिद्धादिश्चान्तशत्रु र्मध्यम परिकीर्तित ॥३२८५॥

आद्यादिस्त्वन्तसिद्धादि सोऽपि त्याज्योऽत्र कर्मणि ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते सिद्ध शुभफलप्रद
सर्वसाध्य उदासीन प्रोक्तस्तत्रे स्वयभुवा ॥३२८६॥

ईशानसंहितायामपि–

स्थानत्रितयसुसिद्धः सर्वानर्थांश्च साधयत्येव ।
स्थानत्रितयगतारिः मन्त्रो मृत्युर्न संदेहः ॥३२८७॥

सिद्धादिः साध्ययुग्मान्तो व्यर्थ इत्युच्यते बुधैः ।
सिद्धादिर्द्विसुसिद्धान्तः सर्वकार्यार्थसाधकः ।
सिद्धादिररियुग्मान्तो नाशकः सम्प्रकीर्तितः ॥३२८८॥

शत्रुर्भवति यदादौ मध्ये सिद्धस्तदन्तके साध्यः ।
कष्टेन कार्यसिद्धिस्तस्य फलं स्वल्पमेव भवेत् ॥३२८९॥

अन्ते यदि भवति रिपुः प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुगम् ।
कार्यं विलंबितं स्यात् प्रणश्यति क्षिप्रमेवान्ते ॥३२९०॥

आद्यन्तयोर्यदा साध्यो मध्ये सिद्धः प्रजायते ।
आद्यन्तयोर्यदा सिद्धो मध्ये साध्यः प्रजायते ॥३२९१॥

तावुभौ साध्यसिद्धौ तु जपाधिक्येन सिद्धयतः ।
'अरिसंपुटितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा भवेत् ॥३२९२॥

सर्वनाशकरो ज्ञेयः साधकस्य न संशयः ।
सिद्धान्तरितसाध्यस्तु सुसिद्धान्तरितोऽथवा ॥
शीघ्रं सिध्यति मन्त्रोऽयमीशानः स्वयमब्रवीत् ॥३२९३॥

सिद्धान्तरितशत्रुश्च सुसिद्धेनापि चेद् भवेत् ।
नासौ रिपुर्भवेन्मन्त्रः किंतु कृच्छ्रेण सिध्यति ॥३२९४॥

साध्यान्तरितसिद्धस्तु सुसिद्धोऽपि तथा यदि ।
सिध्यत्यतीवकष्टेन साधकस्य न चान्यथा ॥३२९५॥

रिपुणान्तरितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा यदि ।
ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत् ॥
रिपुणा दूषितो मन्त्रो नैव देयः कदाचन ॥३२९६॥

निबन्धे तु-

नाम्नो मन्त्रस्य वर्णांश्च लिखित्वा प्रतिवर्णकम् ।
सिद्धादिगणना कार्या यावन्मन्त्रसमापनम् ॥३२९७॥

नाम्नो यदि समाप्ति स्यात् पुन र्नाम लिखेत् सुधी. ।
एव सशोधितेऽपि स्यु र्भूरय साध्यवैरिण ॥३२९८॥

अल्पा सिद्धसुसिद्धाश्चेदशुभ व्युत्क्रमात् शुभम् ।
मतमित्य तु केषाचित् तदपि प्राज्यसमतम् ॥३२९९॥ इति ।

अथ अकडमचक्रम् ।

यामले-

रेखाद्वय पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुवेरभेदात् ।
महेशरक्षोऽधिपतिक्रमेण तिर्यक् तथा वायुहुताशनेन ॥३३००॥

आदिहान्तान् लिखेद् वर्णान् क्लीबस्वरविवर्जितान् ।
पूर्वतो यावदीशातमकानेकादिद्वादशान् ॥३३०१॥

तत्र नामार्णमारभ्य मन्त्राद्यर्णावधि क्रमात् ।
सिद्ध साध्य सुसिद्धोऽरि पुन सिद्धादय पुन ॥३३०२॥

नवैकपचके सिद्ध साध्य षड्दशयुग्मके ।
सुसिद्धस्त्रिसप्तके रुद्रे वेदाष्टद्वादशे रिपु ॥३३०३॥

सिद्ध सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमत ।
सुसिद्ध प्राप्तमात्रेण साधक भक्षयेदरि ॥३३०४॥

अथवान्यप्रकारेण वच्मि मन्त्राशक मनाक् ।
अकारादि हकारान्त मातृकाक्षरसचयम् ॥३३०५॥

एकैकार्णं क्रमान् न्यस्य चतुष्कोष्ठेषु मन्त्रवित् ।
सिद्ध साध्य सुसिद्ध च वैरिण गणयेत् क्रमात् ॥३३०६॥

यत्र कोष्ठे भवन्त्यर्णा नाममन्त्रसमुद्भवा ।
सिद्धसाध्यादिभेदेन वर्णैस्तै र्मन्त्रमादिशेत् ॥३३०७॥

अथवा मंत्रनामार्णकृते राशौ चतुर्हृते ।
सिद्ध साध्य सुसिद्धोऽरि मन्त्र एकादिशेषके ॥३३०८॥
सिद्धादिशोधन त्वित्थमथार्णधनशोधनम् ।
सप्त तिर्यग् लिखेद्रेखा द्वादशैवोर्ध्वगा पुन ॥३३०९॥
एव कृते तु जायन्ते कोष्ठा. षट्षष्टिसमिता ।
आद्यपक्तौ लिखेदकान् ते कथ्यन्ते यथाक्रमात् ॥३३१०॥
मनुनक्षत्रनेत्रार्कतिथिषड्वेदवह्नय ।
सायका वसवो नदा कोष्ठेषु क्रमत स्थिता ॥३३११॥
द्वितीयपक्तौ सलेख्या पचदीर्घान् विना स्वरान् ।
तृतीयपक्तौ काद्यर्णाष्टकाराता शिवैं मिता ॥३३१२॥
ठादिफान्ताश्चतुर्थ्यान्तु पंचम्या वादिहान्तिमा ।
षष्ठ्या पक्तौ क्रमाल्लेख्या अका कथ्यन्त एव ते ॥३३१३॥
दिक्चन्द्रमुनिवेदाष्टगुणसप्तेषु सागरा ।
रसा रामाश्च विज्ञेया' क्रमादका उदीरिता ॥३३१४॥
मत्रवर्णान् पृथक् कुर्यात् स्वरव्यजनरूपत ।
कोष्ठे यावति वर्ण स्याद् गुणयेत् तावदतिकम् ॥३३१५॥
कोष्ठोपरिस्थेनाकेन सर्ववर्णेष्वय विधि ।
दीर्घाक्षराणामकास्तु ज्ञेया लघ्वक्षरस्थिता. ॥३३१६॥
एकीकृत्वाखिलानकानष्टभि विभजेत् पुन ।
शेषोऽङ्को मत्रराशि स्यान्नामवर्णेष्वय विधि. ॥३३१७॥
अथ पक्तिस्थितैरकं गुणनीयास्तु तेऽखिला ।
अधमर्णोऽधिको राशिरूनोराशि धनी स्मृत. ।
मत्रो यदाऽधमर्ण स्यात् तदा ग्राह्यो धनी न तु ॥३३१८॥

अथवा–

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मत्रादिमाक्षरम् ।
गणयेन्मातृकावर्णक्रमेण गुणयेत् त्रिभि ॥३३१९॥

विभक्ते सप्तभिः शिष्टो नामराशिरुदीरित ।
एव मंत्रार्णमारभ्य यावन्नामादिमाक्षरम् ॥३३२०॥
गणयित्वा त्रिभि र्हत्वा विभजेत् सप्तभि सुधी ।
मत्रराशिः स्मृत शिष्ट. पूर्ववद् धनितर्णता ॥३३२१॥
यद्वा मत्राक्षराणीह स्वरव्यजनरूपत ।
पृथक्कृत्य द्विगुणयेद् योजयेत् साधकाक्षरं ॥३३२२॥
तादृशैरष्टभिर्भक्ते मत्रराशिरुदाहृत ।
एवं नामार्णसघोऽपि द्विगुणीकृत्य योजित. ॥३३२३॥
मत्रार्णैरष्टभि र्भक्ते नामराशि स्मृतो बुधैः ।
ऋणिता धनिता चात्र पूर्ववत् परिकीर्तिता ॥३३२४॥
शून्ये तु मृत्युमाप्नोति धने च विफल भवेत् ।
ऋणी तु प्राप्तिमात्रेण सर्वसिद्धि प्रयच्छति ॥३३२५॥
मत्रो यद्यधिकाङ्क स्यात् तदा मत्र जपेत् सुधी ।
समेऽपि च जपेन्मत्र न जपेत्तु ऋणाधिकम् ।
शून्ये मृत्यु विजानीयात् तस्मात् शून्य विवर्जयेत् ॥३३२६॥
उक्तान्यतममार्गेण शोधनीयमृण धनम् ।
यो मत्र पूर्वजनुषि सेवितो नो ददत्फलम् ॥३३२७॥
पापात् पापक्षये जाते फलावाप्तिरनेहसि ।
आयु क्षयाद् गतो नाश साधकोऽस्य भवान्तरे ॥३३२८॥
ऋणित्वात् प्राप्तमार्गेण मत्रोऽभीष्ट प्रयच्छति ।
समाङ्कौ यद्युभौ राशी तदा ससेवनात् फलम् ॥३३२९॥
धनीमत्रस्तु सप्राप्त फलत्यधिकसेवया ।
मत्राणा शोधने भूय प्रकारान्तरमुच्यते ॥३३३०॥
षट्कोणेषु लिखेत् पूर्वकोणादेकैकवर्णकान् ।
अकारादिहकारान्तान् नपुसकविवर्जितान् ॥३३३१॥
नामाद्यक्षरमारभ्य मत्रार्णावधि शोधयेत् ।
प्रथमे सपदुद्दिष्टा द्वितीये धनसक्षय ॥३३३२॥

तृतीये धनसप्राप्तिश्चतुर्थे बधुविग्रह ।
पचमे तु भवेदाधिः षष्ठे सर्वस्वसक्षय ।
एव सशोधित मंत्र दद्यात् शिष्याय मान्त्रिक ॥३३३३॥

वाराहीतत्रे-
ताराचक्र राशिचक्रं नामचक्र तथैव च ।
तत्र चेत् सगुणो मन्त्रो नान्य चक्र विचारयेत् ॥३३३४॥

एतदेव शारदायाम्-
स्वताराराशिकोष्ठानामनुकूलान् भजेन् मनून् ।

सारसग्रहेऽपि-
दुष्टर्क्षराशिभूतादिवर्णप्रचुरमन्त्रकम् ।
सम्यक् परीक्ष्य त यत्नाद् वर्जयेन्मतिमान्नर ॥३३३५॥
हसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पचाक्षरस्य तु ।
एकद्वित्र्यादिबीजस्य सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥३३३६॥

अन्यत्रापि-
एकत्रिपचसप्तार्णनवरुद्रषडर्णके ।
द्वात्रिशदक्षरे मन्त्रे नाशक परिगण्यते ॥
छिन्नादिदुष्टा मन्त्रास्ते पालयन्ति न साधकम् ॥३३३७॥ इति ।

तत्र विश्वसारे शारदाया च-
छिन्नो रुद्ध शक्तिहीन पराङ्मुख उदीरित ।
बधिरो नेत्रहीनश्च कीलित स्तभितस्तथा ॥३३३८॥
दग्धस्त्रस्तश्च भीतश्च मलिनश्च तिरस्कृत ।
भेदितश्च सुषुप्तश्च मदोन्मत्तश्च मूर्च्छित ॥३३३९॥
हृतवीर्यश्च हीनश्च प्रध्वस्तो बालक पुन ।
कुमारस्तु युवा प्रौढो वृद्धो निस्त्रिशकस्तथा ॥३३४०॥
निर्वीर्य सिद्धिहीनश्च मद कूटस्तथा पुन ।
निरशक सत्त्वहीन केकरो बीजहीनक ॥३३४१॥
धूमितालिगितौ स्याता मोहितश्च क्षुधार्त्तक ।
अतिदृप्तोऽगहीनश्च अतिक्रुद्ध समीरित ॥३३४२॥

अतिक्रूरश्च सव्रीड शातमानस एव च ।
स्थानभ्रष्टश्च विकलो निस्नेहश्च प्रकीर्तित ॥३३४३॥
अतिवृद्ध पीडितश्च वक्ष्याम्येषा च लक्षणम् ।
मनो यस्यादिमध्यान्ते चानिल वीजमुच्यते ॥३३४४॥
सयुक्त वा वियुक्त वा स्वराक्रान्त त्रिधा पुन ।
चतुर्धा पचधा वाऽथ स मत्रश्छिन्नसज्ञक ॥३३४५॥
आदिमध्यावसानेषु भूवीजद्वयलाछित ।
रुद्धमत्र स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जित ॥३३४६॥
माया[1]त्रितत्त्वश्रीवीजरावहीनस्तु यो मनु ।
शक्तिहीन स कथितो यस्य मध्ये न विद्यते ॥३३४७॥
कामवीज मुखे माया शिरस्यकुशमेव वा ।
असौ पराङ्मुख प्रोक्तो हकारो विन्दुसयुत ॥३३४८॥
आद्यन्तमध्येष्विन्दुर्वा[2] न भवेद् वधिर स्मृत ।
पचवर्णो मनु यं स्याद् [3]रेफार्केन्दुविवर्जित ॥३३४९॥
नेत्रहीन स विज्ञेयो दु खशोकामयप्रद ।
आदिमध्यावसानेषु [4]हसप्रासादवाग्भवा ॥३३५०॥
हकारो बिन्दुमान्[5] जीवो रावश्चापि चतुष्कल ।
माया नमामि च पद नास्ति यस्मिन् स कीलित ॥३३५१॥
एक मध्ये द्वय मूर्ध्नि यस्मिन्नस्त्रपुरदरौ[6] ।
न विद्येते स मत्र स्यात् स्तभित सिद्धिरोधक ॥३३५२॥
वह्नि वायुसमायुक्तो यस्य मत्रस्य मूर्धनि ।
सप्तधा दृश्यते त तु दग्ध मन्येत मत्रवित् ॥३३५३॥
अस्त्र द्वाभ्या त्रिभि षड्भिरष्टाभि र्दृश्यतेऽक्षरै' ॥
त्रस्त सोऽभिहितो यस्य मुखे न प्रणव स्थित ॥३३५४॥

---

१ त्रितत्त्व कूर्च प्रणवो वा । राव क्कारारफएकादशस्वरबिन्दुरूप । २ इन्दु सकार दन्त्य । ३ इन्दु दन्त्यस । अर्को ह । ४ हस स्वरूपम् । प्रासाद ह्रौं । वाग्भव ऐं । ५ ह । जीव दन्त्यस । राव स्रो । चतुष्कलो हु । ६ अस्त्र फट । पुरदरो ल ।

शिवो[1] वा शक्तिरथवा भीताख्य स प्रकीर्तित. ।
आदिमध्यावसानेषु भवेन्मार्णचतुष्टयम् ॥३३५५॥
यस्य मंत्र स मलिनो मंत्रवित् त विवर्जयेत् ।
यस्य मध्ये दकारोऽथ [2]क्रोधो वा मूर्धनि द्विधा ॥३३५६॥
अस्त्र तिष्ठति मंत्रः स तिरस्कृत उदाहृत ।
म्यो द्वय हृदये शीर्षे वषट् वौषट् च मध्यत ॥३३५७॥
यस्यासौ भेदितो मंत्रस्त्याज्य सिद्धिषु साधकैं ।
वर्णत्रय भवेद् यत्र हसहीन स शभुना ॥३३५८॥
सुषुप्त इति सिद्धान्ते प्रोक्तोऽभीष्टफलापह ।
विद्या वा मंत्रराजो वा सप्ताधिकदशाक्षर ॥३३५९॥
फट्कारा. पच पूर्वञ्चेदुन्मत्त स प्रकीर्तित ।
तद्वदस्त्र स्थित मध्ये यस्य, मंत्र स मूर्च्छित ॥३३६०॥
अस्त्रमंत्रो भवेद् यस्य मध्ये प्रान्ते च शभुना ।
हृतवीर्य इति ख्यात स मंत्रो नैव सिध्यति ॥३३६१॥
आदावन्ते तथा मध्ये चतुर्धाऽस्त्रेण सयुतम् ।
अष्टादशाक्षर मंत्र [3]भीत त भैरवोऽब्रवीत् ॥३३६२॥
विंशत्येकोनवर्णाश्च मायोकाराकुशान्वित ।
प्रध्वस्त इत्यसौ मंत्र शभुदेवेन कीर्तित ॥३३६३॥
सप्ताक्षरो भवेद् बाल कुमारश्चाष्टवर्णक. ।
चत्वारिंशाक्षर प्रौढस्तरुण, षोडशाक्षर ॥३३६४॥
त्रिंशदर्णं शतार्णं वा चतु षष्ट्यक्षर तथा ।
चतुरूर्ध्वं शत वापि वृद्ध इत्यभिधीयते ॥३३६५॥
नवाक्षरस्तु निस्त्रिंशो ध्रुवयुक्तोऽपि मृत्युद ।
हृत् शिरोऽन्ते शिखावर्म मध्ये नेत्रास्त्रके तथा ।
शिवशक्त्यात्मको वर्णौ न स्तो यस्य स मंत्रराट् ॥३३६६॥

---

१ शिवो ह । शक्ति ख' । २ दकार । क्रोध ग । ३ हीनमित्यपरे ।

निर्वीर्यश्च समाख्यात आदावोंकारवर्जित ।
एषु स्थानेषु फट्कार' षोढा यस्मिन् प्रदृश्यते ।
स मत्र सिद्धिहीन. स्यान्मद' पक्त्यक्षरो मनु' ॥३३६७॥
कूट एकाक्षरो मत्र स एवोक्तो निरंशक ।
द्विवर्ण सत्त्वहीन स्याच्चतुर्वर्णस्तु केकरः ।
षडक्षरो वीजहीन सार्धसप्ताक्षरो मनुः ॥३३६८॥
सार्धद्वादशवर्णो वा धूमित, स तु निंदित' ।
सार्धवीजत्रयस्तद्वदेकविंशतिवर्णक ॥३३६९॥
विंशत्यर्णस्त्रिंशदर्णो य, स्यादालिंगितस्तु स ।
द्वात्रिंशदक्षरो मत्रो मोहित, परिकीर्तित, ॥३३७०॥
चतुर्विंशतिवर्णो य सप्तविंशतिवर्णक ।
क्षुधार्त्त स तु विज्ञेय चतुस्त्रिंशतिवर्णकः ॥३३७१॥
एकादशाक्षरो वापि पचविंशतिवर्णक ।
त्रयोविंशतिवर्णो वा मत्रो दृप्त उदाहृत ॥३३७२॥
षड्विंशत्यक्षरो मत्र षट्त्रिंशद्वर्णकस्तथा ।
त्रिंशदेकोनवर्णो वाप्यगहीनोऽभिधीयते ॥३३७३॥
अष्टात्रिंशत्यक्षरो वा एकत्रिंशदथापि वा ।
अतिक्रूर स कथितो निन्दित सर्वकर्मसु ॥३३७४॥
चत्वारिंशतमारभ्य त्रिषष्टि यावदापतेत् ।
तावत् सख्यासु गदिता मत्रा सव्रीडसज्ञका ।
पचषष्ट्यक्षरा ये स्यु र्मन्त्रास्ते शातमानसा ॥३३७५॥
एकोनशतपर्यन्त पचषष्ट्यक्षरादित ।
ये मत्रास्ते निगदिता स्थानभ्रष्टाह्वया बुधै ॥३३७६॥
त्रयोदशाक्षरा ये स्यु र्मन्त्रा पचदशाक्षरा ।
विकलास्तेऽभिधीयन्ते शत सार्धशत तथा ॥३३७७॥
शतद्वय द्विनवतिरेकहीनाऽथवापि सा ।
शतत्रय वा यत् सख्या निस्नेहास्ते समीरिता ॥३३७८॥

चतु शतान्यथारम्य यावद् वर्णसहस्रकम् ।
अतिवृद्ध स योगेषु परित्याज्यः सदा बुधैः ॥३३७९॥
सहस्रार्णाधिका मन्त्रा' दडकाः पीडिताह्वया ।
द्विसहस्राक्षरा मन्त्रा खंडश शतधाकृता ।
ज्ञातव्या स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथास्थिता ॥३३८०॥
तथा विद्याश्च बोद्धव्या मन्त्रिभि. काम्यकर्मसु ।
दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्र भजते जड. ।
सिद्धि नं जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥३३८१॥
छिन्नादिदुष्टा ये मन्त्रास्तन्त्रे तन्त्रे निरूपिता ।
ते सर्वे सिद्धिमायान्ति मातृकार्णप्रभावत, ॥३३८२॥
मातृकार्णै. पुटीकृत्य मन्त्र विद्या विशेषत, ।
शतमष्टोत्तर पूर्व प्रजपेत् फलसिद्धये ॥३३८३॥
तदा मन्त्रोऽथवा विद्या यथोक्तफलदा भवेत् ।
मातृकापुटितं कृत्वा मध्ये वर्णं निधाय च ॥३३८४॥
मन्त्रवर्णान् तत, कुर्याद् बोधन तन्त्रसमतम् ।
बद्ध्वा च योनिमुद्रा ता सकोच्याधारपकजम् ॥३३८५॥
तदुत्पन्नान् मन्त्रवर्णान् सर्वतश्च गतागतान् ।
ब्रह्मरध्रावधि ध्यात्वा वायुमापूर्य कुभयेत् ॥३३८६॥
सहस्र प्रजपेत् मन्त्र मन्त्रदोषोपशातये ।
एषु दोषेषु प्राप्तेषु माया काममथापि वा ॥३३८७॥
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं चैव तद्दूषणविमुक्तये ।
तारसपुटितो वापि दुष्टमन्त्रोऽपि सिद्ध्यति ॥३३८८॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सतग्रहे मन्त्रदोषसोधनादिकथन नाम
एकोनविंश पटल ॥१९॥

विंशः पटलः ।

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि वास्तुयागपुरःसरम् ।
कृतेन येन मन्त्रज्ञो दीक्षायाः फलमाप्नुयात् ॥३३८९॥

सहितायाम्-

पचागशुद्धदिवसे स्वोदये तिथिवारयो ।
गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते ॥३३९०॥

प्रवृद्धे सवलेऽनीचे शुक्रे देवगुरौ तथा ।
शुभे विधुसमायोगे शुभवर्गे शुभोदये ॥३३९१॥

इत्यादौ सर्वमन्त्राणा सग्रह सर्वसौख्यकृत् ।
पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये ।
प्रयागे श्रीपुरे काश्या दीक्षा शस्ता सुसिद्धये ॥३३९२॥

योगिनीतन्त्रे-

गगाया भास्करक्षेत्रे विरजे चन्द्रपर्वणि ।
चड्वले च मतगे च तथा कण्वाश्रमेषु च ॥३३९३॥

न गृह्णीयात् ततो दीक्षा तीर्थेष्वेतेषु पार्वति ।
विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे आषाढ्या दमनोत्सवे ।
दीक्षा कार्या तु कालेषु पवित्रारोपकर्मणि ॥३३९४॥

कालोत्तरे च-

दीक्षायामभिषेके च तथा मन्त्रपरिग्रहे ।
व्रतग्रहणमोक्षे च द्रव्यारभणकर्मणि ॥३३९५॥

कार्तिक्या चैव वैशाख्या स्वर्भानोरपि दर्शने ।
चद्रसूर्योपरागे च षडशीतिमुखेषु च ॥३३९६॥

ग्रहनक्षत्रयोगेषु विषुवेषूत्सवेषु च ।
अयनेषु च सर्वेषु योग सर्वार्थसिद्धिद ॥३३९७॥

यामले–

सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणो' ।
मत्रदीक्षा प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन् न शोधयेत् ॥३३६८॥

सनत्कुमारीये मासा –

मंत्रारभस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थद' ।
वैशाखे रत्नलाभ स्याज्ज्येष्ठे तु मरण भवेत् ॥३३६६॥
आषाढे बन्धुनाश स्यात् पूर्णार्थ श्रावणे भवेत् ।
पूजानाशो भवेद् भाद्रे आश्विने रत्नसचय ॥३४००॥
कार्तिके मत्रसिद्धि स्यान्मार्गशीर्षे तथैव च ।
पौषे तु शत्रुपीडा स्यान्माघे मेधाविवर्धनम् ।
फाल्गुने सर्वकामा स्यु र्मलमास विवर्जयेत् ॥३४०१॥

यत्तु सिद्धान्तशेखरे–

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा ।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्येष्ठे दीक्षा च मध्यमा ॥३४०२॥
आषाढ श्रावणो माघ कनिष्ठ सद्भिरादृत ।
निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा ।
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ॥३४०३॥

कालोत्तरे च–

शरद्वसन्तयो र्योगो दीक्षाकर्मविधौ स्मृत ।
तयोरसभवे वर्षां विनाऽन्यत्र प्रशस्यते ।
विना पर्व न दीक्षा स्याद् वर्षासु मधुपौषयो ॥३४०४॥

मासस्तु सौर एव ।
यत्तु गौतमीये–

सौरे मासि शुभा दीक्षा न चान्द्रे न च तारके । इति ।

पक्षस्तु कालोत्तरे–

भूतिकामै सिते कार्या मुक्तिकामैस्तु कृष्णके ॥३४०५॥

अथ तिथय आगमकल्पद्रुमे–

प्रतिपदि कृता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता ।
प्रतिपत्ति द्वितीयाया तृतीया शोकदा भवेत् ॥३४०६॥

चतुर्थ्यां वित्तनाश स्यात् पचम्या बुद्धिवर्धनम् ।
षष्ठ्या ज्ञानक्षयं सौख्य लभते सप्तमीदिने ॥३४०७॥

अष्टम्या बुद्धिनाश स्यान्नवम्या वपुष क्षय ।
दशम्या राजसौभाग्यमेकादश्या शुच भवेत् ॥३४०८॥

द्वादश्या सर्वसिद्धि स्यात् त्रयोदश्या दरिद्रता ।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्या हानि र्मासावसानके ।
पक्षान्ते धर्मवृद्धि स्यादस्वाध्याय विवर्जयेत् ॥३४०९॥

सारसग्रहे-

द्वितीया पचमी वापि षष्ठी वापि विशेषत ।
द्वादश्यामपि कर्तव्य त्रयोदश्यामथापि वा ॥३४१०॥

त्रयोदशीविधान विष्णुपरम् ।

तत्त्वसारे तु-

ता ता तिथि समालोच्य तद्भक्तास्तत्र दीक्षयेत् ।
ब्रह्मण पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिण ॥३४११॥

चतुर्दशी शिवस्योक्ता वाच प्रोक्ता त्रयोदशी ।
द्वितीया तु श्रिय प्रोक्ता पार्वत्याश्च तृतीयका ॥३४१२॥

चतुर्थी गणनाथस्य भानो प्रोक्ता तु सप्तमी ।
नित्यामार्गेषु पार्वत्या अष्टमी च चतुर्दशी ।
दिनच्छिद्राणि मुक्त्वा च या च स्युस्त्रिदिनस्पृश ॥३४१३॥

रत्नावल्या वारनियम -

आदित्य मगल सौरिं त्यक्त्वा वारास्तु भूतये ।

कालोत्तरे-

रवौ गुरौ सिते सोमे कर्तव्य बुधशुक्रयो ।

एतेषा फल सनत्कुमारीये-

रविवारे भवेद् वित्त सोमे शाति र्भवेत् किल ।
आयुरगारको हति तत्र दीक्षा विवजयेत् ॥३४१४॥

बुधे सौंदर्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु बृहस्पतौ ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानि शनैश्चरे ॥३४१५॥

अथ नक्षत्रफलम्-

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्या मरण भवेत् ।
कृत्तिकाया भवेद् दु खी रोहिण्या वाक्पतिर्भवेत् ॥३४१६॥

मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्राया बधुनाशनम् ।
पुनर्वसौ धनाढ्यः स्यात् पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥३४१७॥

आश्लेषाया भवेन्मृत्यु मंघाया दु खमोचनम् ।
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्या प्राप्नोति च न सशय ॥३४१८॥

ज्ञान चोत्तरफाल्गुन्या हस्ते चैव धनी भवेत् ।
चित्राया ज्ञानसिद्धि स्यात् स्वात्या शत्रुविनाशनम् ॥३४१९॥

विशाखाया सुख चानुराधाया बधुवर्धनम् ।
ज्येष्ठाया सुतहानि स्यान्मूलाया कीर्तिवर्धनम् ॥३४२०॥

पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेता कीर्तिदायिके ।
श्रवणे च भवेद् दु खी धनिष्ठाया दरिद्रता ॥३४२१॥

बुद्धि शतभिषाया स्यात् पूर्वाभाद्रे सुखीभवेत् ।
सौख्य चोत्तरभाद्रे च रेवत्या कीर्तिवर्धनम् ॥३४२२॥

रत्नावल्या तु-

प्रतिपत् पूर्वाषाढा च पचमी कृत्तिका तथा ।
पूर्वाभाद्रपदा षष्ठी दशमी रोहिणी तथा ॥३४२३॥

द्वादशी सार्पनक्षत्रमर्यम्णा च त्रयोदशी ।
नक्षत्रलुप्ता इत्येता देवानामपि नाशका ॥३४२४॥

अथ योगा रत्नावल्याम्-

योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्य शोभन शुभ ।
सुकर्मा च धृति वृं द्धि ध्रुंव सिद्धिश्च हर्षण ।
वरीयाश्च शिव सिद्धो ब्रह्मा ऐन्द्रश्च षोडश ॥३४२५॥

अथ करणानि-

ववबालवकौलवतैतिलास्तदनतरम् ।
करणानि शुभान्येव सर्वतन्त्रेषु भामिनि ।
शकुन्यादीनि विष्टिं च विशेषेण विवर्जयेत् ॥३४२६॥

अथ राशय -

चर सर्वं विवर्ज्य स्यात् स्थिरराशिषु सिद्धिद ।

अथ लग्नशुद्धि -

त्रिषडायगता पापा शुभा केन्द्रत्रिकोणगा ।
दीक्षाया तु शुभा सर्वे रन्ध्रस्था सर्वनाशका ॥३४२७॥

सध्यागर्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ।
एतानन्याश्च दिवसान् श्रुत्युक्तान् परिवर्जयेत् ॥३४२८॥ इति ।

अथ वास्तुस्वरूप महाकपिलपञ्चरात्रे-

भूमे परिग्रहे पूर्वं शिलायाः स्थापने तथा ।
जलाधारगृहार्थं च यजेद् वास्तु विशेषत ॥३४२९॥
वास्तुमडलक कुर्यात् सूत्रयित्वा सम गुरु ।
सुसम सुखद वास्तु विषम न शुभावहम् ॥३४३०॥
ब्रह्माद्यदितिपर्यन्तास्त्रिपचाशच्च देवता ।
राक्षस वास्तुनामान हत्वा तद्देहसस्थिता ।
तेभ्योऽदत्त्वा वलिं मत्री मण्डपादीन् न कारयेत् ॥३४३१॥

वास्तुस्वरूप तन्त्रान्तरे-

देवं स वास्तुपुरुष स्थापितश्चतुरस्रक ॥

सोमशभो -

आकुचितकर वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम् ।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादिप्रवेशे त्वधराननम् ॥३४३२॥
जानुनी कूर्पराशक्ते दिशि वातहुताशयो ।
पैत्र्या पादपुटौ रौद्र्या शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलि ॥३४३३॥

ईशानशिवेऽपि–

पूज्याश्तु षष्टिपदेषु विप्रैरेकोत्तराशीतिपदे नृपाद्यैः ॥ इति

हयग्रीवपञ्चरात्रे विशेष –

एकाशीतिपदं वास्तु गृहकर्मणि शस्यते ।
चतुष्षष्टिपदं वास्तु प्रासादे ब्रह्मणा स्मृतं ॥३४३४॥

बलिमण्डलमाह शारदायाम्–

बलिमडलमेतेषां यथावदभिधीयते ।
पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदुक्तमानतः ॥३४३५॥

अस्यार्थ –उक्तमानतः वास्तुशास्त्रे यन्मानमुक्तं तेनेत्यर्थ । क्वचित् 'हस्तमानतः' इत्यपि पाठ ।

तन्मध्यं किंचिदालम्ब्य द्वौ मत्स्यौ परितो लिखेत् ।
तयो र्मध्ये स्थितं सूत्रं विन्यसेत् दक्षिणोत्तरम् ॥३४३६॥

तन्मध्यमिति । तस्य मध्यं किंचिदालम्ब्य मध्यात् किंचिदधिकमवलम्ब्येत्यर्थ । कुत इत्यपेक्षायां सूत्राग्रादिति शेष । एवं परित उभयत उत्तरदक्षिणयो प्राचीसूत्रस्येति शेष । मत्स्यौ द्वौ चिह्नद्वयं संपादयेत् । तत्र प्रकार –प्राचीसूत्रप्रागग्रे सूत्रादि निधाय मध्याधिकचिह्नात् सूत्राग्रं भ्रामयेत् । एवमपरादग्रादपि तत एको मत्स्य । एवमपरत्रापीति द्वितीयो मत्स्य इति ।

द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथाग्राभ्यां कोणेषु मकरान् लिखेत् ।

अस्यार्थ –तत्र द्वाभ्यामग्राभ्यामेकैको मत्स्य । तथा पूर्ववत् । तद्यथा प्राचीसूत्रार्धमितेन प्राचीसूत्राग्रस्थितेन सूत्रेण ईशे चाग्नेये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । ततस्तेनैव सूत्रेणोत्तराग्रस्थितेन ईशे वायव्ये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । एवमीशे मत्स्य उत्पन्न । तथा पूर्ववत् । तत्सूत्रेण पश्चिमाग्रस्थितेन वायव्ये नैर्ऋत्ये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । एवं वायव्येमत्स्य उत्पन्न । तत्सूत्रेण दक्षिणाग्रस्थितेन नैर्ऋत्ये चाग्नेये चार्धचन्द्रं कुर्यात् । उभयत्रापि मत्स्यद्वयं जायते । एवं मत्स्यचतुष्के जाते तन्मध्यमाग्रं सूत्रचतुष्कं दद्यात् ।

मत्स्यमध्ये स्थिताग्राणि तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥३४३७॥
चतुरस्रं भवेत् तत्र चतु कोष्ठसमन्वितम् ।

मत्स्येत्यादि । चतुरस्रेति वास्तुशरीरस्य चतुरस्राकृतित्वात् । चतु कोष्ठसमन्वितमिति चतुरस्रमध्ये । अत्र च कोणचतुष्के बहि कोष्ठचतुष्कमपरं गुरुगणेशदुर्गाक्षेत्रेशपूजनार्थमुक्तम् ।

तत् पुर्नविभजेन्मत्री चतु पष्टिपद यथा ॥३४३८॥

यथा चतु पष्टिपद भवेत्, तथा विभजेत् ।

ईशानाद् रक्षसो यावद् यावदग्ने प्रभजन ।
एव सूत्रद्वय दद्यात् कर्णसूत्र समाहित ॥३४३९॥

कर्णसूत्रसज्ञक सूत्रद्वयम् । शिल्पे कोणसूत्रस्य कर्णसूत्रेति सज्ञा । समाहित सावधान ।

तत्र चतु पष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारो यथा–

चतुर्षु कोणसूत्रचतुष्टयमन्यद् दद्यात् । तन्मध्योत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे द्वे सूत्रे पातयेत् । एव षोडशकोष्ठानि सपद्यन्ते । तत चतुर्षु कोणकोष्ठेषु पुन कर्णसूत्रचतुष्टय दद्यात् । तदुत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत् । तत चतुर्षु मध्यकोष्ठेषु पुन कर्णसूत्रचतुष्टय दद्यात् । एव च कृते मध्यकोष्ठेषु मत्स्या उत्पन्ना । तेषु मत्स्येषु प्रागपरायते दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत् । एव चतु पष्टिकोष्ठानि सपद्यन्ते । तत्र ग्रथान्तरोक्तकर्णसूत्रद्वयातिरिक्तकर्णसूत्राणि मार्जयेदित्यर्थ ।

ब्रह्माण पूजयेदादौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ।
दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेदार्यमनतरम् ॥३४४०॥

विवस्वन्त ततो मित्र महीधरमत परम् ।
कोणार्द्धकोष्ठद्वन्द्वेषु वह्न्यादि परित पुन ॥३४४१॥

सावित्र सवितार च शक्रमिन्द्रजय पुन ।
रुद्रे रुद्रजय विद्वानापचाप्याप वत्सकम् ॥३४४२॥

तत्कर्णसूत्रोभयत कोष्ठद्वन्द्वेषु देशिक ।
शर्वं ग्रह चार्यमण जभक पिलिपिच्छकम् ॥३४४३॥

चरकीं च विदारीं च पूतनामर्चयेत् क्रमात् ।
अर्चयेद् दिक्षु पूर्वादि साधाद्यन्तपदेष्विमान् ॥३४४४॥

अष्टावष्टौ विभागेन देवान् देशिकसत्तमः ।
क्रमादीशानपर्जन्यजयता शक्रभास्करौ ॥३४४५॥

सत्यो वृषान्तरिक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिता ।
अग्नि पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षक ॥३४४६॥

गधर्वो भृ गराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गता ।
निऋ ति दौवारिकश्च सुग्रीववरुणौ तत ॥३४४७॥
पुष्पदतासुरौ शोषरोगौ प्रत्यग्दिशि स्थिता ।
वायु नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च ॥३४४८॥
अर्गलाख्यो दित्यदिती कुवेरस्य दिशि स्थिता. ।
उक्तानामपि देवाना पदान्यापूर्य पचभि ॥३४४९॥
रजोभिस्तेष्वथैतेभ्य' पायसान्नं बलि हरेत् ।
अथ वास्तुबलि प्रोक्त सर्वसपत्समृद्धिद' ॥३४५०॥

सोमशंभुस्तु-

मध्ये नवपदो ब्रह्मा शेषास्तु पदिका स्मृताः ।
षट्पदास्तु मरीच्याद्या दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ॥
अष्टौ कोणाधिपास्तत्र कोणार्द्धेष्वष्ट सस्थिता ॥३४५१॥

अथ महाकपिलपचरात्रोक्तवास्तुशरीरस्थदेवस्थिति –

मस्तके सस्थितो रुद्र कर्णयोस्तस्य सस्थितौ ।
पर्जन्यश्चादितिश्चैव मुखे चाप सुसस्थित ॥३४५२॥
आप वत्स स्थित कण्ठे जयन्तश्च दिति पुन ।
स्कधयो पचबालाद्या महेन्द्राद्या भुजद्वये ॥३४५३॥
वक्षस्यो रुद्रसाचित्री दासस्तु सविता तथा ।
हस्तौ तु हृद्गतौ तस्य ब्रह्मा नाभौ व्यवस्थित ॥३४५४॥
पृथ्वीधरो मरीचिश्च स्तनयो कुक्षिगौ पुन ।
विवस्वान् मित्रनामा च पादयो पितरः स्थिता ॥३४५५॥
पापाद्याश्चैव पूपाद्या. सप्तसप्तोरुजघके ।
इन्द्रो मेढ्रे स्थितस्तस्य जयो वृषणसस्थित ॥३४५६॥ इति ।

रुद्र ईशान, दासो रुद्रजय, पृथ्वीधरो महीधर । मरीचिरार्य । पितरो निर्ऋति, पापो रोग, इंद्र दाक इति ।

यदुक्तम्-

ईशश्चेशानरुद्रोऽसौ तज्जयो रुद्रदासक ।
मरीचिरार्यक ख्यात पिता स्याद्राक्षसाभिध ॥३४५७॥

पापो रोग इति प्रोक्त इत्येव कथित बुधैः ।
धातृवह्नीसमाश्रित्य कृत्वा चाध पदत्रयम् ॥३४५८॥
सावित्रमर्चयेत् तत्र पदे रामसुसञ्ज्ञके ।
विधिसावित्रयो मंध्ये सवितार पदत्रये ॥३४५६॥
आश्रित्य पितृधातारौ कृत्वाऽधोऽध पदत्रयम् ।
यजेदिन्द्रं महाभागं पदे नोकसुसञ्ज्ञके ॥३४६०॥
तथात्रेन्द्रजय पूज्यो ब्रह्मशक्रसु मध्यग. ।
आश्रित्य वायुधातारौ कृत्वा चाध पदत्रयम् ॥३४६१॥
तत्र देव यजेद् रुद्र पदे भुवनसञ्ज्ञके ।
तयेशवेधसो मंध्ये तज्जय च पदत्रये ॥३४६२॥
ऐशान्यामापक कामपदत्रयसुसस्थितम् ।
प्रदीपवेधसो मंध्ये यजेद् वत्स पदत्रये ॥३४६३॥ इति ।

अथैतेषा वलिमन्त्रा महाकपिलपचरात्रे, कुलप्रकाशतन्त्रे च–

सर्वमध्ये यजेत् सम्यग् ब्रह्माण कमलासनम् ।
हेमाभ च चतुर्वक्त्र वेदाध्ययनशालिनम् ॥३४६४॥
मडूकादि समारभ्य परतत्त्वान्तपूजनम् ।
पीठे विधाय तच्छक्ती पूजयेदणिमादिका ।
पूर्वादिमध्यपर्यन्त ब्रह्माण पीठशक्तय ॥३४६५॥

आसा ध्यान, तत्रैव–

सिन्धुरस्थाणिमा पूज्या पीतवर्णा चतुर्भुजा ।
वरवज्रधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥३४६६॥
महिमा महिषारूढा पूजयेत् कज्जलप्रभाम् ।
दडाभयधरा वामे दक्षे शक्त्यक्षमालिनीम् ॥३४६७॥
नक्रस्था न्धिमा श्यामा पूजनीया चतुर्भुजा ।
नागपाशधरा दक्षे तद्वामेऽभयवारिजे ॥३४६८॥
कनकादिनिभा पूज्या कूर्मस्था गरिमा तथा ।
गदावरधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥३४६६॥

पूज्या प्रेतगता नीलविद्युत्पुंजनिभेशिता ।
वरखड्गधरा दक्षे वामे साभयकर्तृका ॥३४७०॥
पूज्या या वशिता धूम्रा मृगस्था सा चतुर्भुजा ।
सारविदध्वजा दक्षे वामे वरसरोजिनी ॥३४७१॥
छागलस्थातिरक्ताङ्गी स्यात् पूजाया प्रकामिका ।
शक्त्यक्षमालिनी दक्षे वामे सवरकुण्डिका ॥३४७२॥
पूजनीया वृषारूढा प्राप्तिस्तुहिनसन्निभा ।
शक्तिशूलकरा दक्षे वामे साभयवारिजा ॥३४७३॥
सर्वसिद्धि पद्मरागप्रभा पूज्या चतुर्भुजा ।
साक्षमालारविंदा च बीजपूरसरोजिनी ॥३४७४॥
पीठशक्ती प्रपूज्यैव मध्येऽनेनासन दिशेत् ।
प्रणव पूर्वमुच्चार्य सर्वज्ञानक्रियेति च ।
अव्यक्तकमलाशब्दात् सनाथयोगशब्दत ॥३४७५॥
पीठाय हृदयान्तोऽय मन्त्रो द्वाविंशदर्णक ।
दत्वासन च ब्रह्माण पूजयेन्मनुनाऽमुना ॥३४७६॥
प्रणव हृत् तथा ङेऽन्तो ब्रह्मा षष्ठाक्षरो मनु ।
सपूज्य तत्र ब्रह्माण ध्यायेद् देवान् समतत ॥३४७७॥
उक्तानामत्र देवाना स्वरूपमभिधीयते ।
अक्षमाला स्रुच दक्षे वामे दण्डकमण्डलुम् ॥३४७८॥
दधानमष्टनयन यजेन्मध्येऽम्बुजासनम् ।
सर्वे चतुर्भुजा देवा वास्तुदेहे व्यवस्थिता ॥३४७९॥
कृताञ्जलिपुटा सर्वे खड्गखेटकपाणय ।
ब्रह्माण सन्निरीक्षन्ते तद्वक्त्राभिमुखाश्च ते ॥३४८०॥
स्वस्वस्थाने स्थिताश्चैव साधारणमुदाहृतम् ।
मरीचि श्वेतवर्ण. स्याद् विवस्वान् रक्तवर्णक ॥३४८१॥
शातकुम्भसमो मित्र कृष्णवर्णस्तु भूधर ।
सविता नीलवर्णाभ सावित्रो धूमविग्रह ॥३४८२॥

इन्द्रश्चारुणवर्णाभ शुक्लश्चेन्द्रजयस्तथा ।
रुद्र प्रवालसदृश पीतो रुद्रजयस्तथा ॥३४८३॥
आपो गोक्षीरधवल आप वत्सो जपाद्युति' ।
ईशान क्षीरधवल पर्जन्योऽञ्जनसन्निभ ॥३४८४॥
जयन्तोऽञ्जनसकाशो माहेन्द्रश्चामलद्युति ।
आदित्यो रक्तवर्ण स्यात् सत्यकश्चित्रवर्णक ॥३४८५॥
वृषो वधूकपुष्पाभ क्रुदाभश्चान्तरिक्षक ।
उद्यद्दिनकराभोऽग्नि· पूषा रक्ताब्जसनिभ ।
वितथश्चेन्द्रचापाभो विद्युद्वर्णो गृहक्षत ॥३४८६॥
यमश्चाञ्जनसकाशो गधर्व पद्मरागवत् ।
भृङ्गराजस्तु भृङ्गाभो मृगो जीमूतसनिभ ॥३४८७॥
निर्ऋति पावकाभश्च पीतो दौवारिक स्मृत ।
सुग्रीवो नीलकठाभश्चद्राम पुष्पदन्तक ॥३४८८॥
वरुण स्फटिकाभाङ्गो भृङ्गाभश्चासुरो मत ।
शोषश्चोत्पलसकाश पापयक्ष्मेन्द्रनीलवत् ॥३४८९॥
वायु कृष्णाभ्रवर्ण स्यान्नाग शखेन्दुसनिभ ।
मुक्तो मौक्तिकसंकाशो भल्लाट श्वेतपद्मवत् ॥३४९०॥
सोम स्फटिकसकाशोऽर्गलो रक्तोत्पलद्युति ।
दिति कुन्देन्दुधवला कपिला चादिति' स्मृता ॥३४९१॥
चाकी शखसदृशी विदारी पावकद्युति ।
पूतना हिमसकाशा मेघाभा पिलपिच्छिका ॥३४९२॥
खड्ग च पानपात्र च क्षुरिका कतरीं तथा ।
दधाना भीमरूपास्ता राक्षस्य परिकोर्तिता ॥३४९३॥
सिता रक्ताश्च पीताश्च कृष्णा स्कन्दादिका ग्रहा ।
वज्र शक्ति च खड्ग च पाश च विकृतानना ॥३४९४॥
दधाना भीषणा प्रोक्ता ग्रहा स्कन्दादिकाश्च ते ।
एतेषा बलिमत्रांश्च क्रमाद् वक्ष्यामि साम्प्रतम् ॥३४९५॥

पायसोदनलाजैश्च युक्त धूपै प्रसूनकै. ।
अक्षतास्तिलसयुक्तं माषभक्तादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि ब्रह्मन् वास्तुदोष प्रणाशय ॥३४९६॥
गधादिशर्करापूपं पायसोपरि सस्थितम् ।
आर्यकाख्य गृहाणेम सर्वदोष प्रणाशय ॥३४९७॥
चदनार्चित नाथ कर्पूरागरुमण्डितम् ।
विवस्वन् वै गृहाणेम सर्वं दोष प्रणाशय ॥३४९८॥
सगुड पायस नाथ पुष्पादिसुसमन्वितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य मित्र ! शान्ति प्रयच्छ मे ॥३४९९॥
माषोदन च मास च गधादिक्षीरसयुतम् ।
गृहाणेम महीभृत् त्व सर्वदोष प्रणाशय ॥३५००॥
एवमन्तर्बलि दत्वा चान्येषा बलिमादिशेत् ।
ईशादि दक्षिणावर्तो बलि सामान्यभाषितम् ॥३५०१॥
वास्तूनामपि सर्वेषा विशेष पदनिर्णयः ।
ईशानादिचतुष्कोणसस्थितान् पूजयेद् बुधः ॥३५०२॥
क्षीर खण्डसमायुक्त पुष्पादि च सुशोभितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्यमाप शान्ति प्रयच्छ मे ॥३५०३॥
दधीद गुडसमिश्र गधादि च सुमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि वत्स विघ्नमत्र प्रणाशय ॥३५०४॥
पुष्पादिकुशपानीय कर्पूरागरुवासितम् ।
सावित्र वै गृहाणेम शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ॥३५०५॥
दधिक्ष सगुड नाथ रक्तगन्धादिशोभितम् ।
गृहाणेम बलि सूर्य विघ्नमत्र प्रणाशय ॥३५०६॥
शीतमन्न तथा पुष्पं कुकुमादिसमन्वितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य शक्रदेव नमोऽस्तु ते ॥३५०७॥
ओदन घृतसयुक्त गधवस्त्रादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य इन्द्रजय नमोऽस्तु ते ॥६५०८॥

पक्वापक्वमिद मास वस्त्रपुष्पादिसंयुतम् ।
गृहाणेमं बलि हृद्यं रुद्रदेव नमाम्यहम् ॥३५०९॥
हृन्मास सघृत पक्व गधपुष्पादिसयुतम् ।
गृहाणेम बलि रुद्रजय स्वस्ति प्रयच्छ मे ॥३५१०॥
रक्तपुष्पःसमासं वै रक्तवस्त्रादिसयुतम् ।
विदारि वं गृहाणेम रक्षोविघ्न विनाशय ॥३५११॥
पित्त रक्तास्थिसयुक्तं रक्तगधादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि पापे रक्षोविघ्न विनाशय ॥३५१२॥
सघृत मासभक्त च वस्त्रगधाद्यलकृतम् ।
बलि गृहाण सर्वम रक्षोविघ्न प्रशामय ॥३५१३॥
मांसपुष्पादिसयुक्त माषभक्तोपरि स्थितम् ।
गृहाणेम बलि स्कन्द रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१४॥
स्वमास पिष्टकै र्युक्त पक्व मासोदनान्वितम् ।
अर्यमन् वं गृहाणेम रक्षोविघ्न प्रशामय ॥३५१५॥
रक्तमासौदन मत्स्य गधधूपसमन्वितम् ।
जृम्भक त्व गृहाणेम रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥३५१६॥
छागकर्णान्वित मास वस्त्रगंधादिसयुतम् ।
पिलपिच्छि गृहाणेम रक्षोविघ्न प्रणाशय ॥३५१७॥
घृतेन साधित मास वस्त्रगंधादिसयुतम् ।
चरकि त्व गृहाणेम रक्षोविघ्न प्रणाशय ॥३५१८॥
सघृत चाक्षतान्न च वस्त्रगधाद्यलकृतम् ।
गृहाणेम बलि त्वीश वास्तुदोषापहारकम् ॥३५१९॥
उत्पल पायसं र्युक्त वस्त्रादिकसमन्वितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य मेघराज-नमोऽस्तु ते ॥३५२०॥
पचहस्त सुपीत च ध्वजं भक्तादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य जिष्णुसुत नमोऽस्तु ते ॥३५२१॥

ओदन घृतसपूर्णं पञ्चरत्नादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि देव देवराज नमोऽस्तु ते ॥३५२२॥

रक्तपुष्पयुत भवत रक्तगन्धादिभिर्युतम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य भास्कर त्व नमोऽस्तु ते ॥३५२३॥

वितान धूम्रवर्णाभ गन्धादिकसुशोभितम् ।
रक्तपुवत गृहाणेम बलि सत्य नमोऽस्तु ते ३५२४॥

इद तु मासभक्तवै वस्त्रगन्धादिपूजितम् ।
गृहाणेम वृषबलि वास्तुदोष प्रणाशय ॥ ३५२५॥

इद तु शाकुन मास नैवेद्यादिसुसंयुतम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य व्योमशान्ति प्रयच्छ मे ॥३५२६॥

सुवर्णपिष्टक चाऽथ वस्त्रगन्धादिभिर्युतम् ।
घृतान्वित गृहाणेमं सप्तजिह्व नमोऽस्तु ते ॥३५२७॥

क्षीर लाजासमायुक्त रक्तपुष्पादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य पूषदेव नमोऽस्तु ते ॥३५२८॥

दधिगन्धादिभिर्युक्त पीतपुष्पसमन्वितम् ।
बलि वितथ गृह्णेमं विघ्नमत्र प्रशामय ॥३५२९॥

भक्त मधुप्लुत चैण रक्तवस्त्रादिमण्डितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य यमदेव नमोऽस्तु ते ॥३५३०॥

पक्वमासौदन चैव नीलवस्त्रादिमण्डितम् ।
प्रीतिकर गृहाणेम गृहरक्ष नमोऽस्तु ते ॥३५३१॥

नानागन्धसमायुक्त रक्तपुष्पादिभिर्युतम् ।
बलि गृहाण गन्धर्व सर्वदोष प्रणाशय ॥३५३२॥

इमा तु शाकुनीं जिह्वां मापभक्तोपरिस्थिताम् ।
गृहाणेम बलि भृङ्गराज शान्ति प्रयच्छ मे ॥३५३३॥

एव घृततिलोपेत गन्धपुष्पादिसयुतम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य मृगदेव नमोऽस्तु ते ॥३५३४॥

शर्कराखण्डसयुक्त वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ।
प्रीतो बलि गृहाणेम रक्षोराज नमोऽस्तु ते ॥३५३५॥
चन्दनागरुकाष्ठ च गन्धपुष्पादिभिर्युतम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य दौवारिक नमोऽस्तु ते ॥३५३६॥
इद मुपायस नाथ गन्धपुष्पादिमण्डितम् ।
सुग्रीव वै गृहाणेम बलि शान्ति प्रयच्छ मे ॥३५३७॥
यवाग्राणि च गोदुग्ध भक्तोपरि सुरोपितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य जलराज नमोऽस्तु ते ॥३५३८॥
माषयुक्त कुशस्तम्ब घृतगन्धादिसयुतम् ।
पुष्पदन्त गृहाणेम सर्वदोष प्रणाशय ॥३५३९॥
मधुना साधित पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम् ।
बलि गृहाणासुरेम सर्वदोष प्रणाशय ॥३५४०॥
घृत चान्नसमायुक्त कर्पूरादिसमन्वितम् ।
गृहाणेम बलि शेष सर्वशान्ति प्रयच्छ मे ॥३५४१॥
यवज तण्डुल नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम् ।
गृहाणेम बलि रोग सर्वदोष प्रणाशय ॥३५४२॥
सघृत मण्डक चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य मृगवाह नमोऽस्तु ते ॥३५४३॥
इद च कृसर चान्न पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
पातालेश गृहाणेम विघ्नमत्र प्रशाम्यतु ॥३५४४॥
नारिकेलोदक भक्त पीतवस्त्रादिसयुतम् ।
गृहाणेम बलि मुख्य वास्तुदोष प्रणाशय ॥३५४५॥
पायसं मधुना मिश्र नानापूजोपशोभितम् ।
गृहाणेम बलि सोम सर्वदोषं प्रणाशय ॥३५४६॥
ओदन घृतसमिश्र गन्धपुष्पसमन्वितम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य भल्लाट त्व नमोऽस्तु ते ॥३५४७॥

माषान्नं तु घृताभ्यक्त पुष्पगन्धादिमण्डितम् ।
गृहाणेमं बलि हृद्यमर्गलाख्य नमोऽस्तु ते ॥३५४८॥
क्षीरखण्डसमायुक्त नानापुष्पोपशोभितम् ।
देत्पमात गृंहाणेम सर्वदोष प्रणाशय ॥३५४९॥
पोलिकां मधुसमिश्रा वस्त्रगन्धादिसयुताम् ।
गृहाणेम बलि हृद्य देवमात नमोऽस्तु ते ॥३५५०॥
स्वर्गपातालमर्त्येषु ये देवा वास्तुसम्भवा ।
गृह्णन्त्वमु बलि हृद्य तुष्टा यान्तु स्वमन्दिरम् ॥३५५१॥
मातरो भूतवेताला ये चान्ये बलिकाङ्क्षिण ।
विष्णो पारिषदा ये च तेऽपि गृह्णन्त्विम बलिम् ॥३५५२॥
पितृभ्य क्षेत्रपालेभ्यो बलि दत्वा प्रकामत ।
अभावादुक्तमार्गस्य कुशपुष्पादिभि र्यजेत् ।
प्रणवाद्या इमे मंत्रा बलिदाने समीरिता. ॥३५५३॥

दिशा बलिरपि विधेयस्तत्र प्रयोगसारे-

वास्तुशेषक्रियाभूत सर्वरक्षाविभूतिकृत् ।
भूतप्रीतिप्रदाश्चास्मिन् दिशा बलिरुदीर्यते ॥३५५४॥
दिक्पालपरिषत् सर्वभूतानुद्दिश्य नामभि ।
पूजा विसर्जनान्ते यत्स विज्ञेयो दिशा बलि. ॥३५५५॥
दध्यम्बुरजनीपुष्पलाजसक्तुतिलाधसा ।
द्रव्येण वितरेद् दिक्षु बलि दिक्क्रमयोगत ॥३५५६॥
सुराणा तेजसा चैव प्रेताना रक्षसामपि ।
तथा जलानां प्राणानां नक्षत्राणा च यत्पुन ॥३५५७॥
विद्यानामधिपानां च तान् यथोक्तबलीन् हरेत् ।
सवाहनपद प्रोक्त परिवाराय शक्तये ॥३५५८॥
तत्पार्षदेभ्यश्च तत सर्वेभ्य इति सयुतम् ।
भूतेभ्यश्च क्रमाद् भूय प्रादक्षिण्यात् क्षिपेद् बलिम् ॥३५५९॥
द्विपत्पिशाचवेतालरक्षोरक्षामयात्तिहा ।
दिशां बलिर्विशेषेण सर्वसपत्समृद्धिद ॥३५६०॥

वास्तौ गृहप्ररोहे भूतद्रोहे गृहप्रवेशे च ।
वितते च शान्तिहोमे दिशा बलि सिद्धये प्रयोक्तव्य ॥३५६१॥

एव वास्तुबलि दत्वा वास्तुज्ञानविशारद ।
तत्र भूमिं परीक्षेत खननप्लावनाविभि ॥३५६२॥

तथा शारदायाम्–

नक्षत्रवारराशीनामनुकूले शुभेऽहनि ।
पुण्याह वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेत् शुभम् ॥३५६३॥

शल्यज्ञान भूमिशोधनमपि वास्तुशास्त्रे प्रसिद्ध तत एव ज्ञेयम्। तन्मण्डप त्रिविधम् ।

यच्च मन्त्रमुक्तावल्याम्–

अथ मण्डपनिर्माण प्रथम ब्रूमहे वयम् ।
श्रेष्ठमध्यमहीनैस्तु मानैस्तच्च त्रिधा मतम् ॥३५६४॥

सोमशभौ–

गृहस्येशानभागे तु मण्डप कारयेद् बुध ।
द्वादशैरष्टषड्हस्तै षोडशै वा समन्तत ॥३५६५॥

क्रियासारे–

अथ द्वादशविस्तार कनिष्ठो मण्डप स्मृत ।
चतुर्दशो मध्यम स्यात् षोडश स्यात् तथोत्तम ॥३५६६॥

अथ मण्डपश्चतुरस्र ।
यच्च सिद्धान्तशेखरे–

चतुरस्र चतुर्द्वार मण्डपस्य स्थल मतम् ।
स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्राय मण्डप परिकीर्तितम् ॥३५६७॥

कपिलपञ्चरात्रे तु–

उच्छ्रायो हस्तमान स्यात् सुसम च सुशोभनम् ।

क्रियासारे–

भूमिं समस्थली कृत्वा परिच्छिद्य च सूत्रत ।

स्तम्भान् सम च सस्थाप्य स्तम्भद्वादशक पुन ।
बाह्येऽप्युक्त प्रमाणेन तत्र तत्र विभागत ॥३५६८॥

एतच्च शारदायाम्–

षोडशस्तभसयुक्ताश्चत्वारस्तेषु मध्यमा ।
अष्टहस्तसमुच्छ्राया सस्थाप्या द्वादशाभित ॥३५६९॥
पचहस्तप्रमाणास्ते निश्छिद्रा ऋजव शुभा ।
तत्पचमाश निखनेन् मेदिन्यां तन्त्रवित्तम ॥३५७०॥

क्रियासारे–

याज्ञीयवृक्षो वेणुर्वा क्रमुक स्तम्भकर्मणि ।
अन्ये विशुद्धवृक्षा वा भवेयु र्नन्यिभूरुहा ॥३५७१॥
गृहशल्य स्वय शुष्क कुटिलश्च पुरातन ।
असौम्यभूमिजनित संत्याज्य स्तम्भकर्मणि ॥३५७२॥

शारदायाम्–

स्तम्भोच्छ्राय स्मृतस्तेषा सप्तहस्तै पृथक् पृथक् ।
दशागुलप्रमाणेन तत्परीणाह ईरित ॥३५७३॥

मध्यमकनिष्ठयो र्द्वादशहस्तप्रमाण त्रैराशिकेनानेयम् ।

त्रैराशिकसूत्र यथा–

आद्यन्तयोस्त्रिराशावभिन्नजातीप्रमाणमिच्छा च ।
फलमन्यजातिमध्ये तदन्त्यगुणमादिना विभजेत् ॥३५७४॥
नारिकेलदलै र्वंशैश्छादयेत् तत्समन्तत ।
द्वारेषु तोरणानि स्यु क्रमात् क्षीरमहीरुहाम् ॥३५७५॥

मन्त्रमुक्तावल्याम्–

दिक्षु द्वाराणि चत्वारि विदध्यात् पचमाशत ।
तोरणानि च तेष्वेव द्वारेषु स्थापयेद् बुध ॥३५७६॥

अथ दिक्साधन क्रियासारे–

कृत्वा भूमिं समां तत्र वृत्त हस्तमित समम् ।
द्वादशांगुलमानेन शकु खादिरनिर्मितम् ॥३५७७॥

अलाभे यज्ञवार्क्षं वा तत्र संस्थापयेत् सुधी ।
वटश्चोदुम्बरप्लक्षाश्वत्थाश्च यज्ञशाखिन ।
तच्छाया संस्पृशेद् यत्र तन्मध्ये मध्यम स्मृतम् ॥३५७८॥
तिर्यक् प्रसारयेत् सूत्र मध्ये याम्योत्तरे स्मृते ।
कोणा स्युरन्ये चत्वारश्चतुस्सूत्रप्रसारणात् ॥३५७९॥
एवमाशापरिज्ञान समाख्यात यथा स्फुटम् ।
ज्ञात्वैव मडपादीनि कुर्यात् सम्यग् विचक्षण ॥३५८०॥
यथैव पूर्वापरदिग्विभागविशेषविज्ञानमिहोपदिष्टम् ।
समासतस्त विषय विविच्य कार्याणि कर्माणि यथोपदेशम् ॥३५८१॥

रात्रौ तु प्राचीसाधनम्, त्रिकाण्डमण्डने–

श्रवणस्योदये प्राची कृत्तिकायास्तथोदये ।
चित्रास्वात्यन्तरे प्राची न प्राची चन्द्रसूर्ययो ॥३५८२॥

इति स्थूलसाधनम् । सूक्ष्मदिगानयन ज्योतिषसिद्धान्ते स्फुटम् ।

अथ तोरण महाकपिलपञ्चरात्रे–

देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे ।
विघ्नविध्वसनार्थाय रक्षार्थं त्वध्वरस्य च ॥३५८३॥
न्यसेन्न्यग्रोधमैन्द्र्या तु याम्या चोदुम्बर तथा ।
वारुण्या पिप्पल चैव कौवेर्यां प्लक्षक न्यसेत् ॥३५८४॥
सुशोभन तु पूर्वस्यामग्निमीलेन मन्त्रितम् ।
इषेत्वोर्जेति मन्त्रेण सुभद्राख्य तु दक्षिणे ॥३५८५॥
सुकर्माख्यन्तु वारुण्यामग्न आयाहि मन्त्रत ।
शन्नो देवीति मन्त्रेण सुहोत्र तूत्तरे न्यसेत् ॥३५८६॥

इद तोरणस्तम्भनिवेशन मडपाद् बहि हस्तमानेनेति ज्ञेयम् ।

वास्तुशास्त्रे चोक्तम्–

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटशाखाकृतानि तु ।
मडपस्य प्रतिदिश द्वाराण्येतानि कारयेत् ॥३५८७॥

विशेषस्तु सिद्धान्तशेखरे-

एक एषामलाभे स्यात् तदभावे शमीद्रुम ।
जम्बूखदिरसाराश्च तालो वा तोरणे स्मृत ॥३५८८॥

क्रियासारे-

अवक्रा सत्वच सार्द्रा दंडा स्युस्तोरणे शुभा ।

एव च मानमुत्तमे षोडशहस्तात्मकमडपेष्वेव । मध्यमकनिष्ठयोस्तु भिन्नम् ।

यच्च वास्तुशास्त्रे-

पचहस्तप्रमाणास्ते विस्तारेण द्विहस्तका ।
षडगुलानि वृद्धास्तु सप्तहस्तास्तथोत्तमे ॥३५८९॥

शारदातिलके-

तिर्यक् फलकमान स्यात् स्तम्भानां सार्धमानत ।
शूलानि कल्पयेन्मध्ये तोरणे हस्तमानत ॥३५९०॥

पिंगलामते-

शूलेन चिह्निता कार्या द्वारशाखा स्वमस्तके ।
ऋजु वै मध्यशृ ग स्यात् किंचिद् वक्र तु पक्षयो ।
उभय तत् समाख्यातं त्र्यगुल रोपयेत् तदा ॥३५९१॥

एव शूलत्रयाणा मेलनेनांगुल भवति ।

यच्च क्रियासारे-

तोरण घटयित्वैव मूर्ध्नि शूलत्रय न्यसेत् ।
शूले नवांगुलं दैर्घ्यं तुरीयांशेन विस्तृति ॥३५९२॥

शेषाणां द्व्यगुला वृद्धि वेशश्चांगुलवृद्धित ।

एतानि तत् काष्ठमयानि दैव एव कर्तव्यानि।

वेष्टयेतु विशेष, वास्तुशास्त्रे-

मस्तके द्वादशांशेन शखचक्रगदाम्बुजम् ।
प्रागादिक्रमयोगेन न्यसेत् तेषां स्वदायजम् ॥३५९३॥

एषां निवेशनमपि प्राग्वत् ज्ञेयम् । तत प्रतितोरणमेवैव कलश स्थाप्य। प्रतिद्वारं पार्श्वे द्वौ द्वौ। प्रतिकोणं चैवं च ।

तथा च यामले-

मडपे कलशौ द्वौ द्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत् ।
गालितोदकसपूर्णावाम्रपल्लवशोभितौ ॥३५६४॥

गन्धपुष्पाम्बरोपेतान् कुम्भांस्तेषु विनि क्षिपेत् ।
ध्रुव धरा वावपतिं च विघ्नेश तेषु पूजयेत् ।
मडपस्य तु कोणस्थकलशेषु क्रमादमी ॥३५६५॥

अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मगलस्तथा ।
पूज्या द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मनूत्तमैं ॥३५६६॥ इति ।

मडपाभितोऽष्टदिक्षु ध्वजान् बध्नीयात् ।

यदुक्त शारदातिलके-

दिक्षु ध्वजान् निबध्नीयाल्लोकपालसमप्रभान् ।

कुण्डसिद्धौ-

ध्वजान् द्विहस्तायतिकाश्च पच-
हस्तान् सुपीतारुणकृष्णनीलान् ।
श्वेतासितश्वेतसितान् दिगीश-
वाहान् वहेद् दिक्करवशशीर्षा ॥३५६७॥

सारसग्रहे-

पचहस्ता ध्वजा कार्या वैपुल्येन द्विहस्तका ।
दडश्च दशहस्त स्यादष्टदिक्षु च तान् न्यसेत् ॥३५६८॥

हयशीर्षपचरात्रे-

अत पर प्रवक्ष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम् ।
यत् कृत्वा पुरुष सम्यक् समस्तफलमाप्नुयात् ॥३५६९॥
यातुधाना खेचराश्च कूष्माण्डा गुह्यकास्तथा ।
चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीन सुरालयम् ॥३६००॥
ध्वजेन रहिते ब्रह्मन् मडपे तु वृथा भवेत् ।
पूजाहोमादिक सर्वं जपाद्य यत् कृत बुधै' ॥३६०१॥
रक्षणेन विना यद्वत् क्षेत्र नश्यति क्षेत्रिण ।
ध्वज विना देवगृह तथा नश्येत सर्वथा ।
ये विष्णुपार्षदा क्रूरा कूष्माण्डाद्याश्च ये स्मृता ॥३६०२॥

पूजादिक तु गृह्णन्ति देव दृष्ट्वा त्वरक्षितम् ।
दृष्ट्वा ध्वजांस्तु देवस्य मडपे ज्वलनप्रभान् ।
नश्यन्ति सर्वे ते चार्करश्मिक्षिप्त तमो यथा ॥३६०३॥

क्रियासारे विशेष –

ध्वजाना लक्षण सम्यगुच्यते तु यथातथम् ।
मंडपस्य बहिर्दण्डै दशहस्तायतै सह ॥३६०४॥
पूर्वाद्यष्टहरित्स्वष्टौ ध्वजान् सस्थापयेत् क्रमात् ।
तेषा हस्तद्वय व्यासो मध्यश्च करसम्मित ॥३६०५॥
व्यासार्धं शिखर पुच्छ हस्तत्रितयमानकम् ।
मत्स्याभ शिखर पुच्छशिखर तु त्रिकोणकम् ॥३६०६॥
तयो मंध्ये चतुष्कोण ध्वजानेव प्रकल्पयेत् ।
मातगवस्तमहिषसिहमत्स्यैणवाजिन ॥३६०७॥
वृषभ च यथान्याय ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत् ।
अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुर सरान् ॥३६०८॥
ध्वजेषु विलिखेदत्र धातुभिश्च सलक्षणम् ।
एव ध्वजाना कथित लक्षण ते शुभावहम् ॥३६०९॥ इति ।

अथ पताकानिवेशनम् । पताका ध्वजसयुक्तमिति सिद्धान्तशेखरोक्तत्वात् ।
यत्र सोमशम्भौ–

सप्तहस्ता पताका स्यु विशत्यगुलविस्तृता, ।
दशहस्ता पताकाना दण्डा पचाशवेशिता ।
पताका आयुधाकाश्च गन्धपुष्पसमन्विता ॥३६१०॥

अथ मडपालकरण सिद्धान्तशेखरे–

चूतपल्लवशाखाढ्यवितानैरुपशोभितम् ।
विचित्रवस्त्रसञ्छन्न तुलास्तभविभूषितम् ॥३६११॥
सफलै कदलीस्तम्भै क्रमुकै र्नारिकेलकै ।
फलै र्नानाविधै र्भोज्यै दर्पणैश्चामरैरपि ।
भूषित मडप कुर्याद् रत्नपुष्पसमुज्ज्वलम् ॥३६१२॥

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि–

दर्पणैश्चामरै र्घण्टै, स्तम्भान् वस्त्रै विभूषयेत् ।
कलशै र्घण्टिकाभिश्च साधारै करकैस्तथा ॥३६१३॥

एतद्व्यगे दोपमुक्त क्रियासारे-

अनुक्तसाधनै क्लृप्तो यदि वा कुटिलाकृतिः ।
मानाधिकोऽथवा न्यूनो मडप कर्तृनाशन ॥३६१४॥

आख्यातसाधनै' क्लृप्त शोभन सममानक ।
मनोज्ञो मडपो योऽसौ कर्मकर्तु शुभावह ॥३६१५॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे मण्डपादिरचनाविधि र्नाम
विंश पटल ॥२०॥

एकविंशः पटलः ।

अथ वेदीनिर्माणम्-

ततो मडपसूत्र तु त्रिगुण परिकल्पयेत् ।
पूर्वादिषु क्रमात् तस्य मध्यभागेन वेदिका ॥३६१६॥

शारदायाञ्च-

तत् त्रिभागमिते क्षेत्रेऽरत्निमात्रसमुन्नताम् ।
चतुरस्रा ततो वेदीं मडपाय प्रकल्पयेत् ॥३६१७॥

अरत्नि हस्तमानम् ।

यथा कादिमते अगुललक्षणमुक्त्वा-

तैश्चतुर्भि र्भवेन्मुष्टि र्वितस्तिस्तैस्त्रिभि र्गुणै ।
अरत्निस्तद्द्वयेन स्याद् हस्तस्तद्द्वयतः शिवे ॥३६१८॥ इति ।

क्रियासारेऽपि-

त्रिभाग मडप कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका ।
हस्तमान तदुत्सेध चतुरस्र सम यथा ॥३६१९॥

पक्वाभि र्वाप्यपक्वाभिरिष्टिकाभि र्दृढ यथा ।
कर्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदापि वा ।
अवक्रपार्श्वा सुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभा ॥३६२०॥ इति ।

अनेन मण्डपे नवकोष्ठके कृते मध्यकोष्ठे वेदी कार्येति सप्रदाय ।

सिद्धान्तशेखरे विशेष –

वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरस्रा च पद्मिनी ।
श्रीधरी सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु ॥३६२१॥
चतुरस्रा चतु कोणा वेदी सर्वफलप्रदा ।
तडागादिप्रतिष्ठाया पद्मिनी पद्मसन्निभा ॥३६२२॥
राज्ञा स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राभिषेचने ।
विवाहे श्रीकरी वेदी विंशत्यस्रसमन्विता ।
दर्पणोदरसङ्काशा निम्नोन्नतविवर्जिता ॥३६२३॥ इति ।

एतदभावे दोष उक्त क्रियासारे–

वक्रपार्श्वा विलन्नमध्या परुषाङ्गशोभना ।
मानहीनाधिका या सा कर्तु कर्मविनाशिनी ॥ ३६२४॥ इति ।

एव वेदिका निर्माय अ कुरारोपण कुर्यात् ।

यच्च सहितायाम्–

सर्वत्राभ्युदयश्राद्धमकुरोत्पादन तथा ।
आदावेव प्रकुर्वीत कर्मणोऽभ्युदयात्मन ॥३६२५॥

यामले च–

गुर्णविशुद्ध प्रागेव शुद्धाहात् प्रथमेऽहनि ।
सकल्प्योपोष्य कर्तव्यमंकुरारोपणं शुभम् ॥३६२६॥
कुर्यात् नान्दीमुख श्राद्ध पूर्वेद्यु स्वस्तिवाचनम् ।
स्वगृह्योक्तप्रकारेण तदेतद् विदधीत वै ॥३६२७॥

कपिलपचरात्रे–

पुण्याहघोषण कृत्वा ब्राह्मणैं सह देशिक ।
मगलाकुरस्य वपन कुर्यात् तत्रैव चाहनि ।
सप्तमाद् नवमाद् वापि प्रागेव यज्ञकर्मण ॥३६२८॥

सिद्धान्तशेखरे–

प्रतिष्ठायां च दीक्षाया स्थापने चोत्सवे तथा ।
सप्रोक्षणे च शान्तौ च विवाहे मौञ्जिबन्धने ।
सर्वमगलकार्येषु कारयेदकुरार्पणम् ॥३६२९॥

शारदायाम्-

प्रागेव दीक्षादिवसात् सप्तभि विधिवद् दिनै· ।
सर्वमगलसपत्त्यै विदध्यादकुरार्पणम् ॥३६३०॥

मण्डपस्योत्तरे भागे शाला पूर्वापरायताम्।
गूढा कुर्यात् ततस्तस्या मडल रचयेत् सुधी· ॥३६३१॥

शालामान तन्त्रान्तरे-

विंशत्या तु करै र्मान दशायामेन विस्तृति ।
शालाया उत्तमं मानमर्धादौ मध्यमादिकम् ॥३६३२॥

मण्डल शारदायाम्-

पचहस्तप्रमाणानि पचसूत्राणि पातयेत् ।
पूर्वापरायतान्येषामन्तरे द्वादशागुलम् ॥३६३३॥

दक्षिणोत्तरसूत्राणि तद्वदेकादशार्पयेत् ।
पदानि तत्र जायन्ते चत्वारिंशत् प्रमार्जयेत् ॥३६३४॥

अनयोरर्थ -पचहस्तेति । शालाविस्तारमध्यभागे प्रागपरायतमेकं सूत्र पचहस्त-प्रमाण दत्वा तत् सूत्रस्य दक्षिणोत्तरभागयो द्वादश द्वादशागुलान्तरे द्वे द्वे सूत्रे दद्यात् । ततस्तत्सूत्रव्यतिभेदीनि एकादशसूत्राणि पातयेत् । तद्वदिति । द्वादशाङ्गुलान्तराणीत्यर्थ । एव पचापि हस्ता सगृहीता । प्रमार्जयेदित्युत्तरत्रान्वेतीत्यर्थ ।

पङ्क्त्या वीथीश्चतस्रोऽन्तश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः ।
वीथ्यौ द्वे च चतुष्कोष्ठत्रयमत्रावशिष्यते ॥३६३५॥

अस्यार्थ -पङ्क्त्येति । पङ्क्त्या चतस्रो वीथी र्मार्जयेत् बाह्य इत्यर्थ । अन्तरिति वक्ष्यमाणत्वात् । पूर्वां चतुष्कोष्ठामेका वीथीमष्टकोष्ठा दक्षिणवीथी पुनश्चतुष्कोष्ठा पश्चिमवीथीमष्टकोष्ठामुत्तरवीथी मार्जयेत् । तत अन्तश्चतुष्कस्योभयपार्श्वयो पार्श्वद्वये द्वे वीथ्यौ द्विद्विकोष्ठरूपे चात्र मार्जयेदित्यनुषग इति ।

पदानि रजयेत् तानि श्वेतपीतारुणासितैः ।
रजोभि श्यामलेनाथ वीथीरापूरयेत् सुधी ॥३६३६॥ इति ।

तत्र श्वेत वायुपदे । पीतमाग्नेये । अरुण रक्ष पदे । असितमीशपदे च ।

तदुक्त प्रपचसारे-

पीतारक्तसितासितप्रतिपद बाह्यादि सर्वान्तकम् । इति ।

अथाकुरार्पणपात्राणि शारदायाम्–

पात्राणि त्रिविधान्याहुरकुरार्पणकर्मसु ।
पालिका पचमुख्यश्च शरावाश्च चतु क्रमात् ३६३७॥
प्रोक्ता स्यु सर्वतन्त्रज्ञै हरिब्रह्मशिवात्मका ।
एषामुच्छ्राय उन्नेय पोडश द्वादशाष्टभि ।
अगुलै क्रमशस्तानि शुभान्यावेष्टय तन्तुना ॥३६३८॥ इति

सिद्धान्तशेखरे–

संपूजयेत् शरावेषु रुद्र चन्दनपुष्पकै ।
पालिकासु तथा विष्णु ब्रह्माण घटिकासु च ॥३६३९॥

अत्र पात्राणा त्रिदेवमयत्वात् पचदेवदीक्षाया पात्रभेदो नास्ति ।

महाकपिलपचरात्रे विशेष –

पालिकाचक्रविस्तार पोडशागुल उच्यते ।
भवेत् कण्ठबिल वा स्यात् तदष्टागुलविस्तृतम् ॥३६४०॥
पदपीठस्य विस्तार षडंगुलमुदाहृतम् ।
चतुरगुल उत्सेधस्तत्सधिश्चागुल भवेत् ॥३६४१॥
तत्सधिस्तु भवेन्नाहपादपीठार्धमेव च ।
भवेत् पचमुखी चैव घटिका सर्वकामदा ॥३६४२॥
चतुरगुलविस्तारान्याहु र्वक्त्राणि पंच वै ।
चत्वारि च चतुर्दिक्षु ऊर्ध्वमेक यथाविधि ॥३६४३॥
घटिकायाश्च विस्तारो द्वादशांगुल उच्यते ।
आचार्या कथयन्त्येके पोडशागुलमेव वा ॥३६४४॥
द्वादशागुलविस्तार शरावस्य मुख स्मृतम् ।
चतुरगुलविस्तारमधस्तान्मूल उच्यते ३६४५॥ इति

तन्त्रान्तरेऽपि–

तालमात्रमिह पचमुखी स्याद्
व्यासतोच्छ्रयमिता घटिका स्यात् ।
दिक्षु तन्मुखचतुष्टयमेक
मध्यतस्तु समवर्तितभागम् ॥३६४६॥

तालविस्तृतमुख तु शराव व्यासतोच्छ्रयगतार्धमिताघ्रि ।
दडमस्य चतुरगुलनाहं कठमस्य विलवर्जमुदग्रम् ।
सभवे कनकरूप्यकताम्रमार्त्तिकान्यभिनवान्यथवा स्यु ॥३६४७॥

सिद्धान्तशेखरे तु–

यथासभवमान वा पालिकादि समाचरेत् ।
कृष्णवर्णं तथा वक्त्र व्रणयुक्त विवर्जयेत् ।
प्रक्षाल्य तन्तुनावेष्ट्य त्रिगुणेन समाहित ॥३६४८॥

तत्रैव क्रम । पश्चिमचतुष्के पालिकाचतुष्टय, मध्यचतुष्के पचमुखीचतुष्टय, पूर्वचतुष्के शरावचतुष्टय निवेशयेत् ।

तन्निवेशनमुक्त प्रयोगसार, शारदाया च–

एव च देशिकस्तेषु पदेष्वाहितशालिषु ।
सुगन्धिदर्भकूर्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत् ।
करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत् ॥३६४९॥

सिद्धान्तशेखरे विशेष –

गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे ।
गीतनृत्यसमायुक्तो गजवाजिरथान्वित ॥३६५०॥
गत्वा तीरं तडागस्य नद्या पुष्पवनस्य वा ।
तत्र शुद्ध भुवो भाग दर्भं समृज्य चाक्षत ॥३६५१॥
अभ्युक्ष्य चार्घ्यतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ।
हृदा भूमि समावाह्य गन्धपुष्पं समर्चयेत् ॥३६५२॥
कुद्दाल्यामस्त्रमन्त्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम् ।
गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत् कांस्यपात्रके ।
हृदा मृद च समृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत् ॥३६५३॥
पुर वा निलय वापि सर्वमगलनिस्वनं ।
गुरु प्रदक्षिण कृत्वा मडप त्वानयेत् तत ।
एतत् कर्म दिवाकाले कुर्याद् रात्रौ न बुद्धिमान् ॥३६५४॥

प्रयोगसारे–

वह्न्यादीशादिपर्यन्तं चतुष्केषु पृथक् पृथक् ।
मृद्वालुकाकरीषैश्चोर्ध्वत पात्राणि पूरयेत् ॥३६५५॥

सुधाबीजेन बीजानि दुग्धं प्रक्षाल्य तत्रवित् ।
मूलमन्त्राभिजप्तानि पचघोषपुर सरम् ॥३६५६॥
पचघोषास्तु पटहढक्कामृदगमुखवाद्यशखा ।

जपविषये कपिलपचरात्रे–

सख्यानुक्तौ शत साष्ट सहस्र वा जपादिषु । इति.
आशी र्वाग्भि र्द्विजातीना मगलाचारपूर्वकम् ।
निर्वपेत् तेषु पात्रेषु देशिको यतमानस ॥३६५७॥

सिद्धान्तशेखरे–

बीज मृखेन मूलेन प्राङमुखो वाप्युदङ्मुख ।
वापयेत् सर्वबीजानि पान्तिकादिष्वनुक्रमात् ।
बीजानामधिप सोमस्तस्माद् रात्रौ तु निर्वपेत् ॥३६५८॥

सारस्वतमतेऽपि–

बीजेभ्यो दैवतेभ्यश्च स रात्रौ कान्तिमान् यत ।
तस्माद् गुरुस्तु बीजानि निशायामेव वापयेत् ॥३६५९॥
शालिश्यामाढकीमुद्गतिलनिष्पावसर्षपा ।
कुलत्थकगुमाषाश्च बीजान्यङकुरकर्मणि ॥६६६०॥
हरिद्राद्भि समभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य देशिक ।

अन्यत्र–

निष्पावान् राजमाषाश्च देवे सुप्ते विवर्जयेत् ॥३६६१॥

प्रयोगसारे विशेष –

त्रियम्बकाय शर्वाय शकराय शिवाय च ।
सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमो नम ॥३६६२॥
विकीर्यानेन मन्त्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम् ।
तोय प्रवर्षयेत् तेषु सिचेत् तोयं दिन प्रति ॥३६६३॥

सारस्वतमते प्रत्येक बीजेषु देवतापूजोक्ता–

स्कन्द प्रियगौ निष्पावे वायुमग्नि कुलत्थके ।
आढक्यां निर्ऋतिं सोम मुद्गे वैवस्वतं तिले ॥३६६४॥
प्रजापति शालिबीजे त्वनन्त सर्षपेऽर्चयेत् ।
इन्द्र श्यामे च माषे च वरुण तु नगात्मजे ॥३६६५॥

महाकपिलपंचरात्रे–

ततो गन्धविमिश्रेण सिञ्चेद् वै शुद्धवारिणा ।
त्रिरात्र तु यथान्याय पचरात्रमथापि वा ॥३६६६॥

शारदायाम्–

बलि विविधपात्रेण दिक्षु पूर्वादित क्षिपेत् ।
प्रणवाद्यं नमोन्तैश्च रात्रौ रात्रीशनामभि ॥३६६७॥
भूतानि पितरो यक्षा नागा ब्रह्मा शिवो हरि ।
सप्तानामपि रात्रीणा देवता. समुदीरिता ॥३६६८॥
भूतेभ्यः स्यु र्लाजतिलहरिद्रादधिसक्तव ।
सान्ना पितृभ्य सतिलास्तन्दुला परिकीर्तिता. ॥३६६९॥
करमलाजा यक्षेभ्यो नारिकेलोदकान्वितम् ।
सक्तुपिष्ट च नागेभ्यो ब्रह्मणे पकजाक्षता ॥३६७०॥
करभा दधिसक्तव ।
सापूपमन्न शर्वाय विष्णवे च गुडौदनम् ।
ततो लोकेश्वरेभ्योऽपि वितरेद् विधिवद् बलिम् ॥३६७१॥
दीक्षायामभिषेकेषु नववेश्मप्रवेशने ।
उत्सवेषु च सपत्त्यै विदध्यादकुरार्पणम् ॥३६७२॥

अन्यत्रापि–

पायस कृशर वाथ वैष्णवे सत्प्रकीर्तित ।
तत्तद्दिशि बलि देय कर्मसागत्वसिद्धये ॥३६७३॥

अथाकुरपरीक्षा सिद्धान्तशेखरे–

यजमानाभिवृद्ध्यर्थमकुराणि परीक्षयेत् ।
सम्यगूर्ध्वं प्ररूढानि कोमलानि सितानि च ॥३६७४॥
धूम्रवर्णान्यपूर्वाणि तथा तिर्यग्गतानि च ।
श्यामलानि तु कुब्जानि वर्जयेदशुभानि तु ॥३६७५॥
अवृष्टि कुरुते कृष्ण धूम्राभ कलह तथा ।
अपूर्णं जननाश च दुर्भिक्ष श्यामलाकुरम् ॥३६७६॥

तिर्यग्याते भवेद् व्याधि कुब्जे शत्रुभय तथा ।
अशुभे चाकुरे जाते शातिहोम समाचरेत् ॥३६७७॥

मूलमन्त्रेण जुहुयाद् गुरु मूर्तिधर सह ।
अघोरास्त्रेण चास्त्रेण शत वाथ सहस्रकम् ॥३६७८॥

सारस्वतेऽपि–

प्ररूढैरकुरै फलं निर्दिशेच्च शुभाशुभम् ।
श्यामै कृष्णैरकुरैरर्थहानिस्तिर्यग्रूढै व्याधिरादोलितैस्तै ।
कुब्जे दुःख दु प्ररूढै मृति च रोगा भुग्नै स्थानदेशेष्टहानि ॥३६७९॥

अथ कुण्डानि शारदायाम्–

प्राक्प्रोक्ते मडपे विद्वान् वेदिकाया वहिस्त्रिधा ।
क्षेत्र विभज्य मध्याशे क्षेत्राणि परिकल्पयेत् ॥३६८०॥

अष्टास्वाशासु कुण्डानि रम्याकाराण्यनुक्रमात् ।
चतुरस्र योनिमर्धचन्द्र त्र्यस्र सुवर्तुलम् ॥३६८१॥

षडस्र पकजाकारमष्टास्र तानि मानत ।
आचार्यकुण्ड मध्ये स्याद् गौरीपतिमहेन्द्रयो ॥३६८२॥ इति ।

अन्यच्च कुण्डसिद्धौ–

प्राच्या चतुष्कोणभगेन्दुखडत्रिकोणवृत्तागभुजाम्बुजानि ।
अष्टास्त्रिशक्रेश्वरयोस्तु मध्ये वेदास्रि वा वृत्तमुशन्ति कुण्डम् ॥३६८३॥

प्राचीत आरभ्य चतुरस्रयोनिवृत्तार्धत्रिकोणवृत्तषडस्रपद्माष्टास्रि कुण्डानि भवन्ति । प्राचीशानयोर्मध्ये नवममाचार्यकुण्ड स्यादित्यर्थ ।

एव रहस्याम्नायेऽपि–

नवकुण्डविधानेन दिक्षु कुण्डाष्टके स्थिते ।
नवम कारयेत् कुण्ड पूर्वेशानदिगन्तरम् ।
वृत्त वा चतुरस्र वाचार्यदेव विचक्षण ॥३६८४॥ इति ।

कुण्डसिद्धौ तु–

प्राचीशकुण्डैरिह पचकुण्डी चेक यदा पश्चिमसोमशैवे ।
वेद्या सपादेन करेण यद्वा पदान्तरेणाखिलकुण्डसस्या ॥३६८५॥

अस्यार्थ –आशा दिक् । तत्र कुण्डानि चतुरस्रवृत्तार्धवृत्तपद्मानि । ईशदिशि कुण्ड चतुरस्र वृत्त वा । ते पंचकुण्डीनिवेशन स्यात् । यदा च एकमेव कुण्ड तदा पश्चिमे वा उत्तरे ईशान्या वा स्यात् । परन्तु चतुरस्र वेद्या सकाशात् । तानि सर्वाणि कुण्डानि सपादेन करेण त्रिंशदगुलान्तरेण वा पादान्तरेण वा दशागुलान्तरेण भवतीति ।

वसिष्ठसंहिताया तु–

त्रयोदशागुल त्यक्त्वा वेदिकायाश्चतुर्दिशम् ।
कुण्डानि स्वागमोक्तानि विदध्यात् विधिवद् बुध ॥३६८६॥ इति ।

नारदीये–

यत्रोपदिश्यते कुण्ड चतुष्कं तत्र कर्मणि ।
वेदास्रमर्धचन्द्र च वृत्त पद्मनिभ तथा ॥३६८७॥

कुर्यात् कुण्डानि चत्वारि प्राच्यादिषु विचक्षण ।
पंचम कारयेत् कुण्डमीशदिग्गोचर द्विज ॥३६८८॥

अय मध्यम पक्ष ।

कनिष्ठपक्षस्तु सोमशम्भौ–

एक वा शिवकाष्ठाया प्रतीच्या कारयेद् बुध ।

एतत् प्रपचसारेऽपि–

अथवा दिशिकुण्डमुत्तरस्या
प्रविदध्याच्चतुरस्रमेकमेव ॥३६८९॥ इति ।

शारदायाम्–

विप्राणा चतुरस्र स्याद् राज्ञा वर्त्तुलमिष्यते ।
वैश्यानामर्धचन्द्राभ शूद्राणा त्र्यस्रमीरितम् ॥३६९०॥
चतुरस्र तु सर्वेषा केचिदिच्छन्ति तान्त्रिका ।

कुण्डाना फल च तत्रैव–

सर्वसिद्धिकर कुण्ड चतुरस्रमुदाहृतम् ॥३६९१॥

पुत्रप्रद योनिकुण्डमर्धेन्द्वाभ शुभप्रदम् ।
शत्रुक्षयकर त्र्यस्र वर्त्तुल शातिकर्मणि ॥३६९२॥

छेदमारणयो कुण्ड षडस्र पद्मसन्निभम् ।
पुष्टिद रोगशमन कुण्डमष्टास्रमीरितम् ॥३६९३॥

मुष्टिमात्रमित कुण्ड शतार्धे सप्रचक्षते ।
शतहोमेऽरत्निमात्र हस्तमात्र सहस्रके ॥३६९४॥

द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम् ।
दशलक्षेषु षड्हस्त कोट्यामष्टकर स्मृतम् ॥३६९५॥

अन्यत्र–

एकहस्तमित कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशक यावत् तावद् हस्तेन वर्धयेत् ।
दशहस्तमित कुण्डं कोटिहोमे विधीयते ॥३६९६॥ इति ।

एकहस्तमित कुण्ड लक्षहोमेत्यत्र आज्यहोमे दूर्वाकरवीरादिहोमे च ज्ञेयम् ।

मान च सिद्धान्तशेखरे शारदाया च–

चतुर्विशत्यगुलाढ्य हस्त तन्त्रविदो विदु ।
कर्तु र्दक्षिणहस्तस्य मध्यमागुलिपर्वण ॥३६९७॥
मध्यस्य दीर्घमानेन मानागुलमुदीरितम् ।
यवानामष्टभि क्लृप्त मानागुलमुदीरितम् ॥३६९८॥ इति ।

ग्रन्थान्तरे च–

जालांतरगते भानौ यत् सूक्ष्म दृश्यते रज ।
प्रथम तत्प्रमाणाना त्रसरेणु प्रचक्षते ॥३६९९॥
त्रसरेणुस्तु विज्ञेयो ह्यष्टौ ते परमाणव ।
त्रसरेणव एते स्युरष्टरेणुस्तु सस्मृत ॥३७००॥
ते रेणवस्तथा त्वष्टौ बालाग्र तत् स्मृत बुधै ।
बालाग्राण्यष्टलिक्षा तु यूका लिक्षाष्टक स्मृतम् ॥३७०१॥
अष्टौ यूका यव प्राहुरगुल तु यवाष्टकम् ।
रत्निस्त्वगुलपर्वाणि विज्ञेयस्त्वेकविंशति ।
चत्वारि विंशतिश्चैव हस्त स्यादगुलानि तु ॥३७०२॥ इति ।

अतो मानागुलेनैव कुण्ड विधेयम् ।

सिद्धान्तशेखरे–

योन्यादिसर्वकुण्डानि चतुरस्राद् भवन्ति हि ।
लक्षण चतुरस्रस्य पूर्वं तस्मान्मयोच्यते ॥३७०३॥

त्रिशत्यां श्रीधराचार्य –

समलम्बकचतुरस्रे ह्यसमक्षेत्रे च जायते करणम् ।
भूवदनसमासार्धं मध्यमलम्बेन सगुणयेत् ॥३७०४॥

इत्यनेन प्रकारेण चतुर्विंशति चतुर्विंशत्या गुणिता पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकान्यङ्गुलानि क्षेत्रफलम्। एतदेव क्षेत्रफलमष्टस्वपि कुण्डेषु ज्ञेयम्। अत सर्वकुण्डानामेव प्रकृतिभूतम्।

अथ चतुरस्र कुण्ड, कुण्डसिद्धौ–

द्विघ्न व्यास तुर्यचिह्न समाश
सूत्र शकौ पश्चिमे पूर्वगेऽपि।
दत्वा कर्षेत् कोणयो पाशतुर्ये
स्यादेव वा वेदकोण समानम् ॥३७०५॥

अस्यार्थ –इष्टव्यासाद् द्विगुणित व्यास तुर्यचिह्न सपाशसूत्र पूर्वपश्चिमस्थयो शङ्कोर्दत्वा कोणयो पाशचतुर्थांशे कर्षयेत्। एव कृते समचतुरस्र स्यात्। इदमेव सर्वेषा कुण्डाना मूलमिति।

अथ योनिकुण्ड कुण्डसिद्धौ–

क्षेत्रे जिनांशे तु पुर शराशान्
सवर्द्ध्य च स्वीयरदांशयुक्तान्।
कर्णाङ्घ्रिमानेन लिखेन्दुखण्डे
प्रत्यक् पुरोऽङ्काद् गुणतो भगाभम् ॥३७०६॥

अस्यार्थ –चतुरस्रे क्षेत्रे चतुर्विंशतिभागे कृते सति पञ्चाशान् स्वीयद्वात्रिंशदशयुक्तान् अङ्गुलानि ५।१।२ अग्रे सवर्ध्य ततश्चतुर्धा विभक्तस्य क्षेत्रस्य पश्चिमचतुरस्रद्वयमध्याकात् कर्णसूत्रस्य चतुर्थांशेन प्रत्यक् पश्चिमभागे इन्दुखण्डे वृत्तार्धद्वय विद्वन् लिख। तत पूर्वाङ्कात् दक्षिणोत्तरसूत्रसलग्नवृत्तार्धं यावत् नीयमान गुणद्वयतो भगाकार योनिकुण्ड स्यात्।

वृत्तार्धकुण्डम्–

स्वशतांशयुतेषु भागहीनस्वधरित्रीमितकर्कटेन मध्यात्।
कृतवृत्तदलेऽग्रतश्च जीवा विदधात्विन्दुदलस्य साधुसिद्ध्यै ॥३७०७॥

अस्यार्थ –स्वीयशतांशेन युतो य इषुभाग पञ्चमाश। अर्थात् क्षेत्रस्यैवानेनोना चासौ स्वभूमि क्षेत्र तन्मितेन कर्कटेन सूत्रेण वा मध्याकात् कृत यद् वृत्तार्धं तस्मिन् अग्रत पूर्वापरा रेखा जीवारूपा वृत्तार्धस्य साधु सिद्ध्यै करोतु विद्वानित्यर्थ।

अथ त्र्यस्रिवृत्तकुण्डे कुण्डसिद्धौ–

वह्न्यंश पुरतो निधाय च पुन श्रेण्योश्चतुर्थांशके
चिह्नेषु त्रिषु सूत्रदानत इद स्यात् त्र्यस्रि कष्टोज्झितम्।

विश्वांशैः स्वजिनाशकेन सहिते क्षेत्रे जिनाशै कृते
व्यासार्धेन मितेन मडलमिद स्याद् वृत्तसज्ञ शुभम् ॥३७०८॥

अस्यार्थ -अथ पूर्वार्धेन त्र्यस्रि कुण्ड व्याख्यायते । क्षेत्रस्य तृतीयाश पूर्वतोनिधाय तत उभयो श्रेण्यो चतुर्थाश निधाय दक्षिणत उत्तरतश्च दत्वा त्रिपु चिह्नेषु सूत्रदानात् कष्टरहित त्र्यस्रि जायते इत्यर्थ । अथोत्तरार्धेन वृत्तमाह-क्षेत्रे चतुर्विंशतिभक्ते सति त्रयोदशांशे स्वचतुर्विंशांशयुते मितेन व्यासार्धेन मण्डल यत् वृत्तसज्ञ तत् कुण्ड सुन्दर स्यात् ।

अथ षडस्रकुण्ड तत्रैव-

भक्ते क्षेत्रे जिनांशै धृतिमितलवकै स्वाक्षिशैलांशयुक्तै-
र्व्यासार्धान्मडले तन्मितधृतगुणके कर्कटे चेन्दुदिक्त ।
षट्चिह्नेषु प्रदद्याद् रसमितगुणकानेकमेक तु हित्वा
नाशे सन्ध्यगदोषामपि च वृतिकृते नेत्ररम्य षडस्रम् ॥३७०९॥

अस्यार्थ -क्षेत्रे चतुर्विंशतिधा भक्ते सति अष्टादशे १८। खद्वासप्ततिमाश ०।२ युक्ते तावता १८।२ व्यासार्धेन वृत्ते कृते सति उत्तरदिक्त तेनैव व्यासार्धेन मिते धृते गुणके सूत्रे सति कर्कटे वा धृते सति परावर्तनेन षट् चिह्नानि भवन्ति । तेषु षट्चिन्हेषु षट्सूत्राणि एकान्तरेण परस्परलग्नानि दद्यात् । तत सर्धौ ये दोषा षड्भुजा तेषा नाशे वृतिकृते मण्डलस्य विनाशे षडस्रि नेत्ररम्य जायत इत्यर्थ ।

अस्यैवापर प्रकार स्वल्पान्तरत्वात् तत्रैव-

अथवा जिनभक्तकुण्डमाने तिथिभागै खखभूपभागहीनै ।
इह कर्कटकोद्भवे तु वृत्ते विधुदिक्त समषड्भुजे षडस्रम्॥ ३७१०॥

अस्यार्थ -अथ चतुर्विंशतिभक्ते कुण्डमाने सति स्वीयषष्ट्यधिकशतांशेन १६० हीने पचदशभागैर्मितो य कर्कट १४।७।२ तदुद्भवे वृत्ते उत्तरदिक्त सकाशात् समे षड्भुजे दत्ते परस्परलग्ने षडस्र वृत्तमार्जनेन भवतीत्यर्थ ।

अथ पद्मकुण्ड तत्रैव-

अष्टांशाच्च यतश्च वृत्तशरके तत्रादिम कर्णिका
युग्मे षोडशकेशराणि चरमे स्वाष्टत्रिभागोनिते ।
भक्ते षोडशधा शरान्तरधृते स्यु कर्कटेऽष्टौ छदा
सर्वास्तान् खन कर्णिका त्यज निजायामोच्चयक स्यात् कजम् ॥३७११॥

अस्यार्थ -क्षेत्रस्याष्टमांशादष्टमांशान्तद्वधा न वृत्तपञ्चके कृते सति वृत्तपञ्चकमध्ये प्रथमे कर्णिका द्वितीये षोडश केशराणि स्यु । चरमे पञ्चमवृत्ते स्वस्य अष्टमत्र्यंशस्य तयोर्मध्यान्तरे ऊने १।२।०।६ ऊनिते सति षोडश स्यात् दिशु विदिशु तदन्तराले च

समतया विभाजिते तस्मिन् वृत्ते पचकचिह्नान्तरे दिशि विदिशि कर्कटे धृते सति पगावर्तनेन अष्टौ पत्राणि जायन्ते। सर्वान् तान् केसरादीन् केसरवृत्ततृतीयचतुर्थवृत्तानि पत्राणि च हे विद्वन्! खन, कर्णिका त्यज मा खन। कीदृशीम् निज स्वीय आयामो विस्तार, तत्तुल्य औच्चक यस्य तत्। कज पद्मकुण्ड वहिर्वृत्तमार्जनेन स्यादित्यर्थ।

अथाष्टास्त्रिकुण्ड तत्रैव–

क्षेत्रे जिनांशे गजचन्द्रभागैं स्वाष्टाक्षिभागेन युतैस्तु वृत्ते।

विदिग्दिशोरन्तरतोऽष्टसूत्रैस्तृतीययुक्तैरिदमष्टकोणम् ॥३७१२॥

अस्यार्थ –क्षेत्रे चतुर्विंशतिभागे कृते सति अष्टादशभागे स्वीयाष्टाविंशांशेन युते कर्कटेन वृत्ते कृते सति अर्थात् व्यासो द्विगुणित दिग्विदिशो र्मध्ये कृताष्टचिह्नेभ्य अष्टभुजैस्तृतीयमिलितै चिह्नद्वय विहाय तृतीयचिह्नेन योजिते अष्टकोण वृत्तमार्जनात् मध्यस्याष्टदो खण्डमार्जनाच्च भवतीत्यर्थ।

अथ प्रकारान्तरेण समाष्टभुजमष्टास्त्रिकुण्ड तत्रैव–

मध्ये गुणे वेदयमै २४ विभक्ते शक्रै निजव्यंग्धिलवेन युक्तै।

वृत्ते कृते दिग्विदिशोऽन्तराले लग्नै भुजै स्यादथवाष्टकोणम्॥१३॥

मध्यसूत्रे चतुर्विंशतिभक्ते स्वसप्तचत्वारिंशदशसहितै चतुर्दशभि १४।२।३ व्यासार्धेन मण्डले कृते तत्र दिग्विदिशो र्मध्ये कृताष्टचिह्नेषु सूत्रे परस्परलग्ने अष्टकोण कुण्ड वृत्तमार्जनाद् भवतीत्यर्थ। कुण्डेषु क्षेत्रसाधनोपपत्तौ चतुरस्रसिद्धम्। योनौ पचलिक्षाचतुष्टययूकाधिकम्। वृत्तार्धे त्वेवम्। त्र्यस्त्रिकुण्डे किंचिद् भुजवैऽम्यम्। वृत्तेऽनिस्वल्पमन्तरम्। षडस्त्रिकुण्डे यूकात्रयषड्यवाधिकम्। अथवा व्यासो यूकान्यून। षडस्त्र सिद्धम्। पद्मनिभ पूर्णफलम्। अष्टास्त्रिकुण्डे यूकैकान्तरम्। अत सर्वेष्वपि स्वल्पान्तरत्वात् ध्वजायस्य सिद्धत्वात् न दोष।

यच्च सिद्धान्तशेखरे–

स्थापने सर्वकुण्डाना ध्वजाय सर्वसिद्धिद।

शतांशो वाधिक न्यून ह्रासवृद्धो न दूषयेत्॥

आयदोषविशुद्ध्यर्थं क्रियते शास्त्रकोविदै ॥३७१४॥ इति।

अथ खातलक्षण कण्ठलक्षण च कुण्डसिद्धौ–

खात क्षेत्रसम प्राहुरन्ये तु मेखला विना।

कण्ठो जिनांशमान स्यादर्कांश इति चापरे ॥३७१५॥

अस्यार्थ –कुण्डखनन क्षेत्रसमम्। कुण्डस्य यावान् विस्तार आयामश्च तावत् खननमायमेखलासहिते कुण्डे कार्यम्। योन्यादिकुण्डेषु विस्तारायामयो र्नानात्वात्। चतुरस्रस्यैवायामविस्तारौ ग्राह्यौ। अन्ये तु– मेखला वर्जयित्वा भूमावेव खनन कार्यमित्याहु। कण्ठोऽपि क्षेत्रचतुर्विंशत्यंशमान। खाताद् वहि समन्तात् एकांगुलमिति। अन्ये तु क्षेत्रस्य द्वादशांशपरिमित प्रहुरित्यर्थ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि–

खात कुण्डप्रमाण स्यादूर्ध्वमेखलया सह ।
पचत्रिमेखलोच्छ्राय ज्ञात्वा शेषमध खनेत् ॥३७१६॥

कालोत्तरे–

खातबाह्यें गुल कण्ठ सर्वकुण्डेष्वय विधि ।
चतुर्विशतिमो भाग कुण्डानामगुल स्मृतम् ॥३७१७॥

सोमशभुरपि–

बहिरेकागुल कण्ठ स कण्ठो द्व्य गुल क्वचित् । इति ।

अथ मेखला कुण्डसिद्धौ–

अधमा मेखलका स्यात् मध्यम मेखलाद्वयम् ।
श्रेष्ठास्तिस्रोऽथवा द्वित्रिपचस्वधमतादिकम् ॥३७१८॥

क्रियासारे–

नाभियोनिसमायुक्तं कुण्ड श्रेष्ठ त्रिमेखलम् ।
कुण्ड द्विमेखल मध्य नीच स्यादेकमेखलम् ॥३७१९॥

सोमशमो विशेप –

त्रिमेखल द्विजे कुण्ड क्षत्रियस्य द्विमेखलम् ।
मेखलैक तु वैश्यस्य प्रोक्त कुण्डविशारदै ॥३७२०॥

कुण्डसिद्धौ–

अष्टधा विहितकुण्डशराशे सखनेद् भुवमुपर्यनलाशे ।
मेखला विरचयेदपि तिस्र षड्गजार्कलवविस्तृतिपिण्डा ॥३७२१॥

अष्टधा भक्तस्य क्षेत्रस्य य स्यगुलात्मको भागस्तादृशै पचभिर्भागै र्भुव खनेत् । उपरि तादृशैस्त्रिभि र्भागै तिस्रो मेखला रचयेत् । कीदृश्य षडष्टद्वादशाशा, चतुस्त्रिद्व्यगुलमिता तै तुल्य विस्तारो यासा ता इत्यर्थ ।

शारदातिलके–

कुण्डाना यादृश रूप मेखलाना च तादृशम् ।
कुण्डाना मेखलास्तिस्रो मुष्टिमात्रे तु ता क्रमात् ॥३७२२
उत्सेधायामतो ज्ञेया द्व्येकार्धागुलसमिता ।
अरत्निमात्रे कुण्डे स्युस्ता त्रिद्व्येकागुलात्मिका ॥३७२३॥
एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनागुला ।
मेखलानां भवेदन्त परितो नेमिरगुलात् ॥३७२४॥

एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्धयेत् तत्क्रमात् सुधी ।
दशहस्तान्तमन्येषामर्धांगुलवशात् पृथक् ॥३७२५॥
कुण्डे द्विहस्ते ता ज्ञेया रसवेदगुणांगुला' ।
चतुर्हस्तेषु कुण्डेषु वसुतर्कयुगांगुला ॥३७२६॥
कुण्डे रसकरे ता. स्यु र्दशाष्टत्वंगुलान्विता ।
वसुहस्तमिते कुण्डे भानुपक्षचष्टकांगुला. ॥३७२७॥
दशहस्तमिते कुण्डे मनुभानुदशांगुला ।
विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया मेखला सर्वतो बुधै ॥३७२८॥

क्रियासारे–

प्रधानमेखलोत्सेधमुक्तमत्र नवांगुलम् ।
तद्वाह्यमंगुलोत्सेध पचांगुलमिद स्मृतम् ॥३७२९॥
तद्वाह्यमंगुलोत्सेधमंगुलद्वितय क्रमात् ।
चतुस्त्रिद्व्यंगुलव्यासो मेखलात्रितयस्य तु ॥३७३०॥

प्रयोगसारे–

सात्त्विकी मेखला पूर्वा विस्तृत्या द्वादशांगुला ।
द्वितीया राजसी प्रोक्ता मेखलाष्टांगुलैस्तत ।
तृतीया मेखला ख्याता तामसी चतुरंगुला ॥३७३१॥

अपर च कुण्डसिद्धौ–

रसांशकादुन्नतविस्तृताश्च तिस्रोऽथवैकायुगभागतुल्या ।
पचाथवा षट् शरवेदरामद्व्यंशैस्तु ता स्यु र्नवभागपिण्डा ॥३७३२॥
आद्या परस्तात् शरभागहीना जिनांशकण्ठाद् वहिरेव सर्वा' ।
कुण्डानुकारा अपि मेखला स्युरर्कांगभागोच्चततस्तु नाभि. ॥३७३३॥

अथ नाभि –

कुण्डाकारो नाभिरभोजसाम्यो वाञ्जेय नेनांशहानि र्दलाग्रे ।
शेषक्षेत्रे वह्निवृत्तं समेते स्यु र्वैकर्णी केशरा पत्रकाणि ॥३७३४॥

अस्यार्थ -अथवा क्षेत्रषडंशादुन्नता षडंशेनैव विस्तृता तिस्रो मेखला भवन्ति। अथवैकमेखला क्षेत्रचतुर्थांशेनोच्चा विस्तृता च स्यात्। अथवा पचमेखला कार्या षट्पचचतुस्त्रिद्व्यंगुलै पारिभाषिकै विस्तृता। पचमेखलानामुदाहरण च। तत्रादिमान-भागपिण्डकोच्च यस्या सा पारिभाषिकनवांगुलोच्चा स्यात्।

अपरा मेखला तस्या अंशाश पचमाशस्तेन हीना भवन्ति । यथा एकहस्ते कुण्डे प्रथममेखला नवागुलोच्चा । अस्या पचमाश १।६।३।१५ एप एकद्वित्रिचतुर्गुण प्रथममेखलामाने न्यून कृत सन् तदधस्थाना मेखलानामौच्च्य स्यात् । यथेद द्वितीयमेखलाया औच्य ७।१।४।६।३ एवमपराणामपि द्रष्टव्यम् । ता मेखला सर्वा क्षेत्रचतुर्विंशतिभागमितात् कण्ठात् बहिरेव भवन्ति । कीदृश्य कुण्डानुकारा । योन्यादिकुण्डेषु योन्याद्याकारा एव स्यु । अपि एवार्थे । अथ नाभि । नाभिर्द्वादशाशेनोच्च षडशेन विस्तृत कुण्डानुकार । यादृश चतुरस्राद्याकारवत् कुण्ड तादृशी नाभि । चतुरस्राद्याकारवान् । अथवा नाभि अम्भोजसम कमलाकार कार्य । अथ नाभि अब्जे पद्मकुण्डे न भवति । तत्र नाभिरूपाया कर्णिकाया सत्वात् । अथ पद्माकारकरण नाभेरुच्यते । दलाग्रे दलाग्रनिमित्त द्व्यगुलविस्तारायामे नाभौ इनाशहानि द्वादशाशत्याग कार्य । शेप उर्वरित क्षेत्र तस्मिन् वृत्तत्रय समभागेन कार्यम् । तत्र मध्यचिह्नात् प्रथम वृत्त कर्णिकाद्वितीय वृत्त केशरस्थान तृतीये पत्राणि कार्याणि । तद्बहिरवशिष्टद्वादशाशेन विस्तृति ।

यदुक्त तन्त्रान्तरे–

चतुर्भिरगुलै स्वस्याश्चोन्नतिश्च समंतत ।
तस्याश्चोपरि वप्र स्याच्चतुरगुलमुन्नत ॥३७३५॥
अष्टाभिरगुलै सम्यक् विस्तृत तु समतत ।
तस्योपरि पुन कार्यो वप्रः सोऽपि तृतीयक ।
चतुरगुलविस्तीर्णश्चोन्नतश्च तथाविध ॥३७३६॥

अन्यच्च शारदायाम्–

योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभि विवर्जयेत् ।
नाभिक्षेत्र त्रिधा भित्वा मध्ये कुर्वीत कर्णिकाम् ॥३७३७॥
बहिरशद्वयेनाष्टौ पत्राणि परिकल्पयेत् ।
कुण्डानां कल्पयेदन्तर्नाभिमम्बुजसन्निभम् ॥३७३८॥
तत्तत् कुण्डानुरूप वा मानमस्य निगद्यते ।
मुष्टयरत्न्येकहस्तानां नाभिरुत्सेधतारत ।
द्वित्रिवेदागुलोपेतौ कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ॥३७३९॥ इति ।

योनिलक्षण क्रियासिद्धौ–

योनि कुण्डार्धदीर्घा विततिगुणलवादायताद्धिद्विभागा
तुगा तावत् समतात् परिधिरपरिगा तावदग्रेण रम्यम् ।
निम्न कुण्ड विशन्ती वलयवलयुगेनान्विताऽधो विशाला
मूलात् सच्छिद्रनालान्तरवररचिराश्वत्थपत्राकृति सा ॥३७४०॥

अस्यार्थ –योनिव्यासार्धेन दीर्घा विस्तारतृतीयांशेन विस्तीर्णा चतुर्विंशांशेनोच्चा चतुर्विंशांशेन परिधिर्मेखला यस्या सा तावतैवाग्रेण चतुर्विंशांशेन निम्न यथा स्यात् तथा कुण्ड प्रविशन्ती वलयदलयुगेन वृत्तार्धद्वयेन युता अधो विशाला अर्थादुपरि स्वल्पसकोचवती मूलात् सकाशान्मध्ये सच्छिद्र नाल यस्या सा पद्मनालाकारत्वात् नालोक्ति । अन्तर्मध्ये अवटो गर्त्त घृतधारणार्थ यद् वृत्तेन रुचिरा सुन्दरा सा अश्वत्थपत्राकृतिर्यस्या इत्यर्थ ।

शारदायाम्–

होतुरग्रे योनिरासामुपर्यश्वत्थपत्रवत् ।
मुष्टचरत्न्येकहस्ताना कुण्डाना योनिरीरिता ॥३७४१॥

षट् चतुर्द्व्यंगुलायामविस्तारोन्नतिशालिनी ।
एकांगुल तु योन्यग्र कुर्यादीषदधोमुखम् ॥३७४२॥

एकैकांगुलतो योनि कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्धयेत् ॥३७४३॥

स्थलादारभ्य नाल स्यात् योन्या मध्ये सरन्ध्रकम् ।
नार्पयेत् कुण्डकोणेषु योनि ता तत्रवित्तम ॥३७४४॥ इति ।

त्रैलोक्यसारे–

दैर्घ्यात् सूर्यांगुला योनिस्त्र्यंशोना विस्तरेण तु ।
एकांगुलोच्छ्रिता सा तु प्रविष्टाभ्यन्तरे स्थिता ॥३७४५॥

कुम्भद्वयार्द्धसयुक्ता चाश्वत्थदलवन्मता ।
अगुष्ठमेखलायुक्ता मध्ये त्वाज्यधृति स्थिता ॥३७४६॥

अत्र ग्रन्थगौरवभयाद् दशहस्तकुण्डान्त प्रत्येक योनि तदग्रादीना मानञ्च नोक्तम् । तथापि किंचिल्लिख्यते–

आयामश्चार्धविस्तृत्या सत्र्यशोनोऽथ विस्तृति ।
विस्तारतुर्योन्नति स्यादुन्नत्यर्धं तदग्रकम् ॥३७४७॥

एकैकांगुलतो योनि कुण्डेष्वन्येषु वर्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्धयेत् ॥३७४८॥ इति ।

इय च योनि कुण्डाकारैव होतुरग्रे । पर च वेदी यथा पृष्ठभागे न पतति, होतुश्च प्राङ्मुखता उदङ्मुखता वा भवति तथा केषाचित् पश्चिममेखलोपरि केषाचित् दक्षिणमेखलोपरि स्थापनीया ।

तदुक्त सोमशर्मा, त्रैलोक्यसारे च–

पूर्वाग्नियाम्यकुण्डाना योनि. स्यादुत्तरानना ।
पूर्वानना तु शेषाणामैशान्येऽन्यतरा तयो ।
होमकृत्पुरत स्थाप्या दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ॥३७४६॥

क्रियासारे–

स्थिरार्चने चरार्चाया नित्ये हवनकर्मणि ।
कुण्डमेककर वृत्त मेखला कठनाभिमत् ।
चतुरस्र च दीक्षाया शान्तौ पुष्टौ शुभ समम् ॥३७५०॥

सिद्धान्तशेखरेऽपि–

हस्तमात्राणि सर्वाणि दीक्षासु स्थापनादिषु ।
नित्य होमे च साहस्रे कुर्यात् कुण्डानि सर्वदा ॥३७५१॥
त्यक्त्वा सर्पस्य गात्र च शिरोदेश प्रयत्नत ।
कुण्डाना खनन विद्वान् विदधीत यथातथम् ॥३७५२॥
शिरोघाते भवेन्मृत्यु गात्रे च पितृघातनम् ।
पृष्ठे च दु खसभूति क्रोडे सर्वार्थसाधनम् ॥३७५३॥

वास्तोरगनिर्णयो यथा–

वास्तुप्रमाणेन तु गात्रकेन वामेन शेते खलु नित्यकालम् ।
त्रिभिस्तु मासै परिवर्त्य भूमौ त वास्तुनाग प्रवदन्ति सन्त ॥३७५४॥
भाद्रादिके वासवदिक्शिर ।
स्यान्मार्गादिकेषु त्रिषु याम्यमूर्धा ।
प्रत्यक् शिरा स्यात् खलु फाल्गुनादौ
ज्येष्ठादिकौबेरशिरा स नाग ॥३७५५॥

अथ कुण्डावयववर्णनम्–

कुण्डरूप तु जानीयात् परम प्रकृते र्वपु ।
प्राच्यां शिर समाख्यात बाहू दक्षिणसौम्ययो ।
उदर कुण्डमित्युक्त योनि पादौ च पश्चिमे ॥३७५६॥

क्रियासारेऽपि–

पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्त कुण्ड तालप्रमाणकम् ।
उक्त चरार्चने चैव न स्थिरे तु चतुर्भुरा[1] ॥३७५७॥

१ तार्न विनाग्नि ।

कुण्डमत्रोक्तमार्गेण निर्माथाथ सुलक्षणम् ।
क्षत्रियोऽपि समृद्धो वा शूद्रस्ताम्रेण वधयेत् ॥३७५८॥
तदलाभे त्विष्टिकाभि सवध्य मुदृढ यथा ।
पूर्वोदितप्रकारेण लेपयेत् सुधया तथा ॥३७५९॥
ताम्रेण लक्षणोपेत कुर्यान् मृत्तिकयापि वा ।
एतत्कुण्ड चरार्चाया गृह्णीयान्न स्थिरार्चने ॥३७६०॥
अम्लेन ताम्रक कुण्ड मृण्मय गोमयाभसा ।
सौध च सुधया सम्यक् शोधयेदमरर्षभ ॥३७६१॥
मृण्मयाना तु कुण्डाना परित सधिभि· सह ।
रक्तमृच्छालिपिष्टाभ्या भूषयेद् हृक्प्रिय यथा ॥३७६२॥ इति ।

अत्रोक्तकुण्डाना न्यूनाधिकयेऽन्यथाभावे वा दोषमाह विश्वकर्मा–

खाताधिके भवेद् रोगी हीने धेनुधनक्षय ।
वक्रकुण्डे तु सन्तापो मरण छिन्नमेखले ॥३७६३॥
मेखलारहिते शोकोऽभ्यधिके वित्तसक्षय ।
भार्याविनाशन कुण्ड प्रोक्त योन्या विनाकृतम् ।
अपत्यध्वसन प्रोक्त कुण्ड यत् कण्ठवर्जितम् ॥३७६४॥ इति ।

क्रियासारेऽपि–

न्यूनाधिकप्रमाण यत् कुण्ड जर्जरमेखलम् ।
शृ गाररहित यच्च यजमानविनाशकृत् ॥३७६५॥ इति ।

आगमान्तरेऽपि–

मानाधिके भवेन्मृत्यु र्मानहीने दरिद्रता । इति ।

वसिष्ठसहितायामपि–

अनेकदोषद कुण्डमत्र न्यूनाधिक यदि ।
तस्मात् सम्यक् परीक्ष्येद कर्तव्य शुभमिच्छता ॥३७६६॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि–

मानहीने महाव्याधिरधिके शत्रुवर्धनम् ।
योनिहीने त्वपस्मारो वाग्दण्ड कण्ठवर्जिते ॥३७६७॥

जयद्रथयामलेऽपि–

सूत्राधिके सुहृद्द्वेषो मानहीने दरिद्रता ।
वाग्रोध कण्ठहीने स्यादसिद्धि र्न्यूनखातके ॥३७६८॥
अधिके वासुरो भोगो मानेनाधिकमेखले ।
व्याधय सप्रवर्धन्ते वीतोष्ठे स्यादपस्मृति' ।
उच्चाट स्फुटिते छिद्रसकुले वाच्यता भवेत्॥३७६९॥ इति ।

पूर्वोक्त तत्तद्दिशिकुण्डकरणे एव ज्ञेय ।

तदुक्त सिद्धान्तशेखरे–

योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेय्यामुत्तरामुखम् ।
प्रजावृद्धौ च तापे स्यादर्धचन्द्रमथोच्यते ॥३७७०॥
याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुख सदा ।
नैर्ऋत्ये त्र्यस्त्रिकुण्ड स्याद् विद्वेषे पूर्ववक्त्रकम् ॥३७७१॥
वृत्त कुण्डमयो वक्ष्ये वारुण्या शातिके हितम् ।
षडस्रमुच्यते कुण्ड वायावुच्चाटने पटुः ॥३७७२॥
पद्मकुण्डमथो वक्ष्ये सौम्ये तत्पुष्टिवर्धनम् ।
वक्ष्ये कुण्डमथाष्टास्रमीशान्ये सर्वकामदम् ॥३७७३। इति ॥

क्रियासारे तु–

दिग्देशकुण्डनिर्मुक्तो योऽनलो लौकिको हि स ।
तस्माद् दिग्देशकुण्डानि सग्राह्यान्युक्तलक्षणे ।
कुण्डमेवविध न स्यात् स्थडिल च समाश्रयेत् ॥३७७४॥

वसिष्ठसहितायामपि–

इषुमात्र स्थण्डिल वा सक्षिप्ते होमकर्मणि ।

क्रियासारे तु स्थडिले देशविशेषोऽप्युक्त–

होमोऽष्टदिक्षु प्राक्प्रह प्रागुदक्प्रवणोऽथवा ।
उदक्प्रह प्रदेशो वा स्थडिलस्य स्थल स्मृतम् ॥३७७५॥

पिंगलामते तु विशेष –

होमे प्रशस्यते कुण्ड स्थडिल वा हसन्तिका । इति ।

वायवीयसहितायामपि–

श्रथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा ।
वेद्यां वाप्यायसे पात्रे मृण्मये वा नवे शुभे ।
स्थण्डिल वालुकाभि र्वा रक्तमृद्रजसापि वा ॥३७७६॥

शारदायामपि–

नित्य नैमित्तिकं होम स्थण्डिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रेण तत् कुर्याद् वालुकाभि सुशोभनम् ।
श्रगुलोत्सेधसयुक्त चतुरस्र समन्तत ॥३७७७। इति ॥

कुण्डसिद्धावपि–

श्रथवापि मृदा सुवर्णभासा करमान चतुरगुलोच्चमल्पे ।
हवने विदधीत चागुलोच्च विबुधस्थण्डिलमेव वेदकोणम्॥३७७८।इति।

तन्त्रान्तरे–

मृदा स्वर्णाभया वापि सूक्ष्मवालुकयापि वा ।
श्र गुलोच्च तथा वेदागुलोच्च स्थण्डिल विदु ॥३७७९॥
चतु'कोणमुदक्प्राचीप्लवमल्पाहुतौ शुभम् ।
पचागुलोच्चमथवा वस्वगुलसमुन्नतम् ॥३७८०। इति ॥
यथोक्तानि विधायाथ कुण्डानि मण्डलान्यथ ।
रचयेदुक्तमार्गेण यागपूर्तिकराणि च ॥३७८१॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे कुण्डस्थण्डिलादिरचनाविधि र्नाम एकविंश पटल ॥२१॥

द्वाविंशः पटलः ।

मण्डलानि च शारदायाम्–

श्रथ वेद्या प्रकुर्वीत मण्डलानि यथाक्रमात् ।

श्रादौ सर्वतोभद्रम्–

चतुरस्रे चतुष्कोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते ।
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कर्णसूत्रचतुष्टयम् ॥३७८२॥

वास्तुमण्डलोक्तरीत्या कर्णसूत्रद्वयसहित चतुष्कोष्ठयुक्त चतुरस्र कुर्यादित्यर्थ ।

मध्ये मध्ये यथा मत्स्या भवेयुः पातयेत् तथा ।
पूर्वापरायते द्वे द्वे मंत्री याम्योत्तरायते ।
पातयेत् तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम् ॥३७८३॥ इति ।

षोडशकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह–चतुर्षु कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्कं तथा दद्याद् यथा मध्ये मध्ये मत्स्या भवेयु । मन्त्री तेषु मत्स्येषु द्वे प्रागपरायते द्वे याम्योत्तरायते । इद सम सूत्रचतुष्टय पातयेदिति सम्बन्ध । एव षोडशकोष्ठी संपन्ना भवतीयर्थ ।

पूर्ववत् कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत् ।
तदुद्भूतेषु मत्स्येषु दद्यात् सूत्रचतुष्टयम् ।
तत कोष्ठेषु मत्स्याः स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत् ॥३७८४॥

यावत् शतद्वयं मंत्री षट्पंचाशत् पदान्यपि ।
तावत् तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥३७८५॥ इति ।

चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह– पूर्ववदित्यादिना । कोणगतचतु कोष्ठेषु पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्कं दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्केषु पूर्ववत् प्रागग्रे उदगग्रे च द्वे सूत्रे दद्यात् । एतत् सूत्रचतुष्कपातोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्यचतुष्के पुन द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात् । एव चतु षष्टिकोष्ठानि संपद्यन्ते । तेनैव विधिनेत्यस्यायमर्थ । कोणकोष्ठचतुष्के पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्टय दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्के द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात् । तत एतत्सूत्रचतुष्कोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्येषु षट् प्रागग्राणि षडुदगग्राणि दद्यात् । एव षट् पचाशदुत्तरशतद्वयकोष्ठानि संपद्यन्त इत्यर्थ ।

षट्त्रिंशता पदैः मध्ये लिखेत् पद्म सुलक्षणम् ।
बहिः पक्त्या भवेत् पीठ पंक्तियुग्मेन वीथिका ।
द्वारशोभोपशोभास्रान् शिष्टाभ्या परिकल्पयेत् ॥३७८६॥ इति ।

कोष्ठाना विनियोगमाह–षट्त्रिंशतेति । पद्मलेखनप्रकारमनन्तरमेव वक्ष्यति । बहिरिति त्रिषु स्थानेष्वन्वेति । बहि पङ्क्त्या परित अष्टाविंशतिकोष्ठात्मिकया वक्ष्यमाणरीत्या पीठ कुर्यादित्यर्थ ।

शास्त्रोक्तविधिना मन्त्री तत पद्मं समालिखेत् ।
पद्मक्षेत्रस्य सत्यज्य द्वादशांश बहि सुधी ॥
तन्मध्य विभजेद् वृत्तैस्त्रिभि' समविभागत ॥३७८७॥
आद्य स्यात् कर्णिकास्थान केशराणां द्वितीयकम् ।
तृतीय तत्र पद्मानां मुक्तांशेन दलाग्रकम् ॥३७८८॥ इति ।

पद्मकरणप्रकारमाह–शास्त्रेति । तत्र षट्त्रिंशत्पदात्मक पद्मक्षेत्रं तद्दिक्-सूत्रद्वयेन कर्णसूत्रद्वयेन चाष्टधा भेदित वर्तते, तान्येव सूत्राणि यत्र मध्यसूत्राणि तत्र

प्रकार । पद्मक्षेत्रायाम द्वादशधा विभज्य एकाश सर्वतो वहिस्त्यजेत् । ततो दश भागान् पोढा विभज्य मध्ये सूत्रादि सस्थाप्य अशद्वयेनैक वृत्त तदुपर्यंशद्वयेनापर तदुपर्यंशद्वयेनान्यदिति वृत्तत्रय कुर्यात् । आद्यमित्याद्युक्तिस्तु वक्ष्यमाणागावरणादीनां स्थानसूचनायेत्यवधेयम् । मुक्ताशेनेति द्वादशाशेन तत्र वृत्तमग्रे वक्ष्यतीत्यर्थ ।

वाह्यवृत्तान्तरालस्य मानं यद्विधिना सुधी ।
निधाय केसराग्रेषु परितोऽर्धनिशाकरान् ॥३७९२॥
लिखित्वा सधिसस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत् ।

वाह्येति । वाह्य यत्पत्रवृत्त तस्य यदन्तराल तस्य मानेन सुधी केसराग्रेषु केसरवृत्ताग्रे निधाय सूत्रादिमिति शेष । विधिना परित उभयत पद्ममध्यसूत्राणामिति शेष । अर्धनिशाकरान् लिखित्वा सधिसस्थानि अर्द्धनिशाकरसन्धिसस्थानि चत्वारि सूत्राणि तत्र पातयेदिति सबन्ध । मान यद्विधिनेति पाठे वाह्यवृत्तान्तरालस्य यन्मान तेन विधिना तेन मानेनेत्यर्थ । तथाय विधि –यत्र वृत्तान्तरालमितसूत्र केसरवृत्तदिक्-सूत्रसपाते सस्थाप्य तद्दिक्सूत्रोभयत यत्र वृत्तस्पर्धी केसरवृत्तलग्नावद्वय अर्धचन्द्र लिखेत् । एव चतुर्षु दिक्सूत्रेषु चतुर्षु कोणसूत्रेषु च कृतेऽष्टावर्धचन्द्रा जायन्ते । एतच्च केसराग्रेष्विति वहुवचनादेव लभ्यते । यतोऽष्टपत्रमध्येऽष्टौ केसरस्थानानि ततोऽष्टदल सिद्धिरिति । ततोऽर्धचन्द्रयो परस्परसपातरूपाष्टसधिषु सम्मुखीनयोरेकैक सूत्र दद्यात् । एवमष्टपत्राणामप्यष्टौ सीमारेखा उत्पद्यन्ते । सध्यधोवर्त्तिसीमारेखोभयत स्थितोऽर्धनिशाकराशो मार्जनीय इति ।

दलाग्राणा च यन्मान तन्मानाद् वृत्तमालिखेत् ॥३७९३॥
तदन्तरालतन्मध्यसूत्रस्योभयत सुधी ।
आलिखेद् वाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्तत ॥३७९४॥ इति ।

चतुर्थवृत्तमाह–दलाग्राणा यन्मान वहिस्त्यक्त्वा द्वादशाशरूप तन्मान चतुर्थं वृत्त कुर्यात् । दलाग्रकरणप्रकार तु–तदिति । तदन्तराले कृतदलाग्रवृत्तान्तराले । तन्मध्यसूत्रस्य पत्रमध्यसूत्रस्योभयत वाह्यहस्तेन समततो दिक्षु विदिक्ष्वपि दलाग्राणि सुधीरालिखेदिति सबन्ध । तत्र प्रकार – चतुर्थवृत्तान्तराले पत्रमध्यसूत्रोभयत सधि-सूत्रस्याग्रे सूत्रादि निधाय मध्यवृत्तत दलाग्रवृत्तपत्रमध्यसूत्रसपातपर्यन्त सूत्रद्वय दद्यात् । तत्र सूत्रप्रान्त एक , पत्रस्पर्शी द्वितीय । दलाग्रमध्यसूत्रसपातस्पर्शी सूत्रद्वयाग्र-भागश्च परस्पराभिमुखो यथा स्यादित्येतदर्थो वाह्यहस्तेनेत्युक्त ।

तत्र कर्णिकावृत्त त्यक्त्वा वाह्यस्थत्रीणि वृत्तानि पद्मपत्रमध्यरेखाश्च सम्यक मार्जयेत् । यथाष्टदलपद्म दृष्टिमनोहर दृश्यत इत्यर्थ ।

दलमूलेषु युगश केसराणि प्रकल्पयेत् ।
एतत् साधारण प्रोक्त पकज तन्त्रवेदिभि ॥३७९५॥

पदानि त्रीणि पीठार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ।
अवशिष्टैः पदैर्विद्वान् गात्राणि परिकल्पयेत् ॥३७९६॥

केसरप्रकारमाह– दलेति । कर्णिकावृत्तस्पर्शी स्वधिगतपत्रसीमासूत्रान्तराले पत्रमध्यसूत्रस्योभयत एकैकस्मिन् पत्रे द्वौ द्वौ केसरौ कर्णिकावृत्तलग्नमूलौ केसरवृत्तलग्नाग्रौ अग्रे किंचित् स्थूलौ परस्परसमुखौ कुर्यात् । उपसंहरति-एतदिति । यत्र कुत्रापि पंकजं कुर्यादिति वक्ष्यति तत्राय प्रकारो ज्ञेय इति ।

पदानि वीथीसंस्थानि मार्जयेत् पंक्त्यभेदतः ।
दिक्षु द्वाराणि रचयेद् द्विचतुः कोष्ठकैस्ततः ॥३७९७॥

पीठं कुर्यादिति यदुक्तं तत्प्रकारमाह पदानीति । पीठार्थं स्थापितपंक्तौ एकैकं कोणकोष्ठं तदुभयपार्श्ववर्तिकोष्ठद्वयं च । एवं त्रीणि कोष्ठानि पदार्थं मार्जयेत् । अवशिष्टैश्चतुर्भिश्चतुर्भिः पदैः पीठगात्राणि कल्पयेत् । वीथ्यर्थं स्थापितपंक्तिद्वयस्यैकाकारेण मार्जनं कार्यम् । द्वाराण्याह–दिक्ष्विति । द्वाराद्यर्थं परितः स्थापितपंक्तिद्वयमध्ये चतुर्दिक्षु द्वारचतुष्टयार्थं आन्तरपंक्तिस्थमध्यसूत्रोभयपार्श्ववर्तिकोष्ठद्वयं तथा बाह्यपंक्तिस्थमध्यसूत्रपार्श्ववर्तिकोष्ठचतुष्टयं मार्जयेत् । एवं चत्वारि द्वाराणि स्युरित्यर्थः ।

पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्युर्द्वारपार्श्वयोः ।

शोभामाह–पदैरिति । अन्तःपंक्तिस्थानि द्वारपार्श्वद्वयगतानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थद्वारपार्श्वद्वयगतमेकैकं कोष्ठं मार्जयेदेवमष्टौ शोभाः स्युरित्यर्थः ।

उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ॥३७९८॥

उपशोभा इति । अन्तःपंक्तिस्थं शोभालग्नमेकैकं कोष्ठं त्रीणि त्रीणि बाह्यपंक्तिकोष्ठानि मार्जयेत् । एवमष्टावुपशोभाः स्युरित्यर्थः ।

अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ।

अवशिष्टैरिति । उभयतः उपशोभालग्नान्यन्तःपंक्तिस्थानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थानि च त्रीणि कोष्ठानि मार्जयेत् । एवं चत्वारः कोणाः स्युरित्यर्थः ।

रञ्जयेत् पंचभिर्वर्णैर्मण्डलं तन्मनोहरम् ॥३७९९॥
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तण्डुलसंभवम् ।
कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम् ॥३८००॥

बिल्वादिपत्रजं श्याममित्युक्तं वर्णपंचकम् ।

मण्डलरंजनार्थं पंचवर्णानाह–रञ्जयेदिति । पुलाकजं तुच्छधान्यजम् । 'पुलाकस्तुच्छधान्यं स्यात्' इति त्रिकाण्डशेषः । तत्प्रक्रिया यथा–तुच्छधान्यस्यार्धदाहावसरे

दुग्धादिना सिक्त्वा ततो वस्त्रगालित चूर्णं कुर्यात् । श्यामशब्देनात्र हरिद्वर्णो गृह्यत इत्यर्थ ।

अगुलोत्सेधविस्तारा सीमारेखा सिता शुभा ॥३८०१॥ इति ।

सीमारेखा इति सर्वा ।

कर्णिका पीतवर्णेन केसराण्यरुणेन च ।
शुभ्रवर्णेन पत्राणि तत्सधि श्यामलेन च ।
रजसा रजयेन्मन्त्री··· ·· · · · ॥३८०२॥ इति ।

महाकपिलपचरात्रे तु विशेष –

पीत क्षितिस्तु विज्ञेया शुक्लमाप प्रकीर्तिता ।
तेजो वै रक्तवर्णं स्यात् श्याम वायु प्रकीर्तित ॥३८०३॥

आकाश कृष्णवर्णं तु पचम तु महामुने ।
सितेऽधिदेवता रुद्रो रक्ते ब्रह्माधिदेवता ॥३८०४॥

पीतेऽधिदेवता विष्णु कृष्णे चैवाच्युत स्मृत ।
श्यामेऽधिदेवता नाग समाख्यातो मयाऽनघ ॥३८०५॥

शुक्ल गृहापदो हन्ति रक्त क्रूरगणोद्भवम् ।
कृष्ण सर्वासुरोत्साह नील वैनायकीं तथा ।
पैशाचीं राक्षसीं चैव निहन्ति हरित रज ॥३८०६॥

तस्माद् होमेऽभिषेके च यागे चैव विशेषत ।
रचयेन्मण्डल तैस्तु देवसतुष्टिकारकम् ॥३८०७ ॥ इति ।

तत्रान्तरे तु–

शक्तस्तु वाञ्छेद् यदि सिद्धिमुग्रा तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि ।
आभूषयेन्मौक्तिकपुष्परागमाणिक्यनीलैर्हरितैश्च रत्नै ॥३३०८॥ इति ।

शारदायाम्–

यद्वा पीतैव कर्णिका ।
केसरा पीतरक्ता स्यु अरुणानि दलानि च ।

रंजयेत् पीठगर्भाणि पादा स्युररुणप्रभा ।
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु चतसृष्वपि ।
आलिखेत् कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विता ॥३८१०॥ इति ।

पूर्वं श्वेतकमलमुक्त्वा रक्तकमलमाह–यद्वेति । विष्णुशक्तिशिवदीक्षादौ तु व्यवस्थितिविकल्पो ज्ञेय । पीतैवेति–द्वितीयपक्षेऽपि । पक्षान्तर समाप्य प्रकृतमाह–पीतेनेति स्वेच्छया विकल्पोऽयम् ।

पीठगर्भाणीति । कमलक्षेत्रकोणात् तत्र गर्भमेषामस्तीति गर्भं कोणस्थानम् । तस्येति पीठस्य । कल्पलतिकालेखनमुपदेशतो ज्ञेयम् । वहिरिति सर्ववाह्यकृतसीमा-रेखा या वाह्येत्यर्थ ।

वसिष्ठसहिताया तु विशेष –

पूर्वे पीत सित देय पश्चिमेऽप्युत्तरे तथा ।
रक्त तु दक्षिणे कृष्ण पाटल वह्निसस्थितम् ॥३८११॥
नैर्ऋत्ये नीलवर्णं तु वायव्ये धूम्रवर्णकम् ।
ईशे गौर विनिर्दिष्टमष्टपत्रेष्वय क्रम ॥३८१२॥ इति ।

शारदायाम्–

वर्णैर्नानाविधैश्चित्रं सर्वदृष्टिमनोहरा ।
द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ता समीरिता ॥३८१३॥
उपशोभा पीतवर्णा कोणान्यसितभासि च ।
तिस्रो रेखा बहि कुर्यात् सितरक्तासिता क्रमात् ।
मण्डल सर्वतोभद्रमेतत्साधारण मतम् ॥३८१४॥ इति ।

अथ मण्डलान्तरम्, शारदायाम्–

चतुरस्रा भुव भित्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधी ।
पातयेत् तत्र सूत्राणि कोष्ठाना दृश्यते शतम् ॥३८१५॥
चतुश्चत्वारिंशदाढ्य पश्चात् षट्त्रिंशताम्बुजम् ।
कोष्ठै प्रकल्पयेत् पीठ पक्त्या नवात्र वीथिका ।
द्वारशोभे यथा पूर्वमुपशोभा न दृश्यते ॥३८१६॥ इति ।

चतुरस्रामिति । अत्र मत्स्योत्पादनप्रकारासभवात् दिग्भ्यो द्वादशधेत्युक्ति । तत्र चतुर्दिक्षु द्वादशधा भूमि विभज्य तत्र सूत्राणि पातयेदिति । तत्र प्रकार –पूर्ववत् षोडशकोष्ठानि कृत्वा तेष्वेक कोष्ठ समाशेन त्रेधा विभज्य तच्चिह्नद्वये प्रागग्र सूत्र-

द्वय दद्यात्। एतत्सूत्रद्वयसंपातोत्पन्नप्रतिकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वेषु द्वे द्वे उदगग्रे सूत्रे। सूत्र एव उदगग्रामष्टसूत्री पातयेत्। तत तत्सूत्रसंपातोत्पन्नकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वे प्रागग्रे। एव प्रागग्रा पट्सूत्री दद्यात्। एवमेकशतचतुश्चत्वारिंशत्कोष्ठानि जायन्ते। कोष्ठै-रिति पूर्वत्रान्वेति। अम्बुजमुक्तप्रकारेणैव पक्त्या पीठ पूर्ववदेव।

अवशिष्टै पदै कुर्यात् पड्भि कोणानि तत्रवित्।
विदध्यात् पूर्ववत् शेपमेव वा मडल शुभम् ॥३८१५॥ इति।

अवशिष्टैरिति। तत्रैक पदमन्त पक्तिस्थ पंचकोष्ठानि बाह्यपंक्तिस्थानि, एव पड्भिरित्यर्थ। शेपमिति रजनबाह्यरेखात्रयकरणादि।

अथ नवनाभमडलम्—

चतुरस्रे चतु षष्टिपदान्यारचयेत् सुधी।
पादैश्चतुर्भि पद्म स्यान्मध्ये तत्परित पुन ॥३८१८॥

वीथीश्चतस्र कुर्वन्ति मडलान्तावसानिका।
दिग्गतेपु चतुष्केपु पकजानि समालिखेत् ॥३८१९॥

विदिग्गतचतुष्कानि भित्त्वा पोडशधा सुधी।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारान् श्वेतपीतारुणासितै ॥३८२०॥

रजोभि पूरयेत् तानि स्वस्तिकानि शिवादित।
प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेपमन्यत् समापयेत् ॥३८२१॥

नवनाभमण्डलमाह—चतुरस्रमिति। तत्र पूर्ववत् चतु षष्टिकोष्ठानि कृत्वा तत्र मध्यचतुष्के पूर्ववत् पद्म ततश्चतुर्दिक्षु अष्टाष्टकोष्ठिका चतस्रो वीथी कुर्यात्। एवमष्टदिक्षु चतुष्कोष्ठाष्टकमवशिष्यते। तत् भित्त्वा पोडशधेति पूर्ववदेव मार्जयेत्। मार्जनप्रकारस्तु पोडशधेति कोष्ठेपु मध्यचतुष्कस्यैकैक कोष्ठ परस्परविरुद्धैकैक-दिशि समार्ज्य तत् सलग्नबाह्यवीथ्या कोणकोष्ठादिकोष्ठत्रय तद्दिक्स्थमेव मार्ज-येत्। एवमुपशोभाकारवत् चत्वारि कोष्ठानि मार्जितानि स्वस्तिकाकाराणि संपद्यन्ते। केचित्त्वन्यथा मार्जनमाहु—मध्यचतुष्कस्य पूर्वदिग्गतकोष्ठद्वय पूर्वदिशि समार्ज्य तल्लग्न बाह्यवीथिस्थ दक्षिणदिक्पर्यन्त कोष्ठद्वय मार्जयेत्। एव दक्षिणदिग्गतकोष्ठ-द्वय दक्षिणदिशि समार्ज्य तल्लग्न वीथिस्थ पश्चिमदिक्पर्यन्त कोष्ठद्वय पश्चिमदिशि समार्ज्य तल्लग्न बाह्यवीथिस्थ उत्तरान्तकोष्ठद्वय मार्जयेत्। पक्षद्वयमपि साम्प्रदायिक-मेव। शिवादित ईशानादित वायव्यान्तम्। शेपमिति पद्मरजनादिवीथिषु कल्पलता-लेखन रेखात्रय च स्वस्तिकवर्जमिति। स्वस्तिकचतुरस्र मार्जयेदित्यर्थ। चतुष्टयमिति एषा विषय उक्त।

प्रयोगसारे नवनाभमुक्त्वा—

कलशाना नवाना तु प्रोक्तमेतत् पर पदम् ।
तथा प्राक् प्रस्तुते स्थाने पद्म सकल्प्य पूर्ववत् ॥३८२२॥
वीथीस्तद्वच्च सयोज्य चतुष्टयचतुष्टये ।
स्वस्तिकान्यालिखेद् दिक्षु कोणकोष्ठानि मार्जयेत् ॥३८२३॥
पचाना कलशाना च पद स्यादेतदुत्तमम् ।
चतुरस्रोदितस्थाने तथा पद्म समालिखेत् ॥३८२४॥
कलशस्यैकदेवत्व प्रोक्त साधारण पदम् ।
नवनाभमिद प्रोक्त मण्डल सर्वसिद्धिदम् ॥३८२५॥
पचाब्जमण्डल प्रोक्तमेतत् स्वस्तिकवर्जितम् ।
दीक्षायां देवपूजार्थं मण्डलाना चतुष्टयम् ।
सर्वतन्त्रानुसारेण प्रोक्तमेतच्चतुष्टयम् ॥३८२६॥

इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे मण्डलरचनाकथन नाम
द्वाविंश पटल ॥२०॥

त्रयोविंशः पटलः ।

एव मण्डलमारच्य दीक्षा दद्याच्च श्रेयसे ।

तच्च प्रपचसारे—

अथ प्रवक्ष्ये विधिवन्मनूना दीक्षाविधान जगतो हिताय ।
यया विना नैव फल लभन्ते तेषा विधिज्ञा अपि साधकेन्द्रा ॥३८२७॥

मनूनामिति । मनु र्मन्त्र ।

मन्त्रशब्दव्युत्पत्ति पिंगलामते—

मनन विश्वविज्ञान त्राण ससारबधनात् ।
यत करोति ससिद्धो मत्र इत्युच्यते तत ॥३८२८॥

यामलेऽपि—

मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।
मत्र इत्युच्यते सम्यक् मदधिष्ठानत शिवे ॥३८२९॥ इति ।

सा तु चतुर्विधा मन्त्रशिवशक्तिविष्णुभेदात् ।

मदुक्तमीशानशिवेन-

सामान्यभूता खलु मान्त्रिकी स्याद् दीक्षा स्मृता मन्त्रगणेषु तद्वत् ।
वर्णेषु चापि द्विजपूर्वकेषु स्यात् शैवशाक्तेष्वपि वैष्णवेषु ॥३८३०॥

तत्र शिव विष्णु-शक्ति-दीक्षा तत् तत् तन्त्रतो ज्ञेया ।

प्रयोगसारे च-

मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात् कृत्वेष्टदेवताम् ।
गुरुश्चोद्बोधयेत् शिष्य मन्त्रदीक्षेति सोच्यते ॥३८३१॥

षडन्वयमहारत्नेऽपि-

त्रिविधा सा भवेद् दीक्षा प्रथमा आणवी परा ।
शाक्तेयी शाम्भवी चान्या सद्यो मुक्तिविधायिनी ॥३८३२॥
मन्त्रार्चनासनस्थानध्यानोपायादिभि कृता ।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥३८३३॥
सिद्धो स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशो ।
निरुपाय कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥३८३४॥
अभिसंधि विनाऽऽचार्य शिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी ।
सेय तु शाम्भवी दीक्षा शिवादेशनकारिणी ॥३८३५॥ इति ।

आणवी तु दशविधा तत्र षडन्वयमहारत्ने-

आणवी बहुधा दीक्षा शाक्तेयी शाम्भवी पुन ।
एकधैवेति विद्वद्भि पठ्यते शास्त्रकोविदै ॥३८३६॥
आणवी बहुधा प्रोक्ता तद्भेदमधुनोच्यते ।
स्मार्ती मानसिकी योगी चाक्षुषी स्पर्शिनी तथा ॥३८३७॥
वाचिकी मान्त्रिकी हौत्री शास्त्री चेत्यभिषेचिकी ।
विदेशस्थ गुरु शिष्य स्मृत्वा पाशत्रय क्रमात् ॥३८३८॥
विश्लेष्य लयभोगागविधानेन परे शिवे ।
सम्यग्योजनरूपैषा स्मार्ती दीक्षेति कथ्यते ॥३८३९॥

स्वसनिधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिः ।
मलत्रयादुपायं र्या मोचिकी सा तु मानसी ॥३८४०॥
योगोक्तक्रमतो योगी शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजनात्मिका ॥३८४१॥
योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ।
शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षरण करुणार्द्रया ॥३८४२॥
दृशा सा चाक्षुषी दीक्षा सर्वपापप्रणाशिनी ।
स्वयं परशिवो भूत्वा निःसदिग्धमना गुरुः ॥३८४३॥
शिवहस्तेन शिष्यस्य समत्र मूर्ध्नि सस्पृशेत् ।
स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी ॥३८४४॥

शिवहस्तलक्षणं सोमशम्भौ–

गन्धैः मंडलकं स्वीये विदध्याद् दक्षिणे करे ।
विधिना चार्चयेद् देवमित्थं स्यात् शिवहस्तकम् ॥३८४५॥ इति ।
शिष्यवक्त्रं निजं वक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेण दिव्य मन्त्रादिकं शिशौ ।
मुद्रान्यासादिभिः सार्धं दद्यात् सेयं हि वाचिकी ॥३८४६॥
दीक्षा परा तथा मन्त्रन्याससयुक्तविग्रहः ।
स्वयं मन्त्रतनुं भूत्वा सक्रमं मन्त्रमादरात् ॥३८४७॥
दद्यात् शिष्याय सा दीक्षा मान्त्री मलविघातिनी ।
कुण्डे वा स्थण्डिले वापि निःक्षिप्याग्निं विधानतः ॥३८४८॥
लययोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ।
मन्त्रवर्णकलातत्त्वपदविष्टरमेव च ॥ ३८४९॥
शुद्धयर्थं होमरूपैया हौत्री दीक्षा समीरिता ।
योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषार्चापराय च ॥३८५०॥
सार्धं शास्त्रपदा त्रय्या शास्त्री दीक्षेति सोच्यते ।
शिवं च शिवपत्नीं च कुम्भे सपूज्य सादरम् ।
शिवकुम्भाभिषेकात् सा दीक्षा स्यादभिषेचिकी ॥३८५१॥ इति ।

वायवीयसहितायामपि–

शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे ।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥३८५२॥

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् सभापणादपि ।
सद्य सज्ञा भवेज्जन्तो र्दीक्षा सा शाम्भवी मता ॥॥३८५३॥

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेह प्रविश्य तु ।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ।
मान्त्री क्रियावती दीक्षाकुम्भमण्डलपूर्विका ॥३८५४॥ इति ।

दीक्षाशब्दव्युत्पत्ति –

ददाति यस्मादिह दिव्यभाव मायामले कर्म च सक्षिणोति ।
सर्व चतुर्वर्गफल च यस्मात् तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्या ॥३८५५॥

दद्यात् क्षयमित्यनयोराद्यर्णमादायेय निरुक्ति ।

शारदाया च–

चतुर्विधा या सदिष्टा क्रियावत्यादिभेदत ।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि ॥३८५६॥

ता क्रमेणैव कथ्यन्ते तत्रेऽस्मिन् सप्रदायत ।
देशिको विधिवत् स्नात्वा कृत्वा पूर्वाह्निकी क्रिया ॥३८५७॥

यायादलकृतो मौनी यागार्थं यागमण्डपम् ।
आचम्य विधिवत् तत्र सामान्यार्घं विधाय च ॥३८५८॥

अस्त्रमत्राम्बुभि प्रोक्ष्य द्वारपूजा समाचरेत् ।
ऊर्ध्वोदुम्बरके विघ्न महालक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥३८५९॥

ततो दक्षिणशाखाया विघ्न क्षेत्रेशमन्तत ।
तयो पार्श्वयुगे गगायमुने पुष्पवारिभि ॥३८६०॥

धातार च विधातार शखपद्मनिधी तथा ।
देहल्यामर्चयेदस्त्र प्रविशत्स्मिति कपाट ॥३८६१॥

अनतर देशिकेन्द्रो दिव्यदृष्टचवलोकनात् ।
दिव्यानुत्सारयेद् विघ्नानस्त्राद्भिश्चान्तरिक्षगान् ।
पार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्विघ्नानिति विघ्नान् निवारयेत् ॥३८६२॥

किंचित् स्पृशन् वामशाखा देहलीं लघयेद् गुरुः ।
अग सकोचयन्नन्त प्रविशेद्दक्षिणाघ्रिणा ॥३८६३॥

नैर्ऋत्या दिशि वास्त्वीश ब्रह्माण च समर्चयेत् ।
पचगव्यार्घ्यतोयाभ्या प्रोक्षयेद् यागमण्डपम् ॥३८६४॥

चतुष्पथान्त तत् शुद्धि विदध्याद् वीक्षणादिभिः ।

चतुष्पथान्त मण्डपद्वारात् तोरणस्तभहस्तमात्राव्यवहारभू 'चतुष्पथ'शब्द-वाच्येत्यर्थ ।

वीक्षणं मूलमत्रेण शरेण प्रोक्षण मतम् ॥६८६५॥

तेनैव ताडन कुर्याद् वर्मणाऽभ्युक्षण मतम् ।
चदनागरुकर्पूरै धूपयेदन्तर सुधी ॥३८६६॥

विकिरान् विकिरेत् तत्र सप्त जप्तान् शराण्डना ।

शराण्डना, अस्त्रमत्रेण । अण्डशब्दो मत्रपर्याय आगमशास्त्रे ।

लाजाचदनसिद्धार्थभस्मदूर्वाकुशाक्षता ॥३८६७॥

विकिरा इति सदिष्टा सर्वविघ्नौघनाशना ।
अस्त्रजप्तेन दर्भाणा मुष्टिना मार्जयेच्च तान् ॥३८६८॥

सोमशभौ तु विशेष –

विकिरान् शुद्धलाजान् वा सप्तशस्त्राभिमत्रितान् ।
अस्त्राम्बुप्रोक्षितानेतान् कवचेनावगुठितान् ॥३८६९॥

नानाप्रहरणाकारान् विघ्नौघविनिवारकान् ।
दर्भाणा तालमानेन कृता षट्त्रिंशता दलै ॥३८७०॥

सप्तजप्ता शिवास्त्रेण मुष्टिं बोधासिमुत्तमम् ।
ईशस्य दिशि वर्धन्या आसनाय प्रकल्पयेत् ॥३८७१॥

ताल वितरितका। सनाल पात्र वर्धनी, तस्या आसनाय ईशदिशि तान् विकिरान् प्रकल्पयेत् स्थापयेदिति।

पुण्याह् वाचयित्वा च ब्राह्मणान् परितोष्य च।
उक्तेषु मण्डलेष्वेकवेदिकायां समालिखेत् ॥३८७२॥

एक मण्डलमिति।

विशेन् मृद्वासने मंत्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुख।
वद्धपद्मासनो मौनी समाहितजितेन्द्रिय ॥३८७३॥

स्थापयेद् दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि देशिक।
सुवासिताम्बुसपूर्णं सव्ये कुम्भ सुशोभनम् ॥३८७४॥

अत्रार्घ्यपाद्याचमनपात्राण्यपि सव्ये स्थापयेत्।

प्रक्षालनाय करयो पश्चात् पात्र निवेशयेत्।
घृतप्रज्वलितान् दीपान् स्थापयेत् परित शुभान् ॥३८७५॥
दर्पण चामर छत्र तालवृन्त मनोहरम्।
मगलाकुरपात्राणि स्थापयेद् दिक्षु देशिक।

दिक्षु पूर्वादिषु।

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयो ॥३८७६॥
नत्वा गुरून् गणेश च भूतशुद्धि समाचरेत्।
करशुद्धि समासाद्य पश्चात् तालत्रय ततः ॥३८७७॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमस्त्रमंत्रेण दिग्बन्धमपि देशिक।
तेन सजनित तेजो रक्षा कुर्यात् समतत ॥३८७८॥
सुषुम्णा वर्त्मनात्मान परमात्मनि योजयेत्।
योगयुक्तेन विधिना चिन्मंत्रेण समाहित ॥३८७९॥
कारणे सर्वभूताना तत्त्वान्यपि च चिन्तयेत्।
बीजभावेन लीनानि व्युत्क्रमात् परमात्मनि ॥३८८०॥
तत. सशोषयेद् देह वायुबीजेन वायुना।
वह्निबीजेन तेनैव सदहेत् सकला तनुम् ॥३८८१॥
विश्लेषयेत् तदा दोपानमृतेनामृताम्भसा।
आप्लाव्य प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥३८८२॥

आत्मलीनानि तत्त्वानि स्वस्थान प्रापयेत् तदा ।
आत्मान हृदयाम्भोजमानयेत् परमात्मनः ॥३८८३॥

मनुना हसदेवस्य कुर्यात् न्यासादिकं तत. ।
ऋषिश्छन्दो दैवतानि न्यसेन्मत्रस्य मत्रवित् ॥३८८४॥

आत्मनो मूर्ध्नि वदने हृदये च यथाक्रमात् ।
विधाय मूलमत्रेण प्राणायामं यथाविधि ॥६८८५॥

विदध्यात् मातृकान्यासं मत्रन्यासमनन्तरम् ।
अगुष्ठादिष्वगुलीषु न्यसेदंगं सजातिभि ॥३८८६॥

अस्त्रं तत् तलयो र्न्यस्य कुर्यात् तालत्रयादिकम् ।
दिशस्तेनैव बध्नीयात् छोटिकाभि समाहित ॥३८८७॥

हृदादिषु च विन्यस्येदगमत्रांस्तत सुधी ।
हृदयाय नम पूर्वं शिरसे वह्निवल्लभा ॥३८८८॥

शिखायै वषडित्युक्तं कवचाय हुमीरितम् ।
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडिति क्रमात् ॥३८८९॥

षडगमत्रानित्युक्त्वा षडगेषु नियोजयेत् ।
पचागानि मनो र्यस्य तत्र नेत्रमनु त्यजेत् ॥३८९०॥

अगहीनस्य मंत्रस्य स्वेनैवागानि कल्पयेत् ।
तत् तत् कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान् समाचरेत् ।
कल्पयेदात्मनो देहे पीठ धर्मादिभि क्रमात् ॥३५९१॥

असोरुयुग्मयो विद्वान् प्रादक्षिण्येन देशिक ।
धर्मं ज्ञान सवैराग्यमैश्वर्यं न्यस्य तु क्रमात् ॥३८९२॥

मुखपार्श्वं नाभिपार्श्वेऽधर्मादींश्च प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिय स्मृता पादा पीठगात्राणि चापरे ॥३८९३॥

अनन्त हृदये पद्ममस्मिन् सूर्येन्दुपावकान् ।
एषु स्वस्वकला न्यस्येन् नामाद्यक्षरपूर्विका ॥३८९४॥

तन्न्यासस्थान यथा-

मूलाधारत्रिकोणेषु विन्यसेदग्निजा कला ।
हृत्पकजदलेष्वर्ककला द्वादशसख्यका ॥३८९५॥

मूर्ध्नि षोडशपत्राणा मध्ये सोमभवा कला ।
नादजास्तु स्वरस्थाने बिन्दुजा पचवक्त्रके ॥३८९६॥

पूर्वदक्षिणसौम्येषु पश्चिमोर्ध्वमुखेषु च ।
हृद्गलासेषु नाभौ च सोदरे पृष्ठवक्षसो ॥३८९७॥

उरोजयोर्न्यसेच्चापि कला श्राक्षरसंभवा ।
पादे गुह्ये सोरुजानू जंघास्फिक्षु उकारजा ॥३८९८॥

पादहस्ततलघ्राणकेषु बाह्वोश्च पादयो ।
न्यसेदकारजा गुप्तकला पच प्रविन्यसेत् ॥३८९९॥

कास्यहृद्गुह्यपादेषु न्यसेत् साधकसत्तम ।
सत्त्वादीन् त्रिगुणान् न्यस्येत् तथैवात्र गुरुत्तम ॥३९००॥

श्रात्मानमन्तरात्मान परमात्मानमत्र तु ।
ज्ञानात्मान प्रविन्यस्य न्यसेत् पीठमनु तत ॥३९०१॥

एव देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम् ।
मुद्रा प्रदर्श्य विधिवदर्घ्यस्थापनमाचरेत् ॥३९०२॥

श्रग्रे त्रिकोणमालिख्य षट्कोण च ततो बहि ।
वर्त्तुल चतुरस्त्रं च मध्ये माया विलिख्य च ॥३९०३॥

शखमुद्रा प्रदर्श्याथ कोणदिक्ष्वंगपूजनम् ।
शखमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य वामतो वह्निमण्डले ॥३९०४॥

साधार स्थापयेद् विद्वान् बिन्दुच्युतसुधामयं ।
तोयैं सुगंधिपुष्पाद्यै पूरयेत् तं यथाविधि ।
श्राधार पावकं शख सूर्यं तोय सुधाकरम् ॥३९०५॥

स्मरेद् वह्न्यर्कचन्द्राणा कलास्तास्तेष्वनुक्रमात् ।
मूलमत्र जपेत् स्पृष्ट्वा न्यसेत् तस्यागमगवित् ॥३९०६॥

हृन्मन्त्रेणाभिसपूज्य हस्ताभ्या छादयन्नप ।
जपेद् विद्या यथान्याय देशिको देवताधिया ॥३६०७॥

अस्त्रमत्रेण सरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च ।
धेनुमुद्रा समासाद्य रोधयेत् तत् स्वमुद्रया ॥३६०८॥

दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रमाधायाद्भि प्रपूरयेत् ।
किंचिदर्घाम्बु सगृह्य प्रोक्षण्यम्भसि योजयेत् ॥३६०९॥

अर्घस्योत्तरत कार्यं पाद्यमाचमनीयकम् ।
आत्मान यागवस्तूनि मण्डल प्रोक्षयेद् गुरु ॥३६१०॥

प्रोक्षणीपात्रतोयेन मनुनान्यदपि क्रमात् ।
न्यासक्रमेण देहे स्वे धर्मादीन् पूजयेत् तत ॥३६११॥

पुष्पाद्यै पीठमन्वन्त तस्मिंश्च परदेवताम् ।
पचकृत्व पुन कुर्यात् पुष्पाञ्जलिमनन्यधी ॥३६१२॥

उत्तमागहृदाधारपादसर्वागके क्रमात् ।
विना निवेद्य गधाद्यैरुपचारै समर्चयेत् ।
गुरूपदिष्टविधिना शेषमन्यत् समाचरेत् ॥३६१३॥

अन्यत् शेष मानसौ धूपदीपौ, मत्रजप, जपनिवेदन, ब्रह्मार्पण, क्षमापनादि विसर्जनवर्जम् ।

यद्व–

ध्यात्वा यजेच्चंदनाद्यै मानसै धूपदीपकै ।
भोजनावसरे किंचिज्जप कृत्वा निवेदयेत् ॥३६१४॥

सर्वमेतत् प्रयुजीत प्रोक्षणीस्थेन वारिणा ।
विसृज्य तोय प्रोक्षण्या पूरयेत् ता यथा पुरा ॥३६१५॥

ततस्तन्मण्डल मत्री गधाद्यै साधु पूजयेत् ।

तन्मण्डल सर्वतोभद्रमण्डलम् । ॐ श्रीसर्वतोभद्रमण्डलाय नम इत्यनेन पूजयेत् ।

शालीस्तु कर्णिकाया च निक्षिप्याढकसमिताम् ।
तण्डुलाश्च तदष्टाशान् कूर्चं चोपरि विन्यसेत् ॥३६१६॥

सप्तविंशतिसाग्रदर्भमय वेण्याकारेण ग्रथित विष्टरापरपर्याय कूर्चम् ।

यत्रोक्त डामरे–

सप्तविंशतिदर्भाणा वेण्यग्रे ग्रथिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥३९१७॥

अत्र प्रथम गुरुगणपतिपूजन कुर्यात् ।

वायव्यात्प्रादीशपर्यन्तमर्चा
। पीठस्योदक् गौरवोपक्तिरादौ ।
पूज्योऽन्यत्राप्याविकेय कराब्जै
पाश दन्त शृण्यभीती दधान ॥३९१८॥ इति ।

अन्यत्रापि–

पीठस्योत्तरभागे गुरुपंक्ति पूजयेच्च मन्त्रवित् ।
यावद् गिरीशकोण वायो कोण समारभ्य ॥३९१९॥

अथ गुरुपरमगुरू द्वौ परमेष्ठिगुरु तथाभ्यर्च्य ।
परमाचार्यगुरु चादिसिद्धगुरुमथार्चयेत् ॥३९२०॥

अत्र परमाचार्यगुर्वनन्तर परापरगुरुपरमसिद्धगुरुरपि ज्ञेय ।

तेषा ध्यान मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

श्वेताम्बरधरा गौरा गुरव पुस्तकान्विता ।
व्याख्यानमुद्रया युक्ता ध्यायन्तो वा हरिं निजम् ।
ध्यातव्या पूजनादौ च तद्ध्यानाद् ज्ञानमान् भवेत् ॥३९२१॥

शाक्ते विशेषस्तन्त्रान्तरे–

ते रक्तमाल्यांबरगधभूषिता स्वलकृता पकजविष्टरस्था ।
सर्वे च सालबनयोगनिष्ठा प्राप्ताखिलैश्वर्यगुणाष्टकार्या ॥३९२२॥इति ।

अत्र श्रीगुरुभ्यो नम इत्यादिप्रयोग ।

आधारशक्तिमारभ्य पीठमन्त्रमथ यजेत् ।
अध कूर्मशिलारूढा शरच्चन्द्रनिभप्रभाम् ॥३९२३॥

आधारशक्ति प्रयजेत् पकजद्वयधारिणीम् ।
मूर्ध्नि तस्या समासीन कूर्मं नीलाममर्चयेत् ॥३९२४॥

ऊर्ध्वं ब्रह्मशिलासीनमनन्त कुन्दसंनिभम् ।
यजेच्चक्रधर मूर्ध्नि धारयन्त वसुधराम् ॥३६२५॥
तमालश्यामला तत्र नीलेन्दीवरधारिणीम् ।
अभ्यर्चयेद् वसुमतीं स्फुरत्सागरमेखलाम् ॥३६२६॥
तस्या रत्नमय द्वीप तस्मिंश्च मणिमण्डपम् ।
यजेत् कल्पतरूस्तस्मिन् साधकाभीष्टसिद्धिदान् ॥३६२७॥
अधस्तात् पूजयेत् तेषा वेदिका मण्डपोज्ज्वलाम् ।
पश्चादभ्यर्चयेत् तस्या पीठ धर्मादिभि पुन ॥३६२८॥
रक्तश्यामहरिद्रेन्द्रनीलाभान् पादरूपिण ।
वृषकेसरिभूतेभरूपान् धर्मादिकान् यजेत् ॥३६२९॥ इति ।
वृषेति । वृष प्रसिद्ध । केसरी सिंह । भूतो देवयोनि ।

तत्स्वरूपञ्च–
रक्तवस्त्रधरा कृष्णनखदंष्ट्रा सुदंष्ट्रिका ।
कर्त्री खट्वागहस्ताश्च राक्षसा घोररूपिण ॥
भूतास्तथैव दीनास्या ॥३६३०॥

अन्यत्रापि–
धर्म रक्त वृषरूप च सिंह ज्ञान श्याम दुष्टभूत च पीतम् ।
वैराग्य स्यात् गजरूपासितागमैश्वर्यं च क्रमत पीठपादा ॥
पीठस्यैवां स्युरधर्मादयो ये चत्वारस्ते ह्युदिताकाररम्या ॥३६३१॥
गात्रेषु पूजयेत् तास्तु नभपूर्वानुक्तलक्षणान् ।
आग्नेयादिषु कोणेषु दिक्षु चाथाबुज यजेत् ॥३६३२॥
आनदकन्द प्रथम सविन्नालमनतरम् ।
सर्वतत्त्वात्मक पद्ममभ्यर्च्य तदनन्तरम् ॥३६३३॥
मत्री प्रकृतिपत्राणि विकारमयकेसरान् ।
पचाशद्वर्णबीजाढ्यां कर्णिकां पूजयेत् तत ।
कलाभि पूजयेत् सार्धं तस्या सूर्येन्दुपावकान् ।
प्रणवस्य त्रिभि वर्णैरथ सत्त्वादिकान् गुणान् ॥३६३४॥
एतेन तत् तन्मण्डलाधिष्ठातृदेवता ब्रह्मविष्ण्वीशास्तत् तन्मण्डले पूजनीया ।

यदुक्तम्–

ब्रह्मविष्णवीश्वरास्त्वर्च्या क्रमाद् वै मडलत्रये ।

अन्यच्च–

सौरे बिम्बे चतुरास्य किरीटी हसे सौधं कलश चाक्षमालाम् ।
ब्रह्मा बिभ्रद् वरद चाभयाख्य हस्तै र्ध्येय सितवस्त्रश्चतुर्भि ॥३६३५॥
सौम्ये बिम्बे गरुडे मेघनीलश्चक्र शख सद्गदाब्ज दधान ।
हारी-माली कटकी सत्किरीटी विष्णु पीत वसन कौस्तुभं च॥३६३६॥
अग्नेर्बिम्बे वृषभे चन्द्रमौलिश्चेतो रूद्रो दशबाहुस्त्रिनेत्र ।
टकैणाग्नित्रिशिखोद्यत्कपालमुद्राक्षस्त्रक्वरदाभीतिपाणि ॥३६३७॥
आत्मानमन्तरात्मान परमात्मानमर्चयेत् ।
ज्ञानात्मानश्च विधिवत् पीठमन्त्रावसानकम् ॥३६३८॥
पीठशक्ती केसरेषु मध्ये च सवराभया ।
हेमादिरचित कुम्भमस्त्राद्भि क्षालितान्तरम् ॥३६३९॥ इति ।

महाकपिलपचरात्रे कलशशब्दव्युत्पत्ति प्रमाण च–

कला कला गृहीत्वा वै देवाना विश्वकर्मणा ।
निर्मितोऽयं सुरै र्यस्मात् कलशस्तेन चोच्यते ॥३६४०॥
पचाशदगुल व्यास उत्सेध षोडशागुल ।
कलशाना प्रमाण तु मुखमष्टागुल भवेत् ॥३६४१॥
सौवर्णं राजत ताम्र मार्त्तिक्य वा यथोदितम् ।
क्षालयेदस्त्रमन्त्रेण कुम्भ सम्यक् सुरेश्वरि ॥३६४२॥ इति ।
चदनागरुकर्पूरधूपित शोभनाकृतिम् ।
आवेष्टिताग नीरन्ध्र ततुना त्रिगुणात्मना ॥३६४३॥
अर्चित गधपुष्पाद्यै कूर्चाक्षतसमन्वितम् ।
नवरत्नोदर मत्री स्थापयेत् तारमुच्चरन् ॥३६४४॥

नवरत्नानि यथा–

मुक्तामाणिक्यवैडूर्यगोमेदान् वज्रविद्रुमौ ।
पुष्पराग मरकत नील चेति यथाक्रमात ॥३६४५॥

उक्तानि नवरत्नानि तेषु कुम्भेषु नि क्षिपेत् । इति ।
ऐक्य सकल्प्य कुम्भस्य पीठस्य च विधानवित् ।
क्षीरद्रुमकषायेण पालाशत्वग्भवेन वा ॥३६४६॥

अत्र केचित् पचाशदोषधिक्वाथमिच्छन्ति । तदापादनाक्षमस्तु क्षीरद्रुमकषायेण । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटत्वक्कषायेणेत्यर्थ । आयुर्वेदोक्तरीत्या चतुर्थांशशेष कषायो ग्राह्य ।

तीर्थोदकं वा कर्पूरगधपुष्पसुवासितं ।
आत्माभेदेन विधिवन्मातृका प्रतिलोमत ॥३६४७॥

जपन् मूलमनु तद्वत् पूरयेद् देवताधिया ।
शखे क्वाथाम्बुसपूर्णे गधाष्टकमभीष्टदम् ॥३६४८॥

विलोड्य पूजयेत् तस्मिन्नावाह्य सकला कला ।
दश वन्हे कला पूर्वं द्वादश द्वादशात्मन ॥
कला षोडश सोमस्य पश्चात् पचाशत कला ॥३६४९॥

अकारजकलानन्तर हस इति । उकारजकलानन्तर प्रतद्विष्णुरिति । मकारजानन्तर त्र्यम्बकमिति । बिन्दुजानन्तर तत्पदादिकम् । नादजानन्तर विष्णुर्योनिमिति । एव प्रथममष्टात्रिंशत् कला , तत एकपचाशत् कला । पश्चात् पचगुप्तकलाश्च शखजले पूजनीया । ताश्चेच्छाज्ञानक्रिया चिदात्मानदात्मिका । एव चतुर्नवतिसख्या ।

यथोक्त प्रपचसारे–

प्रथम प्रकृते हँसः प्रतद्विष्णुरनन्तरम् ।
त्रियम्बकस्तृतीय, स्याच्चतुर्थस्तत्पदादिक ॥३६५०॥

विष्णुर्योनिमितीत्यादि पचम कल्प्यता मनु ।
चतुर्नवतिमत्रात्मदेवतावाह्य पूजयेत् ॥३६५१॥

अत्र या पच सप्रोक्ता ऋचस्तारस्य पचभि ।
कलाप्रभेदैश्च मिथ पूज्यन्ते ता पृथक् पृथक् ॥३६५२॥

जपित्वा प्रतिलोमेन मूलमत्र च मत्रवित् ।
समाहितेन मनसा ध्यायन् मत्रस्य देवताम् ॥
प्राणप्रतिष्ठा कुर्वीत तत्र तत्र विचक्षण ॥३६५३॥ इति ।

प्राणप्रतिष्ठाव्युत्पत्तिस्तु महाकपिलपञ्चरात्रे–

प्रतिष्ठाशब्दससिद्धि प्रतिपूर्वात्तु तिष्ठते ।
बह्वर्थत्वान् निपाताना सस्कारादौ प्रते स्थिति ॥३६५४॥
अर्थस्तदयमेतस्य गीयते शाब्दिकै र्जनै ।
विशेषसनिधि र्या तु क्रियते व्यापकस्य हि ॥
सन्मूर्तौ भावनामत्रै प्रतिष्ठा साऽभिधीयते ॥३६५५॥ इति ।
कलात्मकं शखसस्थं क्वाथ कुम्भे विनि क्षिपेत् ॥३६५६॥
पाशादित्र्यक्षरात्मान्ते स्यादमुष्यपद तत ।
क्रमात् प्राणा इह प्राणास्तथा जीव इह स्थित ॥३६५७॥
अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि भूयोऽमुष्यपद वदेत् ।
वाङ्मनोनयनश्रोत्रघ्राणप्राणपदान्यथ ॥३६५८॥
पश्चादिहागत्य सुख चिर तिष्ठतु ठद्वयम् ।
अय प्राणमनु प्रोक्त सर्वजीवप्रदायक ॥३६५९॥

अत्र प्रयोगस्तु 'धूम्रार्चिराहूता भव' इत्यावाहनाद्यष्टमुद्रा प्रदर्श्य 'य धूम्रार्चिषे नम' इति सपूज्य प्राणमत्रेण अमुष्यपदस्थाने षष्ठ्यन्त 'धूम्रार्चि' पद प्रक्षिप्य प्रतिष्ठा कुर्यात् । एव सर्वास्वपि कलासु ।

अथवा–दशानामप्यग्निकलाना एकदैवावाहनादि कृत्वा प्रत्येक पूज्य प्राणप्रतिष्ठामत्रे अमुष्यपदस्थाने सर्वासा षष्ठ्यन्त नामोच्चार्य प्राणप्रतिष्ठा कुर्यादित्यर्थ ।

पश्चादश्वत्थपनसचूतकोमलपल्लवै ।
इन्द्रवल्लीसमाबद्धै सुरद्रुमधिया गुरु ॥३६६०॥
कुम्भवक्त्र पिधायास्मिन् चषक सफलाक्षतम् ।
सस्थापयेत् फलधिया विधिवत् कल्पशाखिनाम् ॥३६६१॥
तत कुम्भ निर्मलेन क्षौमयुग्मेन वेष्टयेत् ।
मूलेन मूर्तिमिष्ट्वा ता छायाया कल्पशाखिनाम् ॥३६६२॥
आवाह्य पूजयेत् तस्या मत्री मत्रस्य देवताम् ।
मूलमत्र समुच्चार्य सुषुम्णा वर्त्मना सुधी ॥३६६३॥
आनीय तेज स्वस्थानात् नासिकारध्रनिर्गतम् ।
करस्थमातृकाम्भोजे चैतन्य पुष्पसचये ॥३६६४॥

सयोज्य ब्रह्मरध्रेण मूर्त्यामावाहयेत् सुधी ।
सस्थापन सन्निधान सन्निरोधमनन्तरम् ॥३९६५॥
सकलीकरण पश्चाद् विदध्यादवगुण्ठनम् ।
अमृतीकरण कृत्वा कुर्वीत परमीकृतिम् ॥३९६६॥
क्रमादेतानि कुर्वीत स्वमुद्राभि समाहित ।
अथोपचारान् कुर्वीत मन्त्रवित् स्वागतादिना ।
स्वागत कुशलप्रश्न निगदेदग्रतो गुरु ॥३९६७॥
पाद्य पादाम्बुजे दद्याद् देवस्य हृदयाणुना ।
एतत् श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥३९६८॥
सुधामन्त्रेण वदने दद्यादाचमनीयकम् ।
जातीलवंगकक्कोलैस्तदुक्त तन्त्रवेदिभि ॥३९६९॥
अर्घं दिशेत् ततो मूर्ध्नि शिरोमन्त्रेण देशिक ।
गधपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपै. ॥३९७०॥
सदूर्वै सर्वदेवानामेतदर्घ्यमुदीरितम् ।
सुधाणुना तत कुर्यान्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ॥३९७१॥
आज्य दधिमधून्मिश्रमेतदुक्त मनीषिभि ।
तेनैव मनुना कुर्यादद्भिराचमनीयकम् ॥३९७२॥

अन्यआपि विशेष —अर्घ्यं त्रि र्ददाति, पाद्य त्रि र्ददाति, आचमन पट ददाति ।

महाकपिलपचरात्रे—

आगताय तथार्चायां स्नातुमागमनाय च ।
पूजातो गन्तुकामस्य दद्यादर्घ्यं विचक्षण ॥३९७३॥
आगते स्नानकाले च नैवेद्योपक्रमे तथा ।
पाद्यस्यापि समुद्दिष्ट समयस्त्रिविधो बुधै ॥३९७४॥
पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपवीतयो ।
भोजने चाचमन देय षट्सु स्थानेषु देशिक ॥३९७५॥

अत्राघ्यादिषु प्रोक्त तत्तद्द्रव्याभावे केवल तद्नानेव क्षिपेत् ।

तत्र मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

द्रव्याभावे प्रदातव्या क्षालितास्तण्डुला शुभा ।

अन्यत्रापि–

तण्डुलान् प्रक्षिपेत् तेषु द्रव्यालाभेषु तत्समान् ॥ ॥३९७६॥ इति ।

गधाद्भि कारयेत् स्नान वाससी परिधापयेत् ।
दद्याद् दिव्योपवीत च हाराद्याभरणै सह ॥३९७७॥

न्यासक्रमेण मनुना पुटितै र्मातृकाक्षरै ।
अभ्यर्च्य देव गधाद्यैरगादीन् पूजयेत् तत ॥३९७८॥

गधश्चन्दनकर्पूरकालागरुभिरीरितः ।
यथोक्तानि सुगधीनि पत्रपुष्पाणि देशिकै।

उपदिष्टानि पूजायामाददीत विचक्षण ॥३९७९॥
मलिनं भूमिसस्पृष्ट कृमिकेशादिदूषितम् ।
अगस्पृष्ट समाघ्रात त्यजेत् पर्युषित गुरु ॥३९८०॥

देवस्य मस्तक कुर्यात् कुसुमोपहित सदा ।
पूजाकाले देवताया नोपरि भ्रामयेत् करम् ॥३९८१॥

अगरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचदनै ।
धूपयेदाज्यसमिश्रै र्नाभि देवस्य देशिक ॥३९८२॥

वर्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ।
आरोप्य दर्शयेद् दीपानुच्चै सौरभशालिभि ॥३९८३॥

स्वादूपदश विमल पायस सह शर्करम् ।
कदलीफलसयुक्त साज्य मत्री निवेदयेत् ॥३९८४॥

तत्र तत्र जल दद्यादुपचारान्तरान्तरे ।
अगादिलोकपालाना यजेदावरणान्यपि ॥३९८५॥

केसरेष्वग्निकोणादि हृदयादीनि पूजयेत् ।
नेत्रमग्रे दिशास्वस्त्र ध्यातव्या अगदेवता ॥३९८६॥

तुषारस्फटिकश्यामनीलकृष्णारुणार्चिष ।
वरदाभयधारिण्य प्रधानतनव स्त्रिय ॥३९८७॥
पश्चादभ्यर्चनीया स्यु कल्पोक्तावृतय क्रमात् ।
अन्ते यजेल्लोकपालान् मूलपारिषदान्वितान् ॥३९८८॥
हेतिजात्यधिपोपेतान् दिक्षु पूर्वादित क्रमात्।
एव सपूज्य विधिवन्निवेद्यान्त ततो गुरु ॥३९८९॥
दक्षिणे स्थडिल कृत्वा तत्राधाय हुताशनम् ।
सस्कृत्य विधिवद् विद्वान् वैश्वदेवं समाचरेत् ॥३९९०॥
तत्र सपूज्य गधाद्यं देवतामुग्रविग्रहाम् ।
तारव्याहृतिभि र्हुत्वा मूलमत्रेण मत्रवित् ॥३९९१॥
सर्पिष्मता पायसेन पचविंशतिसख्यया ।
हुत्वा व्याहृतिभि र्भूयो गधाद्यै पुनरर्चयेत् ।
ता योजयित्वा पीठस्थमूर्त्तौ वह्नि विसर्जयेत् ॥३९९२॥
अवशिष्टेन हविषा विकिरेत् परितो बलिम् ।
देवताया पार्षदेभ्यो गधपुष्पाक्षतान्वितम् ॥३९९३॥
मुख्यादीशानत पात्रान् नवेद्याश समुद्धरेत् ।
सर्वदेवस्वरूपाय पराय परमेष्ठिने ॥३९९४॥
श्रीरामसेनायुधाय विष्वक्सेनाय ते नम ।
गणेशे वक्रतुण्डाय सूर्ये चण्डाशवेऽर्पयेत् ॥३९९५॥
शक्तावुच्छिष्टचाण्डाल्यै शिवे चण्डेश्वराय च ।
ततो निवेद्यमुद्धृत्य शोधयित्वा स्थलं पुन ॥३९९६॥
पचोपचारैः सपूज्य दशयेत् छत्रचामरे ।
कर्पूरशकलोन्मिश्र ताम्बूल विनिवेदयेत् ॥३९९७॥
सहस्रावृत्य सजप्य मूलमत्रमनन्यधी ।
तज्जप सर्वसपत्त्यै देवतायै निवेदयेत् ॥३९९८॥
तत शभो र्दिशि गुरु विकिरेत् पूर्वसचिते ।
हेमवस्त्रादिसयुक्ता कर्करीं तोयपूरिताम् ॥३९९९॥

सस्थाप्य तस्या सिहस्या खड्गखेटकधारिणीम् ।
घोररूपा पश्चिमास्या पूजयेदस्त्रदेवताम् ॥४०००॥
चलासनेन सपूज्य तामादाय गुरु पुन॰ ।
रक्षेति लोकपालाना नालमुक्तेन वारिणा ॥४००१॥
देवाज्ञा श्रावयन्नन्त परिवृत्य प्रदक्षिणम् ।
अस्त्रमत्र समुच्चार्य यथापूर्वं निवेशयेत् ॥४००२॥
अभ्यर्च्य भूयो गधाद्यैरस्त्र तत्र स्थिरासने ।
ततश्च सस्कृते वह्नौ गोक्षीरेण चरु पचेत् ॥४००३॥
अस्त्रेण क्षालिते पात्रे नवे ताम्रमयादिके ।
तण्डुलान् शालिसभूतान् मूलमन्त्राभिमन्त्रितान् ।
प्रसृतीना पचदश क्षिप्त्वा चास्त्रमनु जपेत् ॥४००४॥
प्रक्षाल्य पात्रवदन पिधाय कवचाणुना ।
प्राङ्मुखो मूलमन्त्रेण देशिकेन्द्रश्चरु पचेत् ॥४००५॥
स्रुवेणाज्येन सस्विन्ने दद्यात् तत्राभिधारणम् ।
मूलेन पश्चात् तत्पात्र कवचेनावधारयेत ॥४००६॥
अस्त्रजप्ते कुशास्तीर्णे मण्डले विधिवद् गुरु ।
त विभज्य त्रिधा भागमेक देवाय कल्पयेत् ॥४००७॥
अन्यमग्नौ प्रजुहुयादपर देशिक स्वयम् ।
शिष्येण सार्धं भुजीत विहिताचमनस्तथा ॥४००८॥
आचान्त शिष्यमानीय सकलीकृत्य देशिक ।
तालप्रमाण हृज्जप्त क्षीरवृक्षादिसभवम् ॥४००९॥

तालप्रमाण तु–

अगुष्ठमध्यमागुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते ।
तदग्रयोरन्तराल तालमाहु र्मनीषिण ॥४०१०॥

पिंगलामते–

माया दडिनि ठद्वन्द्व प्रदद्यादमुना च तत् ।
दन्तान् विशोध्य स पुनस्तत प्रक्षाल्य विसर्जयेत् ॥४०११॥

नारायणीये विशेष –

दन्तकाष्ठ हृदा जप्त क्षीरवृक्षादिसंभवम् ।
समाज्य दन्तान् तच्छित्वा प्रक्षाल्यैतद् भुवि क्षिपेत् ॥४०१२॥

दिक्षु पूर्वाद्यधोर्ध्वासु तस्याग्रपतन क्रमात् ।
वृद्धिस्तापो मृति वित्त क्षय शाति गंदो धनम् ॥४०१३॥

सुख वृद्धि पर दु ख फलान्येतानि शसति ।

वायवीये तु–

अप्रशस्ताशामुखे तस्मिन् गुरुस्तद्दोषशांतये ।
शतमर्धं तदर्धं वा जुहुयान् मूलमन्त्रत ॥४०१४॥ इति ।

नारायणीये–

पुनस्त शिष्यमाचान्त शिखाबधाभिरक्षितम् ।
कृत्वा वेद्या सहानेन स्वपेत् दर्भास्तरे गुरु ॥४०१५॥

सोमशंभौ–

गृहस्थान् दर्भशय्याया पूर्वशीर्षास्त्ररक्षितान् ।
हृदा सद्भस्मशय्याया यतीन् दक्षिणमस्तकान् ॥४०१६॥

वायवीये तु–

देवस्य दक्षिणे भागे शिष्य तमधिवासयेत् ।
आहतास्तरणास्तीर्णे सदर्भशयने शुचि ॥४०१७॥

मंत्रिते च शिव ध्यायन् प्राक्शिरस्को निशि स्वपेत् ।
शिखाबद्धस्य सूत्रस्य शिखायास्तच्छिखा गुरु ॥४०१८॥

आवेष्ट्याहतवस्त्रेण तमाच्छाद्य च वर्मणा ।
रेखात्रय च परितो भस्मना तिलसर्षपैं ॥४०१९॥

कृत्वास्त्रजप्तैस्तद् बाह्ये दिगीशाना बलि हरेत् ।
स्वप्नमंत्र स्मरन् सुप्यादविकल्पो जितेन्द्रिय ॥४०२०॥

स्वप्नान् सवीक्षितान् शिष्य प्रभाते श्रावयेद् गुरुम् ।
शुभे शुभ वदेत् तस्य जुहुयादशुभे शतम् ॥४०२१॥

अस्त्रमन्त्रेण कथितो विधि शिष्याधिवासने ।

पिंगलामते-

सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि-

दिनद्वयेनैव कुर्याद् दीक्षाकर्म विचक्षण ।
सद्योऽधिवासन वा स्यादेकस्मिन् दिवसे यदि ॥४०२२॥

महाकपिलपचरात्रे-

वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते ।
अधिवास इति ह्येष प्रयोग सिद्धिमेति च ॥४०२३॥

गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वक ।
सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मत· ॥४०२४॥ इति ।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे दीक्षाविधौ त्रयोविंश पटल ॥२३॥

चतुर्विंशः पटलः।

अथाग्नियजन कुर्यादुक्तवर्त्मानुसारत ।
आचार्यकुण्डे विधिवत्सस्कृते शास्त्रवर्त्मना ॥४०२५॥

अष्टादश स्यु सस्कारा कुण्डाना तत्रचोदिता ।
वीक्षण मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षण मतम् ॥ ४०२६॥

तेनैव ताडन दर्भै वर्मणाभ्युक्षण मतम् ।
अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मत्रेण प्रपूरणम् ॥४०२७॥

समीकरणमस्त्रेण सेचन वर्मणा मतम् ।
कुट्टन हेतिमन्त्रेण वर्ममन्त्रेण मार्जनम् ॥४०२८॥

विलेपनं कलारूपकल्पन तदनन्तरम् ।
त्रिसूत्रीकरण पश्चाद् हृदयेनार्चन मतम् ॥४०२९॥

अस्त्रेण वज्रीकरण हृन्मन्त्रेण कुशै शुभै ।
चतु पथ तनुत्रेण तनुयादक्षपाटनम् ॥४०३०॥

तनुत्रेण कवचेनेत्यर्थ ।

यागे कुण्डानि संस्कुर्यात् सस्कारैरेभिरीरितै ।
तिस्रस्तिस्रो लिखेद्-रेखा हृदा प्रागुदग्रगा ॥४०३१॥
प्रागग्राणा स्मृता देवा मुकुन्देशपुरदरा ।
उदग्राणा च रेखाणा ब्रह्मवैवस्वतेन्दव ॥४०३२॥
वर्मणाभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्चयेत् ।
वागीश्वरीमृतुस्नाता नीलेन्दीवरसनिभाम् ॥४०३३॥
वागीश्वरेण सयुक्तामुपचारै प्रपूजयेत् ।
सूर्यकान्तादिसंभूत यद्वा श्रोत्रियगेहजम् ।
आनीय चाग्नि पात्रेण क्रव्यादाश परित्यजेत् ॥४०३४॥

अन्यत्रापि-

अस्त्रेणाग्नि समाधाय कवचेन पिधाय च ।
क्रव्यादाश तु चास्त्रेण नैर्ऋत्ये सत्यजेत् प्रिये ॥४०३५॥

देवाशं मूलमन्त्रेण स्थापयेत् पुरत सुधी ।
सस्कुर्यात् त यथान्याय देशिको वीक्षणादिभि ॥४०३६॥

औदर्यवैन्दवाग्निभ्या भौमस्यैक्य स्मरन् वसो ।
चैतन्य पावके योज्यामृतीकृत्य च मुद्रया ॥४०३७॥

रक्ष्यावगुण्ठ्य सपूज्य त्रि परिभ्राम्य त पुन ।
कुण्डस्योपरि दक्षेण तार मूलमनु स्मरन् ॥४०३८॥

भूमिष्ठजानुको भूत्वा वागीशीगर्भगोचरे ।
शिवबीजधिया ध्यात्वा निक्षिपेदाशुशुक्षणिम् ॥४०३९॥

वैष्णवे तु सहितायाम्-

लक्ष्मीमृतुमतीं तत्र प्रभो र्नारायणस्य च ।
ग्राम्यधर्मेण सजातमग्नि तत्र,विचिन्तयेत् ॥४०४०॥ इति ।

पश्चाद् देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनीयकम् ।
ज्वालयित्वा चोपतिष्ठेत् तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ॥४०४१॥

जिह्वान्यास विधायाथ तत्पडग समाचरेत् ।
मूर्तीरष्टौ प्रविन्यस्येदुक्तागे जातवेदस ॥४०४२॥

आसन प्रविचिन्त्याग्ने मूर्त्ति ध्यायेद् यथोदिताम् ।
ध्यात्वा सिंचेत् ततस्तोयैं विशुद्धं मेखलोपरि ॥४०४३॥

दर्भैरगर्भै मध्यस्थमेखलाया परिस्तरेत् ।
निक्षिपेद् दिक्षु परिधीन् प्राचीवर्ज्यान् गुरूत्तम ॥४०४४॥

प्रादक्षिण्येन सपूज्य तेषु ब्रह्मादिमूर्तय ।
ध्यात वह्नि यजेन् मध्ये गंधाद्यैरुक्तमत्रत ॥४०४५॥

मध्ये षट्स्वपि कोणेषु जिह्वाज्वालारुचो यजेत् ।
केसरेषूक्तमार्गेण पूजयेदगदेवता ॥४०४६॥

दलेषु पूजयेन्मूर्त्ती शक्तिस्वस्तिकधारिणी ।
लोकपालांस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान् ॥४०४७॥

पश्चादादाय पाणिभ्या स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ ।
त्रिश प्रतापयेद् वह्नौ दर्भानादाय देशिक ॥४०४८॥

तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत् तै यथाक्रमात् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन प्रोक्षयेद् दक्षिणेन तौ ॥४०४९॥

पुन प्रताप्य तौ मत्री दर्भानग्नौ विनि क्षिपेत् ।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेद् तौ कुशास्तरे ॥४०५०॥

आज्यस्थालीमथादाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।
तस्यामाज्य विनि.क्षिप्य सस्कृत वीक्षणादिभि ॥४०५१॥

सदीप्य दर्भयुगलमाज्ये क्षिप्त्वानले क्षिपेत् ।
गुरु हृदयमत्रेण पवित्रीकरण त्विदम् ॥४०५२॥

दीप्तेन दर्भयुग्मेन नीराज्याज्य सवर्मणा ।
अग्नौ विसजयेद् दर्भमभिद्योतनमीरितम् ॥४०५३॥

घृते प्रज्वलितान् दर्भान् प्रदर्श्यास्त्राणुना गुरु ।
जातवेदसि तान् न्यस्येदुद्योतनमितीरितम् ॥४०५४॥

गृहीत्वा घृतमगारान् प्रक्षिप्याग्नौ जल स्पृशेत् ।
अगुष्ठोपकनिष्ठाभ्या दर्भौ प्रादेशसम्मितौ ॥४०५५॥

धृत्वोत्पुनीयादस्त्रेण घृतमुत्पवन त्विदम् ।
तद्वद् हृदयमन्त्रेण कुशाभ्यामात्मसम्मुखम् ॥४०५६॥

घृते सप्लवन कुर्यु' सस्कारा षडुदीरिता ।
प्रादेशमात्र सग्रथि दर्भयुग्म घृतान्तरे ॥४०५७॥

नि क्षिप्य भागौ द्वौ कृत्वा पक्षौ शुक्लेतरौ स्मरेत् ।
वामे नाडीमिडा ध्यायेत् पिंगला दक्षिणे तथा ॥४०५८॥

मध्ये सुषुम्णा ध्यात्वैव कुर्याद् होम यथाविधि ।
दक्षाद्दक्षे तथा वामाद् वामे मध्याच्च भालगे ॥४०५९॥

लोचने जुहुयाच्चैवमग्निसोमाग्निषोमकं ।
दक्षिणोद्धृतस्रुवेणाज्यमादायाग्निमुखे हुनेत् ॥४०६०॥

हृदिति हृन्मन्त्रेण, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति प्रयोग ।

इति सपातयेद् भागेष्वाज्यास्याथाऽऽहुतिं क्रमात् ।
इत्यग्निनेत्रवक्त्राणा कुर्यादुद्घाटन गुरु ॥४०६१॥

स ताराभिर्व्याहृतिभिराज्येन जुहुयात् पुन ।
जुहुयादग्निमन्त्रेण त्रिवार देशिकोत्तम ॥४०६२॥

गर्भाधानादिका वन्हे क्रिया निर्वर्त्तयेत् क्रमात् ।
अष्टाभिराज्याहुतिभि प्रणवेन पृथक् पृथक् ॥४०६३॥

गर्भाधान पुसवन सीमन्तोन्नयन पुन ।
अनन्तर जातकर्म स्यान्नामकरण तथा ॥४०६४॥

उपनि क्रमण पश्चादन्नप्राशनमीरितम् ।
चौलोपनयन भूयो महानाम्न्य महाव्रतम् ॥४०६५॥

अथोपनिषद पश्चाद् गोदानोद्वाहकौ तथा ।
ततश्च पितरौ तस्य सपूज्यात्मनि योजयेत् ॥४०६६॥

समिध. पच जुहुयान् मूलाग्रघृतसप्लुता' ।
मर्त्रीजिह्वागमूर्तीना क्रमाद् वन्हे यथाविधि ॥४०६७॥
प्रत्येक जुहुयादेकामाहुर्ति मत्रवित्तम' ।
अवदाय स्रुवेणाज्य चतु स्रुचि पिधाय ताम् ॥४०६८॥
स्रुवेण तिस्रुन्नेवाग्नौ देशिको यतमानस ।
जुहुयाद् वह्निमत्रेण वौषडन्तेन सपदे ॥४०६९॥
विघ्नेश्वरस्य मत्रेण जुहुयादाहुती दश ।
सामान्य सर्वतन्त्राणामेतदग्निमुख मतम् ॥४०७०॥
तत पीठ समभ्यर्च्चर्य देवताया हुताशने ।
अर्चयेद् वह्निरूपा ता देवतामिष्टदायिनीम् ॥४०७१॥
तन्मुखे जुहुयान्मत्री पञ्चविंशतिसख्यया ।
आज्येन मूलमत्रेण वक्त्रैकीकरण त्विदम् ॥४०७२॥

अन्यच्च शैवागमे–

इष्टवक्त्रेऽग्निवक्त्राणामन्तर्भावस्तु चैकता ।
अथवा कुण्डमानत्व यदीष्टवदने स्मरेत् ॥४०७३॥
अन्तर्भाव्यानि वक्त्राणि तदेकीकरण मतम् । इति ।

अतो नाडीसधानम् । अग्निदेवतात्मना त्रयाणा नाड्यैकीकरणम् ।
यच्च–

वह्निदैवतयोरैक्यमात्मना सह भावयन् ।
मूलमत्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुती ॥४०७४॥
नाडीसधानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभि. ।
जुहुयादगमुख्यानामावृतीनामनुक्रमात् ॥४०७५॥
एकैकामाहुर्ति सम्यक् सर्पिषा देशिकोत्तम ।
मुख्याय जुहुयादेवमाहुतीना दश क्रमात् ॥४०७६॥
ततोऽन्येषु च कुण्डेषु सस्कृतेषु यथाविधि ।
आचार्यो वितरेदग्नि पूर्वादिषु समाहित ॥४०७७॥

ऋत्विजो गधपुष्पाद्यैरगाद्यावरणान्विताम् ।
तत्रोक्तदेवतामिष्ट्वा पचविंशतिसख्यया ॥४०७८॥

मूलेनाज्येन जुहुयु साज्येन चरुणा तथा ।
प्रातरुत्थाय जुहुयु पुनराज्यान्वितैस्तिलै ॥४०७९॥

द्रव्यै र्वा कल्पविहितै सहस्र साष्टक पृथक् ।

अत्र वायवीयसहितायां विशेष –

स्रुवेणाज्य समित् पाण्या स्रुचा शेष करेण वा ।
तत्र दिव्येन होतव्य तीर्थेनास्त्रेण वा तथा ॥४०८०॥ इति ।

तत्र सुसमिद्धेऽग्नौ होतव्यम् । अन्यथा दोषदर्शनात् ।

महाकपिलपचरात्रे–

अप्रदीप्ते न होतव्य मध्यमेनाप्यनिंधिते ।
प्रदीप्ते लेलिहानेऽग्नौ होतव्य कर्मसिद्धये ॥४०८१॥

बह्वृचे च–

अधे बुध सधूमे च जुहुयाद् यो हुताशने ।
यजमानो भवेदध सपुत्र इति च श्रुति ॥४०८२॥

छदोगपरिशिष्ट–

योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यगारिणि च मानव ।
मदाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ॥४०८३॥

तस्मात् समिद्धे होतव्य नासमिद्धे कथचन ।
आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यतिकी तथा ॥४०८४॥ इति ।

अथ होमानन्तरकृत्यम्–

तत सुधौतदन्तास्य स्नात शिष्य समाहितम् ।
पाययित्वा पचगव्य कुण्डस्यांतिकमानयेत् ॥४०८५॥

विलोक्य दिव्यदृष्ट्या त तच्चैतन्य हृदबुजात् ।
गुरुरात्मनि सयोज्य कुर्यादध्वविशोधनम् ॥४०८६॥

प्रयोगसारे-

पचगव्य यथा प्रोक्त पीत्वा चान्त यथाविधि ।
द्वारेण दक्षिणेनाथ यागस्थान प्रवेशयेत् ॥४०८७॥

तच्चैतन्यमित्यस्यार्थ -तत् हृदो वहन्नाड्याकुशमुद्रया चैतन्यमाकृष्य स्ववहन्नाडीमार्गेण स्वहृदि सयोजयेदित्यर्थ ।

यच्चोक्त यामले-

हृदि स्थित तच्चैतन्य प्रस्फुरत् तारकाकृति ।
आदाय स्थापयेत् स्वीये हृदयेऽकुशमुद्रया ॥४०८८॥ इति ।

अध्वानश्च वायवीयसहितायाम्-

तेऽत्र शब्दास्त्रयोऽध्वानस्त्रयस्त्वर्था समीरिता ।
मत्राध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा चेति शब्दत ॥४०८९॥

भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थत क्रमात् ।
मत्राध्वा मत्रराशिः स्यात् पदाध्वा वर्णसघक ॥४०९०॥

आदिक्षान्ताश्च ये वर्णा वर्णाध्वेति प्रकीर्तिता ।
ईरितो भुवनाध्वेति भुवनानीह सूरिभि ॥४०९१॥

तत्त्वाध्वा बहुधा भिन्न शैवाद्यागमभेदत ।
षट्त्रिंशत् शिवतत्त्वानि द्वाविंश वैष्णवानि तु ॥४०९२॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृते विदु ।
उक्तानि दशतत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मन ॥४०९३॥

एषा तत्त्वाना व्यक्ति प्रथमपटले लिखितास्ति ।

निवृत्त्याद्या कला पंच कलाध्वेति प्रकीर्तित ।
क्रमादेतान् पुन षट् च शोधयेद् गुरुसत्तम ॥४०९४॥

पादाध्वनाभिहृद्भालमूर्धस्वपि शिशो स्मरेत् ।

तत्राय शोधनप्रकार । पादे कलाध्वान स्मृत्वा यद् गुह्यहृद्वक्त्रशिर सु स्वबीजादिका कला विन्यस्य पश्चात् कलाध्वविशोधनम् । एव तत्त्वाध्वान अथ स्मृत्वा विलोमेषु पूर्वस्थानेषु तान् विन्यस्य पश्चात् तत्त्वाध्वशोधनम् । एव भुवनाध्वान नाभौ स्मृत्वा अनतरस्थानेषु स्वबीजाद्यान् विन्यस्य पश्चात् तत्शोधनम् । एव हृदि वर्णाध्वान सस्मृत्य शुद्धान् वर्णान् तद्देहे विन्यस्य पश्चाद् वर्णाध्वशोधनम् ।

एव भाले पदाध्वान सस्मृत्य सविन्द्वर्णान् विन्यस्य तत्शोधनम। एव मूर्धनि मत्र ध्वान सस्मृत्य सप्तमआन् तत्तत्स्थानेषु व्याप्य पश्चात् तत्त्वाऽध्वविशोधनमिति ।

शारदायाम्–

ततः कूर्चेन विधिवत् त स्पृशन् जुहुयाद् गुरु ।
आचार्यकुण्डे सशुद्धैस्तिलैराज्यपरिप्लुतै ॥४०९५॥
शोधयाम्यमुमध्वान स्वाहेति पृथगध्वन ।
ताराद्यमाहुतीरष्टौ क्रमात् ता विलय नयेत् ॥४०९६॥
शिवे शिवान्तसलीलान् जनयेत् सृष्टिमार्गत ।
विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या त शिशु देशिकोत्तम ।
आत्मस्थित तच्चैतन्य पुन शिष्ये नियोजयेत् ॥४०९७॥

नारायणीयेऽपि–

ध्यानेनात्मनि त शिष्य सहृत्य प्रलयक्रमात् ।
पुनरुत्पाद्य तत् पाणौ दद्याद् दर्भांश्च मत्रितान् ॥४०९८॥

अनेनाध्वशोधनेन शरीरशुद्धिर्भवति। यत षडध्वमेव शरीरम्।

यच्च यामले–

शान्त्यतीतकलामूर्धा शातिवक्त्रशिरोवहा ।
निवृत्तिजानुजघाघ्रि र्भुवनाध्वशिरोरुहा ॥४०९९॥
मत्राध्वमासरुधिरा पदवर्णशिरायुता ।
तत्त्वाध्वमज्जामेदोऽस्थिधातुरेतोयुता शिवे ॥४१००॥ इति ।

वायवीये–

ततो होमावशिष्टेन घृतेनापूर्य वै स्रुवम् ।
निधाय पुष्प तस्याग्रे स्रुवेणाधोमुखेन ताम् ॥४१०१॥
सदर्भेण समाच्छाद्य मूलेनाञ्जलिनोत्थित ।
वौषडन्तेन जुहुयाद् धारां तु प्लवसनिभाम् ॥४१०२॥
उद्वास्य देवता कुभे सागा सावरणा गुरु ।

अत्र साप्रदायिकास्तु व्याहृतिशब्देन महाव्याहृतय उच्यन्ते। ताश्च यथा—ओ भूरानये च पृथिव्यै महते च स्वाहा। ओ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय महते च स्वाहा। ओ स्वरादित्याय दिवे च महते च स्वाहा। ओ भू र्भुव स्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च

महते च स्वाहा । विभावसो जिह्वादीनामित्यादिशब्देनाधिदेवतागमूर्तिलोकपानतदायुधानीत्यर्थ ।

पुन दर्व्याहुतिभि र्हुत्वा जिह्वादीना विभावसो ॥४१०३॥

शारदायाम्–

एकैकामाहुतिं दत्वा परिषिच्याद्भिरात्मनि ।
पावक योजयित्वा स्वे परिधीन् सपरिस्तरान् ॥४१०४॥

अग्नेरुद्वासनमनन्तु गणेश्वरविमर्शिन्याम्–

ॐ भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि सप्राप्ते सान्निध्य कुरु सादरम् ॥४१०५॥ इति ।

नैमित्तिके दहेन् मत्री नित्ये तु न दहेदिमान् ।
नेत्रे शिष्यस्य बध्नीयान्नेत्रमत्रेण वाससा ।
करे गृहीत्वा त शिष्य कुडतो मडल नयेत् ॥४१०६॥

नारायणीये–

न्यास शिष्यतनौ कृत्वा त प्रदक्षिणमानयेत् ।
पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत् कुसुमाजलिम् ॥४१०७॥

शारदायाञ्च–

तस्याञ्जलिं पुन पुष्पै पूरयित्वा यथाविधि ।
कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेन्मूलमुच्चरन् ॥४१०८॥

पिंगलामते तु विशेष –

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत् ।
पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे पुष्पपात शुभोऽशुभे ।
अष्टोत्तरशत शान्त्यै जुहुयादस्त्रमत्रत ॥४१०९॥

शारदायाम्–

व्यपोह्य तन्नेत्रबधमासीन दर्भसस्तरे ।
आत्मयागक्रमाद् भूय सहृत्योत्पाद्य देशिक ॥४११०॥ इति ।

अत्र साम्प्रदायिकास्तु आत्मयाग अन्तर्याग । तत्क्रमात् तत्रोक्तभूतशुद्धिक्रमेणेत्यर्थ ।

यच्चोक्तं प्रयोगसारे–

उपविश्यासने दिव्ये संहरेत् तस्य विग्रहम् ।
गुणांशेन पृथिव्यादिभूतानि विलयं नयेत् ॥४१११॥
यथावत् पिण्डसंस्थानि संहारक्रमयोगतः ।
ततः सृष्टिक्रमेणैव पिण्डं संभावयेत् तदा ॥४११२॥ इति ।

शारदायाम्–

तत्तन्मन्त्रोदितान् न्यासान् कुर्याद्देहे शिशोस्तदा ।
पंचोपचारैः कुंभस्थां पूजयित्वेष्टदेवताम् ॥४११३॥
तस्यां तन्त्रोक्तमार्गेण विदध्यात् सकलीकृतिम् ।
मंडलेऽलंकृते शिष्यमन्यस्मिन्नुपवेशयेत् ॥४११४॥

अन्यस्मिन् मण्डले इति मण्डलाद् बहिः ऐशान्याम् ।

तदुक्तं सोमशंभुना–

यागालयाद् दिगीशस्य रचिते स्नानमण्डपे ।
कुर्यात् करद्वयायामां वेदीमष्टांगुलोच्छ्रिताम् ॥४११५॥
श्रीपर्ण्याद्यासने तत्र विन्यस्यानन्तमासनम् ।
शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत् ॥४११६॥
स्नाने तूदङ्मुखं मुक्तौ भुक्तौ च पूर्ववक्त्रकम् ।
ऊर्ध्वकायं समारोप्य तथा दर्भाग्रपाणिनम् ॥४११७॥
नदत्सु पंचवाद्येषु सार्धं विप्राशिषा गुरुः ।
विधिवत् कुंभमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ॥४११८॥
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृका मनसा जपन् ।
मूलेन साधितैस्तोयैरभिषिचेत् तमात्मवित् ॥४११९॥

मूलेन विलोममूलेन ।

यच्च प्रपंचसारे–

यया पुरा पूरितमक्षरैर्घटं सुधामयं शिष्यतनौ तयैव सः ।
प्रपूरयेन्मन्त्रिवरोऽभिषेचमेदवाप्तये मङ्क्षु यथेष्टसम्पदाम् ॥४१२०॥

पूजिता पुनरादाय वर्धनीमस्त्ररूपिणीम् ।
तस्या सुसाधितैस्तोयै सिचेद् रक्षार्थमञ्जसा ॥४१११॥
अवशिष्टेन तोयेन शिष्यमाचामयेद् गुरु ।
ततस्त सकलीकुर्याद्देवतात्मानमात्मवित् ॥४१२२॥
उत्थाय शिष्यो विमले वाससी परिधाय च ।
आचम्य वाग्यतो भूत्वा निषीदेत् सन्निधौ गुरो ॥४१२३॥
देवतामात्मन शिष्ये सक्रान्ता देशिकोत्तम ।
पूजयेद् गधपुष्पाद्यैरेवय सभावयन् तयो ॥४१२४॥ इति ।

वसिष्ठसहितायाम्–

ततस्तत् शिरसि स्वस्य हस्त दत्वा शत जपेत् ।
अष्टोत्तरशत मत्र दद्यादुवकपूर्वकम् ॥४१२५॥

अत्र आचार्यो देवता प्रार्थयेत् ।

तत्र मत्र प्रपचसारे–

ओ कारुण्यनिलये देवि सर्वसापत्तिसाश्रये ।
शरण्यवत्सले मात कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥४१२६॥
आणवप्रमुखै पाशै पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनस्यास्य दयाधारे कुरु कारुण्यमीश्वरि ॥४१२७॥
ऐहिकामुस्मिकै र्भोगैरपि सबध्यतामसौ ।
स्वभक्ति सकला चास्मै दीयता निष्कला श्रये ॥४१२८॥ इति ।

मत्रतत्रप्रकाशेऽपि–

विश्वात्मा स्वयमाचार्यस्तन्मूर्ध्नि स्वकर न्यसेत् ।
ऋष्यादियुक्त च मनु त्रिर्ब्रूयाद् दक्षिणे श्रुतौ ॥४१२९॥
प्रसन्नवदनस्तस्य शिष्यस्य मुनिपुगव ।
स्वतो ज्योतिर्मयीं विद्या गच्छन्तीं भावयेद् गुरु ॥४१३०॥
आगता भावयेच्छिष्य एव तत्रविदो विदु ।
विद्या दत्वा सहस्र वै स्वसिध्यै देशिको जपेत् ॥४१३१॥

अष्टोत्तरसहस्र वा शक्तिहानानवाप्तये ।
देशिक प्रार्थयेच्छिष्यश्चैन मन्त्रमनुस्मरन् ॥४१३२॥
त्वत्प्रसादादह देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वत ।
मायामृत्युमहापाशाद् विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥४१३३॥ इति ।

शारदायाम्–

गुरो लब्ध्वा महाविद्यामष्टकृत्वो जपेत् सुधी ।
गुरुदैवतविद्यानामैक्य सभावयन् धिया ॥४१३४॥
प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ गुरु तद् देवतात्मकम् ।
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्व निजमूर्धनि योजयेत् ॥४१३५॥
शरीरमर्थं प्राणाश्च सर्वं तस्मै निवेदयेत् ।
तत प्रभृति कुर्वीत गुरो प्रियमनन्यधी ॥४१३६॥
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा दत्वा समग्रा प्रीतमानस ।
ब्राह्मणास्तर्पयेत्पश्चाद् भक्ष्यभोज्यै सदक्षिणै ॥४१३७॥

ऋत्विग्भ्यो ब्रह्मादिभ्य । तत्र प्रणीतामार्जन कृत्वा ब्रह्मणे दक्षिणा दत्वा ब्रह्माणमुद्वास्य हुतचरुशेष प्राशयेत् ।

तदुक्त ब्रह्मसहितायाम्–

प्रणीतामार्जन कृत्वा दद्याच्च ब्रह्मदक्षिणाम् ।
स्वस्ववित्तानुसारेण लोभमोहविवर्जित ॥४१३८॥
ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयेदथ ।
आशीर्वचोभि विदुषामेधमान सुखीभवेत् ॥४१३९॥
हुतशेष तत प्राश्य कुक्कुटाण्डप्रमाणकम् ।
मन्त्रित मन्त्रगायत्र्या त्र्यायुष चापि धारयेत् ॥४१४०॥
पूर्णपात्र पूर्यतोयै सप्तकृत्वोऽभिमन्त्रितै ।
आत्मानमभिषिञ्चेत् कै सदूर्वैस्तुलसीदलै. ॥४१४१॥

अथ होमदक्षिणा प्रपञ्चसारे–

एकादशार्धकणिका वरकाञ्चनस्य
दद्यात् सदैव गुरवेऽस्य सहस्रहोमे ।
अर्धाधपञ्चकणिका द्विकणा च सार्धा
स्याद्, दक्षिणेति कथिता मुनिभिस्त्रिधैव ॥४१४२॥

एषा क्रियावती दीक्षा प्रोक्ता सर्वसमृद्धिदा ।
अथ वर्णात्मिका वक्ष्ये दीक्षामागमचोदिताम् ॥४१४३॥
पुप्रकृत्यात्मका वर्णा शरीरमपि तादृशम् ।
यतस्तस्मात् तनो न्यस्येद् वर्णान् शिष्यस्य देशिकः ॥४१४४॥
तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान् प्रतिलोमेन सहरेत् ।
स्वाज्ञया देवताभावाद् विधिना देशिकोत्तम ॥४१४५॥
तदा विलीनतत्त्वोऽस्य शिष्यो दिव्यतनु र्भवेत ।
परमात्मनि सयोज्य तच्चैतन्य गुरुत्तम ॥४१४६॥
तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् न्यस्येत् शिष्यतनौ पुन, ।
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्य च नियोजयेत् ॥४१४७॥
जायते देवताभाव परानदमय - शिशो ।
एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता सविरप्रदायिनी ॥४१४८॥
तत कलावती दीक्षा यथावदभिधीयते ।
निवृत्याद्या कला पचभूताना शक्तयो यत ॥४१४९॥
तस्माद् भूतमये देहे ध्यात्वा ता वेधयेत् शिशो ।
निवृत्ति र्जानुपर्यन्त तलादारभ्य सस्थिता ॥४१५०॥
जानुनो र्नाभिपर्यन्त प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ।
नाभे कण्ठावधिव्याप्ता विद्या शातिस्तत परम् ॥४१५१॥
कण्ठाल्ललाटपर्यन्त व्याप्ता तस्मात् शिखावधि ।
शात्यतीता कला ज्ञेया कलाव्याप्तिरितीरिता ॥४१५२॥
सहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरे गुरु ।
सयोज्य वेधयेद् विद्वानाज्ञया ता शिखावधि ।
इय प्रोक्ता कलादीक्षा दिव्यज्ञानप्रदायिनी ॥४१५३॥
ततो वेधमयी वक्ष्ये दीक्षा ससारमोचिनीम् ।
ध्यायेत् शिशुतनौ मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥४१५४॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसयुक्ता तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥४१५५॥

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा शक्तिं भित्वा षट्चक्रमजसा ॥४१५६॥
गच्छन्ती मध्यमार्गेण दिव्या परशिवावधि ।
वादिसान्तदलस्थार्णान् सहरेत् कमलासने ॥४१५७॥
त षट्पत्रमये पद्मे वादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरु ४१५८॥
तान् वर्णान् सहरेद् विष्णौ त पुन र्नाभिपकजे ।
दशपत्रे डादिफान्तवर्णाढ्ये योजयेद् गुरु ॥४१५९॥
तान् वर्णान् सहरेद् रुद्रे त पुन र्हृदयाम्बुजे ।
कादिठान्तार्कवर्णाढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरु ॥४१६०॥
तान् वर्णान् सहरेदस्मिन् त भूय कण्ठपकजे ।
स्वराढ्ये षोडशदले योजयित्वा स्वरान् पुन ॥४१६१॥
सदाशिवे तान् सहृत्य त पुन र्भ्रूसरोरुहे ।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरु ॥४१६२॥
तद्वर्णौ सहरेद् विन्दौ कलाया त नियोजयेत् ।
त नादेऽनन्तर नाद नादान्ते योजयेद् गुरु ॥४१६३॥
तमुन्मन्या समायोज्य विषुवक्त्रातरे च ताम् ।
त पुन र्गुरुवक्त्रे तु योजयेद् देशिकोत्तम ॥४१६४॥

कलादीनि भ्रूमध्यादुपर्युपरि तानि पट्चक्राणि ।

सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत् परमेश्वरे ।
गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्य पतेद् भुवि ॥४१६५॥
सजातदिव्यवेधोऽसौ सर्वं विन्दति तत्क्षणात् ।
साक्षात् शिवो भवत्येव नात्र कार्या विचारणा ॥४१६६॥ इति ।

छिन्नपाश पाशत्रयविमुक्त इत्यर्थ ।

यच्च प्रयोगसारे–

पाशस्तु सत्सु वाऽसत्सु कर्मस्वास्था समीरिता ।
त्रिविध स तु विज्ञेय पाशो बन्धैकसाधन ॥४१६७॥

प्रथम. सहज पाशस्तथा चागतुक पर ।
प्रासगिकस्तृतीय स्यादिति पाशत्रय स्मृतम् ॥ ४१६८॥ इति ।

वेधफलमाह श्रीकण्ठाचार्य –

कालज्ञान तथा कालवचनान्यतनी तथा ।
प्रवेशो वेध इत्यादि प्रसन्ने लभ्यते शिव ॥४१६६॥ इति ।

एषा वेधमयी दीक्षा सर्वसवित्प्रदायिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तन्त्रेऽस्मिन् समुदाहृता ॥४१७०॥

दीक्षा प्राप्य सदाचार पालयेत् सिद्धिहेतवे ।
द्रव्यार्धं गुरवे दद्याद् दक्षिणा वा तदर्धकम् ॥४१७१॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे–

आचार्यादनभिप्राप्त प्राप्तश्चादत्तदक्षिण ।
सतत जप्यमानोऽपि मन्त्र सिद्धि न गच्छति ॥४१७२॥

सर्वस्व वा तदर्धं वा वित्तशाठ्यविवर्जित ।
गुरवे दक्षिणा दत्वा ततो मन्त्रग्रहो मत ॥४१७३॥ इति ।

वायवीयसहितायाम्–

मण्डप गुरवे दद्याद् यागोपकरणै सह ।
कृतकृत्यस्तथा शिष्य सर्व तस्मै निवेद्य च ॥४१७४॥

यच्च यावच्च तद्भक्त्या गुरोराकृष्टचेतन ।
गोभूहिरण्य विपुल गृहक्षेत्रादिक बहु ॥४१७५॥

न चेदर्धं तदर्धं वा तद् दशाशमथापि वा ।
अक्लेशादन्नवस्त्रादि दद्यात् वित्तानुसारत ॥४१७६॥

ता गृहीत्वा तदाचार्यो बोधयेद् धर्मशाश्वतम् ।
स्नानसध्ये सदाचार नित्य काम्य तथैव च ॥४१७७॥

मन्त्रसिद्धिप्रकाराश्च शिष्यायाभिवदेत् तदा ।
श्रुत्वा प्रणम्य श्रीनाथ भक्तिनम्रस्तदाचरेत् ॥४१७८॥ इति ।

सदाचारश्च प्रयागसारे–

देवस्थाने गुरुस्थाने श्मशाने वा चतुष्पथे ।
पादुकासनविण्मूत्रमैथुनानि विवर्जयेत् ॥४१७९॥

देव गुरु गुरुस्थान क्षेत्र क्षेत्राधिदेवता ।
सिद्धि सिद्धाधिवासाश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥४१८०॥

प्रमत्तामन्त्यजा कन्या पुष्पिता पतितस्तनीम् ।
विरूपा मुक्तकेशी च कामार्ता च न निन्दयेत् ॥४१८१॥

कन्यायोनि पशुक्रीडा दिग्वस्त्रा प्रकटस्तनीम् ।
नालोकयेत् परद्रव्य परदाराश्च वर्जयेत् ॥४१८२॥

धान्यगोगुरुदेवाग्निविद्याकोशनरान् प्रति ।
नैव प्रसारयेत् पादौ नैतानपि च लघयेत् ॥४१८३॥

आलस्यमदसमोहशाठ्यपैशुन्यविग्रहान् ।
असूयामात्मसमान परनिन्दा च वर्जयेत् ॥४१८४॥

लिङ्गिन व्रतिन विप्र वेदवेदागसहिता ।
पुराणागमशास्त्राणि कल्पाश्चापि न दूषयेत् ॥४१८५॥

युग मुसलमश्मान दामचुल्हीमुलूखलम् ।
सूर्प समार्जनी दण्ड ध्वज वै तूर्यमायुधम् ॥४१८६॥

कलश चामर छत्र दर्पण भूषण तथा ।
भोगयोग्यानि चान्यानि यागद्रव्याणि यानि च ॥४१८७॥

महास्थानेषु वस्तूनि यानि वा देवतालये ।
दिव्योक्तानि पदार्थानि भूताविष्टानि यानि वै ।
लघयेज्जातु नैतानि नैतानि च पदा स्पृशेत् ॥४१८८॥

या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ।
परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत् सदा ॥४१८९॥

प्रतिग्रह न गृह्णीयादात्मभोगविधित्सया ।
देवतातिथिपूजार्थं यत्नतोऽप्यर्जयेद् धनम् ॥४१९०॥

धारयेदार्जवं सत्यं सौशील्य समतां धृतिम् ।
क्षान्ति दयामनास्थां च विद्या शक्ति च सर्वदा ॥४१९१॥

अत्रोक्तान् य सदा ह्येतानैहिकामुष्मिकोचितान् ।
आचारानाद्रते शक्ति दीक्षित सोऽधिगच्छति ॥४१९२॥
विभीतकार्ककारजस्नुहीछाया न चाश्रयेत् ।
स्तम्भदीपमनुष्याणामन्येषा प्राणिना तथा ॥४१९३॥
नखाग्रकेशनिष्ठ्यूतस्नानवस्त्रघटोदकम् ।
एतत् स्पर्शं त्यजेद् दूरात् खरश्वाजरजस्तथा ॥४१९४॥ इति ।

सोमशम्भौ तु-

न निन्देत् कारण देव न शास्त्र तेन निर्मितम् ।
न गुरु साधक चैव लिंगच्छाया न लघयेत् ॥
नाद्याल्लघेन्न निर्माल्य न दद्यात् शिवदीक्षिते ॥४१९५॥

पद्मन्वयरत्नेऽपि-

न लघयेद् गुरोराज्ञामुत्तर न वदेत् तथा ।
रात्रौ दिवा च तस्याज्ञा दासवत् परिपालयेत् ॥४१९६॥
असत्यमशुभ तद्वद् बहुवाद परित्यजेत् ।
अप्रिय च तथालस्य कामक्रोधौ विशेषत ॥४१९७॥
अप्रच्छन्नमुखो ब्रूयाद् गुरोरग्रे कदापि न ।
अभिमान न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभि ॥४१९८॥
गुरुद्रव्य न भोक्तव्य तेनादत्त कदाचन ।
दत्त प्रसादवद् ग्राह्य लोभतो न कदाचन ॥४१९९॥
अद्वैत देवपूजा च गुरोरग्रे परित्यजेत् ।
पादुकायोगपादादि गुरुचिह्नानि सादरम् ॥४२००॥
न लघयेत् स्पृशेन्नैव पादाभ्या प्रणमेत् सदा ।
पर्यंकशयन तद्वत् तथा पादप्रसारणम् ॥४२०१॥
अगाभ्यग तथाश्लील न कुर्याद् गुरुसन्निधौ ।
गमनागमने कुर्यात् प्रणम्य गुरुपादुकाम् ॥४२०२॥
विचार्य कार्यं कुर्वीत गुरुकार्यं प्रसादवान् ।
छायां न लघयेत् तद्वन्न गच्छेत् पुरतो गुरो ॥४२०३॥

पश्चात् पादेन निर्गच्छेत् प्रणम्य च गुरो गृंहात् ।
गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभाव शिष्यसग्रहम् ॥४२०४॥

अहकार न कुर्वीत नोल्वण धारयेद् वपु ।
प्रगुरो सनिधौ नैव स्वगुरु प्रणमेद् बुधः ॥४२०५॥

नमस्काराय चोद्युक्त गुरु ईर्ष्या निवारयेत् ।
न नियोग गुरो र्दद्याद् युष्मदा नैव भाषयेत् ॥४२०६॥ इति ।

दशपटल्याम्–

शिष्येणापि प्रकर्तव्या शुश्रूषा च गुरो सदा ।
शुश्रूषया विना विद्या न भवेत् सा फलप्रदा ॥४२०७॥

गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्ट शिवे तुष्टे जगत्त्रयम् ।
गुरौ रुष्टे महेशानि नाह त्राता त्वया सह ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरो कोप न कारयेत् ॥॥४२०८॥ इति ।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे दीक्षाकथन
नाम चतुर्विश पटल ॥२४॥

पचविंशः पटलः ।

एव प्राप्तमनु मंत्री समाराध्येष्टदेवताम् ।
पूर्वोक्तक्रमयोगेन नित्यानुष्ठानतत्पर ॥
नैमित्तिकमथो कुर्वन् षट्कर्माणि च साधयेत् ४२०९॥

यदाह शारदाया, मन्त्रतन्त्रप्रकाशे च–

कर्मषट्क ब्रवीम्यद्य साधकाभीष्टद च यत् ।
शांति वश्य स्तभन च द्वेष उच्चाटमारणे ॥४२१०॥

मनीषिण प्रशसन्ति तल्लक्षणमथोच्यते ।
रोगकृत्याग्रहादीनां निरासः शांतिरीरिता ॥४२११॥

वश्य जनाना सर्वेषां विधेयत्वमुदीरितम् ।
प्रवृत्तिरोध सर्वेषा स्तभन समुदाहृतम् ॥४२१२॥

स्निग्धाना द्वेषजनन मिथो विद्वेषण स्मृतम् ।
उच्चाटन स्वदेशादे भ्रंशन परिकीर्तितम् ॥४२१३॥
प्राणिना प्राणहरणं मारण समुदीरितम् ।
देवता देवतावर्णान् ऋतुर्दिक्तिथिमासनम् ॥४२१४॥
विन्यासा मण्डल मुद्राक्षर भूतोदय समित् ।
मालाग्नि लेखनद्रव्य कुण्ड स्रुक्श्रुवलेखनी ॥४२१५॥
ज्ञात्वैतानि प्रयुञ्जीत षट्कर्माणि विचक्षण ।
रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा कालीति देवता ॥४२१६॥
क्रमादेताश्च कर्मादौ पूजनीया फलार्थिभि ।
सितारुणहरिद्राभमिश्रश्यामलधूसरा ॥४२१७॥
ता स्ववर्णाभपुष्पैश्च काले काले यथाविधि ।
सूर्योदय समारभ्य घटिकादशक क्रमात् ॥४२१८॥
ऋतव स्युर्वसन्ताद्या अहोरात्र दिने दिने ।
वसन्तग्रीष्मवर्षाख्यशरद्धेमन्तशैशिरा ॥४२१९॥
हेमन्त शान्तिके प्रोक्तो वसन्तो वश्यकर्मणि ।
शिशिर स्तम्भने ज्ञेयो विद्वेषे ग्रीष्म ईरित ॥
प्रावृडुच्चाटने ज्ञेया शरन्मारणकर्मणि ॥४२२०॥ इति ।

पिंगलामते–

हेमन्तो धवलो वृद्धो वसन्तो लोहितो युवा ।
आरक्तधवलो बाल शिशिर सम्प्रकीर्तित ॥४२२१॥
ग्रीष्मो धूम्रशरीरस्तु श्यामाङ्गो जलदागम ।
शरत्काल कृष्णवर्ण शान्त्यादावृतवस्त्विमे ॥४२२२॥

अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्–

प्रसिद्धा ऋतवो ग्राह्या षट्कर्मादिकसाधने ।
यस्मिन् कस्मिन्नृतौ कार्यं मन्त्राणामपि साधनम् ॥४२२३॥
पूर्वाह्णे वश्यपुष्ट्यादि ह्यपरञ्च पराह्णिके ।
ईशचन्द्रनिर्ऋतिवाय्वग्नीना दिशो मता. ॥४२२४॥

तत् तत् कर्मसु तद्दिक्षु मुख कृत्वा जप चरेत् ।
शुक्लपक्षे द्वितीया च तृतीया पचमी तथा ॥४२२५॥
बुधदेवगुरूपेता शातिके वाथ सप्तमी ।
षष्ठी त्रयोदशी चैव चतुर्थी नवमी तथा ॥४२२६॥
सोमदेवगुरूपेता पौष्टिके शसिता बुधै ।
अष्टमी नवमी चैव दशम्येकादशी तथा ।
शुक्रभानुसुतोपेता शस्ता विद्वेषकर्मणि ॥४२२७॥
अथो चतुर्दशीकृष्णा शनिवारे तथाष्टमी ।
उच्चाटनेऽथ शस्तोऽत्र जप शकरभाषित ॥४२२८॥
अमावास्याष्टमीकृष्णा तादृगेव चतुर्दशी ।
भानुना तत् सुतोपेता भूसुतेनापि सयुता ।
मारणे स्तभने चैव मोहे द्रोहे प्रशस्यते ॥४२२९॥ इति ।

पिंगलामतेऽपि–

पुष्ट्याकृष्टिशुभोच्चाटशातिस्तभनबोधनम् ।
गुरौ कुजे रवौ शुक्रे सोमे चन्द्रे बुधे क्रमात् ॥४२३०॥
वश्यशान्त्यो स्मृता स्वाती स्तभे चित्रा भरण्यथ ।
द्वेषे पुनर्वसुस्तिष्य स्वाती तूच्चाटने मता ।
मघार्द्रे मारणे स्यातामेवं नक्षत्रनिर्णय ॥४२३१॥

आसनानि, शारदायाम्–

पद्माख्य स्वस्तिक भूयो विकट कुक्कुट पुन ।
वज्र भद्रकमित्याहुरासनानि मनीषिण ॥४२३२॥

तत्राद्ययोस्त्रयोश्च लक्षण पुरश्चरणपटले प्रोक्तम् ।

विकट-कुक्कुटासनयोर्लक्षण यथा–

जानुजघान्तराले तु भुजयुग्म प्रकाशयेत् ।
विकटासनमेतत् स्यादुपविश्योत्कटासने ॥४२३३॥
कृत्वोत्कटासन पूर्वं समपादद्वय तत ।
अन्तर्जानुकरद्वन्द्व कुक्कुटासनमीरितम् ॥४२३४॥ इति ।

यो खड्गगजफेरूणा मेषीमहिषयोस्तथा ।
कृत्तौ निविश्य कुर्वीत जप शान्त्यादिकर्मसु ॥४२३५॥
ग्रथन च विदर्भश्च सपुटो रोधन तथा ।
योग पल्लव एते षड् विन्यासा' कर्मसु स्मृता ॥४२३६॥
प्रत्येकमेषा षण्णा तु लक्षण विनिगद्यते ।
एको मन्त्रस्य वर्ण स्यात् ततो नामाक्षर वदेत् ॥४२३७॥
मन्त्रार्णो नामवर्णश्चेदेतद् ग्रन्थनमीरितम् ।
द्वौ द्वौ मन्त्राक्षरौ यत्र एकैक साध्यवर्णकम् ॥४२३८॥
विदर्भित तत् प्रोक्त च वश्यकर्मणि मन्त्रिभि ।
मन्त्रमादौ वदेत् सर्वं साध्यसञ्ज्ञामनन्तरम् ॥४२३९॥
विपरीत पुनश्चान्ते मन्त्र तत् सपुट स्मृतम् ।
नाम्न आद्यन्तमध्येषु मन्त्र स्याद् रोधन मतम् ॥४२४०॥
विद्वेषणविधानेषु प्रशस्तमिदमीरितम् ।
अते नाम्नो भवेन्मन्त्रो योग प्रोच्चाटने मत ।
मंत्रस्यान्ते भवेन्नाम पल्लवो मारणे मत. ॥४२४१॥

योगपल्लवयोरन्यत्रापि विनियोगस्तन्त्रान्तरे–

शांतिके पौष्टिके वश्ये प्रायश्चित्तविशोधने ।
मोहने दीपने योग प्रयुञ्जन्ति मनीषिण ॥४२४२॥
मारणे विषनाशे च ग्रहभूतविनिग्रहे ।
उच्चाटने च विद्वेषे पल्लव सप्रचक्षते ॥४२४३॥ इति ।

अन्यत्र विशेष –

अर्धार्धेनादितोऽन्ते च मन्त्र कुर्याद् विचक्षण ।
मध्ये चास्य भवेत् सञ्ज्ञा ग्रस्त त समुदाहृतम् ॥४२४४॥
अभिचारादिसर्वेषु योजयेन्मारणादिषु ।
अभिधान लिखेत् पूर्वं मध्ये वापि महामते ॥४२४५॥
मन्त्रमेव द्विधा कृत्वा समस्तमभिधीयते ।
द्वेषोच्चाटनकार्येषु योजयेदविशकित ॥४२४६॥

अर्धोर्धेनादितोऽन्ते च मन्त्र कुर्याद् विचक्षण ।
मध्ये चान्ते च साध्याख्या मन्त्रिणा क्रियते यदा ॥४२४७॥
आक्रान्त तद् भवेन्मन्त्र सदा सर्वार्थसिद्धिदम् ।
स्तमस्तोभसमावेशवश्योच्चाटनकर्मणि ।
सकृत्पूर्वं लिखेन्मन्त्रमते चैव त्रिधा पुन. ॥४२४८॥
मध्ये चैव भवेत् सज्ञा आद्यन्तमिति तद् विदु ।
परस्परप्रीतियुजो विद्वेषजनन परम् ॥४२४९॥
आद्यन्त च तथा चार्द्धं त्रिधा मन्त्रं समालिखेत् ।
साध्यनाम सकृन्मध्ये त विदु' सर्वतोमुखम् ॥४२५०॥
सर्वोपद्रवशमन महामृत्युविनाशनम् ।
सर्वसौभाग्यजननं मृतानाममृतप्रदम् ॥४२५१॥ इति ।

अथ मण्डल गौतमीये–

अधचन्द्रनिभ पार्श्वद्वये पद्मद्वयाकितम् ।
जलस्य मण्डल प्रोक्त प्रशस्त शातिकर्मणि ॥४२५२॥
त्रिकोण स्वस्तिकोपेत वश्ये वह्नेऽस्तु मण्डलम् ।
चतुरस्र वज्रयुक्त स्तभे भूमेऽस्तु मण्डलम् ॥४२५३॥

त्रिपष्ठयकनिभ वज्रमिति ।

वृत्त दिवस्तद् विद्वेषे बिन्दुषट्काकित तु तत् ।
वायुमण्डलमुच्चाटे मारणे वह्निमण्डलम् ॥४२५४॥

विशेषस्तु ईशानशिवेनोक्त –

उभयधरणिरिष्ट साधयेद् दीर्घकाले
　　उभयमरुति किञ्चित् कालपाकेन सिद्ध्येत् ।
उभयगगनवन्ह्यो नैव सिद्धि नं हानि-
　　स्तत उभयजलस्य क्षिप्रमेवेष्टव स्यात् ॥४२५५॥
शशिजलधरणिस्थे शातिक पौष्टिक वा
　　शशिमरुदनलाभ्या वश्यमाकर्षण च ।
दिनकरभुवि कुर्यात् स्तभन त्वर्कतोये
　　यशमिनमरुदाविर्भ्रामणोच्चाटने च ॥४२५६॥

दिनकरवियति स्यान्मोहन त्वर्कवह्नौ
द्रुततरमरिवर्गान् साधयेत् मारयेच्च ॥ इति ।

षण्मुद्रा क्रमतो ज्ञेया पाशपद्मगदाह्वया ।
मुशलाशनिखड्गाख्या शांतिकादिषु कर्मसु ॥४२५७॥ इति ।

कुलप्रकाशतन्त्रे-

तिस्रो मुद्रा स्मृता होमे मृगी हंसी च शूकरी ।
शूकरी करसंकोचो हंसी मुक्तकनिष्ठिका ॥४२५८॥

मृगी कनिष्ठातर्जन्यौ मुक्ता मुद्रात्रय मतम् ।
यज्ञे शांतिककार्येषु मृगी हंसी प्रकीर्तिता ॥४२५९॥

आभिचारिककार्येषु शूकरी कीर्तिता बुधै ।

पिंगलामते मुद्रान्तराण्यपि-

ततो द्रव्यस्य होमे तु तर्जन्यंगुष्ठयोगत ।
ज्वरनाशारिसंतापावुच्चाटो मोहन क्रमात् ॥४२६०॥ इति ।

चन्द्रतोयधराकाशपवनानलवर्णका ।
षट्सु कर्मसु मंत्रस्य बीजान्युक्तानि मंत्रिभिः ॥४२६१॥

सर्वे स्वराश्चन्द्रवर्णा भूतवर्णा उदीरिता ।
चन्द्रार्णहीनास्ते ग्राह्या वशीकृत्यादिकर्मसु ॥४२६२॥ इति ।

फल च संहितायाम्-

रक्षा स्तंभनकर्माणि वर्णै कुर्याद् धरामयै ।
शांतिक पौष्टिक कर्माकर्षण सलिलात्मकै ॥४२६३॥

दाहमोहांगभंगानि चाकृष्टि दहनात्मकै ।
सेनाभंगभ्रमोच्चाटद्वेषकर्माणि वायुजै ॥४२६४॥

कालभस्मादिचूर्णानि विविधान्यपि मारणम् ।
क्षुद्राणा स्थापने वर्णै र्नाभसै. पङ्क्तिसंख्यकै ॥४२६५॥ इति ।

केचित्त सबलहयरेफानाहु ।

तत्रोक्त महाकपिलपचरात्रेऽपि–

ल पीता पृथिवी ज्ञेया व शुक्ल कीर्तित पय ।
र रक्तोऽग्नि मरुत् कृष्णो य ह शुक्लतर वियत् ॥४२६६॥ इति ।

नम स्वाहा स्वधा वौषट् हु फडन्ताश्च जातय ।
शान्तौ वश्ये तथा स्तभे विद्वेषोच्चाटमारणे ॥४२६७॥ इति ।

अन्यत्रापि–

अर्चनक्रोधशात्यादौ नम शब्द प्रयोजयेत् ।
अग्निकार्ये च वश्यादौ स्वाहाशब्द प्रयोजयेत् ॥४२६८॥

मारणादिषु फट्कार विद्वेषादौ तु हु पदम् ।
वौषडाप्यायनादौ स्याद् द्वेषोत्सादे वषट् स्मृतम् ॥४२६९॥ इति ।

तत्रान्तरेऽपि–

वश्याकर्षणसतापहोमे स्वाहा प्रयोजयेत् ।
क्रोधोपशमने शातौ पूजने च नमो वदेत् ॥४२७०॥

वौषट् समोहनोद्दीपपुष्टिमृत्युञ्जयेषु च ।
हुकार प्रीतिनाशे च छेदने मारणे तथा ।
उच्चाटने च विद्वेषे तथा धीविकृतौ तु फट् ॥४२७१॥

विघ्नग्रहविनाशे च हु फट्कार प्रयोजयेत् ।
मत्रोद्दीपनकार्ये च लाभालाभे वषट् स्मृतम् ॥४२७२॥ इति ।

अथ भूतोदय –

नासापुटद्वयाधस्ताद् यदा प्राणगति र्भवेत् ।
तोयोदयस्तदा ज्ञेय शातिकर्मणि सर्वदा ॥४२७३॥

पुटोपरिष्टाद् गमने प्राणे स्यात् पावकोदय ।
तदा कर्मद्वये सिद्धि र्मारणे च वशीकृतौ ।
नासावण्डाश्रितगतौ प्राणस्तभे धरोदय ॥४२७४॥

पुटमध्यगतौ तस्मिन् द्वेषे व्योमोदय स्मृत ।
प्राणे तिर्यग्गतौ ज्ञेय उच्चाटे मारुतोदय ॥४२७५॥ इति ।

द्रव्यविशेषमाह शूरोत्तरे–

दूर्वाभवाश्च समिधो गोघृतेन समन्विताः ।
होतव्या शांतिके देवि शांति र्येन भवेत् स्फुटम् ॥४२७६॥
समिधो राजवृक्षोत्त्था होतव्या स्तंभकर्मणि ।
मेषीघृतेन संयुक्ता स्तंभसिद्धि भवेद् ध्रुवम् ॥४२७७॥
खादिरा मारणे प्रोक्ता कटुतैलेन संयुता ।
होतव्या साधकेन्द्रेण मारणं येन सिध्यति ॥४२७८॥
उच्चाटे चूतजाताश्च कटुतैलेन संयुता ।
उच्चाटयेत् महीं सर्वां सशैलवनकाननाम् ।
वश्ये चैव सदा होमं कुसुमैं र्दाडिमोद्भवैं ॥४२७९॥
अजाघृतेन देवेशि वशयेत् सचराचरम् ।
विद्वेषे चैव होतव्या उन्मत्तसमिधो मता ।
अतसोतैलसंयुक्ता विद्वेषणकरं परम् ॥४२८०॥ इति ।

अथ माला निबन्धे–

शंखजा पद्मबीजोत्त्था निंबारिष्टफलोद्भवा ।
प्रेतदंतभवा वाहरदोत्त्या खरदंतजा ।
जपमाला क्रमाद् ज्ञेया शांतिमुख्येषु कर्मसु ॥४२८१॥
मध्यमाया स्थिता माला ज्येष्ठेनावर्तयेत् सुधी ।
शांतौ वश्ये तथा पुष्टौ भोगमोक्षार्थके जपे ॥४२८२॥
अनामांगुष्ठयोगेन जपेत् स्तंभनकर्मणि ।
तर्जन्यंगुष्ठयोगेन द्वेषोच्चाटनयो पुनः ॥४२८३॥
कनिष्ठांगुष्ठयो र्योगात् मारणे प्रजपेत् सुधी ।
अष्टोत्तरशतं संख्या तदर्धं च तदर्धकम् ।
मणीनां शुभकार्ये स्यात् तिथिसंख्याऽभिचारके ॥४२८४॥

अथ अग्निस्तत्रान्तरे–

लौकिकाग्नौ शांतिकं स्यात् पौष्टिकं च शुभं तथा ।
वटजे स्तंभनं मोहं श्मशानस्येऽपि मारणम् ।
विभीतकाग्नौ विद्वेषं षट्कर्मण्यग्नयो मता ॥४२८५॥

अन्यत्र च-

बिल्वार्ककिंशुकजदुग्धतरुप्रदीप्ते
सौम्यं चिकीर्षुरथ कर्म हुनेद् हुताशे ।
रौद्रं विषद्रुमकलिद्रुमशेलुनिंब-
धत्तूरकाष्ठचयसन्निचितेऽथ मंत्री ॥४२८६॥ इति ।

अग्निमुखनियमस्तु सोमशंभौ-

कुण्डं स्वसमुखं ध्यात्वा हृदाहुतिभिरीप्सितम् ।
पश्चिमे शिष्यसंस्कारनित्यहोमौ समाचरेत् ॥४२८७॥
वश्याकर्षणसौभाग्यपुष्टिभाग्याधिरोपणे ।
शांतिके पाशशुद्धौ च वामे होमं प्रशस्यते ॥४२८८॥
गुटिकाञ्जननिस्त्रिंशपादलेपजिगीषया ।
शिष्यसंजननार्थं च प्राचीनवदनो यजेत् ॥४२८९॥
मारणोच्चाटनद्वेषस्तंभनार्थं च दक्षिणे ।
प्रायश्चित्तं तु तत्रैव पश्चिमे तु विमुक्तये ॥४२९०॥ इति ।
वह्ने जिह्वां सुप्रभाख्यां शांतिकर्मणि पूजयेत् ।
वश्यकार्ये हि रक्ताख्यां स्तंभने कनकाभिधाम् ॥४२९१॥
विद्वेषे गगनां जिह्वामुच्चाटेऽप्यतिरक्तिकाम् ।
कृष्णां तु मारणे चेत् स्याद्बहुरूपां तु सर्वदा ॥४२९२॥
भोज्ये संख्याविशेषोऽपि ज्ञेयः शांत्यादिकर्मसु ।
शांतौ वश्ये भोजयेत्तु होमाद् विप्रान् दशांशतः ॥४२९३॥
उत्तमं तद् भवेत् कर्म तत्त्वांशेन तु मध्यमम् ।
होमात् शतांशतो विप्रभोजनं त्वधमं हि तत् ॥४२९४॥
शान्ते द्विगुणितं विप्रभोजनं स्तंभने मतम् ।
त्रिगुणं द्वेषणोच्चाटे मारणे होमसंमितम् ॥४२९५॥
अतिशुद्धकुलोत्पन्नाः साङ्गवेदविदोऽमलाः ।
सदाचाररता विप्रा भोज्या भोज्यं मनोहरं ॥४२९६॥

पूज्यास्ते देवताबुद्धया नमस्कार्याः पुन पुन ।
सभाष्या मधुरं वाक्यं हिरण्यादिप्रदानत ॥४२९७॥

अचिराल्लभतेऽभीष्ट गृहीताया तदाशिष ।
एनोऽभिचारकर्मोत्थ नश्यति द्विजवाक्यत ॥४२९८॥

यन्त्राणा लेखनद्रव्य चदन रोचना निशा ।
गृहधूमचिताङ्गारो मारणेऽष्टविषाणि च ॥४२९९॥

श्येनाग्निलोणपिडानि धत्तूरकरस तत ।
गृहधूमस्त्रिकटुक विषाष्टकमुदाहृतम् ॥४३००॥

श्येन श्येनविष्ठा । अग्नि चित्रक । लोणपिण्ड लोणमलम् । त्रिकटुक शुण्ठी-पिप्पलीमरिचानि ।

अथ साधारणलेखनद्रव्यम्–

काश्मीररोचनालाक्षामृगेभमदचदनैः ।
विलिखेद् हेमलेखन्या यन्त्राण्येतानि देशिक ॥४३०१॥

पिगलामते लेखनीविशेष –

दूर्वा मयूरपिच्छानि विभीतकनरास्थिजा ।
ताम्रतारत्रिलोहोत्त्था हेमरौप्यार्कसभवा ॥४३०२॥

लेखनी वश्य आकृष्टौ सतापे स्तभमारणे ।
सर्वोपद्रवनाशाय शान्तौ पुष्टौ च जातिजा ॥४३०३॥

अन्यत्रापि–

लेखिन्या विलिखेद् यंत्र वश्ये दूर्वांकुरोत्त्थया ।
आकर्षे शिखिपिच्छोत्था स्तभने मुनिसभवा ॥४३०४॥

हेमजा रौप्यजा वाऽन्या सर्वरक्षाविधौ प्रिये ।
करजाक्षमयी द्वेषोच्चाटेऽन्त्येऽपि नरास्थिजा ॥४३०५॥

वश्यकर्मणि विज्ञेया राजवृक्षसमुद्भवा ।
शान्तिके पौष्टिके चैव आयु कर्मविधौ तथा ॥४३०६॥

सर्वोपसर्गशमने कर्तव्या जातिसभवा ।
अपामार्गोद्भवा वापि शुभकर्मसु सर्वदा ॥४३०७॥

आसुरेषु च सर्वेषु शस्यते तीक्ष्णलोहजा ।
विष्ट्यङ्गारदिने घोरे यदि चोत्पादिता च सा ।
कालखड्गसमा ज्ञेया सर्वभूतनिकृन्तनी ॥४३०८॥ इति ।

आधारविशेष –

शान्तौ वश्ये लिखेद् भूर्जे स्तभने द्वीपिचर्मणि ।
खरचर्मणि विद्वेषे उच्चाटे ध्वजवाससि ॥४३०९॥

नरास्थिन विलिखेद् यत्र मारणे मत्रवित्तम ।
वृत्त पद्म चतु कोण त्रिषट्कोणेन्दुयुड् मतम् ॥४३१०॥

तोयेशसोमशक्राणा यातुवायो र्यमस्य च ।
आशासु क्रमत कुण्ड शान्तिमुख्येषु कर्मसु ॥४३११॥ इति ।

स्रुक् श्रुवौ, वायवीयसहितायाम्–

आयसौ स्रुक् श्रुवौ कार्यौ मारणादिषु कर्मसु ।
तदन्येषु तु सौवर्णौ शान्तिकार्येषु कृत्स्नश ॥४३१२॥

अन्यत्रापि–

सौवर्णौ यज्ञवृक्षोत्थौ स्रुक्श्रुवौ शान्तिवश्ययो ।
स्तभनादिषु कार्येषु स्मृतौ लोहमयौ हि तौ ॥४३१३॥

वश्यशान्त्यो र्हविष्यान्न स्तभ्ने पायस मतम् ।
विद्वेषे मापमुद्गा स्यु र्गोधूमा भ्र शने स्थलात् ॥४३१४॥

श्यामाकान्न मसूरान्न शाल्यजादुग्धपायसम् ।
मारणे भक्ष्यमेतत् स्यादित्युक्तो भक्ष्यसयम ॥४३१५॥

वश्यशान्त्यो स्वर्णपात्र मृत्पात्र स्तभने मतम् ।
विद्वेषे खादिर पात्रमुच्चाटे लोहनिर्मितम् ॥४३१६॥

मारणे कुक्कुटाण्ड स्यात् पात्राणीमानि तर्पणे ।
शान्तौ वश्ये च सप्रोक्ता हरिद्रा जलसयुता ॥४३१७॥

उष्णोदक तु मरिच मारणस्तभयो र्मतम् ।
द्वेषोच्चाटनयो प्रोक्त जल मेषासृजा युतम् ॥४३१८॥

तर्पणद्रव्यमाख्यातमेतदागमपारगै ।
सौम्यकर्मणि मन्त्रज्ञ. सुखासीन प्रतर्पयेत् ॥४३१६॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा तर्पण स्तभने मतम् ।
द्वे पादावेकचरणस्तर्पयेत् साधकोत्तम ॥४३२०॥
सौम्ये सुवर्णदुर्वर्णयज्ञसूत्र उदाहृते ।
स्तभविद्वेषयो प्रोक्त मार्जारान्त्रसमुद्भवम् ॥४३२१॥
कुक्कुटान्त्रसमुद्भूत यज्ञसूत्र मनीषिभि ।
उच्चाटने वकान्त्राणामुपवीतमुदाहृतम् ॥४३२२॥
उल्लूकान्त्रसमुद्भूत यज्ञसूत्र हि मारणे ।
वशीकरणकर्म स्याद्देवतायतने शुभे ॥४३२३॥
शान्तिकर्म भवेद् गेहे श्मशाने क्रूरकर्म च ।
अथवा सर्वकर्माणि भवेयु र्देवतागृहे ॥४३२४॥
सम्यक् कृत्वा न्यासजालमात्मरक्षा विधाय च ।
काम्यकर्म प्रकर्तव्यमन्यथाऽभिभवो भवेत् ॥४३२५॥
शुभ वाप्यशुभ वापि काम्य कर्म करोति य ।
तस्यारित्वं व्रजेन् मन्त्रो न तस्मात् तत्परो भवेत् ॥४३२६॥
विषयासक्तचित्ताना सतोषाय प्रकाशितम् ।
पूर्वाचार्योदित काम्यकर्म नैतत् शुभावहम् ॥४३२७॥
काम्यकर्मप्रसक्तानां तावन्मात्र भवेत् फलम् ।
निष्काम भजता देवमखिलाभीष्टसिद्धय ॥४३२८॥
प्रतिमन्त्र समुदिता ये प्रयोगा सुखाप्तये ।
तदासक्ति विहायैव निष्कामो देवता स्मरेत् ॥४३२९॥
वेदे काण्डत्रयं प्रोक्त कर्मोपासनबोधनम् ।
साधन काण्डयुग्मोक्त तृतीय साध्यमीरितम् ॥४३३०॥
तस्मात् वेदोदित कुर्यादुपासीनश्च देवता ।
शुद्धान्त करणस्तेन लभते ज्ञानमुत्तमम् ॥४३३१॥

कार्यकारणसंघातं प्रविष्टश्चेतनात्मकः ।
जीवो ब्रह्मैव सपूर्णमिति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥४३३२॥
मनुष्यदेहं संप्राप्य उपासीनश्च देवताः ।
यो न मुच्येत संसारात् महापापयुतो हि सः ॥४३३३॥
आत्मज्ञानाप्तये तस्माद् यतितव्यं नरोत्तमैः ।
कर्मभिः देवसेवाभिः कामाद्यरिगणक्षयात् ॥४३३४॥ इति ।

अथ प्राणप्रतिष्ठा–

प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य विधानमभिधीयते ।
येन प्रयोगा मन्त्राणां सिद्धिं यान्ति समीरिताः ॥४३३५॥

प्राणमन्त्रस्योद्धारन्यासध्यानानि नवमपटलतो बोध्यानि ।

विनियोगमृषिन्यासं कृत्वा तद्वत् कराङ्गयोः ।
न्यासं ध्यात्वा यथोक्तेन लक्षमेनं जपेत् मनुम् ।
जुहुयात् तद्दशांशेन चरुभिः घृतसंयुतैः ॥४३३६॥

तद्दशांशेनेत्यस्यायमर्थः–ओं आं स्वाहा । ओं ह्रीं स्वाहा । ओं क्रों स्वाहा । ओं यं भूतायै स्वाहा । एवं टाद्यक्षरयुताभिर्वैवस्वताद्याभिः सकृत् सकृत् हुत्वा ओं क्षं सं हं सः ह्रीं ओं इत्यक्षरैरपि तथा हुत्वा मूलेनोक्तसंख्या तु जुहुयादिति ।

षट्कोणाढ्ये शक्तिपीठे विधिनानेन पूजयेत् ।
जयाख्या विजया पश्चात्, अजिता चापराजिता ॥४३३७॥
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मंगलातिमा ।
मूलेन चासनं दत्वा मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥४३३८॥
तस्यां संपूजयेद् देवीमित्यमावरणैः सह ।
अर्चयेत् षट्सु कोणेषु ब्रह्माणं विष्णुमीश्वरम् ॥४३३९॥
वाणीं लक्ष्मीमुमां पश्चात् षडंगानि प्रपूजयेत् ।
दलेषु मातरः पूज्या तद्बाह्ये लोकनायकाः ॥४३४०॥
एवं संपूजयेद् देवीं सुगन्धिकुसुमादिभिः ।
इति संसाधितो मन्त्रः षट्कर्मफलदो भवेत् ॥४३४१॥
स्थापयेन्मनुनानेन प्राणान् सर्वत्र देशिकः ।
बीजान्तेऽमुष्य शब्दानामादौ दूतौ प्रयोजयेत् ॥४३४२॥

मृता वैवस्वता भूयो जीवहा प्राणहा तत ।
आकृष्या ग्रथनी पश्चात् प्रमोदा विस्फुलिङ्गिनी ॥४३४३॥
क्षेत्रप्रतिहरीत्येता प्राणदूत्यो नव स्मृता ।
पाशेन बद्धचेष्टस्य शक्त्या स्वीकृतचेतस ॥४३४४॥
अङ्कुशेनाहृतस्याभि साध्यस्यासून् समाहरेत् ।
द्वादशागुलमानेन कृत्वा साध्यस्य पुत्तलीम् ॥४३४५॥
तस्या प्राणात्मक यत्र सकीट हृदये न्यसेत् ।
निशीथसमये साध्ये सुप्ते तस्य हृदम्बुजे ॥४३४६॥
दलेषु वायुवह्नीन्द्रवरुणानामत परम् ।
ईशराक्षसशीतांशुयमाना कर्णिकान्तरे ॥४३४७॥
यादीन् हससमायुक्तान् भृङ्गाकाराननुस्मरन् ।
शिरोबिन्दुसमुद्भूततनुपबद्धविग्रहान् ॥४३४८॥
एवमात्महृदभोजे भृङ्गीरूपान् धिया स्मरेत् ।
आत्महृत्पद्मगा भृङ्गीं प्रस्थाप्य श्वासवर्त्मना ॥४३४९॥
एकैकसाध्यहृत्पद्मात् भृङ्गमेकैकमानयेत् ।
पुत्तल्या स्थापयेन्मत्री स्वचित्ते वा विधानवित् ॥४३५०॥
तन्तुच्छेद प्रकुर्वीत वह्निबीजेन सयत ।
आकृष्टान् साध्यहृद्भृङ्गान् भुवा सस्तभयेत् तत ॥४३५१॥
भुवा ग्लौमिति बीजेन ।
एवमेकादशावृत्ती कुर्यात् सर्वेषु कर्मसु ।
वश्याकर्षणयो र्यादीनरुणान् सस्मरेत् सुधी ॥४३५२॥
मोहविद्वेषयो र्धूम्रान् कृष्णान्,मारणकर्मणि ।
पीतान् सस्तभने ध्यायेत् प्राणाकर्षणकर्मसु ॥४३५३॥
आकृष्टान् साध्यहृत्प्राणात् स्थापयेदात्मनो हृदि ।
क्रूरकर्मसु पुत्तल्या तेषा स्थापनमीरितम् ॥४३५४॥
प्राणान् साध्यस्य मडूकानात्मनस्तु भुजङ्गमान् ।
सस्मरेत् तत्र निपुण सदा क्रूरेषु कर्मसु ॥४३५५॥

वाय्वग्निशक्रवरुणेश्वरराक्षसेन्द्र-
प्रेतेशपत्रलिखितैरथ यादिवर्णैः ।
बिन्द्वन्तिकैः क्षगतहंससमेतसाध्य
प्राणात्मयन्त्रमथवर्णवृतं धरास्थम् ॥४३५६॥
इत्थं प्रयोगकुशलो मनुनाऽनेन मन्त्रवित् ।
वशयेत् सकलान् देवान् किं पुनः पार्थिवान् जनान् ॥४३५७॥इति ।

'बीजान्तेऽमुष्यशब्दाना'मिति श्लोकमारभ्य 'पार्थिवान् जनान्'इत्यन्तानां षोडश-श्लोकानां क्रमेणायमाशयः —

बीजान्ते पाशादिहंसमन्त्रान्ते । केचन बीजान्ते बीजत्रयान्त इत्याहुः, तदसम्बद्ध-माचार्यवचनविरोधात् । अमुष्यशब्दानामादाविति चासम्बद्धत्वात् । अमुष्यशब्दानामादा-विति साध्यनाम्न आदौ । तदुक्तम्—अथ यादीन् दूतीश्चोक्त्वा साध्यनामाथमन्त्रीति । आं ह्रीं क्रों य र ल व श ष स हों ॐ क्ष स हंस ह्रीं ॐ मृते अमुष्य मृतात्मकान् प्राणानिहाहर प्राणा इह प्राणा इति वा इहैवेत्याद्योमन्तमुक्त्वा पुनरोमादि ओमन्त-मुक्त्वा य मृते अमुष्य मृतात्मकं जीवमिहाहर जीव इह स्थित इति वा । इहैवेत्यादि ओमन्तमुक्त्वा पुनरादि ओमन्तमुक्त्वा य मृते अमुष्य मृतात्मकानि सर्वेन्द्रियाणि इहा-हर सर्वेन्द्रियाणि इह वा । पुनरिहेत्यादि । ओमन्तमुक्त्वा पुनरादि ओमन्तमुक्त्वा य मृते अमुष्य मृतात्मकान् वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणप्राणान् इहाहर वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणप्राणा इह वा । इहैवेत्यादि ओमन्तं वदेत् । एवं वैवस्वतादिमन्त्रा ऊहनीयाः ।

युगपद् वा प्राणप्रतिष्ठाप्रकारमाह-पाशेत्यादिना सर्वेषु कर्मस्वित्यन्तेन । आभिर्दूतीभिः प्राणात्मकं यन्त्रं वक्ष्यमाणं सकीटं तत्र प्राणप्रतिष्ठारम्भात् प्रागेव साध्य-प्रतिकृतेर्हृदये यन्त्रं सजीवं कीटं च निक्षिप्यातोद्य प्रयोगमारभेतेत्यर्थः । प्राण-प्रतिष्ठायां कर्तव्यमाह-निशीथेति । पद्मपादाचार्यास्तु कालदण्डेन सताड्य बोधन-माहुः । अन्यथा प्राणप्रतिष्ठायोगादिति । यच्च—

'बध्वा तं च निपीड्यमेव सहसा कालस्य यष्ट्या शिर-
स्याताड्य क्षुभिताखिलेन्द्रियगणं साध्यं स्मरेत् साधकः ।' इति ।

स्वहृदये साध्यहृदये पुत्तलीहृदये च । मृतादिदूतीनां स्थानमाह-दलेष्विति । भृङ्गाकाराननुस्मरेदिति । याद्यक्षररूपमृतादीन् साध्यहृत्पद्मपत्रेषु कर्णिकायां भृङ्ग-रूपान् स हृदयपद्मे भृङ्गरूपान् ध्यायेदित्यर्थः ।

शिर इति । यकारादिबीजानां शिरसि ये बिन्दवस्तत्समुद्भूता ये तत्त्वं तैः सबद्धविग्रहानिति ।

पुत्तल्यामिति । क्रूरकर्मणि स्वचित्ते इति वक्ष्यादौ ।

विधानविदिति । स्ववहन्नाड्या प्रवेशनिर्गमकुशल इत्यर्थः ।

तत्र प्रकार —साध्यस्य शक्तिपाशशक्तितेजोऽङ्कुशमहाभ्रमरकालदण्डरूपेण पञ्चधा नि सार्य पाशबीजमुच्चरन् साध्य पाशेन गले वध्वा शक्तिबीजेन त म्ववशे कृत्वा-कुशेनाकृष्याग्रत सस्थाप्य याद्यष्टकमुच्चरन् साध्यस्य त्वगादीन् व्याप्यापक्रम्य महाभृङ्गेण साध्य कवलीकृत्य कालदण्डताडनेन सुप्त त सबोध्य क्षमिति सपरिवारमुन्म्लोकृत्य समिति स्वप्राणशक्तिरूपमहाभ्रमरेण मेलयित्वा हस इति स्वैक्य सभाव्य ह्लीमोमिति वरयादौ जीवनाय प्लावन कृत्वा य मृतेत्यादिना स मृता सबोध्य अमुष्य मृतात्मका इह प्राणा इत्यादिना स्वमृताप्राणानितरप्राणे सयोज्य रमिति साध्य-मृताततुच्छेद विधाय सकोटहृदयाया पुत्तल्यामात्मनि वा साध्यमृता प्राणान् सस्थाप्य ग्लौमिति सस्तभ्य तम्य जीवादिकमप्येवमानयेत् ।

युगपदेव वा मृता प्राणादोन् स्थापयेत् । तत स्वहृदि चेत् आ ह्री इत्यादि मयि प्राण इह प्राणा मयि जीव इह स्थित इत्यादिरूपम् । पुत्तल्या चेत् , पुत्तल्या प्राणा इह प्राणा पुत्तल्या जीव इह स्थित इति जपेत् । इति मृताप्रतिष्ठाक्रम ।

एव वैवम्वतादिप्राणा अपि म्थापनीया । ततो यादीन् होमातानुक्त्वा साध्यम्य धातून् जीव च मपरिकर च पुन स्वमण्डले मकोचित कवलीकृत्य यादीन् दूतीश्च स्वस्य सबुद्धचन्तान् साध्यम्य वामुष्य प्राणानिहाहर अमुष्य प्राणा इह प्राणा इति चोक्त्वा पुनरपि अमुष्य धातूनिहाहरेत्यादि वदेत् । एव जीवेऽपि । अयमेव प्रकार पुत्तल्यामपि । तदुक्तम्—

'आकृष्टाना साध्यदेशादसूना पुत्तल्यादावप्यय स्यात् प्रकार ।' इति ।

एवमितीति । पूर्वोक्त कर्म एकादशावृत्ति कुर्यात् । पद्मपादाचार्यास्तु एव सति प्रयोगमन्त्रो भवतीति अमुष्यस्थाने यादीना त्रिरावृत्तिरभिहिता प्राणजीवसर्वेन्द्रिया-कर्पणार्थम् । केचित् यादीना चतुरावृत्ति वर्णयन्ति । प्राणजीवेन्द्रियसामान्यतद्विशेषा-णामाकर्पणार्थम् । केचित् पचावृत्ती प्राणसामान्यजीवसामान्येन्द्रियसामान्य-इन्द्रियविशेपप्राणविशेषाणामाकर्षणार्थम् । केचित् नवावृत्तिमन्त्रोक्ताना सर्वेषा प्रत्येकमाकर्पणार्थमित्याहु । एव यथोपदेश विधेयम् ।

यन्त्रमाह—वार्ग्विति यादिवर्णैरिति होमन्ते ।

धरास्थमिति—बाह्ये भूगृहावृतमित्यर्थ ।

अत्रैव सम्प्रदायविदा रहस्यम्—सर्वकर्मसु द्वादशाङ्गुला पुत्तली वक्ष्यमाणसाध्य-र्क्षजा कल्पोक्ता वा विधाय तन्मन्त्रेण कल्पोक्तद्रव्येण तम्या हृदये पूर्वोक्ताधारे यथोक्त यन्त्रमष्टदलात्मक विलिख्य तत्र वायव्या नैयपूर्ववरुणेशानराक्षसोत्तरयाम्यपत्रेषु सबिन्दुकान् यादीन् य र ल व श प स हो इत्यष्टाक्षराणि तत् कर्णिकाया क्षमिति तन्मध्ये हस इति अमुक वशमानयेत्यादिकर्मोपेत विलिख्य बहिर्वृत्त विधाय मातृकया वेष्टयेत् । तद्बहिर्भूगृहेण वेष्टयेत् । केचित् मातृकाभ्यतरत प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण वेष्टन-माहु । पुन प्राणप्रतिष्ठा विधाय सपूज्य सकीट यन्त्र पुत्तल्या हृदये क्षिपेत् । वा पूर्वोक्त यन्त्र लिखित्वा षड्बिन्दुकीट पट्कोणोपेत नि क्षिपेत् । तत् प्रकारस्त्वयम्—अमुक

प्राणा इत्युक्त्वा साध्यस्य प्राणानाकृष्य पुत्तल्या निधापयेत् । य मृतात्मने त्वचमाकर्षयामि । र वैवस्वतात्मने रक्तमाकर्षयामि । ल जीवहात्मने मासमाकर्षयामि । व प्राणहात्मने मेद आकर्षयामि । श आकृष्यात्मने अस्थीन्याकर्षयामि । ष ग्रथिन्यात्मने मज्जामाकर्षयामि । स प्रमोदात्मने शुक्रमाकर्षयामि । ह विस्फुलिंगिन्यात्मने जीवमाकर्षयामि । क्ष क्षेत्रप्रतिहर्यात्मने सर्वधातूनाकर्षयामि । एव वश्यादौ वशयामीत्यादि वोद्धव्यम् । एव मृतादिप्रयोगो नववार, तत्र साध्य पाशेन बद्धचेष्ट अकुशेनाकृष्टप्राण भावयेत् । ततोऽर्धरात्रे यदा साध्यस्य सुषुप्तिर्भवति तदा साध्यहृदबुजेऽष्टदलेषु वायव्याग्नेयर्वरक्षिमेशाननैर्ऋत्योतरयाम्येषु कर्णिकाया च य र ल व श ष स ह क्ष इति नवधा मत्रगताक्षर भ्रमररूपस्थित ध्यायेत् ।

साध्य ब्रह्मरध्रत प्रवृत्तमुषुम्णाततुबद्धबुद्धया ध्यायेत् । तत स्वहृदये पुन हृत्कमलवायव्यात् उक्तक्रमाष्टपत्रे कर्णिकामध्यस्थयादीन् वर्णान् भ्रमरीरूपान् ध्यायेत् । ततश्च प्रवहनि श्वासनाडीमार्गेण यादीन् भ्रमर्येकैक स्वकीयमुच्चरेत् । साध्यस्य हृद्गत भ्रमरैकैकभ्रमर्येकैकासक्तचित्ताकृष्यानीय ता ता पुत्तल्या हृदयकमलेषु स्थापयेत् । तत्र वश्यादि शुभकर्मसु स्वहृदि स्थापयेत् । पुत्तली न कुर्यात् । तत समस्त नवधा भ्रमरानानीय साध्यस्य शिरोबिन्दुगत य सुषुम्णाततुरूप षड्बिन्दुभ्रमर ध्यायेत् । रमित्यग्निबीजेन निष्कासयेत् । एव भ्रमरभ्रमरीध्यानहरणततुच्छेदस्तभन पुन पुनरेकादशवार कृत्वा सर्वकर्मस्वर्धरात्रे कर्तव्यप्रयोगे यथाकाम भ्रमराक्षराणा ध्यानम् । तत्र वश्याकर्षणकर्मादिषु स्वहृदये प्राणानानीय स्थापयेत् ।

षड्बिन्दु कीटविशेष । स च प्रथमजलपाते उत्पद्यते । तस्य पचकुष्ठ इति नामान्तरम् । तस्य पचबिन्दव श्वेता भवन्ति । एको बिन्दुर्भिन्नवर्ण । तदुक्त नीतिनिर्णीतादौपनिषदि—

'पचकुष्ठस्य कीटस्य पच स्यु श्वेतबिन्दव ।
भिन्नवर्णास्तथा चैक सुस्निग्धश्चैव वर्णत ॥
भवेत् स जलदारभे षड्बिन्दुरिति कीर्तित ।

साध्यर्क्षवृक्षास्तु—

'कारस्करोऽथ धात्री स्यादुदुम्बरतरु पुन ।
जबूखदिरकृष्णाख्यौ वशपिप्पलसज्ञकौ ॥
नागरोहिणनामानौ पलाशप्लक्षसज्ञकौ ।
अवष्ठविल्वार्जुनाख्यविकक्तमहीरुहा ॥
वकुल सरल सर्जो वजुल पनसार्ककौ ।
शमीकदम्बनिम्बाम्रमधूका ऋक्षशाखिन ॥ इति ।

अयमर्थ —

कारस्कर –कुचिला । धात्री–आमलकी । मृगशिरसस्तु श्वेतसार एव खदिर । आर्द्रायास्तु कृष्णसार खदिर । नागो–नागकेसर । रोहिणो–वट । प्लक्ष –पर्कटी ।

अवष्ठ–आम्रान । अर्जुन–ककुभ । विकङ्कत–स्रुवावृक्ष । मर्ज–मान ।
वजुल–अशोक । एषा फल सामान्यन उक्तम् ।

'आयु काम स्वर्क्षवृक्ष छेदयेन्न कदाचन । इति ।

तन्त्रान्तरे पुत्तलीनिर्माणे विशेष उक्त –

आयाम पादयोस्तस्या आकल्याश्चतुरगुल ।
पादोनद्वयगुला कुक्षिस्तावानेवागुलोदरम् ॥४३५८॥

अगुलद्वयमावक्त्रात् कण्ठदेशस्य मानकम् ।
शिरसो वक्त्रमान स्यात् सार्द्धद्वयमिहागुलै ।
द्वादशागुलय सर्वा साध्यपुत्तलिका स्मृता ॥॥४३५९॥ इति ।

अन्यत्रापि विशेष –

पञ्चाशेन मुख कृत्वा तदर्धेन गल पुन ।
शिष्टेन सर्वाण्यङ्गानि पुत्तलीना प्रकल्पयेत् ॥४३६०॥

मारणे दारुरूपा ता द्वादशागुलसमिताम् ।
पण्णवत्यगुला वापि कुर्यान्मात्रागुलै क्रमात् ॥४३६१॥
होमार्थं कल्पितायास्तु तस्या प्रोक्तो विधिस्त्वयम् ।
वश्याकर्षणयो कुर्यात् ता प्रोक्ता द्वादशागुलै ॥४३६२॥ इति ।

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे षट्कर्मनिरूपण
नाम पञ्चविंश पटल ॥२५॥

षड्विंशः पटलः ।

अथ मुद्रा प्रवक्ष्यामि नानातन्त्रोदिता क्रमात् ।
याभि कृताभि र्मोदन्ते मन्त्रदेवाश्च सर्वश ॥४३६३॥

यामले–

मोदनात् सर्वदेवाना द्रावणात् पापसतते ।
तस्मान् मुद्रेयमाख्याता सर्वकामार्थसाधिनी ॥४३६४॥
मुद रातीति मुद्रा स्यात् येनैका मुष्टिरेव तु ।
स्वल्पभेदात् कोपहर्षौ प्राणिना जनयत्यत ॥४३६५॥

तेनैव सर्वदेवाना मुद्रा हर्षप्रदा मता ।
मुद्राकाले दर्शनीया मुद्रास्ता सर्वदा शिवे ॥४३६६॥
पृथिव्यादीनि भूतानि कनिष्ठादिक्रमान्मता ।
तेषामन्योन्यसभेदप्रकारैस्तत् प्रपञ्चिता ॥४३६७॥

यद्वाकाशवाय्वग्निसलिलभूरूपा स्वागुल्यो हि पचभूतात्मिकाग्रुष्ठाद्या । तासा मिथ सयोगरूपसकेतात् देवताप्रगुणीभावपूर्वको मोद साम्निध्य करोतीत्यर्थ ।

अर्चने जपकाले तु ध्याने काम्ये च कर्मणि ।
तत्तन्मुद्रा प्रयोक्तव्या देवतासन्निधायिका ॥४३६८॥ इति ।

मन्त्रदर्पणे—

नादीक्षितस्तु रचयेत् क्षुभ्यन्ति हि देवता यस्मात् ।
मुद्रा भवन्ति विफला सोऽपि च रोगो दरिद्र स्यात् ॥४३६९॥
अकुशाख्या भवेन्मुद्रा तीर्थावाहनकर्मणि ।

तन्त्र मन्त्रदर्पणे—

अकुशाख्या दक्षमुष्टिरकुशीकृततर्जनी ॥४३७०॥
मध्यमा सरलीभूता तीर्थावाहनकर्मणि ।
रक्षणे कुन्तमुद्रोक्ता तस्या लक्षणमुच्यते ॥४३७१॥

तन्त्रसमुच्चये—

मुष्ट्योरूर्ध्वीकृताग्रुष्ठौ तर्जन्यग्रे तु विन्यसेत् ।
सर्वरक्षाकरी ह्येषा कुन्तमुद्रा प्रकीर्तिता ।
कुभमुद्राऽभिषेके स्यात् तस्या लक्षणमुच्यते ॥४३७२॥

मन्त्रदर्पणे—

वामागुष्ठे दक्षाग्रुष्ठ क्षिप्त्वा हस्ताभ्या चेत् ।
मध्याकाशा मुष्टि कुर्यात् कुभाख्येय मुद्रा प्रोक्ता ॥४३७३॥

मध्याकाशा मध्यशून्याम् ।

कथिता तत्त्वसज्ञा तु मुद्रा बहुषु कर्मसु ।

ज्ञानार्णवे—

अग्रुष्ठानामिकाभ्या तु तत्त्वमुद्रेयमीरिता ।
कालकर्णी प्रयोक्तव्या विघ्नप्रशमकर्मणि ॥४३७४॥

मन्त्रदर्पणे–

कृत्वोन्नते च वृद्धे मुष्ट्यो सलग्नयो र्युगयो ।
ते त्वविवक्त्रे कुर्यात् विघ्नघ्नी कालकर्णिका मुद्रा ॥४३७५॥

प्रयोगसारे–

त्रिशूलाग्रौ करौ कृत्वा व्यत्यस्तावभियोजयेत् ।
अस्त्रमुद्रेयमाख्याता वह्निप्राकारलक्षणा ॥४३७६॥

मुद्रा तु वासुदेवाख्या ध्याने तल्लक्षण यथा ।
अजलयञ्जलिमुद्रा स्यात् वासुदेवाह्वया च सा ॥४३७७॥

अञ्जलीति विभक्तिलोप छादस ।

मातृकान्यासमुद्राया लक्षण वच्मि साप्रतम् ।

तन्त्रे–

ललाटेऽनामिकामध्ये विन्यसेत् मुखपङ्कजे ।
तर्जनीमध्यमानामा वृद्धानामे च नेत्रयो ॥४३७८॥

अगुष्ठ कर्णयो र्न्यस्य कनिष्ठागुष्ठकौ नसो ।
मध्यास्तिस्रो गडयोश्च मध्यमा चोष्ठयो र्न्यसेत् ॥४३७९॥

अनामा दन्तयो र्न्यस्य मध्यमां चोत्तमाङ्गके ।
मुखेऽनामा मध्यमा च हस्ते पादे च पार्श्वयो ॥४३८०॥

कनिष्ठानामिकामध्यास्तासु पृष्ठे च विन्यसेत् ।
ता सागुष्ठा नाभिदेशे सर्वा कुक्षौ च विन्यसेत् ॥४३८१॥

हृदये च तल सर्वमसयोश्च ककुत् स्थले ।
हृत्पूर्वहस्तपत्कुक्षिमुखेषु तलमेव च ॥४३८२॥

एताश्च मातृकामुद्रा क्रमेण परिकीर्तिता ।
अज्ञात्वा विन्यसेद् यस्तु न्यास स्यात् तस्य निष्फल ॥४३८३॥

मुखेनामा मध्यमामित्यत्र मुखपद जिह्वापरमिति सर्वत्राविरोध । व्योमेन्द्वौरस-नार्णकर्णिकमचामित्यादौ रसनापदेन विसर्गो गृह्यत इति शारदावचनादत्रावधेयम् । पार्श्वयोरित्यस्य कनिष्ठानामिकामध्या'इत्यनेनैव सम्बन्धो नतु मध्यमामित्यनेन । तास्तु पृष्ठे च विन्यसेदित्यत्र ता इत्यस्य वैयर्थ्यापत्ते । एव च शीर्षोष्ठकरसक्थिपार्श्वेषु मध्यमा मतेति ।

कूर्ममुद्रा समाख्याता देवताध्यानकर्मणि ।

तच्च मन्त्रदर्पणे-

वामे पंञ्ये तीर्थे तस्याङ्गुष्ठेन तर्जन्याम् ।।४३८४।।

दक्षस्याधो वदने मध्यानामे प्रदेशिनीं स्वल्पाम् ।

वामस्यान्यास्तिस्रो दक्षस्योर्ध्वानना पृष्ठे ।।४३८५।।

उन्नतदक्षाङ्गुष्ठ कच्छपपृष्ठप्रभ दक्षम् ।

पाणि कृत्वा ध्यायेत् कच्छपमुद्रा समाख्याता ।।४३८६।।

अस्यार्थ –वामकरस्य तर्जन्यङ्गुष्ठमध्ये दक्षिणकरस्याधोमुखे मध्यमानामिके योजयेत् । पुनस्तस्य वामस्याङ्गुष्ठे दक्षस्य प्रदेशिनी तर्जनाम् । पुनर्वामस्य तर्जन्या दक्षस्य स्वल्पा कनिष्ठाम् । अन्या अवशिष्टास्तिस्रो मध्यमानामाकनिष्ठा ऊर्ध्वाग्रदक्षस्य पृष्ठे योजयेत् । पुनरुन्नत दक्षिणाङ्गुष्ठ कृत्वा दक्षपाणितल कूर्मपृष्ठवत् कुर्यादित्यर्थ ।

त्रिखण्डा त्रिपुरा ध्याने तस्या लक्षणमुच्यते ।

ज्ञानार्णवे-

पाणिद्वये महेशानि परिवर्तनयोगत ।

योजयित्वा तर्जनीभ्यामनामे धारयेत् प्रिये ।।४३८७।।

मध्यमे योजयेन्मध्ये कनिष्ठे तदधस्तथा ।

अंगुष्ठावपि सयोज्य त्रिधा युग्मकरेण तु ।।४३८८।।

त्रिखण्डेय समाख्याता त्रिपुराह्वानकर्मणि ।

शिखया गालिनीमुद्रामर्घ्यस्योपरि चालयेत् ।।४३८९।।

शिखया वषट्कारेण ।

यामले-

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ शक्तौ करयोरितरेतरम् ।

तर्जनीमध्यमानामा सहता भुग्नवर्जिता ।।४३९०।।

मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शङ्खस्योपरि चालिता ।

मत्स्याख्यमुद्रया त्वर्घ्यपात्रमाच्छादयेत् सुधी ।।४३९१।।

तच्च मन्त्रदर्पणे-

दक्षिणकरस्य पृष्ठे वामकरतलमथ विन्यस्य ।

सम्यक् चलिताङ्गुष्ठौ कुर्यान् मत्स्यस्वरूपिणीं मुद्राम् ।।४३९२।।

मुद्रा तु देवताह्वाने नव प्रोक्ता मनोषिभि ।
आवाहनी स्थापनी च तृतीया सन्निधापनी ॥४३९३॥
सन्निरोधनिका तुर्या समुखीकरणी परा ।
सकलीकरणी षष्ठी सप्तमी त्ववगुण्ठनी ॥४३९४॥
यामृतीकरणी प्रोक्ता धेनुमुद्रा तु साष्टमी ।
परमीकरणी मुद्रा नवमी परिकीर्तिता ॥४३९५॥
क्रमेण लक्षणान्यासा प्रोक्त ज्ञानार्णवे च यत् ।
हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वानामिकामूलपर्वणी ॥४३९६॥
अ गुष्ठौ निक्षिपेत् सेय मुद्रात्वावाहनी स्मृता ।
सेय तु विपरीता स्यात् मुद्रास्थापनकर्मणि ॥४३९७॥
विपरीता अधोमुखीत्यर्थ ।
बाह्याङ्गुष्ठद्वये मुष्टी मुद्रा स्यात् सन्निधापनी ।
अ गुष्ठगर्भिणी सैव मुद्रा स्यात् सन्निरोधनी ॥४३९८॥
उत्तानमुष्टियुगला समुखीकरणी मता ।
अङ्गमन्त्रान् न्यसेद् देवि ! देवाङ्गे साधकोत्तम ॥४३९९॥
सकलीकरण नाम मुद्रेयं व्याप्तिरूपिणी ।
सव्यहस्तकृतामुष्टि दीर्घाऽधोमुखतर्जनी ॥४४००॥
अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता सती ।
अन्योन्याभिमुखश्लिष्टा कनिष्ठानामिका पुन ॥४४०१॥
तथैव तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा प्रकीर्तिता ।
अमृतीकरण कुर्यात् तया साधकसत्तम ॥४४०२॥
अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठौ प्रसारितकराङ्गुली ।
महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधै ॥४४०३॥
खेचर्या वक्ष्यमाणाया मध्यमे करपृष्ठगे ।
तर्जन्यौ ऋजुसश्लिष्टे मुद्रा प्रोक्ता नमस्कृतौ ।
लेलिहा नाम मुद्रेय जीवन्यासे प्रकीर्तिता ॥४४०४॥
गन्धादिनैवेद्यान्ता नवमुद्रा पूजापटले सर्वसाधारणत्वेनोक्ता ।

अत्र शक्तिविषये किञ्चिद् विशेष तन्त्रसारे तन्त्रान्तरे च–

मध्यमानामिकागुष्ठैरगुल्यग्रेण पार्वति ।
दद्याच्च विमल गध मूलमन्त्रेण साधक ॥४४०५॥

अगुष्ठतर्जनीभ्यां च पुष्प चक्रे निवेदयेत् ।
यथा गधं तथा देवि धूप दद्याद् विचक्षण ॥४४०६॥

मध्यमानामिकाभ्या तु मध्यपर्वणि देशिक ।
अगुष्ठाग्रेण देवेशि धृत्वा धूप निवेदयेत् ॥४४०७॥

उत्तोलन त्रिधा कृत्वा गायत्र्या मूलयोगत ।
अगुष्ठानामिकाभ्या तु दीपमुद्रा प्रकीर्तिता ।
पुष्प निवेदयेद् देवि मुद्रया ज्ञानसज्ञया ॥४४०८॥

अ गुष्ठतर्जनीयोगाद् ज्ञानमुद्रा प्रकीर्तिता ।
तत्त्वाख्यमुद्रया देवि नैवेद्य विनिवेदयेत् ॥४४०९॥

मूलेनाचमन दद्यात् ताबूल तत्त्वमुद्रया ।
प्राणादिमुद्रा नैवेद्य दत्वा संदर्शयेत् सुधी ॥४४१०॥

ताश्च ललिताविलासे–

कनिष्ठानामिकेऽनामामध्ये मध्या सतर्जनीम् ।
तर्जन्यादित्रय तुर्यमगुष्ठेन स्पृशेत् क्रमात् ॥४४११॥

प्राणापानव्यानोदानसमानास्ते द्विठान्तिमा ।
ताराद्या प्राणादिमन्त्रा मुद्रा पूर्वोदिता प्रिये ॥४४१२॥

भुज्यमान शिव ध्यायन् ग्रासमुद्रा प्रदर्शयेत् ।
अ गुल्य कुटिलीभूता विरलाग्रा परस्परम् ॥४४१३॥

शिवमित्युपलक्षणम् ।

ग्रासमुद्रा समाख्याता सव्यपाणौ नियोजिता ।
शिवविष्णुदिनेशाना गणेशाम्बिकयोरपि ॥४४१४॥

यच्च पूजापद्धतौ न्यासजालमुक्त्वा तत्तत् कल्पोक्तमुद्रा प्रदर्श्य ध्यान कृत्वा मानसे सपूज्य शखस्थापन कुर्यात् । तच्च मन्त्रदर्पण-सनत्कुमारीय–ज्ञानार्णव-गौतमीय सम्मतम् ।

कथ्यन्ते मुद्रिकास्तत्र दशमुद्राः शिवस्य तु ।
लिङ्गयोनित्रिशूलाख्यामालेष्टाभीमृगाह्वया ।
खट्वाङ्गाख्या कपालाख्या तथा डमरुनामिका ॥४४१५॥ इति ।

तद्यथा–

न्यासजाल प्रविन्यस्य प्राणानायम्य वाग्यत ।
कल्पोक्ता दर्शयेन् मुद्रा ध्यात्वा देव च मानसं ॥४४१६॥
पूज्य शखादिक स्थाप्य बाह्यपूजा समारभेत् ।
अथैतासा लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ॥४४१७॥

मन्त्रदर्पणे–

उच्छ्रितदक्षाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन दर्शयेद् धीमान् ।
वामाङ्गुलिश्च पश्चाद् दक्षाभि र्बन्धयेल्लिंगम् ॥४४१८॥
दक्षाभिरङ्गुलीभि । लिङ्गमिति लिङ्गमुद्रेत्यर्थ ।

समुखौ तु करौ कृत्वा मध्यमापृष्ठसस्थिते ।
वक्राभ्या तर्जनीभ्या तु निबध्नीयादनामिके ॥४४१९॥

कनिष्ठे द्वे नियुञ्जीत मध्यमा क्रोडदेशके ।
कनिष्ठयोरग्रसस्थावङ्गुष्ठौ योनिरीरिता ॥४४२०॥

तिस्र प्रसारयेच्चेदङ्गुष्ठेन च कनिष्ठिका बध्वा ।
एषा त्रिशूलमुद्रा दक्षिणहस्तस्थिता कथिता ॥४४२१॥

तर्जन्यङ्गुष्ठाग्रे ग्रथिते कृत्वा प्रसारयेदपरा ।
तिस्रोऽङ्गुलीश्च मिलिता कविभि कथिताक्षमालेयम् ॥४४२२॥

कुरु वरदाभयमुद्रे वरदाभयवत्करौ कृत्वा ।
सरला सकलाऽङ्गुल्योऽङ्गुष्ठ निक्षिप्य तर्जनीमूले ॥४४२३॥

मध्यानामाशिरसि वृद्धा शिखर नियुञ्जीत ।
एषेय मृगमुद्रा यद्यवशिष्टे समुच्छ्रिते कुर्यात् ॥४४२४॥

दक्षिणपंचाङ्गुलयो मिलितार्धसमुन्नता कार्या ।
खट्वाङ्गाख्या मुद्रा प्रियकृत् प्रोक्ता शिवस्यापि ॥४४२५॥

पात्रमिव वामहस्त कृत्वाङ्गे वामके न्यस्य ।
कुर्याद्धुच्छ्रितवच्चेत् कपालमुद्रा भवेदेषा ॥४४२६॥
दक्षिणमुष्टि शिथिला किञ्चित् सर्वा समुच्छ्रिता मध्याम् ।
सचालयेच्च कर्णे प्रभवति खलु डमरुमुद्रेयम् ॥४४२७॥
एकोनविंशति र्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभि ।
शखचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभा ॥४४२८॥
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा बिल्वाह्वया तथा ।
गरुडाख्या परा मुद्रा विष्णो सतोषवर्धिनी ॥४४२९॥
नारसिंही च वाराही हयग्रीवी धनुस्तथा ।
बाणमुद्रा च परशु जंगन्मोहिनिका परा ।
काममुद्रेत्यमूषा तु कथ्यन्ते लक्षणानि हि ॥४४३०॥

यामले–

वामागुष्ठ च सगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना ।
कृत्वोत्तान ततो मुष्टिमंगुष्ठ तु प्रसारयेत् ॥४४३१॥
वामागुल्यस्तथाश्लिष्टा सयुक्ता सुप्रसारिता ।
दक्षिणागुष्ठसस्पृष्टा ज्ञेयेषा शखमुद्रिका ॥४४३२॥
हस्तौ तु समुखौ कृत्वा सभुग्नौ सुप्रसारितौ ।
कनिष्ठागुष्ठकौ लग्नौ मुद्रेषा चक्रसज्ञिका ॥४४३३॥
अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथितागुलीः ।
अगुष्ठौ मध्यमे भूय सलग्ने सुप्रसारिते ।
गदामुद्रेयमुदिता विष्णो सतोषवर्धिनी ॥४४३४॥
हस्तौ तु समुखौ कृत्वा सन्नतप्रोन्नतागुली ।
तलान्तर्मिलितागुष्ठौ कृत्वैषा पद्ममुद्रिका ॥४४३५॥
ओष्ठे वामकरागुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठिका ।
दक्षिणागुष्ठसयुक्ता तत् कनिष्ठा प्रसारिता ॥४४३६॥
तर्जनीमध्यमानामा किञ्चित् सकोचय चालिता ।
वेणुमुद्रा भवत्येषा सुगुप्ता प्रेयसी हरे ॥४४३७॥

अन्योन्यस्पृष्टकरयो र्मध्यमानामिकांगुली ।
अंगुष्ठेन तु बध्नीयात् कनिष्ठामूलसंस्थिते ॥४४३८॥
तर्जन्यौ कारयेदेषा मुद्रा श्रीवत्ससंज्ञका ।
अनामा पृष्ठसंलग्ना दक्षिणस्य कनिष्ठिका ॥४४३९॥
कनिष्ठयाऽन्यया बध्वा तर्जन्या दक्षया तथा ।
वामाऽनामाञ्च बध्नीयाद् दक्षिणांगुष्ठमूलके ॥४४४०॥
अंगुष्ठमध्यमे वामे संयोज्य सरला परा ।
चतस्रोऽप्यग्रसंलग्ना मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिका ॥४४४१॥
स्पृशेत् कण्ठादिपादान्तं तर्जन्यंगुष्ठया तथा ।
करद्वयेन मालावन्मुद्रेयं वनमालिका ॥४४४२॥
तर्जन्यंगुष्ठकौ शक्तावग्रगौ विन्यसेद् हृदि ।
वामहस्ताम्बुजं वामजानुमूर्धनि विन्यसेत् ।
ज्ञानमुद्रा भवेदेषा रामचंद्रस्य प्रेयसी ॥४४४३॥
अंगुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकरांगुष्ठकेनापि बध्वा
तस्याग्रं पीडयित्वांगुलिभिरपि च ता वामहस्तांगुलीभिः ।
बध्वा गाढं हृदि स्थापयतु विमलधी र्व्याहरन् मारबीजं
बिल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह गदिता गोपनीया विधिज्ञैः ॥४४४४॥

इतरकरांगुष्ठकेन दक्षिणांगुष्ठेन तस्य दक्षिणहस्तस्यांगुष्ठस्य अंगुलीभिर्दक्षिणहस्तांगुलीभिः ता दक्षिणहस्तांगुली । मारबीजं कामबीजम् ।

हस्तौ तु विमुखौ कृत्वा ग्रथयित्वा कनिष्ठिके ।
मिथस्तर्जनिके श्लिष्टे श्लिष्टावंगुष्ठकौ तथा ॥४४४५॥
मध्यमानामिके द्वौ तु पक्षाविव विचालयेत् ।
एषा गरुडमुद्रा स्याद् विष्णोः संतोषवर्धिनी ॥४४४६॥
जानुमध्ये करौ कृत्वा चिबुकोष्ठौ समावृतौ ।
हस्तौ तु भूमिसंलग्नकम्पमानौ पुनः पुनः ॥४४४७॥
मुखं विवृतकं कुर्याल्लेलिहाना च जिह्वकाम् ।
अधोमुखीभिः सर्वाभि र्मुद्रेयं नृहरे र्मता ॥४४४८॥

दक्षोपरि कर वाम कृत्वोत्तानमध सुधी ।
नमयेदिति सप्रोक्ता मुद्रा वाराहसञ्ज्ञिका ॥४४४९॥

अस्या प्रकारान्तरमपि–

दक्षहस्त चोर्ध्वमुख वामहस्तमधोमुखम् ।
अ गुल्यग्र तु सयुक्त मुद्रा वाराहसञ्ज्ञिका ॥४४५०॥
वामहस्ततले दक्षा अ गुलीस्तास्त्वधोमुखो ।
सरोप्य मध्यमान्तासामुन्नम्याधो विकुञ्चयेत् ॥४४५१॥
हयग्रीवप्रिया चैषा तन्मूर्तेरनुकारिणी ।
वामस्य मध्यमाग्र तु तर्जन्यग्रेण योजयेत् ॥४४५२॥
अनामिका कनिष्ठा च तस्यागुष्ठेन पीडयेत् ।
दर्शयेद् वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रेयमोरिता ॥४४५३॥
दक्षमुष्टेस्तु तजन्या दीर्घया बाणमुद्रिका ।

यद्वा ज्ञानार्णवे–

यथा हस्तगत चाप तथा हस्त कुरु प्रिये ।
चापमुद्रेयमाख्याता वामहस्ते व्यवस्थिता ॥४४५४॥
यथा हस्तगता बाणा तथा हस्त कुरु प्रिये ।
बाणमुद्रेयमाख्याता रिपुवर्गनिकृन्तनी ॥४४५५॥
तले तलं तु करयोस्तिर्यक् सयोज्य चागुली ।
सहता प्रसृता कुर्यान्मुद्रा परशुसञ्ज्ञिका ॥४४५६॥
उच्छ्रितागुष्ठमुष्टी द्वे मुद्रा त्रैलोक्यमोहिनी ।
हस्तौ तु सपुटौ कृत्वा प्रसृतागुलिकौ तथा ॥४४५७॥
तर्जन्यौ मध्यमापृष्ठे अगुष्ठौ मध्यमाश्रितौ ।
काममुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रियकरी ॥४४५८॥
श्रीगोपालार्चने वेणु नृहरे र्नारसिंहिकाम् ।
वराहस्य च पूजाया वाराहाख्या प्रयोजयेत् ॥४४५९॥
हयग्रीवार्चने मुद्रां हयग्रीवीं प्रदर्शयेत् ।
रामार्चने धनुर्बाणमुद्रे परशुसञ्ज्ञिकाम् ॥४४६०॥

जगन्मोहनसंज्ञा तु परशुरामस्य पूजने ।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या लक्षणं तत् प्रकीर्तितम् ॥४४६१॥
सप्त मुद्रा गणेशस्य दंतपाशांकुशाह्वया ।
विघ्न परशुसंज्ञ च तथा लड्डुकसंज्ञिका ।
बीजपूराह्वया चासामुच्यन्ते लक्षणानि च ॥४४६२
उत्तानोर्ध्वमुखी मध्या सरला बद्धमुष्टिका ।
दंतमुद्रा समाख्याता सर्वागमविशारदे ॥४४६३॥
वाममुष्टेस्तु तजन्या दक्षमुष्टेस्तु तर्जनीम् ।
संयोज्यांगुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे स्वके क्षिपेत् ॥४४६४॥
एषा पाशाह्वया मुद्रा विद्वद्भिः परिकीर्तिता ।
ऋज्वीं च मध्यमां कृत्वा तर्जनी मध्यपर्वणि ॥४४६५॥
संयोज्याकुञ्चयेदेता मुद्रैषाङ्कुशसंज्ञिका ।
परशुमुद्रा निगदिता प्रसिद्धा लड्डुका तथा॥४४६६॥
बीजापूराह्वया मुद्रा प्रसिद्धत्वादुपेक्षिता ।
पाशांकुशवराभीतिखड्गचर्मधनु शरा. ॥४४६७॥
मौशली च तथा दौर्गी महायोनिरिमा प्रिया. ।
शक्ते र्मुद्रा अथैतासामुच्यन्ते लक्षणानि च ॥४४६८॥
पाशांकुशौ पुरैवोक्तौ वराभीतो निगद्यते ।
अध स्थितो दक्षहस्त प्रसृतो वरमुद्रिका ॥४४६९॥
ऊर्ध्वीकृतो वामहस्त प्रसृतोभयमुद्रिका ।
बध्वा स्वस्यानामे दक्षांगुष्ठेन यदि कुर्यात् ।
स्यादसिमुद्रा सरले संस्पृष्टे तर्जनीमध्ये ॥४४७०॥
वाम हस्त तद्वत् तिर्यक् कृत्वा प्रसारयेत् पश्चात् ।
आकुञ्चितांगुलि चेत् कुर्यादिति चर्ममुद्रा स्यात् ॥४४७१॥
उपर्यधोदक्षिणवाममुष्टी
कुर्यात् तदा स्यान् मुशलाख्यमुद्रा ।
शिर स्थिता चेदियमेव मुद्रा
दौर्गी प्रिया विघ्नविनाशिकाद्या ॥४४७२॥

कृत्वा हस्तौ सम्मुखौ तर्जनीभ्यां
बध्वाऽनामे मध्यमापृष्ठसंस्थे ।
दीर्घे मध्ये क्रोडसंस्थे कनिष्ठे
योनि प्रोक्तागुष्ठकौ चेत्तदग्रे ॥४४७३॥

दीर्घे मध्ये कनिष्ठे च क्रोडसंस्थे मध्यमाक्रोडसंस्थे तदग्रे कनिष्ठयोरग्रद्वये इति ।

मूलेऽगुष्ठौ च तयो र्भवति हि योनि र्महायोनि. ।
तस्या वक्त्रे मध्ये सांगुष्ठे भूतिनी सा स्यात् ॥४४७४॥
कालीप्रिया मुण्डमुद्रा तस्या लक्षणमुच्यते ।
मुष्टि तु वामपाणौ. कुर्यादभ्यतरागुष्ठम् ॥४४७५॥
दक्षस्य मध्यमाग्र सलब्य तया तु तर्जन्याम् ।
अ गुष्ठाग्र योज्य दक्षिणपाणि च योजयेन् मुष्टौ ।
दर्शय दक्षिणभागे मस्तकमुद्रा स्मृता काल्या ॥४४७६॥

मस्तकमुद्रा मुण्डमुद्रा इति ।

ताराप्रिया पञ्चमुद्रा योन्याख्या भूतिनी तथा ।
बीजाख्या च तथा दैत्यधूमिनी च तथापरा ॥४४७७॥
लेलिहानेति चासां तु कथ्यन्ते लक्षणान्यथ ।
लक्षणं योनिभूतिन्यो कथित कथ्यतेऽपि च ॥४४७८॥
बध्वा तु योनिमुद्रां वै मध्यमे कुटिले कुरु ।
अ गुष्ठौ तु तदग्रे च मुद्रेय भूतिनी मता ॥४४७९॥

मिथश्चागुली. सधिषु स्थापयित्वा
अनामे च बध्वा ततस्तर्जनीभ्याम् ।
कनिष्ठे संमृद्धे समाग्रेऽन्तराले
न्यसेन् मध्यमे दण्डरूपे च योनि ॥४४८०॥

बीजमुद्रा तु वक्तव्या कथ्यते दैत्यधूमिनी ।
संयोज्याथ कनिष्ठे पृष्ठेऽन्योन्य त्वनामाया ॥४४८१॥
अ गुष्ठाभ्यां बध्वा तौ बध्नीयात् स्वमध्याभ्याम् ।
क्षिप्त्वाऽनामे वक्त्रे वृद्धा मूले च तर्जन्यौ ॥४४८२॥

सरले मिलिते कुर्यात् स्याद् दानवधूमिनीमुद्रा ।
वक्त्र विस्तारित कृत्वाप्यधो जिह्वा च चालयेत् ।
पार्श्वस्थ मुष्टियुगल लेलिहानेति कीर्यते ।।।४४८३।।

योनि र्मायाधर सेन्दु वंधू कूर्चं क्रमाद् विदु ।
बीजानि चोच्चरन् मत्री मुद्रावधनमाचरेत् ।।४४८४।।

योनि एकार । माया ह्रीं । अधर ऐकार । सेन्दु सानुस्वार । वधू स्त्रीकार । कूर्च हकार ।

श्रीमत्त्रिपुरसुदर्या कथ्यन्ते नवमुद्रिका ।

ज्ञानार्णवे–

क्षोभणद्रावणाकर्पवश्योन्मादमहाकुशा ।।४४८५।।

खेचरीबीजयोन्याख्या नवमुद्रास्त्वनुक्रमात् ।
अर्थतासा लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ।
मध्यमामध्यगे कृत्वा कनिष्ठेऽगुष्ठरोधिते ।।४४८६।।

तर्जन्यो दण्डवत् कृत्वा मध्यमोपर्य्यनामिके ।
एषा च प्रथमा मुद्रा सर्वसक्षोभकारिणी ।।४४८७।।

कनिष्ठेऽङ्गुष्ठेति सधि श्छादस ।

एतस्या एव मुद्राया मध्यमे सरले यदा ।
क्रियते परमेशानि सर्वविद्राविणी तदा ।।४४८८।।

मध्यमातर्जनीभ्या च कनिष्ठानामिके समे ।
अ कुशाकाररूपाभ्या मध्यमे परमेश्वरि ।।४४८९।।

अ गुष्ठ तु नियुजीत कनिष्ठानामिकोपरि ।
इयमाकर्षिणी मुद्रा त्रैलोक्याकर्पणक्षमा ।।४४९०।।

अकुशाकाररूपाभ्या मध्यमातर्जनीभ्या विशिष्टा मध्यमे तादृशमध्यमातर्जन्यो र्मध्यवर्त्तिन्यौ कनिष्ठानामिके समे पूर्वमुद्रातुल्ये ।

पुटाकारौ करौ कृत्वा तर्जन्यावकुशाकृती ।
परिवर्तक्रमेणैव मध्यमे तदधोगते ।।४४९१।।

क्रमेण देवि तेनैव कनिष्ठाऽनामिकाद्वय ।
सयोज्य निविडा. सर्वा अ गुष्ठावग्रदेशत ।
मुद्रेय' परमेशानि सर्ववश्यकरी स्मृता ॥४४९२॥

कनिष्ठानामिकाद्वय इति । कनिष्ठानामिकापद दक्षहस्तकनिष्ठानामिकापरम् । आदिपदेन वामहस्तकनिष्ठानामिकापरिग्रह । अगुष्ठावग्रदेशत इति । अकुशाकारयोस्तर्जन्योरग्रदेशेऽगुष्ठौ योजयेदिति शेष ।

समुखौ तु करौ कृत्वा बध्वा ते मध्यमेऽन्त्यजे ।
अनामिका तु सरले तद्बहिस्तर्जनीद्वयम् ॥४४९३॥
दण्डाकार ततोऽगुष्ठौ मध्यमा नखदेशगौ ।
मुद्रैषोन्मादिनी नाम क्लेदिनी सर्वयोषिताम् ॥४४९४॥

अत्यजे कनिष्ठे दक्षिणहस्तकनिष्ठा वामहस्तमध्यमया बध्वा वामहस्तकनिष्ठा दक्षिणहस्तमध्यमया बध्वा मध्यमयो र्नखदेशयो अगुष्ठौ नि क्षिपेदित्यर्थ ।

अस्यास्त्वनामिकायुग्ममध कृत्वाकुशाकृती ।
तर्जन्यावपि तेनैव क्रमेण विनियोजयेत् ॥४४९५॥
इय महाकुशा मुद्रा सर्वकामार्थसाधिनी ।
सव्य दक्षिणदेशे तु सव्यदेशे तु दक्षिणम् ॥४४९६॥
बाहु कृत्वा महादेवि हस्तौ सपरिवर्त्य च ।
कनिष्ठाऽनामिका देवि युक्तानेन क्रमेण तु ॥४४९७॥
तर्जनीभ्या समाक्राते सर्वोर्ध्वमपि मध्यमे ।
अ गुष्ठौ च महेशानि सरलावपि कारयेत् ॥४४९८॥
इय सा खेचरी मुद्रा पार्थिवस्थानयोजिता ।

पार्थिवस्थान ललाट न तु मूलाधारमसभवादिति मन्त्रदर्पण ।

परिवर्त्य करौ स्पष्टावर्धचन्द्राकृति प्रिये ।
तर्जन्यगुष्ठयुगल युगपत् कारयेत् तत ॥४४९९॥
अथ कनिष्ठावष्टब्धे मध्यमे विनियोजयेत् ।
तथैव कुटिले योज्ये सर्वाधस्तादनामिके ।
बीजमुद्रेयमचिरात् सर्वसिद्धिप्रवर्धिनी ॥४५००॥

मध्यमे कुटिले कृत्वा तर्जन्युपरिसंस्थिते ।
अनामिके मध्यगते तथैव हि कनिष्ठिके ॥४५०१॥
सर्वा एकत्र संयोज्या अंगुष्ठपरिपीडिता ।
एषा तु प्रथमा मुद्रा योनिमुद्रेति कीर्तिता ॥४५०२॥
अन्या मुद्राऽपि पूजायां कुशलाद्युपचारके ।
दर्शयेत् साधको भक्त्या सपर्याफलसिद्धये ॥४५०३॥

आसां लक्षणं लक्षसंग्रहे–

हस्तौ तु संहतौ कृत्वा संहतावुन्नतांगुली ।
तलान्तर्मिलितांगुष्ठौ मुद्रैषा पद्मसंज्ञिका ॥४५०४॥
कनिष्ठानामिकामध्या व्यत्यस्ता पृष्ठतः क्रमात् ।
चलिता मूर्धयोगेन ऋजुतर्जनिकौ करौ ॥४५०५॥
शक्त्युत्थापनमुद्रैषा जपपूजासमाधिषु ।
मूर्तीकरणमेतस्या रचनेन समीरितम् ॥४५०६॥
आसने पद्ममुद्रा स्याद् हस्तद्वयमधोमुखम्
मुद्रैषा कुशलप्रश्ने तदेवोर्ध्वमुखं पुनः ॥४५०७॥
मुद्रा स्यात् स्वागते पाद्यमुद्रा चाञ्जलिरुच्यते ।
अनामांगुष्ठयोगात् सा प्रोक्ता चार्घ्यस्य मुद्रिका ॥४५०८॥
उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वा निम्नतलं सुधी ।
कनिष्ठहीना संयुक्ताश्चतस्रोऽगुल्य उत्तमा ॥४५०९॥
मुद्रैषाचमने प्रोक्ताऽधोमुखी सा रचनामया ।
मुष्ट्यंगुष्ठा भवेन्मुद्रा मधुपर्के वरानने ॥४५१०॥
अधोमुखीं दक्षहस्ते कृत्वा मुष्टिं कनिष्ठया ।
वियुक्ता स्नानमुद्रैषा गदिता परमेश्वरि ॥४५११॥
उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वा तन्मध्यमां पुनः ।
अंगुष्ठेन स्पृशेदेषा मुद्रा वस्त्रस्य कीर्तिता ॥४५१२॥
एषैवानामिकाहस्ता मुद्रा भूषणसंज्ञका ।
कनिष्ठास्पर्शतो ह्येषा उपवीतस्य मुद्रिका ॥४५१३॥

ज्येष्ठाग्रेण कनिष्ठाग्र स्पृशेद् गधस्य मुद्रिका ।
अधोमुख कर कृत्वा तर्जन्यग्रे तु योजयेत् ।
अ गुष्ठाग्र तु मुद्रेया पुष्पाख्या परमेश्वरि ॥४५१४॥
अ गुष्ठाग्रेण तर्जन्या स्पृशेदग्र महेश्वरि ।
धूपमुद्रेयमाख्याता सर्वदेवप्रियकरा ॥४५१५॥
ज्येष्ठाग्रेण स्पृशेदग्र मध्यमाया. सुरार्चिते ।
दीपमुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रिया शिवे ॥४५१६॥
अनामाग्र स्पृशेद् देवि ज्यष्ठाग्रेण तु देशिक ।
नैवेद्यमुद्रा कथिता देवाना प्रीतिदायिनी ॥४५१७॥
पाशाकुशवराभीतिपुस्तकज्ञानमुद्रिका ।
योनि च बीजमुद्रा च भुवनेशीं प्रदर्शयेत् ॥४५१८॥
कामेन मुद्रा बध्वा तु मूलेनैव प्रदर्शयेत् ।
कूर्चेनैव परित्यज्य बहि पूजनमाचरेत् ॥४५१९॥
वाममुष्टि स्वाभिमुखो करस्था पुस्तमुद्रिका ।
पुस्तमुद्रा पुस्तकेति ।
लक्ष्मीमुद्रा प्रिया लक्ष्म्यास्तस्या लक्षणमुच्यते ॥४५२०॥
चक्रमुद्रा तथा बध्वा मध्यमे द्वे प्रसार्य च ।
कनिष्ठिके तथानीय तदग्रेऽगुष्ठकौ क्षिपेत् ॥४५२१॥
लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसपत्प्रदायिनी ।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिका ॥४५२२॥
सरस्वत्या प्रिया एता मुद्रा प्रोक्ता मनीषिभि ।
अथैतासा लक्षणानि निगद्यन्ते क्रमेण हि ॥४५२३॥

मन्त्रदर्पणे–

किञ्चिद् वक्रा अपरा कर्तव्यास्तर्जनी सरला ।
मध्यममध्येऽगुष्ठ दक्षस्य च मालिका मुद्रा ॥४५२४॥
वीणावादनसदृशौ हस्तौ कृत्वैव चालयेत् शीघ्रम् ।
वीणामुद्रा वाण्या प्रियकरी सा समाख्याता ॥४५२५॥

दक्षिणकरमुत्तानं कृत्वा सरलां कनिष्ठायाः ।
तर्जन्यंगुष्ठाग्रे कथिता व्याख्यानमुद्रेयम् ॥४५२६॥

पुस्तकमुद्रालक्षणं पूर्वमेवोक्तम् ।

तन्त्रान्तरे–

प्रकुर्याद्दक्षिणं हस्तं मालाया जपवत् प्रिये ।
मुद्रा मालाभिधा प्रोक्ता बालावाण्यो रतिप्रिया ॥४५२७॥

तन्त्रसारेऽपि–

वीणावादनवद् हस्तौ कृत्वा संचालयेत् शिरः ।
वीणामुद्रेयमाख्याता सरस्वत्याः प्रियकरी ॥४५२८॥
दक्षिणांगुष्ठतर्जन्यावंगुष्ठाग्रेऽपरांगुली ।
प्रसार्य संहतोत्ताना एषा व्याख्यानमुद्रिका ॥४५२९॥
श्रीरामस्य सरस्वत्या अत्यन्तं प्रेयसी मता ।
मणिबंधस्थितौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ करौ ॥४५३०॥
कनिष्ठांगुष्ठयुगले मिलित्वान्तः प्रसारयेत् ।
सप्तजिह्वाख्यमुद्रेयं वैश्वानरप्रियकरी ॥४५३१॥
न देवाः प्रतिगृह्णन्ति मुद्राहीनामथाहुतिम् ।
मुद्रयैव तु होतव्यं मुद्राहीनं न युज्यते ॥४५३२॥
मुद्राहीनं तु यो मोहाद् होतुमिच्छति मन्दधीः ।
यजमानं स चात्मानं पातयत्येव निश्चितम् ॥४५३३॥
तिस्रो मुद्राः स्मृता होमे मृगी हंसी च शूकरी ।
प्रोक्ता होमप्रकरणे तेन चात्र न लिख्यते ॥४५३४॥

तन्त्रसारे–

तर्जन्यंगुष्ठयोगाद्धि शांत्यर्थं जुहुयात् तदा ।
दाहज्वराभिचाराणामनामांगुष्ठमुद्रया ॥४५३५॥
विद्वेषणोच्चाटने च मारणे च प्रशस्यते ।
प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां बाधोपशमनं भवेत् ॥४५३६॥

वपुर्मेधा तथा कांति र्नीतिपुष्ट्यादिके तथा ।
आकर्षणानि सर्वाणि दूरादनुगतानि च ।
तर्जन्यनामिकायोगात् सद्य एव भवन्ति हि ॥४५३७॥
मोहनं वश्यकामं च प्रीतिसंवर्धनं तथा ।
प्रदेशिनीकनिष्ठाभ्यां सर्वमेतत् प्रसिद्ध्यति ॥४५३८॥
मोहनाकर्षणौ चैव क्षोभणोच्चाटने तथा ।
कनिष्ठामध्यमांगुष्ठयोगेन न तु लीलया ॥४५३९॥
विधियुक्तेन होमेन तथा द्रव्यानुयोगतः ।
सर्वे मंत्राः प्रसिध्यन्ति मुद्रामंत्रप्रयोगतः ॥४५४०॥
प्रार्थनायां तु विज्ञेया मुद्रा प्रार्थननामिका ।

तंत्रसारे-

प्रसृतांगुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च संमुखे ।
कुर्यात् स्वहृदये सेयं मुद्रा प्रार्थनसंज्ञिका ॥४५४१॥
अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु वटुकस्य बलिः स्मृतः ।
तर्जनीमध्यमानामांगुष्ठैः स्याद् योगिनीबलिः ॥४५४२॥
अंगुलीभिश्च सर्वाभिरुक्तो भूतबलिः प्रिये ।
अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु क्षेत्रपालबलिर्भवेत् ॥४५४३॥
अंगुष्ठमध्यमाभ्यां तु राजराजेश्वरस्य च ।
इयमेव गणेशस्य बलिमुद्रा प्रकीर्तिता ।
विसर्जनविधौ ज्ञेया मुद्रा संहारसंज्ञिका ॥४५४४॥

पद्मवाहिन्याम्-

वृद्धाभ्यामंगुली बध्वा तर्जन्यौ दण्डवत् सृजेत् ।
अग्रे वामां ततः पृष्ठे दक्षमाकर्षयेत् शनैः ॥४५४५॥
नाराचमुद्रा संप्रोक्ता योज्या बलिविसर्जने ।
अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम् ॥४५४६॥
क्षिप्त्वांगुलीरंगुलीभिः संग्रथ्य परिवर्तयेत् ।
एषा संहारमुद्रा स्याद् विसर्जनविधौ स्मृता ॥४५४७॥

पद्ममुद्रा क्रमतो ज्ञेया पद्मपाशगदाह्वया ।
मुशलाशनिखड्गाख्या शातिकादिषु कर्मसु ॥४५४८॥

तत्राशनिमुद्रा यथा–

एषाऽशनिमुद्राचेदगुष्ठाग्रे कनिष्ठिका योज्या ।
अपरास्तिस्र सरलास्त्रिकोणरूपा भवन्त्येव ॥४५४९॥

दक्षिणा निविडा मुष्टि र्नासिकार्पिततर्जनी ।
मुद्रा विस्मयसज्ञा स्याद् विस्मयावेशकारिणी ॥४५५०॥

मुष्टिरूर्ध्वीकृतागुष्ठा दक्षिणा नादमुद्रिका ।
तर्जन्यगुष्ठसयोगादग्रतो विन्दुमुद्रिका ॥४५५१॥

एता मुद्रा महेशानि सुगोप्या सतत शिवे ।
न जातु दर्शनीया सा महाजनसमागमे ॥४५५२॥

गुह्यमेतत् सदा भद्रे तस्माद् रहसि योजयेत् ।
नादीक्षितस्य मुद्राणा लक्षणानि प्रकाशयेत् ।
क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य विफल च भवेदिति ॥४५५३॥

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे मुद्राकथन
नाम षड्विश पटल ॥२६॥

सप्तविंशः पटलः ।

अथ योगं प्रवोक्ष्यद्य महासवित्प्रद नृणाम् ।
मुक्तात्मा येन विहरेत् स्वर्गे मर्त्ये रसातले ॥४५५४॥

जीवन्मुक्तश्च देहान्ते पर निर्वाणमाप्नुयात् ।
विना योगेन सिध्येत कुडलीचक्रम कथम् ॥४५५५॥

मूलपद्मे कुडलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो ।
तावत् किञ्चित् न सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥४५५६॥

यदि जागर्ति सा देवी बहुभि पुण्यसचयै ।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादय ॥४५५७॥

तस्माज्जागरणार्थं तत् साधको योगमभ्यसेत् ।
योगयोगाद् भवेन्मुक्ति र्मन्त्रसिद्धिरखण्डिता ॥४५५८॥
सिद्धे मनौ परा प्राप्तिरिति शास्त्रस्य निर्णय ।
तस्मात् सर्वात्मना योगमभ्यसेत् साधकाग्रणी ॥४५५९॥

योगलक्षण शारदायाम्–

ऐक्य जीवात्मनोराहु र्योग योगविशारदा ।
जीवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्ति परे विदु ।
शिवशक्त्यात्मक ज्ञान जगुरागमवेदिन ॥४५६०॥
पुराणपुरुषस्यान्ये ज्ञानमाहुर्मनीषिण ।
चित्तवृत्तिनिरोध तु योगमाहुश्च योगिन ॥४५६१॥ इति ।

प्रयोगसारेऽपि–

निष्कलस्याप्रमेयस्य देवस्य परमात्मन ।
सधान योगमित्याहु ससारोच्छित्तिसाधनम् ॥४५६२॥ इति ।

तद्योगश्चतुर्विधो यथा योगशास्त्रे–

योगश्चतुर्विध प्रोक्तो योगज्ञैस्तत्त्वदर्शिभि ।
मंत्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥४५६३॥
योगागैरात्मन शत्रून् जित्वा योग समभ्यसेत् ।
नियमैश्च यमैश्चैव कामादीन् षट् षडूर्मिगान् ॥४५६४॥

तान् हठयोगे वक्ष्याम ।

आसन प्राणसरोधो ध्यान चैव समाधिक ।
एतच्चतुष्टय विद्धि सर्वयोगेषु समतम् ॥४५६५॥

तत्र मन्त्रयोगो द्विधा–आभ्यन्तरो बाह्यश्च । बाह्य कथित एव । आभ्यन्तरो यथा यामले–

मकारेण मन प्रोक्तस्त्रकार प्राण उच्यते ।
मन प्राणसमायोगाद् योगो वै मन्त्रसज्ञक ॥४५६६॥
ब्रह्मविष्ण्वीशशक्तीना मन्त्र जपविशारदै ।
साधितो मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ॥४५६७॥

मन्त्रयोगो यथा यामले गौतमीये च–

इदानीं कथयिष्येऽहं मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।
विश्व शरीरमित्युक्त पञ्चभूतात्मक शिवे ॥४५६८॥

षण्णवत्यगुलायाम शिवशक्त्यात्मक तथा ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभि जीवब्रह्मैक्यरूपिणम् ॥४५६९॥

गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्व्य गुल विदु ।
तस्माद् द्विगुणविस्तार वृत्तरूपेण शोभितम् ॥४५७०॥

तिस्र कोट्यस्तदर्धेन नाड्यस्तत्र प्रकीर्तिता ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिता ॥४५७१॥

प्रधाना मेरुदण्डे तु सोमसूर्याग्निरूपिणी ।
इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी ॥४५७२॥

शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा ।
दक्षिणे पिंगला ख्याता पु रूपा सूर्यविग्रहा ॥४५७३॥

दाडिमीकुसुमप्रख्या मुनिभि परिकीर्तिता ।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरध्रगा ॥४५७४॥

सर्वतेजोमयी सा तु सुषुम्णा ब्रह्मरूपिणी ।
तस्या मध्ये विचित्राख्या अमृतप्लाविनी शुभा ॥४५७५॥

सर्वदेवमयी सा तु योगिना हृदयगमा ।
विसर्गाद् बिन्दुपर्यन्तं व्याप्य तिष्ठति तत्त्वत ॥४५७६॥

ब्रह्मरध्र विदुस्तस्या पद्मसूत्रनिभ परम् ।
आधाराश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा ॥४५७७॥

केचन द्वादश प्राहु षोडशान्ये बहूनि च ।
दिव्य मार्गमिद प्राहुरमृतानदकारणम् ॥४५७८॥

इडाया सस्थितश्चन्द्र पिंगलाया च भास्कर ।
सुषुम्णा शम्भुरूपेण शम्भुर्हंसस्वरूपक ॥४५७९॥

हकारो निर्गमे प्रोक्त सकारोऽन्त प्रवेशने ।
हकार शिवरूप स्यात् सकार शक्तिरुच्यते ॥४५८०॥

शक्तिरूप स्थितश्चन्द्रो वामनाडीप्रवाहक ।
दक्षनाडीप्रवाहश्च शभुरूपी दिवाकर ॥४५८१॥

आधारकन्दमध्यस्थ त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।
ज्योतिषा निलय दिव्य प्राहुरागमवेदिन ॥४५८२॥

मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ।
मध्ये स्वयभूलिंग तु कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
तदूर्ध्वे कामबीज तु कला स्याद् बिन्दुनादकम् ॥४५८३॥

कामबीजध्यान यथा प्रयोगसारे–

तडित्कोटिप्रख्य स्वरुचिजितकालानलरुचि
सहस्रादित्याशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् ।
स्फुरन्त योन्यन्तस्फुटदरुणबधूककुसुम-
प्रभ काम ध्यायेत् शरदशशभृत्कोटिशिशिरम् ॥४५८४॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुडली परदेवता ।
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ता हि सदृशाकृति ॥४५८५॥

बिभर्त्ति कुडलीशक्तिरात्मान हसमाश्रिता ।
हस प्राणाश्रयो नित्य प्राणो नाडीपथाश्रय ॥४५८६॥

आधारादुद्गतो वायु र्यथावत् सर्वदेहिनाम् ।
देह व्याप्य स्वनाडीभि प्रयाण कुरुते बहि ॥४५८७॥

द्वादशागुलमानेन तस्मात् प्राण इतीरित ।
रम्ये मृद्वासने शुद्धे यद्वाजिनकुशोत्तरे ॥४५८८॥

बध्वैकमासन योगी योगमार्गपरो भवेत् ।
ज्ञात्वा भूतोदय देहे विधिवत् प्राणवायुना ॥४५८९॥

तत् तद् भूत जयेद् दृढत्वावाप्तये सुधी ।
अगुलीभि दृढ बध्वा करणानि समाहित ॥४५९०॥

अगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्या विलोचने ।
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभि र्वदन दृढम् ॥४५६१॥

बध्वात्मप्राणमनसामैक्त्वं समनुस्मरन् ।
धारयेन् मारुत सम्यग्योगोऽय योगिवल्लभ ॥४५६२॥

एव धारणया युक्तश्चिन्तयेद् योगमव्ययम् ।
मूलत्रिकोणात् परितो बाह्ये च हेमवर्णकम् ॥४५६३॥

वादिसान्तार्णसयुक्त चतुर्दलमनोहरम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्य पद्मं तत्र विभावयेत् ॥४५६४॥

मूलमाधारषट्काना मूलाधार ततो विदु ।
तदूर्ध्वेऽग्निसमप्रख्य षड्दलं हीरकप्रभम् ॥४५६५॥

वादिलान्तषडर्णेन स्वाधिष्ठान हि तद्युतम् ।
स्वशब्देन पर लिग स्वाधिष्ठान ततो विदु ॥४५६६॥

तदूर्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत्प्रभम् ।
मेघाभ विद्युताभ च बहुतेजोमय तत. ॥४५६७॥

मणिवद् भिन्नताम्र यन्मणिवन्च तदुच्यते ।
दशभिश्च दलै र्युक्त डादिफान्ताक्षरान्वितम् ॥४५६८॥

शिवेनाधिष्ठित पद्म विश्वलोकनकारकम् ।
तदूर्ध्वेनाहत पद्ममुद्यदादित्यसन्निभम् ॥४५६९॥

कादिठान्ताक्षररर्कपत्रैश्च समधिष्ठितम् ।
तन्मध्ये वाणलिग तु सूर्यायुतसमप्रभम् ॥४६००॥

शब्दब्रह्ममय शब्दानाहतस्तत्र दृश्यते ।
तेनानाहतपद्मं तु मुनिभि परिकीर्तितम् ॥४६०१॥

आनदसदन तत्तु पुरुषाधिष्ठित परम् ।
तदूर्ध्वं तु विशुद्धचाख्य पकज षोडशच्छदम् ॥४६०२॥

स्वरै षोडशकै र्युक्त धूम्रवर्णं मनोहरम् ।
विशुद्धि तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात् ॥४६०३॥

विशुद्ध पद्ममाख्यातमाकाशाख्य महाद्भुतम् ।
आज्ञाचक्र तदूर्ध्वं तु आत्मनाधिष्ठितं परम् ॥४६०४॥
आज्ञासक्रमण तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तिता ।
कैलासाख्य तदूर्ध्वं तु रोधिनी तु तदूर्ध्वत ॥४६०५॥
एवं तु सर्वचक्राणि प्रोक्तानि तव सुव्रते ।
सहस्राराम्बुज पद्म बिन्दुस्थान तदीरितम् ॥४६०६॥
इत्येतत् कथित सर्वं योगमार्गमनुत्तमम् ।
आदौ पूरकयोगेन आधारे योजयेन्मन ॥४६०७॥
गुदमेढ्रान्तरे शक्ति तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ।
पद्मभेदक्रमेणैव बिन्दुचक्र समानयेत् ॥४६०८॥
शभुना ता परा शक्तिमेकीभाव विचिंतयेत् ।
तदुत्थितामृत देवि द्रुतलाक्षारसोपमम् ॥४६०९॥
तर्पयित्वा च ता शक्तिमिष्टदेवस्वरूपिणीम् ।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सतर्प्यामृतधारया ॥४६१०॥
आनयेत् तेन मार्गेण मूलाधार पुन सुधी ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि पार्वति ॥४६११॥
जरामरणदु खाद्यै र्मुच्यते भवबधनै ।
पूर्वोक्तदूषिता मत्रा सर्वे सिध्यन्ति योगत ॥४६१२॥
ये गुणा सति देवस्य पचकृत्यविधायिन ।
ते गुणा साधकवरे भवन्त्येव न चान्यथा ॥४६१३॥
इति ते कथित देवि वायुधारणमुत्तमम् ।
नाद सजायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनै ॥४६१४॥
मत्तभृ गागनागीतसदृश प्रथमो ध्वनि ।
वशिकास्यानिलापूर्णवशध्वनिनिभोऽपर ॥४६१५॥
घटारवसम पश्चात् घनमेघस्वनोऽपर ।
एवमभ्यसत पुस ससारध्वान्तनाशनम् ।
ज्ञानमुत्पद्यते पूर्वं हसलक्षणमव्ययम् ॥४६१६॥

प्रयोगनारे तु विशेष –

चिणीति प्रथम शब्दश्चिञ्चिणीति द्वितीयक ।
चिरिचाकी तृतीयस्तु चतुर्थो घर्घरस्वन ॥४६१७॥

पचमस्तु मनागुञ्ज षष्ठो मदकलध्वनि ।
सप्तम सूक्ष्मनाद स्यादष्टमो वेणुवर्धन ॥४६१८॥

नवमो मधुरध्वानो दशमो दुदुभिस्वन ।
कपरोमोद्गमानन्दवैमल्यस्थैर्यलाघवम् ॥४६१९॥

प्रकाशज्ञानवैदुष्यभावो द्वैतात्मसचय ।
सभवन्ति दशावस्था योगिन सिद्धिसूचका ॥४६२०॥

ततस्त्रैकाल्यविज्ञानग्रहा प्रज्ञामनोज्ञता ।
छन्दन्त प्राणसरोधो नाडीना क्रमण तथा ॥४६२१॥

वाचा सिद्धिश्चिरायुश्च कालानुवर्तन तथा ।
देहाद् देहान्तरप्राप्तिरात्मज्योति प्रकाशनम् ।
प्रत्यया दश दृश्यन्ते प्राप्तयोगस्य योगिन ॥४६२२॥ इति ।

शारदायामन्यच्च–

पुप्रकृत्यात्मकौ प्रोक्तौ बिन्दुसर्गौ मनीषिभि ।
ताभ्या क्रमात् समुत्पन्नौ बिन्दुसर्गावसानकौ ॥४६२३॥

हसौ तौ पुप्रकृत्याख्यौ ह पुमान् प्रकृतिस्तु स ।
अजपा कथिता ताभ्या जीवोऽयमुपतिष्ठते ॥४६२४॥

पुरुषं स्वाश्रय मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता ।
यदा तद् भावमाप्नोति तदा सोऽहमय भवेत् ॥४६२५॥

सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा तत परम् ।
सधि कुर्यात् पूर्वरूप तदासौ प्रणवो भवेत् ॥४६२६॥

परानन्दमय नित्य चैतन्यैकगुणात्मकम् ।
आत्माभेदस्थित योगी प्रणव भावयेत् सदा ॥४६२७॥

आम्नायवाचामतिदूरमाद्य
वेद्य स्वसवेद्यगुणेन सन्त ।
आत्मानमानन्दरसैकसिधु
पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठा ॥४६२८॥

सत्य हेतुविवर्जित श्रुतिगिरामाद्य जगत्कारण
व्याप्त स्थावरजगम निरुपम चैतन्यमन्तर्गतम् ।
आत्मान रविचन्द्रवह्निवपुष तारात्मक सन्तत
नित्यानन्दगुणालय सुकृतिन पश्यन्ति रुद्धेन्द्रिया ॥४६२९॥

पिण्ड भवेत् कुडलिनी शिवात्मा
पद तु हस सकलान्तरात्मा ।
रूप भवेद् बिन्दुरमन्दकान्ति-
रतीतरूप शिवसामरस्यम् ॥४६३०॥

पिण्डादियोग शिवसामरस्यात्
सबीजयोग प्रवदन्ति सन्त ।
शिवे लय नित्यगुणाभियुक्ते
निर्बीजयोग फलनिर्व्यपेक्षम् ॥४६३१॥

मूलोन्निद्रभुजगराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्णान्तर
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघप्लुति
सभाव्य स्वगृह गता पुनरिमा सचिंतयेत् कुडलीम् ॥४६३२॥

हस नित्यमनन्तमव्ययगुण स्वाधारतो निर्गता
शक्ति कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शभुनिकेतन परसुख तेनानुभूय स्वय
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥४६३३॥

अव्यक्त परबिन्दुसचितरुचि नीत्वा शिवस्यालय
शक्ति कुडलिनी गुणत्रयवपु विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतमध्यग पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभ
सवीक्ष्य स्वपुर गता भगवती ध्येयानवद्या गुणैः ॥४६३४॥

इत्येव भावनासक्तो स्वेष्ट धारणया भजेत् ।

सा च गौतमीये–

इदानीं धारणाख्या तु शृणुष्वावहितो मम ॥४६३५॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो निधाय च ।
तन्मयो भवति क्षिप्र जीवब्रह्मैक्ययोजनात् ॥४६३६॥
अथवा निष्कल चित्त यदि क्षिप्र न सिद्ध्यति ।
तदावयवयोगेन योगी योगान् समभ्यसेत् ॥४६३७॥
पादाम्भोजे मनो दद्यान् नखकिंजल्कशोभिते ।
जघायुग्मे मनोरामे कदलीकाण्डशोभिते ॥४६३८॥
ऊरुद्वये मत्तहस्तिकरदण्डसमप्रभे ।
गगावर्तगभीरे च नाभौ सिद्धिविले तत ॥४६३९॥
उदरे वक्षसि तथा हारे श्रीवत्सकौस्तुभे ।
पूर्णचन्द्रायुतप्रख्ये ललाटे चारुमडले ॥४६४०॥
शखचक्रगदाम्भोजदोर्दण्डपरिमण्डिते ।
सहस्रादित्यसकाशकिरीटकुण्डलोज्वले ॥४६४१॥
स्थाने नियोजयेन् मन्त्री विशुद्धेन च चेतसा ।
मनो निवेश्य कृष्णे वै तन्मयो भवति ध्रुवम् ॥४६४२॥
यावन् मनो लय याति कृष्णे स्वात्मनि चिन्मये ।
तावदिष्टमनु मन्त्री जपहोमै समभ्यसेत् ॥४६४३॥

कृष्ण इत्युपलक्षणम् ।

अत पर न किञ्चिच्च कृत्यमस्ति वशे हरे ।
विदिते परतत्त्वे तु समस्तै नियमैरलम् ॥४६४४॥
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ।
मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञेय ज्ञानाय कल्प्यते ॥४६४५॥
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि स ।
द्वयोरभ्यासयोगेन मन्त्र ससिद्धिकारणम् ॥४६४६॥

तम परिवृते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ।
एव मायावृतो ह्यात्मा मनुना गोचरीकृत ॥४६४७॥

एव ते कथित ब्रह्मन् मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।
दुर्लभ विषयासक्तै सुलभ त्वादृशैरपि ॥४६४८॥

इति मन्त्रयोग ।

अथ लययोग –

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसज्ञक ।
नवस्वेव हि चक्रेषु लय कृत्वा महात्मभि ॥४६४९॥

प्रथम ब्रह्मचक्र स्यात् तृणावर्तं भगाकृति ।
अपाने मूलकन्दाख्य कामरूप च तज्जगु ॥४६५०॥

तदेव वह्निकुण्ड स्यात् तत्र कुण्डलिनी परा ।
ता जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्क मुक्तिहेतवे ॥४६५१॥

स्वाधिष्ठान द्वितीय स्याच्चक्र तन्मध्यग विदु ।
पश्चिमाभिमुख लिङ्ग प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ॥४६५२॥

तत्रोड्डीयानपीठे तु तद् ध्यात्वाऽऽकर्षयेज्जगत् ।
तृतीय नाभिचक्र स्यात् तन्मध्ये भुजगी स्थिता ॥४६५३॥

पञ्चावर्त्ता मध्यशक्तिश्चिद्रूपाविद्युदाकृति ।
ता ध्यात्वा सर्वसिद्धीना भाजन जायते बुध ॥४६५४॥

चतुर्थं हृदये चक्र विज्ञेय तदधोमुखम् ।
ज्योति स्वरूप तन्मध्ये हस ध्यायेत् प्रयत्नत ॥४६५५॥

त ध्यायतो जगत्सर्वं वश्य स्यान्नात्र सशय ।
पञ्चम कण्ठचक्र स्यात् तत्र वामे इडा भवेत् ॥४६५६॥

दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्णा मध्यत स्थिता ।
तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योति सिद्धीनां भाजन भवेत् ॥४६५७॥

षष्ठ च तालुकाचक्र घटिकास्थानमुच्यते ।
दशमद्वारमार्गं तु राज्यद तत् प्रकीर्तितम् ॥४६५८॥

तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम् ।
भूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद् विदुः ॥४६५९॥

भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ।
अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रे स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ॥४६६०॥

तद् ध्यात्वा सूचिकाग्राभं धूमाकारं विमुच्यते ।
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं लीनचेतसाम् ॥४६६१॥

नवमं ब्रह्मचक्रं स्याद्दलैः षोडशभिर्युतम् ।
संविद्रूपा च तन्मध्ये शक्तिरूर्ध्वा स्थिता परा ॥४६६२॥

तत्र पूर्णगिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते ।
एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुने ॥४६६३॥

सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने ।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ॥४६६४॥

कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधः शक्तेर्निकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥४६६५॥

अथ राजयोगः—

अपानवृत्तिमाकृष्य प्राणो गच्छति मध्यमे ।
राजते गगनाम्भोजे राजयोगस्तु तेन वै ॥४४६६॥

न दृष्टिलक्षाणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः ।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे ॥४६६७॥

न जागरो नास्ति सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ।
अहं ममत्वाद्यपहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरचेतनानाम् ॥४६६८॥

दत्तात्रेयादिभि पूर्वं साधितोऽय महात्मभि ।
राजयोगो मनोवायू स्थिरौ कृत्वा प्रयत्नत ॥४६६६॥

पूर्वाभ्यस्तौ मनोवातौ मूलाधारनिकुचनात् ।
पश्चिम दण्डमार्गं तु शखिन्यन्त प्रवेशयेत् ॥४६७०॥

ग्रन्थित्रय भेदयित्वा नीत्वा भ्रमरकन्दरम् ।
ततस्तु नादयेद् बिन्दु तत शून्यालय व्रजेत् ॥४६७१॥

अभ्यासात्तु स्थिरस्वान्त ऊर्ध्वरेताश्च जायते ।
परानन्दमयो योगी जरामरणवर्जित ।
अथवा मूलसस्थानमुद्यतैस्तु प्रबोधयेत् ॥४६७२॥

सुप्ता कुण्डलिनीं शक्ति बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सुषुम्णान्त प्रवेश्यैव पचचक्राणि भेदयेत् ॥४६७३॥

तत शिवे शशाकेन स्फुरन्निर्मलरोचिषि ।
सहस्रदलपद्मान्तस्थिते शक्ति नियोजयेत् ॥४६७४॥

अथ तत्सुधया सर्वां सबाह्याभ्यन्तरा तनुम् ।
प्लावयित्वा ततो योगी न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥४६७५॥

तत उत्पद्यते तस्य समाधि निस्तरगिणी ।
एव निरन्तराभ्यासाद् योगसिद्धि प्रजायते ॥४६७६॥

अथ हठयोग –

द्विधा हठ स्यादेकस्तु मत्स्येन्द्राद्यैरुपासित ।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यै साधितश्चिरजीविभि ॥४६७७॥

तत्र मत्स्येन्द्रसदृशै साधितो य स कथ्यते ।
धीरैरपि हि दुस्साध्य किं पुन प्राकृतै जनै. ॥४६७८॥

हकारेणोच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्रसज्ञक ।
सूर्यचन्द्रसमीभूते हठश्च परमार्थद ॥४६७९॥

आसन प्राणसरोध प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यान समाधिरेतानि योगाङ्गानि स्मृतानि षट् ॥४६८०॥

एकान्ते विजने देशे पवित्रे निरुपद्रवे ।
कम्बलाजिनवस्त्राणामुपर्य्यासनमभ्यसेत् ॥४६८१॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसस्थौ प्रयत्नत ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासन त्विदम् ॥४६८२॥

अथ प्राणायाम –

तत्र पद्मासन बध्वा तत सङ्कोचयेदध ।
समदण्ड शिर कृत्वा नासिकान्तर्दृश नयेत् ॥४६८३॥

यथैवोत्पलनालेन आकर्षति नरो जलम् ।
योगी योगसमाविष्टस्तथाकर्षति मारुतम् ॥४६८४॥

काकचञ्चुपुटीकृत्य ओष्ठौ शक्त्याऽनिल पिबेत् ।
ओकारध्वनिनाकृष्य पूरयेद्यावदन्तरम् ॥४६८५॥

पूरणात् पूरक प्रोक्त कुम्भकस्तु निकुम्भनात् ।
रेचन रेचनात् सूक्ष्म ततोऽन्त शोधयेत् त्रिभि ॥४६८६॥

प्राणायामान्नरः षष्टि कुर्यादिवमहर्मुखे ।
चत्वारिंशच्च मध्याह्ने सध्याया विंशतिर्भवेत् ॥४६८७॥

अर्धरात्रे विंशति स्यादेव प्राणविनिग्रह ।
शरीरलघुता दीप्ति जठराग्निविवर्धनम् ॥४६८८॥

कृशत्व च शरीरस्य जायते वै ध्रुव तदा ।
लवणं सर्षपान् साम्लमुष्ण रूक्ष च तीक्ष्णकम् ।
स्त्रीसेवामग्निसेवा च वह्नाशित्व च वर्जयेत् ॥४६८९॥

अन्यत्रापि–

मास दधि कुलुत्थ च लशुन शाकमेव च ।
कट्वम्लतिक्तपिण्याकहिंगुसौवीरसर्षपा ॥४६९०॥

तैल च वर्ज्याण्येतानि यत्नतो योगिना सदा ।
क्षीर घृत च मिष्टान्नं मिताहारश्च शस्यते ।
मितोक्ति पवनाभ्याने निद्रायाश्च जयस्तया ॥४६९१॥ इति ।

अन्यत्रापि-

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्न
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितानधूनि ।
शुण्ठीपटोलपलकादिकपञ्चशाक
मुद्गादिचाल्पमुदकं च मुनीन्द्रपथ्यम् ॥४६६२॥

क्षीरपर्णी च जीवन्ती मत्स्याक्षी च पुनर्नवा ।
मेघनादेति पञ्चैते शाकनाम प्रकीर्तिता ॥४६६३॥

मिष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं दिव्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥४६६४॥

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥४६६५॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भवत स्वेदकम्पने ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्दर्दुरो जायते ध्रुवम् ॥४६६६॥

यथैव दर्दुरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले ।
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ॥४६६७॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ।
स्वल्पं वा बहु वा भुक्त्वा योगी न व्यथते तदा ॥४६६८॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
किट्टिभो दूषिका लाला स्वेदो दुर्गन्धिता तथा ।
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ॥४६६९॥

स्त्रीसंगं वर्जयेत् यत्नाद् बिन्दुं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
आयुःक्षयो बिन्दुनाशादसामर्थ्यं च जायते ॥४७००॥

इति प्राणायामः ।

अथ प्रत्याहारः-

विषयद्वारनिष्क्रान्तं यावत् स्वविषयान् प्रति ।
चित्तं निवार्यते यत्र प्रत्याहारः स उच्यते ॥४७०१॥

इति प्रत्याहारः ।

अथ पंचधारणा-

गुरूपदेशतश्चित्तमेकस्मिन् स्थानके यदि ।
वायुश्च रुध्यते यत्र धारणा सा विधीयते ॥४७०२॥
नाभेरधो गुदस्योर्ध्वे घटिका पंच धारयेत् ।
वायु ततो लभेत् पृथ्वीधारण तद् भयापहम् ॥४७०३॥
नाभिस्थाने ततो वायु धारयेत् पंच नाडिका ।
ततो जलाद् भय नास्ति जलमृत्यु र्न योगिन ॥४७०४॥
नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायु धारयेत् पंच नाडिका ।
आग्नेयी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वह्निना ॥४७०५॥
नासाभ्रूमध्यदेशे तु तथा वायु च धारयेत् ।
वायवी धारणा सेयं मृत्युस्तस्य न वायुना ॥४७०६॥
भ्रूमध्यस्योपरिष्टाच्च धारयेत् पंच नाडिका ।
वायु योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा ॥४७०७॥
आकाशधारणा कुर्वन् मृत्यु जयति निश्चितम् ।
यत्र यत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४७०८॥

इति पंचधारणा ।

अथ ध्यानम्-

वायु परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णाया प्रविशेदनिरोधत ॥४७०९॥
महापथ प्रविश्यैव शून्यस्थाने लय व्रजेत् ।
यदा तदा भवेद् योगी त्रिकालामलदर्शन ॥४७१०॥

इति ध्यानम् ।

अथ समाधि –

यदेतद् ध्यानमाख्यात तच्चेत् परिणमत्यपि ।
चैतन्यानन्दरूपेण सा समाधिरुदीरिता ॥४७११॥

अथ जाग्रदाद्यवस्था –

बुद्धिपूर्वं तु यद् ज्ञान बहिर्विषयसेवितम् ।
प्रत्यक्षमविरुद्ध च तज्जागरितमुच्यते ॥४७१२॥

अर्थाभावे तु यज्ज्ञान प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकार स्वप्न तदुपलक्षयेद् ॥४७१३॥
जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्य यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्ति प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥४७१४॥
स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वय यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥४७१५॥

इत्यवस्था ।

अथ देह स्थिरीकर्तुं योगिना सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यै. सिद्धि प्रापुरुत्तमा ॥४७१६॥
महामुद्रा नभोमुद्रामुड्डीयान जलन्धरम् ।
मूलबन्ध स्थिर दण्ड तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥४७१७॥
चिबुक हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुन. ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥४७१८॥ इति ।

अन्यच्च—

महामुद्रा प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदिता पुरा ।
पादमूलेन वामेन योनिं सपीड्य दक्षिणम् ॥४७१९॥
पाद प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्या पूरयेन्मुखम् ।
कण्ठे बन्ध समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वत ॥४७२०॥
यथा दण्डाहत सर्पो दण्डाकार प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्ति कुण्डली सहसा भवेत् ॥४७२१॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता ।
न हि पथ्यमपथ्य वा रसा सर्वेऽपि नीरसा ॥४७२२॥
अपि भुक्त विप घोर पीयूषमिव जीर्यते ।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमा ॥४७२३॥
तस्य दोषा क्षय यान्ति महामुद्रा तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेय महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥४७२४॥

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।

अथास्याङ्गभूतो महाबन्ध –

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुन ॥४७२५॥

पूरयेन्मुखतो वायु हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥४७२६॥

रेचयेच्च शनैरेव महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्ध सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥४७२७॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधक ॥४७२८॥

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुन ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुष विना ॥४७२९॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
वायूना गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥४७३०॥

पुण्यसंघातसन्धायी पापौघभिदुर सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुख प्रथमसाधने ॥४७३१॥

वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेत् शनैं ॥४७३२॥

अयमेव महावेध सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रय महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥४७३३॥

वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

अथ नभोमुद्रा–

अन्त कपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृत पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥४७३४॥

दत्तात्रेयस्तु–

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि र्मुद्रा भवति खेचरी ॥४७३५॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३६॥
पीड्यते न च रोगाद्यै र्लिप्यते न च कर्मणा ।
बध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३७॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥४७३८॥
रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥४७३९॥

खेचरीपटले तु विशेषः–

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥४७४०॥
छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधान् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥४७४१॥
गुरुदर्शितमार्गेण सकेतं कथ्यते मया ।
सकेतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥४७४२॥
सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्ते दैर्घ्यं सकेतलक्षणम् ॥४७४३॥
शृङ्खलाद्वितयनिर्मिता वरा सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदगुलमितां सुदीर्घिका लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः ॥४७४४॥
शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥४७४५॥ इति ।

अथ जालन्धरबन्धः –

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥४७४६॥

नाभिस्थोऽग्नि कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृत सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥४७४७॥
यथा सोऽग्निस्तदमृत न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम् ।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥४७४८॥
अमृतीकुरुते देह जरामृत्यु विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजाल नाधो याति नभोजलम् ॥४७४९॥
ततो जालन्धरो बन्ध कृतो दु खौघनाशन ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसकोचलक्षणे ।
न पीयूष पतत्यग्नौ न च वायु प्रकुप्यति ॥४७५०॥ इति ।

अथ उड्डीयानबन्ध –

मूलस्थान समाकुञ्च्य उड्डीयान तु कारयेत् ।
उड्डीयान तु सहज कथित गुरुणा सदा ॥४७५१॥
अभ्यसेत् सतत यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
इडा च पिङ्गला बध्वा वाहयेत् पश्चिमा पथम् ॥४७५२॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्यु जंरारोगादिक तथा ॥४७५३॥ इति ।

अन्यत्रापि–

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पान कुर्यात् प्रयत्नत ।
षण्मासाभ्यासतो मृत्यु जयत्येव न सशय· ॥४७५४॥ इति ।

अथ मूलबन्ध –

मूलबन्ध तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित् ।
पार्ष्णिभागेन सपीड्य योनिमाकुचयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥४७५५॥
अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वग कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन त प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिन ॥४७५६॥
गुद पार्ष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वार वार यथा चोर्ध्वं समायाति समीरण ॥४७५७॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥४७५८॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥४७५९॥
अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले ।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥४७६०॥
यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥४७६१॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुता व्रजेत् ॥४७६२॥
बिलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥४७६३॥ इति ।

अथ दण्डधारणम्—

पृष्ठबन्धं दृढं कुर्यादनम्रं स्थिरसंचयम् ।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥४७६५॥

इति प्रथमो हठयोगः ।

अथ मार्कण्डेयादिसाधितो द्वितीयो हठयोगः—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं व्यासकोटिभिः ।
ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति सुखस्य च ॥४७६५॥
निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसन्ततिः ।
योगाच्च जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥४७६६॥
उपभोगेन पुण्यानां प्राकृतानां तथांहसाम् ।
कर्तव्यमिति नित्यानामकामकरणात्तथा ॥४५६७॥
असञ्चयादपूर्वस्य क्षयात्पूर्वार्जितस्य च ।
कर्मणो बन्धमाप्नोति शारीरं न पुनः पुनः ॥४७६८॥
अथेह कथ्यतेऽस्माभिः कर्मणा येन बन्धनम् ।
छिद्यते सदुपायेन श्रुत्वा तत्र प्रवर्तताम् ॥४७६९॥

जित्वाऽऽदावात्मन शत्रून् कामादीन् योगमभ्यसेत् ।

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यसञ्ज्ञकान् ।
योगाङ्गैस्तांश्च निर्जित्य योगिनो योगमाप्नुयु ॥४७७०॥

अष्टावङ्गानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।

प्राणायाम प्रत्याहारो धारणाध्यानतत्परौ ॥४७७१॥

तत्पर समाधिरिति ।

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।

क्षमा धृतिर्मिताहार शौच चेति यमा दश ॥४७७२॥

अस्यार्थ –न कचन हन्मीत्याभासप्रवणता हिंसा । असत्य न वच्मि इत्याभास-प्रवणचित्तता सत्यम् । चौर्यनिवृत्तिरस्तेयम् । स्त्रीभोगेच्छा निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यम् । प्राणिषु क्रूरचित्तनिवृत्तिर्दया । चित्तकौटिल्यनिवृत्तिरार्जवम् । अभिभावक प्रति अक्रोधप्रवण-चित्तता क्षमा । इष्टवस्त्वाद्यलाभतश्चिताभावो धृति । क्रमेणाहारापकर्षणाद् यावत् शरीरस्थितिमात्रभोजन मिताहारम् । चित्तनैर्मल्यार्थं यथोक्तशीलता शौचमिति । यमा इति । यम उपरमे कामादे निवृत्तिरूपा इत्यर्थ । तत्र धृति सर्वानुपक्तता । अहिंसा ब्रह्मचर्याभ्या कामस्य जय । दयाक्षमाभ्या क्रोधस्य । अस्तेयसत्यार्जवेभ्यो लोभस्य । मिताहारशौचाभ्या मोहस्य । क्षमार्जवाभ्या मदस्य । अहिंसाकृपार्जवक्षमाभ्यो मत्सर-स्येति यमा ।

अथ नियमा –

तप सन्तोष आस्तिक्य दान देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवण चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।
दशैते नियमा प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदै ॥४७७३॥

अस्यार्थ –कृच्छ्रादिव्रतचर्या तप । बहुतरानभिलाप सतोष । अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिक । आस्तिकस्य भाव आस्तिक्यम् । परलोकबुद्धचा धर्माद्याचरणमिति । यथाविभव देवपितृमनुष्योद्देशेन वितरण दानम् । देवस्य पूजनमुक्तरीत्यानुष्ठानम् । सिद्धान्त उपनिषन्मोक्षोपायोपदेशशास्त्र तस्य श्रवणम् । परिमलादि कुत्सिताचारात् स्वत उद्वेगो ह्री , तथा सति चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । मतिर्मननम् ।

तथा च स्मृति –

श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि । इति ।

उक्तप्रकारेष्टमन्त्रस्मरण जप । 'जपतो नास्ति पातकम्' इत्युक्तेश्चित्तशुद्धावुपयोगात् । हुतमग्निहोत्रादि होम । यदकरणे प्रत्यवायात् चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । यद्वा हुत मन्त्रजपस्य दशांशहोम ।

तथा चोक्तम्–

नाजपात् सिद्धयते मन्त्रो नाहुताच्च फलप्रद ।
अनर्चितो हरेत् कामान् तस्मात् त्रितयमाचरेत् ॥४७७४॥

अवश्यकर्तव्यतया नियमत्वमेषाम् । अत कदाचिदालस्यादिना त्यागो न कार्य ।

इति नियमा ।

अन्यच्च–

प्रत्याहार प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रह ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥४७७५॥

उत्साहात् साहसाद् धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योग प्रसिद्धयति ॥४७७६॥

अथ आसनम्–

नाध्मात क्षुधितो शान्तो न च व्याकुलचेतन ।
युञ्जीत योग योगज्ञो नित्यं सिद्धयर्थमादृत ॥४७७७॥

न शीते नातिचैवोष्णे न दुर्गे नाम्बुनस्तटे ।
न च सोपद्रवे देशे योग सन्धीयते क्वचित् ॥४७७८॥

एकान्ते विजनेऽरण्ये पवित्रे निरुपद्रवे ।
सुखासीन समाधि स्याद् वस्त्राजिनकुशोत्तरे ॥४७७९॥

पद्ममर्धासन चापि तथा सिद्धासनादिकम् ।
आस्थाय योग युञ्जीत कृत्वा च प्रणव हृदि ॥४७८०॥

सम समासनो भूत्वा संहृत्य चरणावुभौ ।
संवृतास्यस्तदाचम्य सम्यग् विष्टभ्य चाग्रत ॥४७८१॥

पाणिभ्यां लिङ्गवृषणावस्पृशन् प्रयत स्थित ।
किञ्चिदुन्नामितशिरो दन्तै दंन्तानसंस्पृशन् ॥४७८२॥

सपश्यन् नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ।
कुर्यात् दृष्ट पृष्ठवशमुड्डीयानं तथोत्तरे ॥४७८३॥

त्रिभिर्विशेषकम्-

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसस्थौ प्रयत्नत' ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी पद्मासन त्विदम् ॥४७८४॥

दक्षिणोरुतले वाम पाद न्यस्य तु दक्षिणम् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्यमेतदर्धासन त्विदम् ॥४७८५॥

पार्ष्णि तु वामपादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरोरुपरि स्थाप्य दक्षिण सिद्धमासनम् ॥४७८६॥

एषा फल वसिष्ठसंहितायाम्-

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारमानस योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥४७८७॥

धारणाभिर्मनो धैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम् ।
समाधे मोंक्षमाप्नोति त्यक्तसर्वशुभाशुभ ॥४७८८॥ इति ।

अन्यत्राभियुक्तवाक्यम्-

प्राणायामै र्दहेद् दोषान्प्रत्याहारेण पातकम्।
धारणाभिश्च दु खानि ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥४७८९॥

यथा पर्वतधातूना ध्माताना दह्यते मलम् ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥४७९०॥

वश्य कर्तुं यथेच्छातो नाग नयति हस्तिप ।
तथैव योगी योगेन प्राण नयति साधितुम् ॥४७९१॥

यथाहि साधित सिंहो मृगान् हन्ति न मानवान् ।
तथैव साधित प्राण किल्विष न नृणा तनुम् ॥४७९२॥

प्राणायाम विना योग साधयेद् यस्तु मंदधी ।
स न साध्वीं गतिं याति पङ्गु र्वाजिगतिं यथा ॥४७९३॥

तस्मात्तु साधनं कुर्यात् प्राणायामस्य योगवित् ।
प्राणापाननिरोधेन प्राणायाम प्रकीर्तित ॥४७९४॥

चक्षुस्स्पदनमात्रस्य यावत् द्वादशसञ्ज्ञका ।
तावन्निरुध्यते प्राण प्राणायाम स एव हि ॥४७९५॥

अन्यत्रापि–

इडया कर्षयेद् वायु बाह्य षोडशमात्रया ।
धारयेत् पूरित योगी चतु षष्ठ्या तु मात्रया ॥४७९६॥
सुषुम्णामध्यग सम्यग् द्वात्रिशन्मात्रया शनै ।
नाड्या पिङ्गलया चैन रेचयेद् योगवित्तम ॥४७९७॥
प्राणायाममिद प्राहु र्योगशास्त्रविशारदा ।

मात्रालक्षण वायवीयसहितायाम्–

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुत न विलबितम् ।
अगुलिस्फोटन कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्यते ॥४७९८॥
भूयोभूय क्रमात् तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव क्रमाद् द्वादश षोडश ॥४७९९॥
जपध्यानादिभिर्युक्त सगर्भं त विदु र्बुधा ।
तदपेत विगर्भं च प्राणायाम परे विदु ॥४८००॥
क्रमादभ्यसता पुसा देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ।
मध्यम कम्पसयुक्तो भूमित्याग परो मत ।
उत्तमस्य गुणावाप्ति र्यावत् शीलनमिष्यते ॥४८०१॥ इति ।

एतदेव तत्रान्तरे–

शुचि प्राणायामान् प्रणवसहितान् षोडश वशी
प्रभाते साय च प्रतिदिवसमेव वितनुते ।
द्विजो यस्त भ्रूणप्रहननकृताहोऽधिकलित
पुनन्त्येते मासादपि दुरिततूलौघदलनात् ॥४८०२॥

अथ प्राणायाम सकलदुरितध्वसनकरो
विगर्भ प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलो गर्भकलित ।
जपध्यानापेत स तु निगदितो गर्भरहित
सगर्भस्तद्युक्तो मुनिपरिवृढै र्योगनिरतै ॥४८०३॥ इति ।

योगे–

प्राणायामो लघुस्त्वेको द्विगुणो मध्यम स्मृत ।
उत्तमस्त्रिगुणो ज्ञेय इत्येषा वैदिकी स्थिति. ॥४८०४॥

प्रथमेन जयेत् स्वेद द्वितीयेन च वेपथुम् ।
विषादं च तृतीयेन जयेद् दोषाननुक्रमात् ॥४८०५॥

द्विगुणोत्तरया वृद्धया प्रत्याहारस्तु धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्येव प्राणायामादनुक्रमात् ॥४८०६॥

तस्माद् युक्त सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
श्रूयता मुक्तिफलद तस्यावस्थाचतुष्टयम् ॥४८०७॥

ध्वस्ति प्राप्तिस्तथा संवित् प्रसादश्च तुरीयक ।
स्वरूप शृणु चैतेषा कथ्यमानाननुक्रमात् ॥४८०८॥

कर्मणामिष्टदुष्टाना जायते फलसक्षय ।
चेतसोऽर्थे कषायत्वाद् यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते ॥४८०९॥

ऐहिकामुष्मिकान् कामान् लोभमोहात्मकांश्च यान् ।
निरुध्यास्ते यदा योगी प्राप्ति स्यात् सर्वकामिकी ॥४८१०॥

अतीतानागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् ।
विजानाति यदा योगी तदा संविदिति स्मृता ॥४८११॥

याति प्रसाद येनास्य मन पञ्च च वायव ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स प्रसाद इति स्मृत ॥४८१२॥

प्राणायामस्य युक्तिस्तु पूर्वाभ्यासस्य कथ्यते ।
य चक्रु र्मुनय सर्वे नाडीसशुद्धिहेतवे ॥४८१३॥

पूर्वं दक्षिणहस्तस्य स्वाङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ।
निरुद्धच पूरयेद् वायुमिडया तु शनै शनै ॥४८१४॥

यथाशक्ति निरोधेन तत कुर्याच्च कुम्भकम् ।
पुनस्त्यजेत् पिङ्गलया शनै रेचनक गत ॥४८१५॥

पुनः पिङ्गलया पूर्वं पूरयेदुदरं शनैः ।
यथा त्यजेत् तथा पूर्वं धारयेदनिरोधतः ।
नाडीविशुद्धौ जातायां ततः कुर्याद् यथेच्छया ॥४८१६॥ इति ।

अथ प्रत्याहारः—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥४८१७॥

अन्यत्र—

शब्दादिभ्यः प्रपन्नानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः ॥४८१८॥
स बाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनाभितः ।
पूरयित्वा बुधः प्राणैः प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥४८१९॥
रजसा तमसो वृत्तिं सत्त्वेन रजसस्तथा ।
संछाद्य निर्मले सत्त्वे स्थितो युञ्जीत योगवित् ॥४८२०॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणादीन् मन एव च ।
निगृह्य समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥४८२१॥
यस्तु प्रत्याहरेत् कामान् सर्वाङ्गानीव कच्छपः ।
सत्त्वात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मना ॥४८२२॥ इति ।

अथ धारणा—

अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीमनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततो नसि ॥४८२३॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥४८२४॥

अन्यत्रापि—

प्राणायामा दश द्वौ च धारणेत्यभिधीयते ।
द्वे धारणे स्मृते योगे मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥४८२५॥
गुरूपदेशमासाद्य एकस्मिन् ध्यानके यदि ।
रुध्यन्ते जन्मनो वातो धारणा सा निगद्यते ॥४८२६॥

वसिष्ठसंहितायां पञ्च धारणा अप्युक्ता–

भूतानां मानसं चैकं धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥४८२७॥

प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तन्वी कलालाञ्छिता
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा॥४८२८॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणास्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा दु सहकालकालकरणी स्याद् वारुणी धारणा ॥४८२९॥

तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत् संगतम् ।
प्राणास्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा ॥४८३०॥

यन्मूलं च जगत् प्रपञ्चसहितं दृष्टं भ्रुवोरन्तरे
तद्वत् सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणास्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायो सदा धारणा ॥४८३१॥

आकाशं च विशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं युक्तं हकारेण यत् ।
प्राणास्तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी प्रोक्ता नभो धारणा ॥४८३२॥

अथ ध्यानम्–

शून्येषु चावकाशेषु गुहासूपवनेषु च ।
नित्ययुक्तः सदायोगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥४८३३॥

त्यक्तसगो जितमना लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पिधाय बुद्धिद्वाराणि मनो ध्याने नियोजयेत् ॥४८३४॥
समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ।
आत्मन्यभीष्टदेवाना ध्यान ध्यानमिहोच्यते ॥४८३५॥
यत् तत्त्वे निश्चल चित्त तद्ध्यान परमुच्यते ।
द्विधा भवति तद् ध्यान सगुण निर्गुण तथा ॥४८३६॥
सगुण वर्णभेदेन निर्गुण केवल तथा ।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ॥४८३७॥
एकस्य ध्यानयोगस्य कला नार्हन्ति षोडशीम् ।
अन्तश्चेतो वहिश्चक्षुरध स्थाप्य सुखासनम् ॥४८३८॥
समत्व च शरीरस्य ध्यानमाहुश्च सिद्धिदम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा मुञ्चति बन्धनात् ॥४८३९॥
आत्मान च जगत् सर्वं दृशा नित्याविभिन्नया ।
चिदाकाशमय ध्यायन् योगी याति परा गतिम् ॥४८४०॥
अथवा प्रोच्यते ध्यानमन्यदेवात्र योगिनाम् ।
रहस्य परमं मुक्ते कारण प्रथम च यत् ॥४८४१॥
वायुवच्चलित चित्त स्थिरीकर्तुं न शक्यते ।
तदर्थं सकले योज्य ततो भवति निष्कलम् ॥४८४२॥
मूलाधारस्थित जीव प्रदीपकलिकाकृतिम् ।
प्रणवेन समाकृष्य दशमान्ते निवेशयेत् ॥४८४३॥
ततो जपेच्च सतत मूलाधारात् समुत्थितम् ।
निर्याति दशमद्वारे मनसा दानरूपिणम् ॥४८४४॥
यथा प्रयुक्तमोङ्कार प्रतिनिर्याति मूर्धनि ।
तथोङ्कारमयो योगी ह्यक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥४८४५॥
कुर्वन्नेव यथा पश्येत् मनो नेत्रेण योगवित् ।
हस बिन्दुशिखा ज्योतिस्ततो लयमवाप्नुयात् ॥४८४६॥

ब्रह्मद्वारे मुखे सूक्ष्म निर्विकल्प परात् परम् ।
परम ज्योतिरासाद्य योगी तन्मयता व्रजेत् ॥४८४७॥
निर्विकल्पपदे प्राप्ते जीवे तन्मयता गते ।
नश्यन्ति सर्वकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥४८४८॥
वृक्षमूर्ध्नि यथा पक्षी ह्यकस्मादेव प्राप्यते ।
बुद्धिस्थो दृश्यतामेति झटित्येव तथा विभु ॥४८४९॥
अग्रत पृष्ठतो मध्ये पार्श्वतोऽथ समन्तत ।
विद्युच्चकितवद् भाति सूर्यकोटिसमप्रभ. ॥४८५०॥
रतान्ते स्त्री यथात्मान क्षण क्वाह न बुध्यते ।
रमणोऽपि न जानाति कोऽह योगे तथा पुमान् ॥४८५१॥
शृणोत्याश्चर्यवत् कोऽपि कोऽप्याश्चर्यवदीक्षते ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा तथाप्येत सम्यग् वेद न कश्चन ॥ ४८५२॥
गुरुप्रसादतो लक्ष्य लब्ध्वा यत्नात् समभ्यसेत् ।
अभ्यासाद् दृश्यते देवो ज्ञानदृष्ट्या महेश्वर ॥४८५३॥
तेज. पर द्युतिमता तमस परस्ता-
दादित्यवर्णममल कनकस्वरूपम् ।
आत्मानमात्मनि गत प्रकृते विभिन्न-
मानन्दमात्रमिति पश्यति य स मुक्त ॥४८५४॥

इति ध्यानम् ।

अथ समाधि –

समाधि समतावस्था जीवात्मपरमात्मनो ।
निस्तरङ्गपदप्राप्ति परमानन्दरूपिणी ॥४८५५॥
नि श्वासोच्छ्वासयुक्तो वा निस्पन्दोऽचललोचन. ।
शिवध्यायी सुलीनश्च स समाधिस्थ उच्यते ॥४८५६॥
न शृणोति यदा किञ्चिन्न पश्यति न जिघ्रति ।
न च स्पर्श विजानाति स समाधिस्थ उच्यते ।
इत्थ तु मुनय प्राहु र्योगमष्टाङ्गलक्षणम् ॥४८५७॥

अथ तुर्यातीतम्-

अत्यन्तशुद्धचिन्मात्रे परिणामस्थिरादपि ।
तुर्यातीत पद तत् स्याद् भूय तत्स्थो न शोचति ।।४८५८।।
निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपपद्यते ।
तद्भावभावितो योगी मुक्तो भवति नान्यथा ।।४८५६।।
य आकाशवदेकात्मा सर्वभावगतोऽपि सन् ।
न भावरञ्जनामेति स महात्मा महेश्वर ।।४८६०।।
यथा जल जलेनैक्यं निक्षिप्तमुपगच्छति ।
तथात्मा साम्यतामेति योगिन परमात्मना ।।४८६१।।
ततो न जायते नैव वर्धते न विनश्यति ।
नापि क्षयमवाप्नोति परिमाण न गच्छति ।।४८६२।।
छेद क्लेद तथा दाह शोष भूरादितो न च ।
भूतचक्रादवाप्नोति शब्दाद्यै र्हूयते न च ।।४८६३।।

इति तुर्यातीतम् ।

अथ मन स्थिरीकरणभाव –

यत्र यत्र मनो याति ध्यायतो योगिनस्तथा ।
तत्रैव हि लय कुर्यात् शिव सर्वगतो यत ।।४८६४।।
युक्त्यानया भवेच्चेतश्छिन्नपक्षमचञ्चलम् ।
सर्वत्रैक शिव ज्ञात्वा निर्विकल्प विधीयते ।।४८६५।।
कामक्रोधादय सर्वे मतिरक्षाण्यहङ्कृति ।
गुणा विविधकर्माणि विलीयन्ते मन क्षयात् ।।४८६६।।
अमनस्क गते चित्ते जायते कर्मणा क्षय ।
यथा चित्रपटे दग्धे दह्यते चित्रसञ्चय ।।४८६७।।
तन्त्रयोगात् यथा क्षीर काठिन्यमुपगच्छति ।
तथा जीवो मनस्थैर्यात् पर ब्रह्माधिगच्छति ।।४८६८।।
यथा हिमप्रभावेन जल स्यात्स्नुत्यमाप्नुयात् ।
तथा मन स्थिरत्वेन जीव शिवमयो भवेत् ।।४८६६।।

शिवस्य शक्ति जीवोऽस्ति जीवशक्ति र्मन. स्मृतम् ।
जीव शिव प्रापयितु मन एव हि कारणम् ॥४८७०॥
जीवः शिव शिवो जीवो न भेदोऽस्त्यनयो क्वचित् ।
मनोलिप्तो भवेज्जीवो मनोमुक्तः सदाशिव· ॥४८७१॥

अथ योगिमहिमा-

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्व गन्ध· शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
काति प्रसाद स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्ते प्रथम हि चिह्नम्॥४८७२॥
अनुराग जनो याति परोक्षगुणकीर्तनात् ।
न विभ्यति च सत्त्वानि सिद्धे लक्षणमुत्तमम् ॥४८७३॥
शीतोष्णादिभिरत्युग्रै र्यस्य बाधा न जायते ।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥४८७४॥

अथ योगिचर्या-

वाग्दण्ड कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रय. ।
यस्यैते नियता दण्डा स त्रिदण्डी निगद्यते ॥४८७५॥
या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी ।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥४८७६॥
येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशित ।
यत्र क्वचन शायी च त देवा योगिन विदु ॥४८७७॥
मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम् ।
तावेव विपरीतार्थौ योगिन सिद्धिकारकौ ॥४८७८॥
चक्षु पूत न्यसेत् पाद वस्त्रपूत पिबेज्जलम् ।
सत्यपूता वदेद् वाणीं बुद्धिपूत विचिन्तयेत् ॥४८७९॥
सर्वसङ्गविहीनश्च सर्वपापविवर्जित ।
जडवन्मूकवद् योगी विचरेत महीतले ॥४८८०॥
असिधारा विषं वह्नि समत्वे य प्रपश्यति ।
मालासुधातुषाराणा स योगी कथ्यते बुधै ॥४८८१॥

यस्मिन् स्थाने क्षणं तिष्ठेदीदृग् योगी कथञ्चन ।
आयोजनं चतुर्दिक्षु पवित्रं तत् प्रचक्षते ॥४८८२॥
चतु सागरपर्यन्ता पृथिवी यो ददाति च ।
तत्त्वज्ञस्य च यो भिक्षां समं वा नाथवा समम् ॥४८८३॥
आतिथ्ये श्राद्धयज्ञे वा देवयात्रोत्सवेषु वा ।
महाजने च सिद्धार्थो न गच्छेद् योगवित् क्वचित् ॥४८८४॥
जाते विधूमे चागारे सर्वस्मिन् मुक्तवज्जने ।
अटेत योगविद् भैक्ष्य न तु तेष्वेव नित्यश ॥४८८५॥
यथैवमवमन्यन्ते जना परिभवन्ति च ।
तथायुक्तश्चरेद् योगी सता धर्ममदूषयन् ॥४८८६॥
भैक्ष गृह्णन् गृहस्थेषु श्रोत्रियेषु चरेद् यदि ।
फल मूल यवाग्वन्न पयस्तक्र च सक्तव ॥४८८७॥
ब्रह्मचर्यमलोभं च दया क्रोध सुचित्तता ।
आहारलाघव शौच योगिना नियमा स्मृता ॥४८८८॥
सारभूतमुपासीत ज्ञान तत् कार्यसाधनम् ।
ज्ञानाना बहुता येय योगविघ्नकरी हि सा ॥४८८९॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
अपि कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥४८९०॥
समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
बुधस्तथैकान्तरसयतेन्द्रिय ।
विशुद्धबुद्धि समलोष्टकाञ्चन
प्राप्नोति योगी परमव्यय पदम् ॥४८९१॥

॥ इति श्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे योगचर्याकथन
नाम सप्तविंश पटल ॥२७॥

अष्टाविंशः पटलः ।

अथो योगमयो सप्त धारणा योगिवल्लभा ।
वक्ष्ये यया युतो योगी पञ्चकृत्यत्वमाप्नुयात् ॥४८९२॥
योगयुक्त सदा योगी लघ्वाहारो जितेन्द्रिय ।
सूक्ष्मास्तु धारणा सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत् ॥४८९३॥
धरित्रीं धारयेद् योगी तत सूक्ष्म प्रवर्तते ।
आत्मान मन्यते तद्धि तद्गन्ध च जहाति स ॥४८९४॥
तथैवाप्सु रस सूक्ष्म तद्वद् रूप च तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद् विभ्रतस्तस्य धारणा ॥४८९५॥
व्योम्नि सूक्ष्मप्रवृत्ते च शब्द तद्वज्जहाति स ।
मनसा सर्वभूताना मनश्चाविशते यदा ॥४८९६॥
मानसीं धारणा विभ्रन्मन सौक्ष्म्य प्रजायते ।
तद्वद् बुद्धिमशेषाणा सत्त्वमानेत्ययोगवित् ॥४८९७॥
परित्यजति सप्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ।
यस्मिन् यस्मिस्तु कुरुते भूते राग महामति ॥४८९८॥
तस्मिस्तस्मिन् समासक्ति सप्राप्य स विनश्यति ।
तस्माद् विदित्वा सूक्ष्माणि ससक्तानि परस्परम् ॥४८९९॥
परित्यजति यो योगी स पर प्राप्नुयात् पदम् ।
एतान्येव तु बन्धाय सप्त सूक्ष्माणि सर्वदा ॥४९००॥
भूतादीना विरागोऽत्र सभवेद् यस्तु मुक्तये ।
गन्धादिषु समासक्तमित्येतदखिल जगत् ॥४९०१॥
पुनरावर्तते सौख्यात् स ब्रह्मासुरमानुषम् ।
सप्तैता धारणा योगी समतीत्य यदोच्छति ॥४९०२॥
तस्मिस्तस्मिन् तदा भूते लय याति विधानत ।
देवानामसुराणा च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देहेषु लयमायाति सगमाप्नोति न क्वचित् ॥४९०३॥

इति सप्तधारणा ।

अथ विदेहमुक्ति –

पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा मध्याह्ने वा परे क्वचित् ।
यदि वा रजनीभागे अरिष्टमुपलक्ष्यते ॥४६०४॥
तदैव सावधान सन् योग युञ्जीत योगवित् ।
विदेहमुक्तये ज्ञानी त्यक्त्वा मरणज भयम् ॥४६०५॥
बद्धपद्मासनो धीमान् समसस्थानकधर ।
निरुध्य प्राणपवन दन्तैर्दन्तानसस्पृशन् ॥४६०६॥
बुद्धया निरुध्य द्वाराणि निमीलितविलोचन ।
ॐकार तु धनु कृत्वा गुण सत्त्व नियोज्य च ॥४६०७॥
तत्रात्मान शर सोऽपि वृतो भूतेन्द्रियादिभि ।
प्राणवायु मन क्षेपै क्षिपेत् हृत्कमलस्थित ॥४६०८॥
दशमद्वारमार्गेण लक्ष्य प्राप्य तत परम् ।
द्वात्रिंशत्तत्त्वसयुक्त परमात्मनि लीयते ॥४६०९॥
तत परममाकाशमतीन्द्रियमगोचरम् ।
यद् बुध्वा चैनमाख्यातु शक्यते न तमश्नुते ॥४६१०॥ इति ।

अथ दोषोपसर्गचिकित्सा–

प्रमादाद् योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सिता ।
तेषा नाशाय कर्त्तव्या योगिना तन्निबोध मे ॥४६११॥
बाधिर्यं जडता लोप स्मृते मूकत्वमन्धता ।
ज्वरश्च जीर्यत सद्यस्तद्वदज्ञानयोगिन ॥४६१२॥
स्निग्धा यवागू नात्युष्णा चित्ते तत्रैव धारयेत् ।
तावद् गुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्ते तथाविधे ।
यवागू चापि पवने वायुग्रन्थ्युपरि क्षिपेत् ॥४६१३॥
तद्वत् कम्पे महाशैल स्थिर मनसि धारयेत् ।
विघाते वचसो वाच बाधिर्ये श्रवणेन्द्रिये ।
तथैवाम्ल फल ध्यायेत् तृषार्तो रसनेन्द्रिये ॥४६१४॥

यस्मिन् यस्मिन् पदादेशे तस्मिंस्तदुपकारणम् ।
धारयेद् धारणामुष्णे शीता शीते विदाहिनीम् ॥४६१५॥
काष्ठ शिरसि सस्थाप्य तथा काष्ठेन ताडयेत् ।
लुप्तस्मृते स्मृति सद्यो योगिनस्तेन जायते ॥४६१६॥
अमानुष सत्त्वमन्तर्योगिन प्रविशेद् यदि ।
वाय्वग्निधारणा चैन देहसस्थं विनिर्दहेत् ॥४६१७॥
एव सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदानिशम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणा शरीर साधन यत ॥४६१८॥
प्रवृत्तिलक्षणाख्यानात् योगिनो विस्मयात्तथा ।
विज्ञान विलय याति तस्माद् हेया प्रवृत्तय ॥४६१६॥
उपसर्गा प्रवर्तन्ते दृष्टेऽप्यात्मनि योगिन ।
एतांस्ते सम्प्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥४६२०॥
काम्या क्रियास्तथा कामान् मानुषानभिवाञ्छति ।
स्त्रियो दानफल विद्यामायुर्दर्घ्यं धन दिवम् ॥४६२१॥
देवत्वममरेशत्व रसायनवयःक्रिया ।
मरुत्युत्पतन यज्ञजलाग्न्यावेशन तथा ॥४६२२॥
चित्तमित्थ प्रवृत्त हि लयाद् योगी निवर्तयेत् ।
ब्रह्मासगि मन कुर्यादुपसर्गात् प्रमुच्यते ।
उपसर्गजितैरेभि जितसर्गस्तत पुन ४६२३॥
योगिन सम्प्रवर्तन्ते सत्त्वराजसतामसा ।
प्रातिभ श्रावणो देवो भ्रमावर्तौ तथापरौ ॥४६२४॥
पञ्चैते योगिनो योगविघ्नाय कटुकोदया ।
वेदार्थशास्त्रकाव्यार्था विद्याशिल्पान्यशेषत ॥४६२५॥
प्रभवन्ति यदस्येति प्रातिभ स तु योगिन ।
शब्दार्थानखिलान् वेत्ति शब्द गृह्णाति चैव यत् ॥४६२६॥
योजनाना सहस्रेभ्य श्रावण सोऽभिधीयते ।
अष्टौ यदा तु दृश्यन्ते समन्ताद् देवयोनय ॥४६२७॥

उपसर्गं तमित्याहु र्देवमुन्मत्तवद् बुधा ।
भ्राम्यते यन्निरालम्बे मनोदोषेण योगिन ॥४६२८॥
समस्ताधारविभ्रंशाद् भ्रम ,स परिकीर्तित ।
आवर्त्त इव तोयस्य ज्ञानावर्त्तो यदाकुल ॥४६२९॥
चित्तमासक्रुदावर्त्तमुपसर्ग स उच्यते ।
एभि र्नाशितयोगास्तु सकला देवयोनय ।
उपसर्गं र्महाघोरैरावर्तन्ते पुन पुन ॥४६३०॥ इति ।

अथारिष्टज्ञानम्—

अक्षीणकर्मबन्धस्तु ज्ञात्वा कालमुपस्थितम् ।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुन र्योगित्वमृच्छति ।
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुन ॥४६३१॥
ज्ञेयान्यरिष्टानि सदा येनोत्क्रान्तो न सीदति ।
अरिष्टानि विशिष्टानि शृणु वक्ष्यामि तानि ते ॥४६३२॥
येषामालोकनान्मृत्युं निज जानाति योगवित् ।
त्रिविधानि च प्रोक्तानि तज्ज्ञैरेकमथान्तरम् ।
बाह्यं द्वितीयमन्यच्च स्वाप्नं तल्लक्षण ब्रुवे ॥४६३३॥

अथ आन्तरम्—

मासादौ वत्सरादौ वा पक्षादौ वा यथाक्रमम् ।
क्षयकाल परीक्षेत वायुचारवशात् सुधी ॥४६३४॥
पञ्चभूतात्मक दीप शशिस्नेहेन सिञ्चितम् ।
रक्षयेत् सूर्यवातेन तेन जीव स्थिरो भवेत् ॥४६३५॥
अहोरात्र यदैकश्च वहते यस्य मारुत ।
तदा तस्य भवेदायु सम्पूर्णं वत्सरत्रयम् ॥४६३६॥
अहोरात्रद्वय यस्य पिङ्गलायां सदा गति ।
तस्य वर्षद्वय प्रोक्तं जीवित तत्त्ववेदिभि ॥४६३७॥
त्रिरात्र वहते यस्य वायुरेकपुटे स्थित ।
तदा सवत्सरायुष्य प्रवदन्ति मनीषिण ॥४६३८॥

रात्रौ चन्द्रो दिवा सूर्यो वहेद् यस्य निरंतरम् ।
जानीयात् तस्य वै मृत्यु षण्मासाभ्यतरे भवेत् ॥४६३९॥
एकादिषोडशाहानि यस्य भानुर्निरंतरम् ।
वहते तस्य वै मृत्यु शेषाहे तच्च मासकै ॥४६४०॥
संपूर्णं वहते सूर्यश्चन्द्रमा नैव दृश्यते ।
पक्षेण जायते मृत्यु कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥४६४१॥
संपूर्णं वहते चंद्रस्त्वर्यमा नैव दृश्यते ।
मासेन जायते मृत्यु कालज्ञैरिति निश्चितम् ॥४६४२॥

अथ वाह्यम्—

देवमार्गं ध्रुव शुक्र सोमच्छायामरुंधतीम् ।
यो न पश्येन्न जीवेत नर संवत्सरात् परम् ॥४६४३॥
अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्नि चैवांशुमालिनम् ।
दृष्ट्वैकादशमासाच्च नरो नोर्ध्वं स जीवति ॥४६४४॥
अरुधतीं ध्रुव चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
आयुर्हीना न पश्यति चतुर्थं मातृमंडलम् ॥४६४५॥
अरुधती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च ।
भ्रुवोर्विष्णुपद ज्ञेय तारका मातृमडलम् ॥४६४६॥
न च भ्रुवो सप्त वाथ पंचतारा त्रिनासिका ।
जिह्वा एकदिन प्रोक्तं म्रियते मानवो ध्रुवम् ॥४६४७॥
कोणावक्ष्णोऽगुलीभ्या तु किंचित् पीड्य निरीक्षयेत् ।
यदा न दृश्यते बिन्दुदशाहेन च सो मृतः ॥४६४८॥
वात्या मूत्र पुरीष य सुवर्णरजत वमेत् ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवित दशमासिकम् ॥४६४९॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गधर्वनगराणि च ।
सुवर्णवर्णवृक्षाश्च नवमासान् स जीवति ।
स्थूल कृश कृश स्थूलो योऽकस्मादेव जायते ॥४६५०॥

प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम् ।
खड यस्य पद पार्ष्णी पादस्याग्रेऽथवा भवेत् ॥४६५१॥
पांशुकर्द्दमध्ये वा सप्तमासान् स जीवति ।
कपोतगृध्रकाकोला वायसो वापि मूर्धनि ॥४६५२॥
क्रव्यादो वा परो लीन षण्मासायुःप्रदर्शक ।
हन्यते काकततिभि पांशुवर्षेण वा नर ॥४६५३॥
स्वच्छाया वान्यथा दृष्ट्वा चतुर्मासान् स जीवति ।
अनभ्रे विद्युत दृष्ट्वा दक्षिणा दिशमाश्रिताम् ॥४६५४॥
पश्येदिन्द्रधनुर्वापि जीवित त्रिद्विमासिकम् ।
घृते तैले तथादर्शे तोये वाप्यात्मनस्तनुम् ॥४६५५॥
य पश्येदशिरस्कधा मासादूर्ध्वं न जीवति ।
यस्य वह्निसमो गधो गात्रे शवसमोऽपि वा ॥४६५६॥
तस्य मासाधिक ज्ञेय योगिन किल जीवितम् ।
यस्य वै स्नातमात्रस्य हृत्तोयमवशुष्यति ॥४६५७॥
पिवतश्च जल शुष्को दशाह सोऽपि जीवति ।
यश्चापि हन्यते दृष्टैर्भूतै रात्रावथो दिवा ॥४६५८॥
स मृत्यु सप्तरात्रान्ते पुमान् प्राप्नोत्यसशय ।
पिधाय कर्णौ च निजौ न शृणोत्यात्मसम्भवम्[१] ।
नश्यते चक्षुषो ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति ॥४६५९॥

इति बाह्यम् ।

अथ स्वाप्नम्—

रक्तकृष्णांबरधरा गीतहास्यपरा च यम् ।
दक्षिणाशा नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥४६६०॥
नग्न क्षपणक स्वप्ने हसत नृत्यतत्परम् ।
एक यिलक्ष विभ्रात विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् ॥४६६१॥

१-नादमिनि पंस ।

पततो यस्य वै गर्ते स्वप्ने द्वार पिधीयते ।
न चोत्तिष्ठति य· स्वप्नात् तदन्त तस्य जीवनम् ॥ ४९६२ ॥
स्वप्नेऽग्निं प्रविशेत् यस्तु न च निष्क्रमते पुन ।
जलप्रवेशादपि वा तदन्त तस्य जीवितम् ॥ ४९६३ ॥
करालैर्विकटै कृष्णै पुरुषैरुद्यतायुधै ।
पाषाणैस्ताडित स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् ॥ ४९६४ ॥
दीपादिगध नो वेत्ति पश्यत्यग्निं तथा निशि ।
नात्मान परनेत्रस्थ वीक्ष्यते य· स मृत्युमान् ॥ ४९६५ ॥
स्वभाववैपरीत्ये तु शरीरस्य विपर्यये ।
कथयन्ति मनुष्याणा समापन्नौ यमान्तकौ ॥ ४९६६ ॥
आरक्ततामेति मुख जिह्वा चा यसिता भवेत् ।
तदा प्राज्ञो विजानीयान्मृत्युमासन्नमागतम् ॥ ४९६७ ॥
नासिका वक्रतामेति कर्णयोर्नमन यदि ।
नेत्र च वाम स्रवति यस्य तस्यायु तद्गतम् ॥ ४९६८ ॥
योगिना ज्ञानविदुषामन्येषा वा महात्मनाम् ।
प्राप्ते तु काले पुरुषैस्तद्विचार्यं विचक्षणै ॥ ४९६९ ॥

इति कालज्ञानम् ।

अथ कालवंचना—

तीर्थस्नानेन दानेन तपसा सुकृतेन च ।
जपैर्ध्यानेन योगेन जायते कालवंचना ॥ ४९७० ॥
जीवन्मुक्त सदेहोऽह विचरामि जगत्त्रयम् ।
इति चेज्जायते वाञ्छा योगिनस्तन्निबोध मे ॥ ४९७१ ॥
शरीर न नयत्येव काल कस्यापि कुत्रचित् ।
अत शरीररक्षार्थं यत्न कार्यस्तु योगिना ॥ ४९७२ ॥
योगिना सतत यत्नादरिष्टाना विचारणा ।
कर्तव्या येन कालोऽसौ ज्ञातो हन्ति छलान्न तम् ॥ ४९७३ ॥

ज्ञात्वा काल च त सम्यक् लयस्थान समाश्रित ।
युञ्जीत योग कालोऽस्य यथासौ विफलो भवेत् ॥ ४६७४ ॥
मारुत बधयित्वा तु सूर्यं बोधयते यदि ।
अभ्यासाज्जीवते जीव सूर्यकालेऽपि वचिते ।
गगनात् स्रवते चन्द्र कायपद्मानि सिंचयन् ॥ ४६७५ ॥
कर्मयोगसदाभ्यासैरमर शशिसंस्रवान् ।
शशाक चारयेद् रात्रौ दिवा चार्यो दिवाकर. ॥ ४६७६ ॥
इत्यभ्यासरतो यस्तु स भवेत् कालवचक ।
बद्ध्वा सिद्धासन देह पूरयेत् प्राणवायुना ॥ ४६७७ ॥
कृत्वा दण्ड स्थिर बुद्ध्या शब्दद्वाराणि रुधयेत् ।
बधयेत् खेचरीं मुद्रा ग्रीवाया च जलधरम् ॥ ४६७८ ॥
अपाने मूलबध च उड्डीयान तथोदरे ।
उत्थाप्य भुजगीं शक्ति मूलोद्घातैरध स्थिताम् ॥ ४६७९ ॥
सुषुम्णान्तर्गता पच चक्राणा भेदिनीं शिवाम् ।
जीव हृदाश्रय नीत्वा यान्तीं बुद्धि मनोयुताम् ॥ ४६८० ॥
सहस्रदलपद्मस्थशिवे लीना सुधामये ।
पीत्वा सुधाकरोद्भूतममृत तेन मूलत ॥ ४६८१ ॥
सिंचतीं सकल देह प्लावयन्तीं विचिन्तयेत् ।
तया सार्धं गतो योगी शिवेनैकात्मता व्रजेत् ॥ ४६८२ ॥
परानदमयो भूत्वा चिद्वृत्तिमपि सत्यजेत् ।
ततो लक्षमनाभासमहभावविवर्जित ॥ ४६८३ ॥
सर्वांगकल्पनाहीन कथ कालो निहति तम् ।
स एव काल स शिव स सर्वं नापि किंचन ॥ ४६८४ ॥
क केन हन्यते तत्र म्रियते नापि कश्चन ।
ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रांतिरूपिण ॥ ४६८५ ॥
योगी सुप्तोत्थित इव प्रबोधं याति बोधित ।
एव सिद्धो भवेद् योगी वचयित्वा विधानत ॥ ४६८६ ॥

काल कलितससार पौरुषेणाद्भुतेन हि ।
ततस्त्रिभुवने योगी विचरत्येक एव स ॥ ४९८७ ॥
पश्यन् ससारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहंकृति ।
यथार्करश्मिसंयोगादर्ककान्तो हुताशनम् ॥ ४९८८ ॥
आविष्करोति नैक सन् दृष्टान्त स तु योगिन ।
मृद्देहिकाल्पदेहेऽपि मुखाग्रेनोत्करणो यथा ॥ ४९८९ ॥
करोति मृद्भारचयमुपदेश स योगिन ।
पिंगला कुरर सर्पसारगान्वेपकस्तथा ।
इषुकार कुमारी च षडेते गुरवो मता ॥ ४९९० ॥ इति ।

अथ योगागभूत कर्माष्टक हठाभ्यासिना शरीरशोधक लिख्यते —

आदौ नाडीविशुद्ध्यर्थमष्टागानि समभ्यसेत् ।
शोधकानि शरीरस्य प्रोक्तान्यष्टौ महात्मभि ॥ ४९९१ ॥
चक्रिर्नौलिर्धौतिनेती वस्तिश्च गजकारिणी ।
त्राटक मस्तकभ्रातिरिति कर्माष्टकं स्मृतम् ॥ ४९९२ ॥

यत्त्र हठदीपिकायाम् —

कर्माष्टकमिद विद्धि घटशोधनकारकम् ।
कस्यचिन्न च वक्तव्य कुलस्त्रीसुरत यथा ॥ ४९९३ ॥

अथ चक्रि —

पायुनाले प्रसार्योर्ध्वमगुलीं भ्रामयेदभि ।
यावद् गुदविकाश स्याच्चक्रिकर्म निगद्यते ॥ ४९९४ ॥
मूलव्याधि गुल्मरोगो नश्यत्यत्र महोदर ।
मलशुद्धि दीपन च जायते चक्रिकर्मरण ॥ ४९९५ ॥ इति ।

अथ नौलि —

सा च नौलिर्द्विधा प्रोक्ता भारी चैकान्तराभिधा ।
भारी स्याद् बाह्यरूपेण जायतेऽन्तोऽन्तराभिधा ॥ ४९९६ ॥

अथ आद्या—

अमदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यत· ।
नतासो भ्रामयत्येषा नौलिर्गौडैः प्रशस्यते ।। ४९९७ ।।
तुन्दाग्निसंदीपनपाचनाति सदीपिकानदकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरिय च नौलि ।। ४९९८ ।।

अथ द्वितीयान्तरा—

इडयावर्तवेगेन तथा पिंगलया पुन ।
उभाभ्या भ्रामयेच्चैव ह्यन्तरा कीर्तिता मया ।। ४९९९ ।। इति ।।

अथ धौति —

विंशद् हस्तप्रमाणेन धौतेर्वस्त्र सुदीर्घकम् ।
चतुरंगुलविस्तार सिक्त चैव शनैर्ग्रसेत् ।। ५००० ।।
तत प्रत्याहरेच्चैतदुत्खात धौतिरुच्यते ।
दिने दिने तत कुर्याज्जठराग्निविवर्धनम् ।। ५००१ ।।
कासश्वासप्लीहकुष्ठकफरोगाश्च विंशति ।
धौतिकर्मप्रभावेण धुनोत्येव न सशय ।। ५००२ ।।

अथ नेतिकर्म—

आखुपुच्छाकारनिभं सूत्रं तु स्निग्धनिर्मितम् ।
षड्वितस्तिमितं सूत्र नेतिसूत्रस्य लक्षणम् ।। ५००३ ।।
नासानाले प्रवेश्यैन मुखान् निर्गमयेत् क्रमात् ।
सूत्रस्यान्त प्रबद्ध्वा तु भ्रामयेन्नासनालयो ।। ५००४ ।।
मथन च तत कुर्यान्नेतिसिद्धैर्निगद्यते ।
कपालशोधनकरी दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगघ्नी जायते नेतिरुच्यते ।। ५००५ ।।

अथ वस्ति —

वस्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता जलवायु प्रभेदयेत् ।
चक्रि कृत्वा यथाशक्त्या जलवस्तिमथो ब्रुवे ।। ५००६ ।।

नाभिदघ्नजले स्थित्वा पायुनाले स्थितागुलि ।
चक्रिमार्गेण जठर पायुनालेन पूरयेत् ।
विचित्रकरणीं कृत्वा निर्भीतो रेचयेज्जलम् ॥ ५००७ ॥
यावद् वल प्रपूर्यैव क्षण स्थित्वा विरेचयेत् ।
घटीत्रय न भोक्तव्य वस्तिमभ्यसतो ध्रुवम् ।
निर्वातभूमौ सतिष्ठेद् वशी हितमिताशन ॥ ५००८ ॥
गुल्मप्लीहोदर वापि वातपित्तकफादिकम् ।
वस्तिकर्मप्रभावेण धवत्येव न सशयं ॥ ५००९ ॥
धात्विन्द्रियान्त करणप्रसाद दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचय निहन्यादभ्यस्यमान जलवस्तिकर्म ॥ ५०१० ॥

अथ गजकरणी—

उदरगतपदार्थमुद्वहन्ती पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयतस्तु वायुमार्गे गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै ॥५०११॥
पीत्वाकण्ठमतिगुडजल नालिकेरोदक वा
वायु मार्गे पवनजलयुत कुभयेद् वाथ शक्त्या ।
नि शेष शोधयेद् वा परिभवपवनो वस्तिवायुप्रकाशात्
कुभाभ कण्ठनाले गुरुगजकरणी प्रोच्यते या हठज्ञै ॥ ५०१२ ॥
यथैव गजयूथानां राजते राजकुजर ।
तथेय गजकरणीति प्रोच्यते हठयोगके ॥ ५०१३ ॥

अथ त्राटनम्—

निरीक्षेन् निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष समाहित ।
अश्रुसपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटक मतम् ॥ ५०१४ ॥
स्फोटन नेत्ररोगाणा मत्रादीना कपाटकम् ।
प्रयत्नात् त्राटन गोप्य यथा रत्नसुपेटकम् ॥ ५०१५ ॥

अथ कपालभ्राति —

भस्त्रीवल्लोहकाराणा रेचपूरकसभ्रमौ ।
कपालभ्रातिर्विख्याता सर्वरोगविशोधिणी ॥ ५०१६ ॥

यद्वा—

कपाल भ्रामयेत् सव्यमपसव्यं तु वेगत. ।
रेचपूरकयोगेन कापालभ्रातिरुच्यते ॥ ५०१७ ॥
कफदोष निहत्येव पित्तदोषं जलोद्भवम् ।
कपालशोधनेनापि ब्रह्मचक्रं विशुद्धचति ॥ ४०१८ ॥

इत्यष्टकर्म ।

वपु कृशत्व वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्व नयने च निर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धि हठयोगके कृते ॥ ५०१९ ॥
कर्माष्टभि र्गतस्थौल्यकफमेदोमलादिक ।
प्राणायाम तत. कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥ ५०२० ॥
षट्चक्रशोधन सम्यक् प्राणायामस्य कारणम् ।
नाशन सर्वरोगाणा मोक्षमार्गस्य साधनम् ॥ ५०२१ ॥
देहारोग्य च लभते ह्यष्टकर्मप्रभावत ।
इतोर्थं पटलैरष्टाविंशै. पूर्वार्धक गतम् ।
सदागम रहस्यैतद्गुरूणां प्रीतिदायकम् ॥ ५०२२ ॥
सदागमरहस्याब्धिसमुद्भूतमणिस्रजा ।
भूषिता करुणामूर्तिररुणा वितनोतु शम् ॥ ५०२३ ॥
यत्कृपालेशमालब्य भक्ता भवमया भवे ।
भवोयन्ति भव सर्वं नुमस्तां भवनाशिनीम् ॥ ५०२४ ॥
श्रीमद्गुरुपदाम्भोजमकरदमधुव्रता ।
देशिका सन्तु सन्तुष्टा दृष्ट्वागमरहस्यकम् ॥ ५०२५ ॥
शिवयो. प्रीतिद भूयात् पूर्वापरविभागत. ।
पूर्वार्द्धे श्रीशिव तुष्येदुत्तरार्द्धे तथाम्बिका ॥ ५०२६ ॥
श्रीनाथदृष्टिपूताना भक्ताना तद्गतात्मनाम् ।
प्रमेदज्ञानिना हेतोरर्द्धं तदपि लक्षये ॥ ५०२७ ॥

ते कृतार्था स्वयं सन्त· स्वात्मलाभैकमानसाः ।
तथापि तुष्टिमायान्तु मत्कृतैः साहसैरलम् ॥ ५०२८ ॥
शिष्टा यदपि सर्वज्ञास्तथापि शिशुलीलया ।
मुदमादधते चित्ते यदानदमया हि ते ॥ ५०२९ ॥
गुरुणा लक्षित यच्च दृष्टं यच्चागमादिषु ।
तत्रत्य सारभूत यदुत्तरार्धे लिखाम्यहम् ॥ ५०३० ॥
आत्मानदप्रबोधाय विनोदाय महात्मनाम् ।
सरस्वत्यानन्दनाथो दुर्गानन्दपदाश्रित ॥ ५०३१ ॥

इतिश्रीमदागमरहस्ये सत्सग्रहे द्विवेदिवशोद्भवसाकेतपुर-
प्रान्तस्थायि सरयूप्रसादविरचिते योगाङ्गकथन
नामाष्टाविंश पटल । समाप्त पूर्वार्द्धः ।
वर्षे सम्वत् १९३७ का लिपिकृतं नानूराम
ब्राह्मण दायमा ॥ श्रीरस्तु ।



संपादकीया–विज्ञप्तिः

१– आगमविदां वरेण्य तप प्रभावप्रशस्तयशशाली ।
आयोध्यको य आसीत् सुमना सरयूप्रसादसुधी ॥

२– नानातन्त्रनिबन्धान् प्रज्ञालोके विविच्य सवीक्ष्य ।
आगमरहस्यसंज्ञ सकलितस्तेन सन्दर्भ ॥

३– प्रपितामहस्य तममुं सन्दर्भं भावनाभव्या ।
विज्ञा विमृशन्तु मुदा लोकद्वयसाध्यसिद्धिकरम् ॥

४– गुरुमुखतोऽधिगत यत् तन्त्ररहस्य परम्परायातम् ।
तदिहानुसृत्य सकल श्रमेण सपादितो ग्रन्थ ॥

५– गङ्गाधरद्विवेदो जयपुरनगरे 'सरस्वती–पीठे' ।
नवभूविंशति (२०१६) संख्ये विक्रमवर्षेऽनयत् पूर्तिम् ।

× × × ×

विमर्शानन्दनाथेन श्रीगुर्वाम्नायवेदिना ।
निष्पादितेयं कृति पूर्णा स्वान्त करणशुद्धये ॥

इति शिवम् ।



अथ

आचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतं

आगमरहस्यम्

गजानन विघ्नहर गणार्चितपदाम्बुजम् ।
सेवित सिद्धिबुद्धिभ्यामनिशं श्रेयसे श्रये ॥१॥
नित्यामनन्ता प्रकृति पुराणीं चिदीश्वरीं सर्वजगन्निवासाम् ।
शिवार्धदेहामगुणां गुणाढ्यां वर्णार्थरूपां प्रणमामि देवीम् ॥२॥
श्रीगुरून् करुणापूर्णानज्ञानध्वान्तभास्करान् ।
विद्याविलसितानन्दान् प्रणौमि निखिलार्थदान् ॥३॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

मितभाषिणी

यत्कारुण्यसुधापूरे प्लावित भुवनोदरम् ।
तमानन्दकल्लोल्लास सेवे स्वात्ममहेश्वरम् ॥ १ ॥
श्रीकण्ठस्य मुखाल्लोकेऽवतीर्ण सद्भिराश्रित ।
आगम स हि नौकाना भुक्तिमुक्तिश्रिया पदम् ॥ २ ॥
यथाशास्त्र सेव्यमानो गुरुदर्शितवर्त्मना ।
फलत्यसौ कल्पशाखी चिन्तामणिरिवापर ॥ ३ ॥
निबन्धनिचये प्राचा सारमादाय सचितम् ।
यदाचार्येण सरम्भात् तदागमरहस्यकम् ॥ ४ ॥
प्रमेयविस्तर दृष्ट्वा यदत्र विहित श्रम ।
तन्त्रार्णव सन्तरितु सेतुबन्धोऽयमिष्यताम् ॥ ५ ॥
तदस्मिन्नर्थबहुले सन्दर्भे बहुधाहृते ।
गगाधरो वितनुते विवृति मितभाषिणीम् ॥ ६ ॥
यथा सगतिवैधुर्यमनाश्वासश्च नो भवेत् ।
सता मनीषिणामत्र तदर्थोऽयमुपक्रम ॥ ७ ॥

अथाचार्य आगमरहस्य प्रारिप्सु 'मगलाचरण शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति (सा०द० ५ । १) प्रमाणयन् प्रथम गणपतिस्मरणमुखेन मङ्गलमाचरति– गजाननमिति । गजस्य हस्तिन आननमिव आननमस्येति मध्यमपदलोपिसमास । गजाननावतारकथा यथा स्कान्दे—

'एवमेवावतीर्णोऽसि हीनमूर्ध्ना कथं प्रभो ।।
अथवा बालरूपस्य छिन्नं ते केन तच्छिर ।।
एतन्मे संशयं छिन्धि कृपया परमेश्वर ।' इत्यादिना

देवर्षिनारदप्रश्ने—

'सिन्दूर कोऽपि दैत्यो मे वायुरूपधरोऽच्छिनत् ।
अष्टमे मासि सम्पूर्णे प्रविश्योमोदरं शिर ।।
तमिदानीं हनिष्येऽहं गजास्य साम्प्रतं द्विज ।। इति ।

तथा—

'अकिञ्चिज्ज्ञा वयं देव योजनेऽस्य मुखस्य ते ।
त्वमेव च स्वभावेन मुखमेतन्नियोजय ।।' इत्येवं

प्रक्रम्य—

'वदतीत्थं मुनिर्यावत् तावत् स ददृशेऽखिलैः ।
सर्वावयवसम्पूर्णो गजाननं उमासुत ।।
किरीटकुण्डलधरो युगबाहु सुलोचन ।
वामदक्षिणभागे च सिद्धिबुद्धिविराजित ।।
दृष्ट्वा विनायकं स्कन्द । तथाभूतं निजेच्छया ।
हर्षेणोत्फुल्लनयना देवा सर्वे तदाब्रुवन् ।।
गजानन इति ख्यातो भविताय जगत्त्रये ।
एवं भाद्रचतुर्थ्यां स अवतीर्णो गजानन ।'

(स्कन्दपु० गणेशखण्ड, अ० ११)

इति शिवप्रतिवचनादवगन्तव्या । यत्तु ब्रह्मवैवर्तादिषु—

'शनिदृष्ट्या शिरश्छेदाद् गजवक्त्रेण योजितम् ।
गजाननं शिशुस्तेन नियतिः केन वार्यते ।।'

इत्यादि प्रस्तूयते तदनाकरत्वात् विसंवादाच्चानादेयमेव । गणे विघ्नहर्तृ-देवविशेषे अर्चितं पदाम्बुजं यस्य, तम् । श्रेयसे श्रेयःफलावाप्तये, श्रये शरणत्वेन आश्रये ।। १ ।।

इदानीं सर्वागमाधिष्ठात्रीं परदेवतां परामृशन्, जगदुपास्यतया तस्यै प्रणति-मावेदयन् उपास्यप्राधान्यमुपश्लोकयति-नित्येति । नित्यां कालत्रयेऽप्यनवच्छिन्नचिद्रूपां अबाध्यामिति यावत् । 'अविनाशी अरेऽयमात्मेति श्रुतेः । अतएव न विद्यते अन्तो यस्याः सा, ताम् । प्रकृतिं जगतः सर्गे प्रकृतिस्वरूपेण अनुस्यूताम् । तथा च आचार्य प्रपञ्चसारे—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ ।' इत्यादिना निर्दिष्टरूपा । एवं भगवद्गीतायामपि-

'भूमिरापोऽनलो वायु खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूता महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥' इति ।

तथा—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥'

(भगवद्गी० अ० ७ श्लो० ४, ५, अ० १३, श्लो० १)

इत्यादिना चोपदिष्टा । पुराणीं जगन्मूलकारणतया प्राक्तनीम् । चिदीश्वरीम् चितः अविद्यापरिपन्थिनो ज्ञानरूपस्य ईश्वरीं स्वामिनीम् । सर्वजगन्निवासाम्-सर्वस्य स्थूलसूक्ष्मरूपस्य जगतः सृष्टिप्रपञ्चस्य निवासां आश्रयभूताम् । शिवार्धदेहाम् शिवस्य अर्धं देहो यस्याः सा, ताम् । शिवाभिन्नार्धशरीरशालिनीमित्यर्थः । अतएव बृहदारण्यकोपनिषदि—

'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति उपक्रम्य 'स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामिति' इत्यनेन एकस्यैव द्व्यात्मकत्वं श्रूयते । अगुणाम् अनिर्वचनीयस्वरूपाम् । गुणाढ्याम्-गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः आढ्याम् उत्कर्षभासुराम् । त्रिगुणात्मकेनावस्थानेन स्फुरद्रूपामित्यर्थः । वर्णार्थरूपाम्—वर्णार्थौ रूपं यस्याः सा, तथाभूताम् । परापश्यन्त्यादिक्रमेण पञ्चाशद्वर्णात्मना वेदादिसमस्तव्यवहारप्रयोजिकाम् । शब्दार्थसृष्टिस्वरूपिणीमिति भावः । वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेऽपि पञ्चाशदित्युक्तिः क्षकारस्य कषसंयोगात्मकत्वात् । अथवा मातृकान्यासे मूलाधारादिआज्ञान्तषट्चक्रेषु पञ्चाशद्वर्णानामेवावस्थानात् तथारूढोऽयं व्यवहार इत्यवधेयम् । शास्त्रे शब्दसृष्टेरिव अर्थसृष्टेरपि कुण्डलिन्या एवोत्पत्त्यभिधानात् अर्थरूपत्वमप्यस्याः स्वयमेव पर्यवस्यति । यतः अर्थोऽपि शब्दविवर्तभूत एवानुभूयते । अतएव भगवान् भर्तृहरिः—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति ।

अपि च, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इति नामरूपात्मकस्य प्रपञ्चस्य एकस्मात्तत्त्वादेव आविर्भावश्रवणात् ।

ततश्चायमत्र रहस्यार्थः—'अर्थसृष्टिशब्दसृष्ट्योर्युगपदङ्कुरतच्छाययोरिव परस्परसंपृक्तयोरेवोत्पत्तिः । पदार्थमात्रस्य शब्दानुविद्धत्वात् । अतएव 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' इत्यभियुक्तोक्तिः । ततश्च सृष्टिकारणे ब्रह्मणि शिवशक्तिरूपेऽर्थत्ववचच्छब्दत्वमप्यस्तीति निर्विवादम् ।

देवीम्-दीव्यतीति देवः, तस्य इयं देवी, ताम् । स्वप्रकाशैकतनोर्महादेवस्य सर्वान्तरात्मनः स्वभावभूताम् । अथवा विश्वसर्ग-स्थापनसंहरणतिरोधानानुग्रहस्वरूपे पञ्चकृत्ये स्वात्मन्येव विहरति इति वा देवी ताम् । इह दीव्यतेरर्थाः चमत्कारमाविष्कुर्वन्तीति यथावासनमनुसन्धेयाः । प्रणमामि—प्रह्वीभावेन तदभेदमाकलयामीत्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं परमकारुणिकस्य आगमगुरोर्महिमानमावेदयन् तस्य प्रणतिमाचरति—श्रीगुरूनिति । पूजार्थं बहुवचनेन निर्देशः । अथवा श्रीनाथादिगुरुत्रयमित्याद्युक्त्या

ागमप्रस्तावे ंगुरुपरम्पराक्रमस्य महत्त्वमुपदर्शयता गुरु-परमगुरु-परमेष्ठिनोऽपीह-
णतिभाज इत्याविष्कृतम् । श्रीविद्यादेशिकस्य तन्त्रेषु शिवाभिन्नत्व स्मर्यते—

'मनुष्यचर्मणा नद्ध शिव एव गुरुमत ।' इति ।

वामकेश्वरादौ च—

'सप्रदायो महाबोधरूपो गुरुमुखे स्थित ।
विश्वाकारप्रथायास्तु महत्त्व च यदाश्रयम् ॥' इति ।

करुणापूर्णान्—करुणया नैसर्गिकेण अनुकम्पामृतपूरेण, पूर्णान् उच्छलिता-
ायान् । एतेन स्वनाथचरणाना आत्मन्यनुग्रहातिशय कश्चिदुन्मीलित । श्रूयते चापि-

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥' इति ।

अज्ञानध्वान्तभास्करान्—अज्ञान आणव-मायीय-कार्मण मलमेव स्वरूपा-
वरकत्वात् ध्वान्त तिमिरम । तथा च पठ्यते—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति ससाराङ्कुरकारणम् ।' इति ।

तस्य उच्छेदे भास्करान् भास्करवद् भासमानान् । भास्करशब्दो 'दिवावि-
भानिशाप्रभाभास्कर' (पा० सू० ३-२-२१) इत्यादिना निपात्यते । सकलभुवनैकदी-
पोऽम्बरमणिभगवान् भास्करो यथा तमास्युन्मूल्य प्रकाशैकात्मना भासते एव गुरुभा-
करोऽपि शिष्यसत्तमस्य आन्तरोपास्तौ सकलभुवनाध्वादिशोधनेन तमोरूप मल प्रक्षाल्य
पूर्णाहन्ताप्रकाशक इति गुरोर्भास्कररूपणा सर्वतोभावेन सङ्गच्छते । तदेव 'सामाना-
धिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयो कुत ।' इत्यभियुक्तोक्त्या तेजस्तिमिरयोर्युगपदेकत्र
अवस्थानासभवात् प्रकाशैकमात्रविश्रान्ते धर्मिणि जीवन्मुक्ततालाभ ध्वनयता आगम॰
गुरो कश्चन महिमातिशय प्रकाशित । विद्याविलसितानन्दान्–विद्यया कूटत्रय्या
विलसित स्फारीभूत आनन्द शिवशक्तिसामरस्यात्मा निरतिशय उल्लासो यस्य
स , तान् । निखिलार्थदान्–निखिला समस्ता ऐहिकामुष्मिका ये अर्था फलसपत्तय
तान् ददाति वितरति इति तथाभूत तान् । प्रणौमि–अनुग्रहोल्लासविस्फारितान्तर
प्रणतिमाचरामि ॥३॥

जीयात् जयपुराधीश रामसिंहाभिधो नृप ।
यद्भुजच्छायमाश्रित्य शान्तो मे सुश्रमक्लम ॥४॥
दानी रिपुचयध्वसी नीतिज्ञ कुशल शुचि ।
विद्याविचारसन्तुष्टो हृष्ट सल्लोकलोचन ॥५॥
दयालु गुरुदेवार्चारत शुभकृत्य कृती ।
दृढप्रज्ञो दृढाज्ञस्य येनेय भूपिता मही ॥६॥

अथ 'जीयादित्यारभ्य भूपिता मही' इत्यन्तेन श्लोकत्रयेण जयपुरमही
महेन्द्रमाशिषा सयोजयन् राजधर्मानुगुण तच्छासनमुपश्लोकयति— ।

जयपुरधराधीश्वरो महाराजश्रीरामसिंहदेव जीयात्–कमनीयकीर्त्या चिर चकास्तु । यस्य गुणैकपक्षपातिनो विद्वान्सो, भुजच्छाय पाणिपल्लवस्निग्धा छाया श्राश्रित्य अभ्युपेत्य । भुजयो छाया भुजच्छायमिति तत्पुरुष समास । 'छाया बाहुल्ये' (पा० सू० २-४ २२) इति नपु सकत्वम् । 'इक्षुच्छायानिषादिन्य' इति रघुप्रयोगस्तु श्राङ प्रश्लेषादुपपद्यते । मे मम विद्याव्यासङ्गवत परमेश्वराराधकस्य । भूभ्रमक्लम, भुवो भ्रमणे देशाटनप्रसङ्गे य क्लम शारीरो मानसश्च खेद स शान्त तिरोभूत । एतेन राज्ञ समानलाभोत्तर देशाटनखेदस्य प्रत्यादेश, लोकोपकारधिया श्रागमादि-शास्त्रप्रधान ग्रन्थप्रणयनमासूत्रितम् । उत्तरश्लोकाभ्या विशिष्य राज्ञो गुणग्राहिताशसनम् । तथा च लोकमर्यादा पुरस्कृत्य मन्वादिसमता तदीया शासनसरणि प्रबन्धपाटव चाभिदधना समकालभवेषु राजसु उच्चावचाना राजधर्माणामस्मिन् ययायथ सन्निवेशात् सुवर्णे सौरभमिव कश्चन राजधर्मातिशय समुन्मीलित । तदित्थ सकलगुणनिलयो राजचर्याविचक्षण, जयपुरनगरीनाथो भारतभुव सौभाग्यभूपायित इवाभूदिति तात्पर्यत प्रकाशितम् । प्रतिपदव्याख्यान तु सुगमत्वान्मन्दफलम् ॥ ४-६ ॥

अथागमान् समालोक्य सम्प्रदायत्रयाश्रयात् ।
तदागमरहस्य यत् तन्यते बालबोधकम् ॥७॥
सन्तीह सुनिबंधौघा बहव सुगमा अपि ।
तथापि मम यत्नोऽय भवेत् सज्जनतोपकृत् ॥८॥

अथागमानिति—अत परं द्वाभ्या श्लोकाभ्या आत्मकृतेरितिकर्तव्यता विनिर्दिशन् तत्स्वरूपपरिचय प्रस्तौति—अत्रेदमवधेयम्—

अधिकारिभेदात् अनेकधा व्यवहारभूमिमवतीर्णस्य विविधै र्भेदोपभेदैर्वितततस्य चागमग्रन्थराशेरियत्तया परिच्छेद कर्तुं न शक्यते । अत एव च चित्तशुद्धेस्तारत-म्येन देशकालशक्त्यादिविभागेन च भूमिकाभेदात् चतुर्विधपुरुषार्थोपलब्ध्यै उपासना वतारे नानाविधानामागमपद्धतीनामाविर्भाव । इदमुद्दिश्यैव सौन्दर्यलहर्या आचार्य-भगवत्पादैरुक्तम्—

'चतु षष्ट्या तन्त्रै सकलमभिसन्धाय भुवन
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्र पशुपति ।' इति ।

श्रागमस्य च वेदमूलकत्वेन ग्राह्यताप्रसङ्गे कतिपयाना प्रामाण्यव्यवस्थापि 'शास्त्रकारे विवेचिता हृदयग्राहिणी कल्प्यत इत्यादिक यदिह वक्तव्य तत् सकल यथा प्रसङ्गमुपरिष्टाद् वक्ष्यते । प्रकृते तु भेद-भेदाभेद-अभेदप्रतिपादक शिव रुद्र-भैरवाख्य त्रिधैवेद शास्त्रमुद्भूतमिति सिद्धान्तमनुसृत्य तदिदमागमशास्त्र प्रवृत्तमिति मूलवस्तु-स्यापर्नाधयैव इह प्रकाशितार्था महद्भिर्विभावनीया इति तात्पर्यम् । अत्रेदमागममार्गा-नुग्राहक प्रमाणवचनम्—

'तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना॥' इति।

आगमप्रामाण्यवादमुद्दिश्य भङ्ग्यन्तरेण तन्त्रालोके—

'प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामप्यविद्याया प्रमाणमविगानतः।
प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागीश्वरी मता।
तथा यत्र यथा सिद्धं तद् ग्राह्यमविशङ्कितैः॥'

इति पुरस्क्रियमाणं वचनमपि वस्तुस्थापनधिया प्रवृत्तं गुरुपरम्परागतस्य सम्प्रदायक्रमस्यैव सर्वतो बलवत्तरत्वं प्रमाणयति। गुरुपरम्पराया एव आगमप्रवृत्तौ नियामकत्वस्य अभ्युपगमात्। तदित्थमुपासनामार्गे आत्मनो गुरुनाथस्यैव पारम्पर्यक्रमः साधकै शरणीकरणीय इति व्यक्तम्। यतो गुरुमुखस्थित-सम्प्रदायमन्तरा नान्यदिह शरणं भवितुमर्हति। अतएव 'तन्त्राणां बहुरूपत्वात् कर्तव्यं गुरुसम्मतम्।' इति व्यवस्थापि सङ्गच्छत इति सर्वं समञ्जसम्। प्रकृतश्लोकस्त्वेवं योजनीयः—अथ आगमान्, शैव-शाक्त-सौर-गाणेश-वैष्णवभेदैः पञ्चधा विभक्तान्। सम्प्रदायत्रयाश्रयात्—सम्प्रदायो नाम गुरुपरम्पराक्रमः। स च मुख्यतया गौड-केरल-काश्मीरेति संज्ञां दधत् देशविशेषसमयाचारेण त्रिधा विभागमुपगतः, इदानीमप्यविच्छिन्नतया भारते वर्षे प्रथत इत्येषामेव क्रममनुरुध्य प्रवृत्तान् उपासनाप्रक्रियाविवेचकान् प्राचो निबन्धान्, समालोक्य ससङ्केतिकं विविच्य, बालबोधकम्—प्रायेण बहुशो विप्रकीर्णप्रमेयाणां दुर्लभानाञ्च आगमप्रबन्धानां दुरूहतामाकलयतां 'कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्' इत्याभाणकन्यायेन एकस्मिन्नेव सन्दर्भग्रन्थे यावदपेक्षित-प्रमेयप्रपञ्चस्य सारभूतोऽर्थः निष्कृष्य विन्यस्त इत्यलसानां अल्पधियाञ्चापि समानभावेनेदं श्रद्धास्पदीभवेत् इति हितोपयिकतया सुगमसोपानीकृते चास्मिन् मदीये प्रबन्धे सर्वेषामपि सुखेन आरोहः सुलभ इत्यस्य बालबोधकत्वमुपवर्ण्यते। व्युत्पन्नमतयो बाला यथा अनायासेन पदार्थजातं बुध्यन्ते, एवमिहोक्तानपि आगमार्थाननुशीलयन्तः आगमानुरागिणः स्वल्पेनायासेन शास्त्ररहस्यं बुध्येरन्निति तथा यत्नोऽत्र आस्थित इत्याशयः। एवंविधञ्चेदं सकलागमसारभूतं आगमरहस्यं नाम सन्दर्भं तन्यते समासव्यासाभ्यां विस्तार्यते।

सत्सु च अनेकविधेषु आगमप्रबन्धेषु नूतनग्रन्थनिर्माणे कोऽयमभिनिवेश इति न भयिमनायितव्यं यतोऽयमस्मत्प्रबन्धः केरपि विशिष्टैः सङ्कलनायोगैः पूर्वभवान् प्राक्प्रबन्धानतिशेते इति गुणानुपङ्गेण सज्जनानां तोषदः तु हृदयावर्जकम् भवेत्। ततश्च प्रामन्यान् दुर्विदग्धप्रकृतीन् नाम मम प्रयासो न सुखयेत्, किन्तु तारतम्यपरीक्षणेन वस्तुसारान्वेषणप्रवृत्तान् स्वभावशुद्धान् सुधियस्तु सन्तोषयेदेवेति भावः।

इत्युपोद्घातप्रकरणम्।

(१) मन्त्रशोधने कुलाकुल-चक्रम् । आग रह पटल १९ पृ० २८६

अ	आ	ए	क	च	ट	त	प	य	ष	मारुता
इ	ई	ऐ	ख	छ	ठ	थ	फ	र	क्ष	आग्नेया
उ	ऊ	ओ	ग	ज	ड	द	ब	ल	ल	पार्थिवा
ऋ	ॠ	औ	घ	झ	ढ	ध	भ	व	श	वारुणा
ऌ	ॡ	अं	ङ	ञ	ण	न	म	स	ह	नाभसा

(२) राशिचक्रम, आग रह पटल १९ पृ स २८७

मेष अ आ इ ई	वृष उ ऊ ऋ	मिथुनम् ॠ ऌ ॡ	कर्कट ए ऐ	सिंह ओ औ	कन्यका अं अः श ष स ह ल क्ष
तुला क ख ग घ ङ	वृश्चिक च छ ज झ ञ	धनु ट ठ ड ढ ण	मकर त थ द ध न	कुम्भ प फ ब भ म	मीन य र ल व

(३) नक्षत्रचक्रम् । आग० रह० पटल १९ पृ० स० २८८

अ	भ	कृ	रो	मृ	आ	पुनवसु	पुष्य	आश्ले	म	पू फा	उ फा	ह	चि
अश्व	हस्ती	मेष	सर्प	सर्प	श्वान	मार्जार	मेष	बिडाल	मूषक	मूषक	गौ	महिषी	व्याघ्र
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४

स्वा	वि	अनु	ज्ये	मू	पू पा	उ पा	अभि	श्र	ध	श	पू भा	उ भा	रे
महिषी	व्याघ्र	मृग	मृग	श्वान	वानर	नकुल	नकुल	वानर	सिंह	अश्व	सिंह	गौ	हस्ती
१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८

(४) अकथहचक्रम् । आग० रह० पटल १९ पृ० स० २८९

अ क थ ह	उ ङ प	आ ख द	ऊ च फ
ओ ड व	ऌ झ म	औ ढ श	ॡ ञ य
ई घ न	ऋ ज भ	इ ग ध	ॠ छ ब
अः त स	ऐ ठ ल	अं ण ष	ए ट र

(५) अकडमचक्रम् आग रह पटल १६ पृ० स० २६३

अ ठ भ अ ट च	अ क ड म	आ ख ढ य इ ग ण र
औ ज फ		ई घ त ल
ओ र प ह न स ऐ ज	ए छ ध प	उ ङ थ व ऊ द श

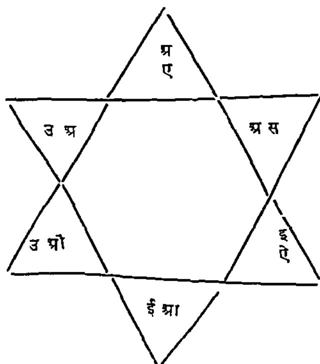
(६) मन्त्राशक्चक्रम्। आग० रह० पटल १६ पृ० स० २६३

अ उ ऌ ओ क ङ र ड थ प म य ह	आ ऊ ॡ औ ख च ञ ढ द फ झ ष श
ई ॠ ऐ अ घ ज ठ त न भ ल स	इ ऋ ए अ ग छ ट ण ध व र ष

(७) ऋणधनशोधनचक्रम् । आग० रह० पटल १६ पृ० स० २६४

१४	२७	२	१२	१५	६	४	३	५	८	६
अ	इ	उ	ऋ	ऌ	ए	ऐ	ओ	औ	अ	अ
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
१०	१	७	४	८	३	७	५	४	६	३

(८) प्रकारातरेण मन्त्रशोधनचक्रम् । आग रह० पटल १६ पृ० स० २६५



(९) पृथिव्यादिपञ्चभूतानुगत वर्णविभाग चक्रम् । आग पट २५ पृ स ३६१

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	षट्-वर्णा
अ	आ	ए	क	च	ट	त	प	य	प	षा	य	व				
इ	ई	ऐ	ख	छ	ठ	थ	फ	र	क्ष	श्रा	ग्ने	या				
उ	ऊ	ओ	ग	ज	ड	द	ब	ल	ज	पा	पि	वा				
ऋ	ॠ	औ	घ	झ	ढ	ध	भ	व	ल	वा	रु	णा				
लृ	म	ध	ङ	ञ	ण	न	म	श	ह	ना	भ	मा				

आगमरहस्य मे उल्लिखित तन्त्रग्रन्थो की अकारादि-क्रमसूची

(अ)

१ अद्भुत रामायण
२ अग्निपुराण
३ अगस्त्यसंहिता
४ अध्यात्मविवेक
५ आदित्यपुराण
६ आगमकल्पद्रुम

(इ)

७ इन्द्रसंहिता
८ ईशानसंहिता
९ ईशशिव
१० एकवीराकल्प

(क)

११ कादिमत
१२ कालिकापुराण
१३ कालीकुलसर्वस्व
१४ कुलप्रकाशतंत्र
१५ कूर्मपुराण
१६ क्रियासार
१७ कपिलपंचरात्र
१८ कालोत्तर
१९ कुलार्णव
२० कुलचूडामणि
२१ कुंडसिद्धि
२२ क्रमदीपिका

(ग)

२३ गणेश्वरविमर्शिनी
२४ गांधर्व
२५ गुप्तदीक्षा तंत्र
२६ गोपालतापिनी

(च)

२७. चामुंडातंत्र
२८ चिदंबरतंत्र

(ज)

२९ जयद्रथयामल

(त)

३० तत्त्वसार
३१ तत्त्वसागरसंहिता
३२ तंत्रसार
३३ तंत्रशेखर

(द)

३४ देवीभागवत
३५ देवीमत

(न)

३६ नवरत्नेश्वर
३७ नीलतंत्र

(प)

३८ पद्मवाहिनी
३९ परातंत्र
४० पिंगलामत
४१ प्रपंचसार
४२ प्रयोगसार
४३ प्रतिष्ठा तंत्रराज

(फ)

४४ फेत्कारिणी तंत्र

(भ)

४५ भूतशुद्धि
४६ भैरवतंत्र

(म)

४७ मत्स्यसूक्त
४८ महिषमर्दिनी-तंत्र